(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

आत्मानुशासन प्रवचन

भाग ४, ५ व ६

–प्रवक्ता–

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

–प्रकाशक–

मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ए, रन्जीतपुरी, सदर

मेरठ (उ०प्र०)

द्वितीय संस्करण

५००

सन् २००५

लागत मूल्य

६०/-

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ परम् पूज्य श्री 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय

जन्म नाम	– मगन लाल
चिरोजा बाई जी द्वारा प्रचलित नाम	– मनोहर लाल
जन्म तिथि	– कार्तिक कृष्ण दशमी ब्रह्ममुहूर्त संवत् 1972, सन् 1915 ई०
जन्म स्थान	– ग्राम दुमदुमा, जिला टीकमगढ़, बुन्देलखण्ड (म०प्र०)
पिता का नाम	– श्री सिंघवी गुलाब राय जी जैन
माता का नाम	– श्रीमती तुलसा बाई जी
शिक्षा	– सिद्धान्त शास्त्री, न्याय शास्त्री, साहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ की परीक्षाएँ उत्तीर्ण
शिक्षण कार्य	– बरूआ सागर विद्यालय के प्रधानाचार्य तथा अनेक विद्वानों साधु मुनियों के जैन दर्शन के गूढ़ विषयों के अध्यापक
शिक्षा-दीक्षा गुरु	– परम् पूज्य गुरुवर 105 क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी
दीक्षा के बाद नाम	– पूज्य 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज
समाज के प्रति देन	– लगभग 500 ग्रंथों की रचना, श्री सहजानन्द शास्त्र माला की स्थापना, वर्णी प्रवचन प्रकाशिनी संस्था की स्थापना, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर की स्थापना, उत्तर प्रांतीय गुरुकुल हस्तिनापुर की स्थापना व अन्य अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना के प्रणेता
साहित्य सृजन काल	– सन् 1942 से सन् 1978 तक
शरीर त्याग	– 29 मार्च सन्ध्याकाल सन् 1978 त्यागी भवन, मेरठ कैन्ट।

सम्पादकीय.....

अहो, पूज्य श्री 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज की परम अनुकम्पा कि जो नवनीत उनके चित्त में 'प्रादूर्भूत हुआ, जिस अमृत को उन्होंने अनेकों कठोर तपस्याओं से प्राप्त किया उसको वह बांट रहे हैं सर्व जगत को निःशुल्क। जो आये वह पीकर अमर हो जाय। कितनी करुणा है तथा कितना वात्सल्य था उन्हें प्राणी मात्र से कि वे विषय-वासना की भट्टी में भड़भड़ जलते देखकर, उसको वहां से निकाल लेना चाहते थे। जिस देव को उन्होंने हृदय की गहन गुफा में स्थूल व सूक्ष्म अनेकों आवरणों को भेद करके बड़े परिश्रम से खोज निकाला है, जिसके एक क्षण के दर्शन मात्र से भव-भव के सन्ताप शान्त हो जाते हैं, और समस्त वासनायें शान्त होकर अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है, उस आत्मा के दर्शन कर लेने से एक अनुभूति होती है, हृदयगत् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म आवरणों का भेदन हो जाता है। संस्कारों की दिशा भी बदल जाती है। शान्तिजनक नवीन संस्कारों का उदय होता जाता है इसी को संवर कहते है। नवीन संस्कारों का संचय पुराने संस्कारों की शक्ति को भी क्षीण कर देता है, इसको निर्जरा कहते हैं। यह समस्त प्रक्रिया आगम में उत्कर्षण, अपकर्षण संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि विभिन्न नामों से कही गई है। एक दिन साधक के हृदय में उस ज्ञान मूर्ति के दिव्य दर्शन होते हैं।

यह "आत्मानुशासन" परम पूज्य श्री गुण भद्र आचार्य देव ने लिखा है जिस पर पूज्य सहजानन्द जी वर्णी के बहुत ही हृदय स्पर्शी सार गर्भित और सरल प्रवचन हुए हैं जिस के अध्ययन से आत्मा का स्पर्श हो सकता है वस्तु की हृष्ट कार्य व्यवस्था के दो प्रमुख कारण हैं अन्तरंग और बाह्य। वस्तु का स्वभाव उपादन है और उसके साथ अन्य उचित वस्तुओं का संयोग निमित है।

अनेकों चित्र विचित्र कार्यों को प्राप्त प्रकृत वस्तु अवश्य सदात्मक होनी चाहिये, यह वस्तु का एक स्वभाव हुआ, जिसे आगम का 'अस्तित्व' गुण के नाम से कहते हैं। एक वस्तु दूसरी से विलक्षण प्रतीत होती है, उसे 'वस्तुत्व' गुण कहते हैं आदि। वैसे तो समस्त पदार्थ सत् स्वरूप की दृष्टि में एक समान हैं। प्रत्येक पदार्थ में, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरूलघुत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व-यह छः गुण हुआ करते हैं। पूज्य श्री सहजानन्द वर्णी जी से इस ग्रन्थ के माध्यम से अपने प्रवचन द्वारा इन सबका स्वरूप बतलाया है।

पूज्य वर्णी जी ने अनेकों आर्ष ग्रन्थों पर प्रवचन किये हैं जैसे प्रवचन सार प्रवचन, देव पूजा प्रवचन, समयसार प्रवचन, परमात्म प्रकाश प्रवचन, नियमसार प्रवचन, षोडश भावना प्रवचन, ज्ञानार्णव प्रवचन, अध्यात्म सहस्री, रत्न करण्ड श्रावका चार, मोक्षशास्त्र, रयण सार आदि पर प्रवचन किये हैं इनके अतिरिक्त अनेकों ग्रन्थों की रचना की है, जिनकी लेखनी आज भी हमारे लिये मार्गदर्शन का काम कर रहे हैं। पूज्य वर्णी जी के कलम से जो निकला उसका जवाब नहीं, उस का सानी नहीं है, अनेकों महान, महान ग्रंथ लिखे हैं, बडे रुचिपूर्ण, अन्तर को झकझोरने वाले अनेक ग्रन्थों को सुलझाने में समर्थ न सर्वोपरि, आत्म कल्याण में अभूतपूर्व योग देने वाले। आइये इन्हें पढ़ें, मनन करें। इनमें छिपे अनेक बहुमूल्य रत्नों को हस्तगत करें।

सुमेर चन्द जैन
सम्पादक 'वर्णी प्रवचन'

आत्म-कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम! ज्ञाता दृष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ यह है भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान। ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निज को निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५ ॥

आत्मानुशासन प्रवचन
चतुर्थ भाग

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीन विलयं निधाय हृदि वीरं।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानां॥
प्रसुप्तो मरणाशंकां प्रबुद्धो जीवितोत्सवं।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत्काये कियच्चिरम्॥८२॥

चिरकाल किसी एक शरीरमें ठरहरनेका अवकाश—यह मनुष्य जब सो जाता है तो मरणकी आशंकाको उत्पन्न करता है और जब जग जाता है तो जीवनके उत्सवको किया करता है। अर्थात् प्रतिदिन यही हाल हो रहा है कि सो गए तो मरणकी तरह बेसुध हो गए और जब जगे तब कुछ जीने जैसा हाल हुआ। ऐसे तो रोज मरना और रोज जीना सा बन रहा है। ऐसे इस शरीरमें कितने क्षण यह जीव ठहरेगा?

निर्मूल व्यामोह—इस जीवको व्यर्थका एक ऐसा मोह लग गया है जिसके कारण यह अपनी इस ज्ञाननिधिकी सुध न रखकर भिन्न असार बाह्य पदार्थोंमें अपनी दृष्टि बनाये रहता है। अमुक परसे मुझे सुख मिलेगा ऐसी कुश्रद्धा कर लेनेके कारण इसकी दृष्टि परकी ओर ही रहा करती है, और जब तक किसी भी परपदार्थकी आशाका परिणाम रहेगा तब तक यह शान्त रह ही नहीं सकता। आशा किया, आशा करके, चेष्टा कर करके थक गया तो कुछ निद्रा ली, और कहो निद्रामें भी आशाकी कल्पना जगी रह सकती है। स्वप्न आयेंगे तो उस ही तरहके स्वप्न आयेंगे। एक मनुष्य सो गया। सोते हुएमें स्वप्न देखा कि मुझे साहबने ५० गायें इनाममें दी हैं। अब कुछ ग्राहक लोग गाय खरीदनेको आये हैं। कहा, इन गायोंमें से जो गायें चाहो छांट लो और खरीद लो। १० गायें छांट लीं।.. कितने में दोगे?... सौ सौ रू० में देंगे। ग्राहक बोले, चालीस चालीस रूपयेमें दोगे, ५० में दोगे? स्वप्न वाला बोला, खैर अस्सी अस्सीमें लगावो।... अच्छा साठ-साठमें दे दो। ... नहीं भाई—अस्सी-अस्सीकी देंगे।... अच्छा सत्तर-सत्तर रूपयेमें दोगे।... नही भाई। दोनोंमें जिद्दकी बात हो गयी। ग्राहक सत्तर-सत्तरमें लेने को तैयार था और वह पुरुष अस्सी-अस्सीमें देने को तैयार था। यह सब स्वप्नकी बातें कही जा रही हैं, कुछ ध्यान है ना? तो उस जिद्दकी होड़बाजीमें उस पुरुष की आंखें खुल गई। देखा कि यहां तो एक भी गाय नहीं है। सो उसने आंखें बन्द कर लीं और कहता है अच्छा भाई ले लो सत्तर-सत्तर रूपयेमें। चलो सत्तर-सत्तर रूपये ही दे जावो। ऐसा ही हाल यहां है।

विकासका आवरण—मोहकी निद्रामें कितनी कल्पनाएँ जगती हैं। ओह, है तो यह अपने स्वरूपमें एकत्व रूप, जैसा है तैसा शुद्ध है, एक ज्ञान पुंज है। जिसमें सत्त्वकी ओरसे किसी प्रकारकी

विडम्बना-विपदा नहीं है, समस्त जगतसे न्यारा है, अनन्त आनन्दका स्वरूप है। सारी बात इसकी सही है, पर इस सही बातको न माननेके कारण यह गलतीमें इतना बढ़ गया है कि कल्याणकी इच्छा भी कदाचित् हो जाये, फिर भी ये सारी आकुलताएँ गल्तियां और जो अन्तरङ्गमें मोहका आशय पड़ा हुआ है वे सब आत्माकी ओर नहीं आने देते।

गोल गोल भटकना—अहो, इस मोही जीवकी रात दिनकी कैसी चर्या है? घूम घामकर वहीं जैसे कोल्हूका बैल उसी स्थान पर आ जाता है। जहांसे गया वही आया। ऐसी ही अज्ञानकी पट्टी आंखोंमें बंधी है, इसे शुद्ध मार्ग नजरमें नहीं आ रहा है, गोल-गोल अपनेको घुमा रहा है कितना गोल है? मोटा गोल तो चारों गतियां हैं। इस गतिसे गया, उस गतिमें आया, उससे गया उसमें आया। यह गोल गोल चक्कर चल रहा है। फिर उसके बाद तिर्यञ्चका गोल है, और ऐसे इस असमानजातीय द्रव्यपर्यायके गोलमें चक्कर लगा रहा है, फिर एक-एक पर्यायका भी बड़ा गोल है। जैसे आज मनुष्यपर्याय मिला तो मनुष्यका जीवन जितने समयका है उसमें भी यह गोल-गोल घूम रहा है, और तो जीने दो, चौबीस घंटे का भी बड़ा गोल है। इसी समय आप कल शास्त्र सुनने आये थे इसी समय पर आप कल शास्त्र सुनने आयेंगे। आज जो दाल, रोटी, चावल खाया था, वही कल भी खाया था, वही कल भी खायेंगे, उसी समय पर दुकान जायेंगे, उन ही कामोंको उस ही समय पर आज भी करेंगे, जो कल किये थे। तो जब तक जिन्दा है तब तक वही वही चक्कर लगाता रहता है, कोल्हूके बैलकी नाई यह गोलगोल चक्कर लगा रहा है, पर जैसे पट्टी बंधे हुए बैलको कुछ भी भान नहीं हो पाता कि मैं गोल-गोल चक्कर लगा रहा हूँ, ऐसे ही इस अज्ञानी जीवको यह भान नहीं हो पाता कि मैं गोल-गोल चक्कर काट रहा हूँ। वह तो जानता है कि मैं रोज-रोज नया-नया, उन्नतिका बढ़वारीका, सुखका काम कर रहा हूँ।

विभावभ्रमण—भावोंका गोल देखिए। पंचेन्द्रियके विषय और छठा मनका विषय इन ६ का नोल लग रहा है। इस संसारी प्राणीने इन ६ विषयोंके अतिरिक्त अन्य कुछ भी अनुभव किया है क्या? अब पेट भर गया तो थोड़ीसी सुगंधित चीज भी चाहिए। इत्र कानमें लगाया, कोट के कालरमें लगाया। यह शौक पूरा किया तो अब धन कमानेकी लौ लगी है। चलो मनका विषय लगने लगा। अब सुन्दर रूप निहारने लगा, अब संगीतका विषय चाहिए। कितना गोरखधंधा कितना गोल चक्कर है, जिसमें लाभ तो कुछ नहीं मिलनेका है और अपने आपको बरबाद किए जा रहा है।

विकासके पीछे—जैसे देखते हैं कि कोई किसान जो मामूली पढ़ा लिखा भी नहीं है, वह अपनी खेती करके सूखा रूखा खाकर संतुष्ट बना रहता है, पर थोड़ा पढ़ लिख गया तो अब उसके संतोष नहीं रह पाता। अब असंतोष और तृष्णा बढ़ने लगती है। कुछ थोड़ीसी नगरमें जानकारी हुई, प्रतिष्ठा हुई, कीर्ति मिली तो अब असंतोष और बढ़ने लगा। और यश भी बढ़ गया जो बिल्कुल व्यर्थका है। आज जीवन है, थोड़े समय बाद मरण हो गया तो अब क्या रहा इसके पास? किसीने कुछ प्रशंसा कर दिया तो उससे लाभ इसका क्या हो गया? कुछ भी तो यहां रहना नहीं है, और फिर कितनी संकुचित दृष्टि हो जाती है?

विश्वमें यशोविस्तारकी असंभावता–अरे तुझे यश चाहिए तो कहां चाहिए? सारी दुनियामें। यदि सारी दुनियामें तेरा यश फैल जाय तब तो अच्छा है। इस दुनियाके एक असंख्यातवें हिस्सेमें, जो समुद्रमें एक बूंद बराबर भी जगह नहीं है, इतनी जरासी जगहमें यश फैल गया तो क्या हो गया? उससे बचे हुए सारे असंख्यात लोक तो तेरे यशसे रहित हैं, इतनेमें क्यों झूठा संतोष मानता है? किसीका फैल भी सकता है क्या समस्त लोकमें यश। कल्पना कर लो, झूठ भी जबरदस्ती मान लो कि फैल गया सारे लोकमें यश तो भी उसकी दृष्टिमें तू दुःखी रहेगा, शान्त न रहेगा।

सर्व जीवोंमें यशोविस्तारकी असंभवता–तू किनमें यश फैलाना चाहता है? जीवोंमें। तो फैला लो सब जीवोंमें तो कुछ अच्छा भी है। पर जितने जीव हैं उसके असंख्यातवें भागकी संख्यामें भी तेरा यश फैल नहीं पाता। अनन्तानन्ते भाग प्रमाण जीवोंमें कदाचित् कुछ बात चलती है। जिसमें कुछ लोग अपनी कल्पनाके अनुसार प्रशंसाके शब्द गाने वाने हो जाते हैं। प्रथम तो सब मनुष्योंमें ही यश नहीं फैल सकता। आज जितने मनुष्योंका भूगोलमें परिचय किया है उन सबमें नहीं फैल सकता। मनुष्य ही इससे कई गुणा अधिक अभी पड़े हुए है। और सब मनुष्योंमें यश भी नहीं फैलता और जितनेमें यश फैलाया है वह भी शुद्ध हो भला होसो भी बात नहीं है। यशके साथ अपयश भी लगा हुआ है। कोई पुरुष ऐसा नहीं है जिसकी मात्र कीर्ति ही फैले। उसके साथमें अपयश भी लगा रहता है। हो कोई ऐसा तो बतावो जिसकी विशुद्ध कीर्ति हो। अच्छा वह एक भी गांवमें भला हो ऐसा कोई बतावो। उसके साथ कुछ न कुछ अपयश भी लगा रहता है। सब मनुष्योंमें मेरा यश फैल गया, यह भी झूठी कल्पना है। यहां सब मनुष्य ही जीव हैं क्या? अभी तो घोड़ा गधा आदि सारे जीव पडे हुए हैं, वे भी तो तेरी कलाको अभी नहीं जानते हैं। कैसे तेरी वे प्रशंसा कर दें? वे तो तेरी प्रशंसा करते ही नहीं हैं। उनसे भी तू अपनी प्रशंसा करवा।

अहितका अहितरूपसे निर्णयका प्रसाद–यह मनका विषय झूठा और अहितकारी है। यह मनुष्य यों हेर फेरकर उन्हीं विषयोंमें लगा रहता है और मानता यह है कि मैं उन्नतिका कितना सीधा काम कर रहा हूँ? पहिले तो यह ही निर्णय कर लो, हम जिस परिस्थितिमें रूचि रखते हैं, जिस भावमें बसा करते हैं वह भाव वह परिस्थिति सब विपदा है। इतना भी निर्णय नहीं कर सके तो आगे बढ़नेका कोई साधन नहीं रहेगा। पहिले जान तो लो सही बात। यह बात जब विदित होगी तब वस्तुके यथार्थस्वरूपका भान रहेगा।

पदार्थोकी विविक्तता–प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमें मग्न है, अपने ही स्वरूपास्तित्वमें स्वतंत्र है। प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थोसे अत्यन्त भिन्न है। चाहे कोई जीव हो या अन्य अणु आदि अजीव हो, एक का स्वरूप किसी दूसरेमें प्रवेश नहीं कर सकता। हालांकि लोकमें प्रत्येक प्रदेशपर छहों-छहों द्रव्य बस रहे हैं। धर्मद्रव्य सारे लोकमें व्याप्त है। यों अधर्मद्रव्य भी और कालाणु कालद्रव्य प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है। आकाश तो असीम है और जीव भी प्रत्येक प्रदेशमें है। जिसे हम पोल समझ रहे हैं कि यह भी कुछ नहीं है वहां अनन्त जीव बस रहे हैं और जहां ये सारे संसारी

जीव हैं, उनके साथ ही अनन्त परमाणु लगे हैं। फिर और भी परमाणु हैं। यद्यपि लोकके प्रत्येक प्रदेश पर छहों द्रव्य विराज रहें हैं तथापि जैसे एक घरमें रहने वाले चार आदमियोंमें सबमें परस्परमें अनबन हो जाय तो एक घरमें रहते हुए भी एक दूसरेसे मिलते नहीं हैं। यह मोटी बात कही जा रही है। यों तो उस प्रदेशपर रहते हुए भी वे समस्त द्रव्य अनमिले हैं। हमारा द्रव्य हममें ही है, हमारी प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, गुणकी परिणतियां हममें ही हैं; दूसरोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी परिणतियां उनकी उनमें ही हैं।

परसे हित पानेकी असंभवता—समस्त जीवोंका, समस्त पदार्थोंका उन उनका अपना-अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उन-उनहीं में अपने खुद में है। अब बतलावो कहां गुंजाइश है कि मैं किसी पदार्थका कुछ करूँ, भोगूँ, उसका स्वामी बनूँ, उस पर अपना अधिकार चलाऊँ—ऐसी रंच भी तो कुछ बात नहीं है। केवल कल्पनाएँ ही हो रही हैं। कोई परपदार्थ मेरे भोगनेमें नहीं आता। मैं ही भ्रमवश, अज्ञानवश कल्पनाएं उठाया करता हूँ और उन कल्पनावोंसे सुख दुःख भोगा करता हूँ। बाह्यपदार्थोंसे सुख दुःख मुझमें आ ही नहीं सकते। प्रथम तो इन समस्त अचेतन पदार्थोंमें स्वयंमें भी सुख दुःख नहीं हैं। इन घड़ी, चौकी; गद्दा, तकिया आदिमें कहां सुख दुःख है? प्रत्येक पदार्थका सुखगुण उनका उनमें ही लीन है? उनसे बाहर आ ही नहीं सकता। कदाचित् आ जाय तो उसका अस्तित्व मिट गया और यों ही मुझसे मेरा कुछ कहीं चला जाए तो मेरा अस्तित्व मिटा, यों सारे विश्वका स्वरूप मिट जायेगा।

स्वरूपदर्शनकी कलाका प्रसाद—स्वरूपदर्शनकी सहज कला जिसे विदित हो जाय और अपने अस्तित्वके दृढ़ किलेमें अपने उपयोग राजा का निवास कर दें फिर कोई कष्ट ही नहीं है, चिन्ता ही नहीं है। इस आत्ममर्म का अपरिचयी पुरुष जीवित भी रहे तो क्या जीवन है, और जिसके आत्मबोध है उसका अपना आध्यात्मिक लौकिक जीवन आनन्दमय चला करता है। देखिये आध्यात्मिकता जिनके प्रकट हो, उनका व्यवहारधर्म उनके लिए प्रगतिमें सहायक होता है और जब तक आध्यात्मिकता नहीं प्रकट हुई तब तक व्यवहारधर्म भी ठीक-ठीक नहीं चलता। जहां इस शुद्ध आत्मतत्वमें मग्न हो जायें वहां फिर यह व्यवहारधर्म भी रहता नहीं है, वह तो शुद्ध आनन्दमें मग्न हो रहा है।

निर्मोही ज्ञानीका विकास—एक कविने इस तथ्यको यों अलंकृत किया है कि एक ऐसा अध्यात्म पुरुष था कि उसे संध्या की भी खबर नहीं रही। संध्या करनेके समय भी वह लेटा ही रहता था। एक पुरुषने प्रश्न किया—साधु महाराज! आप समय पर संध्या भी नहीं करते। तो उसकी ओरसे कविने उत्तर दिया—मृता मोहमयी माता ज्ञानपुत्रो ह्यजीजनत्। सूतवद्वयसंतापे कथं सन्ध्यामुपाश्महे॥ भाई क्या करें, हमारे डबल सूतक लगे हैं। साधु कह रहा है, गृहस्थोंके पुत्र पैदा होनेका सूतक लग जाय तो उसे पूजन करना नहीं बताया, अभिषेक करना नहीं बताया। १० दिन गुजर जायें तब करे, और कोई मर जाये तो १२ दिन तक न करे, ऐसी रूढ़ि है ना? सूतक लगे हों तो ये पूजन आदिके कार्य न करें। साधु कहता है कि हमारे डबल सूतक लगे है। क्या समझे? साधु महाराजके कोई

मर गया है क्या? या साधुके कोई लड़का हो गया क्या? साधु कहता है—सुनो, हमारी मोहममता रूपी माता तो मर गयी है, एक तो उसका सूतक लग रहा है और ज्ञानरूपी पुत्र पैदा हो गया है, एक उसका सूतक लग रहा है। अब ऐसे डबल सूतकतमें हम कैसे संध्या करें? भाव उसका क्या है कि जहां मोह रंच भी नहीं रहता, जहां रागद्वेष मोह ममता बिल्कुल नहीं रहते और केवल ज्ञान प्रकाश ही प्रकाश रहे, वहां विकल्प कैसे चल सकता है?

अपूर्व परमार्थलाभका कर्तव्य—यह स्थिति कैसे हो? जैसे कुछ न कुछ चित्तमें हठ बनाये हैं ना, कि मुझे तो लखपति बनना है, यह हठ बनाये है कि मुझे तो ऐसी स्थिति पाना है। कुछ भान होगा। ऐसे ही जिसके निर्विकल्प भावके पानेका प्रयत्न हो, भाव हो, वह इस स्थितिको पा लेगा। जीवनका पूर्णलाभ तो उसने ही पाया है। बाकी यहां तो यही ढला चला चल रहा है। जब यह जीव, मनुष्य सो जाता है तो मृतकवत् हो जाता है और जब जग जाता है तब मानो जीवनसा पाता है। ऐसी ही रोज-रोज लग रहा है। ऐसे इस शरीरमें कितने काल तक ठहरना है? जो नित्य छिपे उसके रहनेका भरोसा नहीं है। यह शीघ्र ही शरीर छोड़ेगा, ऐसा निश्चय करके कोई परमार्थ कार्य करलो। इस विनश्वर समागमका ऐसा सदुपयोग करो कि अविनश्वर अपूर्व परमात्मतत्वका लाभ मिल जाय।

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्
संभूय कायमहितं तव भस्मयंति॥८३॥

बन्धुजनोंसे हितकी अनाशा—हे बन्धु! तू सच तो बता कि इस जगत्में तू जो बान्धवजनोंसे इतना नेह लगाता है, इसके फलमें आखिर वे बन्धुजन तुम्हें लाभ क्या पहुंचायेंगे? विचार करने पर यह निर्णय होगा कि कुटुम्बसे तो मेरा हित होता हुआ न मालूम पड़ेगा। केवल इतना उपकार जरूर कुटुम्बीजनोंका होगा कि मरे पीछे इकट्ठे होकर मेरा बैरी जो यह शरीर है इसको शीघ्र जला कर भस्म कर देंगे। कवि अलंकारमें यह बता रहा है। इसका मतलब क्या है कि बन्धुजनोंसे तुझे कुछ भी प्राप्त न होगा। बात तो सीधी यह कही गई है कि इन बन्धुजनोंसे तुझे कुछ भी प्राप्त न होगा। अन्तमें ये केवल इतना ही करेंगे कि इस शरीरको जलाकर ये भस्म कर देंगे। यह भी उपकारके लिए नहीं है, किन्तु कल्पना करो कि यदि किसी के मरे शरीर को भस्म न किया जाय, यों ही पड़ा रहने दिया जाय तो प्रजा में जनतामें कितना कष्ट बर्तेगा। लोग दुर्गन्धके मारे परेशान भी होंगे, बीमार भी होंगे, इस कारण शरीरको भस्म करनेकी जो प्रथा है यह भी कुछ बन्धुके उपकारके लिए नहीं है, किन्तु अपनी व्यवस्था और सुविधा के लिए है।

अन्तिम बेअदवी—किसी कविने लिखा है कि जो लोग अपने मित्रजनोंका, बन्धुजनोंका अधिक विनय सत्कार करते हैं, अन्त में तो वे भी विलक्षण अविनय ही करेंगे। इस बातको एक कविने अपनी भाषामें यों कहा है—

"यार मरते वक्त होगा एक बअदबी का कार।
यार तो पैदल चलेंगे, हम जनाजे पर सवार॥"

हे मित्र! जीवन भर मैंने तुम्हारी कभी बेअदबी नहीं की, पर मरते वक्त याने जब मैं मरूँगा, उस वक्त मैं तुम्हारी बेअदबी जरूर करूंगा। कैसी बेअदबी? कि तुम लोग तो पैदल चलोगे और हम तुम्हारे सिर पर चढ़कर जायेंगे। इसका भाव यह है कि कितनी भी किसीसे घनिष्ट मित्रता हो, पर अन्तमें विछोह होगा। जो समागममें अनुरक्त रहता है, वह विछोहके समयमें बहुत दुखी होगा।

विपरीत श्रद्धाकी हेयता–भैया! जिन बन्धुजनोंके पीछे कुटुम्बीजनोंके लिए तू इतना परेशान हो रहा है, ये बन्धुजन तेरा क्या काम कर देंगे, क्या लाभ मिलेगा, क्या शान्ति मिलेगी? अरे वे तो इतना ही करेंगे कि इस शरीरको जला देंगे। इतनेके अतिरिक्त और कुछ भी तुम्हारा लाभ करनेमें ये बन्धुजन समर्थ नहीं है। जरा स्वरूपदृष्टि करके तो सोचो-जगत्में जितने भी जीव हैं वे सब जीव मेरे ही समान स्वरूप वाले है। स्वरूपदृष्टिसे मुझमें और अन्य समस्त जीवोंमें कोई अन्तर नहीं है, पर सत्वकी दृष्टिसे अनुभवन और व्यक्तित्वकी दृष्टिसे प्रत्येक जीव प्रत्येक जीवसे अत्यन्त भिन्न है। अब उन सब जीवोंमें से परिवारके दो चार जीवों को अपना मान लेना और अन्य समस्त जीवोंको पराया मान लेना, यह तो मन की स्वच्छन्ताकी बात है। वस्तुतः तो भिन्न है तो सब हैं, समान हैं तो सब हैं। तू किसी भी जीवमें आसक्त मत हो, यह मेरा है, ऐसी बुद्धिको छोड़ दो। परिस्थितिमें जो करना पड़ता है ठीक है, पर श्रद्धा विपरीत हो गई है तो उस विपरीत श्रद्धाका फल कोई दूसरा भोगने न आयेगा। जो विपरीत यत्न करेगा वही रोवेगा, कोई दूसरा नहीं।

समागमका वियोग–है क्या जीवनमें? जिन्दा हुए, बड़े बने, कुछ कला सीखी, कुछ धन कमाया, अन्तमें बूढ़े हुए, शिथिल हुए, मर गए, चले गए, सबकी यही पद्धति है। एकका मर गया भाई, तो लोग आये समझाने। तो कोई यह भी पूछता है कि तुम्हारे भाई साहब क्या कर गये दान पुण्य वगैरह? तो भाई उत्तर देता है–'क्या बतायें यार क्या कारोनामा कर गए। बी० ए० किया, नौकर हुए, पेन्शन हुई और मर गए॥' एक सर्विस वालोंकी ही क्या बात, सभीकी यही कहानी है। कुछ विद्या सीखी, व्यापार की कला सीखी, कुछ धन कमाया, सेठ जी बने, अन्तमें सब कुछ पुत्रोंको बांटा, सौंपा और मर गए, क्या साथ ले गए? सो यहांके समागमोंकी ओर से कुछ उत्तर नहीं है इसका। हां किसीने अपने जीवनमें परिणाम निर्मल रक्खा हो, उससे जो धर्म और पुण्य किया वह साथ ले जायेगा, यह यहांके समागम जोड़कर कोई चाहे कि हम कुछ साथ ले जायें, सो नहीं हो सकता। जिस कमीजको पहिने हुए मरे हैं वह कमीज भी न जायेगी और कुछ धन पैसा-धेला छदाम भी साथ न जायेगा। कैसा साफ निकल जाता है यह? निकल जानेके बाद फिर यहांके समागमोंका क्या रहा इसके पास?

विघटन–भैया! किसके लिए इतना धनका संचय कर रहे हो? ये बन्धुजन जिनके लिए निरन्तर पीड़ित होकर और अपनेको भी कष्ट में डालकर इतना अथक परिश्रम कर रहे हो, ये

बन्धुजन केवल इतने ही काम आयेंगे कि मर जाने पर इस शरीरको जल्दी जला देंगे। इससे आगे और कुछ काम न होगा। जगत्में ये जीव जन्मते हैं मरते हैं, पर मरण उन्हींका सफल है, जीवन उनका ही सफल है—जो ऐसे उपाय बनाते जायें कि जिन उपायोंसे यह जीव संसारके आवागमनसे सदाके लिए मुक्त हो जाये अन्यथा यह जन्तुका ही जन्तु रहेगा। एक मित्र अपने बीमार मित्रको देखने शामको गया। वह बहुत कठिन बीमार था। बिस्तरसे भी नहीं उठा जाता था, करवट भी नहीं बदल सकता था। मित्र पूछता है, कहो मित्र कैसी दशा है? क्या स्थिति है? तो बीमार मित्रने कहा कि क्या बताएँ, बिस्तरसे भी नहीं उठा जाता, अत्यन्त कमजोर हालत है। कुछ बातें करके आगन्तुक मित्र अपने घर चला गया। रात व्यतीत होनेके बाद सुबह दोपहरके बीचमें वह गुजर गया। अब पुनः वह मित्र शामको आया तो मित्र पूछता है मित्रके भाईसे, कहो जी क्या हालत है? तो वह कहता है कि वह तो दुनियासे भी चल दिया याने मर गया। तो वह झुंझलाकर बोला कि "कल तक तो यों कहते थे कि बिस्तर से उठा जाता नहीं, आज दुनियासे भी चल देंनेकी ताकत कहांसे आ गयी?"

जीवन और मरणकी दशायें—जीवन और मरण ये दोनों रहटकी घड़ियोंकी तरह चलते हैं। जैसे रहटकी घड़ी भरी और थोड़ी देरमें रीति हो गई, फिर भरी फिर रीति हो गई। जैसे कोई वृक्षसे फल टूटा तो टूटते ही जमीन पर ही तो वह आयेगा, टूटकर तो टूटने के बाद जमीन पर गिरने के बीचमें वह फल कितनी देर रहेगा? आधा या एक दो सेकेण्ड भी न रहेगा। यों ही समझिये कि जन्म हुआ तब यह टूटा और मरणकी जमीन पर आ गया। इस बीचमें हम आपका कितना समय है? अभी लग रहा है कि समय खूब है। अरे जितना समय व्यतीत हो गया, हम आपके ४०, ५० वर्ष व्यतीत हुए ऐसा लग रहा है कि यह समय कहांसे बीत गया इतनी जल्दी। किन्तु आजका १ दिन बहुत बड़ा लग रहा है। अभी तो ६ घंटे और हैं, आठ घंटे और पड़े हैं, हो जायेगा काम। आजका दिन बड़ा लम्बा लग रहा है और बीते हुए ४०, ५० वर्षका समय ऐसे बीत गया कि पता नहीं चलता कि ये वर्ष कहांसे गुजर गये? अरे जैसे ये चालीस पचास वर्ष, चालीस पचास मिनट जैसे गुजर गये, यों ही अब रही सही थोड़ीसी आयु यह तो शीघ्र ही गुजर जायेगी। इस दुर्लभ जीवनको पाकर कोई अनुपम कार्य कर लें।

सम्यक्भावकी आदेयता—देखो भैया! अपूर्व बात प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई भी नहीं है। बस थोड़ी ज्ञान विवेक दृष्टि भर चाहिए। काम जो कर रहे हो, सो होने दो, व्यापार आदि अन्य अन्य काम, पर सही को जाननेमें भी क्या कुछ कठिनाई आती है? मैं आत्मा चेतन हूँ, अनादि काल से यह उपाधि सहित है, शरीर और कर्म इसके संबन्धमें बने हुए हैं। इतने पर भी आत्मा अपने स्वरूपसे आत्मामात्र है। ये जड़ कर्म परमाणु अपने स्वरूपसे जड़ हैं, यह शरीर परमाणु यह भी जड़ है, मैं सबके बीच सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। धन्य हैं वे सद्गृहस्थ जो सारे काम भी करते जा रहे हैं और अपनेको न्यारा ज्ञानस्वरूप निरखते जा रहे हैं। वे तो सम्यग्दृष्टि हैं, पूज्य हैं।

कृतज्ञता–एक कथानक आता है कि एक सेठने मरते हुए बैलको णमोकारमंत्र दिया और कुछ समाधान कराया। वह बैल मरकर स्वर्गमें देव हुआ। देव होकर उसने अवधिज्ञानसे विचार किया कि मुझे अमुक सेठकी कृपासे यह सद्गति मिली है, देव नीचे आता है, सेठको वन्दना कराने के लिए। सेठ एक मन्दिरमें था, वहीं पासमें एक मुनि महाराज बैठे हुए थे। देव आया, उसने सबसे पहिले सेठको बन्दन किया और पीछे मुनिको बन्दन किया, लोग बड़े आश्चर्यमें पड़े। तो मुनि महाराज स्वयं अवधिज्ञानी थे। उन्होनें कहा कि भाई! इस जीवका साक्षात् उपकार इस सेठके निमित्तसे ही हुआ है, इस कारण कृतज्ञ होकर इस सम्यग्दृष्टि परोपकारी श्रावकका बंदन किया है।

यथार्थज्ञानका आन्तरिक सुफल–भैया! सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाए, इसके समान और कोई वैभव नहीं है। अरे घरग्रहस्थीके कमानेके सारे धंधे करते रहो, पर जो यथार्थ बात है, उसको समझते रहनेमें क्या कठिनाई हो रही है? यदि कुछ समय आत्मदृष्टिमें व्यतीत न हुआ तो वह जीवन क्या जीवन है? एक बार किसी भी क्षण यदि एक आत्माकी झलक हो जाए तो उससे हमें केवल शान्तिके लिए ही उपयोग मिलता हो, इतना ही नहीं, किन्तु जब तक इस लोकमें रहना शेष रह गया है, तब तक उसकी बुद्धि लौकिक कामोंमें व्यापार आदिकमें भी प्रखर रूपसे चलने लगती है। उसका सबसे मुख्य काम केवल आत्मसाधना ही है। सभी रागी मनुष्य ज्ञान वैराग्यकी धुनको बनावें।

ज्ञानियोंके आत्मसाधनाकी मुख्यता–साधुओंको तो आरम्भ और परिग्रहकी किल्लत नहीं है, अतः वह ज्ञानसाधनाकी तो निरन्तर धुन बना सकता है, परन्तु गृहस्थको तो आजीविकाका कार्य भी अत्यन्त आवश्यक है गृहस्थके रहते हुए। ठीक है उसे भी करें। केवल दो ही प्रोग्राम रक्खें अपने और कुटुम्बके शरीरके पालन पोषणके लिए–धनका अर्जन करना और धन कमाना, पर यहां केवल दो ही काम कौन करता है? बीचमें पचासों काम मान लेते हैं, अनेक राग, द्वेष, और मोहकी बातें करते हैं और इतना ही नहीं, व्यर्थकी गप्पों सप्पोंमें अपना घण्टोंका समय बरबाद कर देते है। अरे! काम तो इतना ही करो अजीविकाके लिए धन कमाओ और धर्म करो। धनसे जिस-जिससे सम्बन्ध है, उस-उससे सद्व्यवहार करलो, परन्तु ऐसे कामोंमें तो न पड़ो, जो व्यर्थके काम हैं, जिनका न आजीविकासे संबंध है और न धर्मसे सम्बन्ध है। जिनमें तुम घुलमिलकर अपना मन बहला रहे हो, वे परिजन, इष्टजन, बन्धुजन तुम्हारे आत्माके काम न आयेंगे। इस पर गंभीर दृष्टिसे निर्णय तो करो।

पापका भागी अन्य नहीं–बाल्मीकि ऋषिकी कथामें बताया है कि वे पहिले समयमें लुटेरे थे। एक बार कोई साधु उस रास्तेसे निकला। बाल्मीकि ने पूछा कि क्या है तेरे पास? साधु बोला कि हमारे पास यह सोंटा और कमण्डल व कम्बल है। बाल्मीकिने कहा कि जो कुछ हो रख दो। साधुने कहा कि हे बाल्मीकि! हमारा एक प्रश्न है, तुम घरके सब लोगोंसे उत्तर ले आवो। यह सब कुछ लेते जाओ या यहीं रख जावो, हम यहीं बैठे मिलेंगे। बाल्मीकिने पूछा कि क्या पूछ आयें महाराज! साधुने कहा कि तुम सबसे यह पूछ आवो कि तुम्हारे लिए मैं सभी मुसाफिरोंको मार पीटकर धनको कमाता हूँ, अन्याय करता हूँ तो इससे जो पाप बंधेगे, उनको तुम बांटोगे या नहीं?

भैया! पापोंका बांट लेना तो दूर रहा, साधारणतया सज्जन लोगोंको पापोंको स्वीकार कर लेनेमें भी डर लगता है। सो सभीने यों कहा कि हम पाप न बाटेंगे। उन पापोंका फल तो तुम अकेले ही भोगोगे। बाल्मीकिके कुछ ज्ञान जगा और साधु महाराजके पास आते आते बहुत वैराग्य बढ़ गया। साधुसे बाल्मीकिने कहा कि महाराज! जो कुछ भी हम पाप करते हैं, वे कोई भी बांटनेको तैयार नहीं है। हमें तो आप जैसा बनना है, मुझे अब किसी भी वस्तुसे कुछ प्रयोजन नहीं है। अन्तमें वह एक सन्यासी हुए और कुछ साहित्यिक रचनाएं भी उन्होंने कीं।

परिणामोंकी निर्मलताकी आवश्यकता–सोच लीजिए कि जिस पदार्थमें जिस प्रकारसे जो परिणमन होता है, उस परिणमनको दूसरे कैसे बाटेंगे? हम पाप परिणाम करें और दूसरे बांट लें, यह कभी नहीं, हो ही नहीं सकता। खुदकी करनी खुदको ही भरनी पडेगी, दूसरा कोई भरने न आएगा और जो कुछ हम पाप अथवा कर्म करते हैं, बड़ी मुश्किलसे टल सकें तो टल जायें, अन्यथा इनका टलना कठिन है। हमें अपने परिणामों की निर्मलता बनाने की ओर ध्यान रखना चाहिए। वर्तमानमें कुछ थोड़ा सा धन समागम मिल जाए तो यह बड़ी बात नहीं है, किन्तु अपना परिणाम न्याययुक्त बना रहे हैं, यह बड़ी बात है। धर्म वही कर सकता है, जो दुनियाके लिए अपनेको मरा हुआ समझ ले। चेतो और अपने आत्महितके कार्यमें लगो। आत्महित यही है अपने सहजस्वरूपको पहिचानो, उसका ही उपयोग करो और उस ज्ञानपुंजके उपयोग में ही लीन रहकर स्थिर रहो।

जन्मसन्तानसम्पादिविवाहादिविधायिनः।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे॥८४॥

जीवके बैरी–इस जीवका वास्तविक बैरी वह है जो इस जीवको जन्म मरणकी संतान बढ़ानेमें कारण बनें। संक्लेश, विह्वलता आदि संकटों का जो कारण बनें उसको ही तो वास्तवमें बैरी कहेंगे। अब लौकिकजनों द्वारा माने गये बैरियोंकी और ज्ञानीजनों द्वारा देखे गए बैरियोंकी तुलना करिए। बालकके माता पिता, बन्धुजन, इष्टजन और रिश्तेदार उस बालक की आत्मा के प्रति क्या अच्छे या बुरे कर्तव्य करते हैं? इसको जरा ध्यानसे सुनिये।

हितकारी माता पिता–बालकके आत्माका हित हो, इसप्रकारका कर्तव्य माता पिता करें, तभी तो वे हितू होंगे, क्योंकि सब कुछ सुख दुख और सभी अनुभव एक ज्ञानकी दशा पर निर्भर हैं। जिस प्रकार का ज्ञान किया जाये, उस प्रकारके सुख दुख आदिक अनुभवमें आते हैं। यदि यह ज्ञान अपने आपके सही स्वरूपको जाननेमें लगे तो उस ज्ञानमात्र निजतत्व के अनुभव होनेमें सर्वकल्याण ही कल्याण होता है। कर्म झड़ते हैं, कर्म रूकते हैं, शांति और संतोषका अनुभव होता है। तब ऐसे कार्योंमें अपने को लगावें तब तो माता पिता और इष्टजनोंने मेरा हित किया, यह तो अवश्य समझिये।

अकलंक और निकलंक हित–एक बार अकलंक और निकलंक देवके माता पिता अष्टाह्निकाके दिनोंमें किसी तीर्थराजके दर्शन करने गए। एक मुनि महाराज वहां पर बैठे हुए थे। माता पिताने अष्टाह्निकामें मुनिराजसे ब्रह्मचर्य व्रतका नियम लिया और साथमें दो छोटे बालक थे।

सो ऐसा प्रेम होता ही है कि नियमकी बात, कुछ धर्म की बात बच्चोंसे कह दी जाती है। तो माता पिताने कहा कि बेटा! तुम्हारा भी यही नियम रहे ब्रह्मचर्यका। बालक कुछ समझदार थे। नियम ले लिया। जब अष्टाह्निका गुजर गयी, कुछ और महीने गुजर गए तो माता पिताने उनदो बालकोंकी शादीकी बात की। वे दोनों बालक कहते हैं कि आप लोगोंने तो हमें ब्रह्मचर्यका नियम दिलवाया है, अब तो हम ब्रह्मचारी ही रहेंगे। तो मां बापने बताया कि वह नियम तो केवल अष्टाह्निका भरके लिए था। अब उन दोनों बालकोंने यह बताया कि हमने तो उस समय आजीवन ब्रह्मचर्यसे रहनेके लिए ही समझा था। इसलिए अब तो हम आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे। माता पिता बड़े खुश हुए।

संसारवृद्धिके कारणभूत बन्धुजन—यह जीव ज्ञानमात्र है, पर यह लौकिक संकटोंका मूल जो राग मोह है, इसका विनाश हो—इस प्रकारकी विधि कोई बनाये, तब तो समझिये कि परिवारजनोंके बालकके प्रति मित्रता का काम किया है, पर करते क्या हैं लोग, प्रथम तो विद्या पढ़ानेकी बात भी आए तो धनार्जन करनेकी विद्या पढ़ायेंगे। बादमें विवाह आदिकके कार्य कर देते हैं। ये जो सब संयोग लगाये हैं, ये संसार बढ़ाने वाले हैं या मोक्ष पहुंचाने वाले हैं। ये सब योग संसारको बढ़ाने वाले हैं। तो जो जन्म मरण रूप संसारकी संतानको बढ़ाने वाले विवाह आदिक कार्योंको करें, इस प्रकार के जन तो इस जीवके बैरी हैं। एक बहुत गम्भीरतासे और अपने आपका सदाके लिए कैसे कल्याण हो, इस दृष्टिको लेकर इस बातको सुनिये। यह बात बिल्कुल सही मालूम पड़ेगी। हालांकि परिवारजन कोई द्वेष रखकर ऐसा बैरका काम नहीं करते, वे तो अपनी बुद्धिके माफिक भलाई ही समझ कर बच्चोंका सुख और हित समझकर किया करते हैं, पर उसका फल क्या होता है कि जन्म मरण रूप संसारका बढ़ाना होता है। भला ही समझा पुत्रका उन्होंने किसी वस्तुसे, पर यहां तो इस जीवको उसका कुफल भोगना पड़ा। यह जन्म मरण करानेका कारण बनता है।

शस्त्रघातक बैरीसे बरबादीका अनियम—कोई दुश्मन हो, शस्त्र लेकर आया हो, प्राणाघात कर रहा हो तो उस बैरी ने प्रथम तो एक बार ही उसका प्राण हना, और दूसरे जिसका प्राण हना जा रहा है वह यदि कुछ शान्ति और समताका अभ्यासी बनता है, अपने शुद्ध परिणामों का स्वागत करता है तो कई भवोंके बांधे हुए पापकर्म उसने दूर कर डाले। किन्तु हँसी खुशीसे, विवाह आदिक अनेक झंझटोंमें लगा तो सारे परिजन इस जीवके ऐसे बैरी जैसे काम कर रहे हैं कि इसको तो अनेक बार जन्म मरण धारण करना पड़ेगा, क्योंकि इसने स्वयं बाह्यदृष्टि करके, पापपरिणाम करके कर्मोंका बन्धन किया। जब बहुत समय तक संसारमें रहना पड़ेगा, जन्म लेना पड़ेगा तो इसका अर्थ है कि मारनेको जो शस्त्र लेकर बैरी आया है वह तो उसका एक बार ही प्राण हरने का कारण बना, किन्तु जो मोह और राग करने वाले परिजन हैं ये अनेक बार प्राण हरनेके, मरण होनेके कारण बनते हैं। इसलिए कहा जा रहा है कि तुम परिजनोंमें मोह मत करो, यहां भी अपने ज्ञानबलसे यथार्थ तत्वके ज्ञाता बने रहो।

धर्म और धर्ममयकी मंगलता—हे भव्यात्मन्! इस जीवको केवल अपने आपका धर्म ही शरण है। दर्शन और पूजनसे पहिले पढ़ते हैं—चत्तारि मंगलं। मंगल चार हैं। कौन से ४ मंगल हैं? अरहंत

प्रभु मंगल हैं, सिद्ध प्रभु मंगल हैं, साधु मंगल हैं और केवलीप्रणीत धर्म मंगल हैं। अरहंत मंगल हैं क्योंकि वे वीतराग सर्वज्ञ हैं, शुद्ध ज्ञान विकास वाले हैं। भले ही चारों अघातिया कर्म लगे होनेके निमित्तसे उनके अभी शरीरमें बन्धन है, फिर भी भावबन्धन रंच नहीं रहा। और ऐसा अपूर्व केवलज्ञान प्रकट हुआ है कि समस्त लोकालोक उनके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित हुआ है, ऐसे शुद्ध वीतराग सर्वज्ञ परमेष्ठीकी भक्ति करने योग्य है। अपना ज्ञान निर्मल करें तब ही तो भक्ति कर सकते हैं और प्रभुकी भक्तिके उपयोगके प्रसादसे उसका ज्ञान भी निर्मलता की ओर बढ़ता जाता है। जब ज्ञान निर्मल हो, रागद्वेष की छांट हो उस समय भव-भवके बांधे हुए कर्म स्वयं खिर जाते हैं और विशुद्ध आत्मीय आनन्द उत्पन्न होता है।

मंगलका अर्थ—मंगल किसे कहते है? मंगलमें २ शब्द हैं—मंग ल अथवा गाल। दो तरहके अर्थ होंगे। मंग का अर्थ है सुख। लोग कहते हैं चंगे मंगे। चंगेका अर्थ है स्वस्थ, मंगेका अर्थ है सुखी। जो मंगको ला देवे उसे मंगल कहते हैं। दूसरा अर्थ है, मंगल। मं नाम पापका है। जो पापको गला दे, नष्ट करदे उसे मंगल कहते हैं। लोकव्यवहारमें मंगलकलश भी चलता है। कोई शुभ कार्य हो तो मंगल कलश रख देते हैं। वह कलश क्या मंगल होगा? मंगल तो वह चीज है जो हमारी सुखकी सहयोगी हो। और दुःख की दूर करनहारी हो। फिर कलशमें मंगलकी रूढ़ि क्यों हो गयी? इसका कारण यह है कि पानीसे भरे हुए कलशको देखकर यह निर्णय होता है कि ज्यों कलश पूर्ण जलयुक्त है, पूर्ण घन है यों ही यह आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है, पूर्णज्ञान युक्त है। वह कलश अपने आत्माकी सुध कराता है। इस कारण वह कलश मंगल माना गया है। पानीसे भरे हुए कलशके अन्दर रंच भी जगह खाली नहीं रहती है। जैसे मटके में लड्डू भर दिये तो उसके बीचबीचमें खाली रहती है, ऐसी बात जलसे भरे हुए घड़ेके अन्दर नहीं होती है। उसमें तो जल लबालब परिपूर्ण भरा हुआ होता है। और वह नवीन मिट्टीका घड़ा है। जो भीतर भरा है पानी, वह पानी पूरी मिट्टीमें भी समाया हुआ है। यह कलश अपने आपकी आत्माकी सुध दिलाता है। मेरे में ज्ञान इसी तरह परिपूर्ण भरा हुआ है। बीचमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहां ज्ञान न हो। जीव जितने विष्कम्भको लिए हुए है उसमें प्रत्येक प्रदेशमें ज्ञान भरा हुआ है।

आत्माकी ज्ञानघनता—इस आत्माको ज्ञानघन बोलते हैं। घनका अर्थ वजनदार नहीं, मोटा नहीं। घन का अर्थ है द्वितीय वस्तुका जिसमें अभाव हो। जैसे कोई शीशम की लकड़ी, सागौनकी लकड़ी बड़ी ठोस है, सारभूत है तो कहते हैं कि इस लकड़ीमें सार अधिक है। इसका अर्थ क्या है कि इस लकड़ीमें लकड़ीके तत्वको छोड़कर अन्य कोई तत्व नहीं पड़ा है। अन्य कोई तत्व पड़ जाय तो सार नहीं रह सकता। घुन हो, कीड़ा हो, पोल हो तो उसे सार नहीं कहते। सार तो उसे कहते हैं जिसमें द्वितीय द्रव्य का अभाव हो। यह आत्मा ज्ञानघन है। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई परतत्व इसमें नहीं है। यह कलश अपने ज्ञानस्वरूपकी हमें याद दिलाता है, और ज्ञानस्वरूपका स्मरण मंगल है, यों उपचारसे वह कलश भी मंगल है।

मंगलचतुष्क–चार मंगल हैं, अरहंत प्रभु मंगल हैं और यह ही अरहंत प्रभु जब चार अघातिया कर्मोंका विनाश करके शरीररहित हो जाते हैं, केवलज्ञानपुंज आत्मा ही रहता है उन्हें सिद्ध कहते हैं। आत्माका परिपूर्ण विशुद्ध अन्तर बाह्य सर्वयत्नोंके सम्पर्कसे रहित यह शुद्धस्वरूप है। ऐसा ही स्वरूप हम आप सबका है। पर उसका विश्वास न करने से बाह्यकी दृष्टि करके जड़ विभूतिके प्रति भिखारी बन जाता है। जीवन चलाने योग्य सब कुछ मिला है तब भी संतोष नहीं कर सकते। सिद्ध प्रभु मंगल हैं। ये शाश्वत निराकुल सुखमें ही मग्न रहेंगे। कर्म बन्धनसे कभी भी लिप्त न होंगे। मंगल ४ हैं जिनमें दो तो बताये हैं अरहंत सिद्ध। ये देव कहलाते है। तीसरे मंगल हैं साधु। साधु कहनेमें आचार्य, उपाध्याय, साधु तीनोंको लेना। ये साधु पुरुष संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं। अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिमें निरत रहा करते हैं। ये समस्त जीवोंमें समता भाव रखते हैं। कोई बन्दन कर रहा हो तो, कोई गाली दे रहा हो तो, कोई लाठी से पीट रहा हो तो, सब जीवोंमें उनके समता रहती है। इसीलिए उनकी इतनी पूज्यता है। ये सब धर्मके प्रसादसे मंगल हैं। धर्म मंगल है।

साधुकी अविचलितता–राजा श्रेणिकके समयमें एक घटना घटी, जिससे श्रेणिक राजाके पतनका और उद्धारका दोनोंका सम्बन्ध है। पूर्व कालमें अपने जीवनके पूर्वार्द्धमें श्रेणिक बौद्ध थे और उनकी पत्नि चेलना जैन थी। कभी कभी इन दोनों में अपने-अपने धर्मके प्रति विवाद हो जाता था। एक बार श्रेणिकके धर्मविवादमें कहीं हार मानकर बदला चुकानेके लिए साधुके अपमानका प्रयत्न किया। श्रेणिक जंगलमें जा रहे थे। एक जगह एक मुनि महाराज बैठे हुए थे। पास ही वहीं एक मरा हुआ सर्प पड़ा था। सो उस ही सर्पको उठाकर मुनिके गलेमें डाल दिया और चले आये। इससे उसे ७वें नरकका बन्ध हुआ। दो तीन दिन बाद कुछ जिकर हुआ। जब जिस ओर दृष्टि नहीं है तब वहां कैसे मनमें यह आ गया कि उनको बड़ा कष्ट होगा। दो तीन दिनके बाद चेलनासे बात चली। चेलना साधुवोंके गुणोंको बखान रही थी। तब श्रेणिक बोले कि हमने तुम्हारे साधुके ऊपर मरा सांप डाल दिया है। तो चेलनाने कहा–अरे तुमने बड़ा अनर्थ किया। अभी तक साधु महाराज निराहार बैठे होंगे। तो श्रेणिकने कहा–अरे वह तो पहिले ही सांपको फेंककर उठकर चले गए होंगे। वह तो उसी स्थान पर ध्यानावस्थामें बैठे होंगे। दोनों चले मुनि महाराजको देखने। वहां जाकर देखा तो मुनि महाराज ध्यानस्थ बैठे हुऐ थे। मरा हुआ सांप गलेमें पड़ा हुआ था। बहुतसी चींटियां सारे शरीरमें रेंग रही थीं।

समताके दर्शनसे श्रेणिकका उद्धार–इस उपसर्गके निवारणमें चेलनाने क्या किया कि नीचे शक्कर बिखेर दी। सारी चीटियां नीचे उतर गयीं, तब सांपको अलग कर दिया। कुछ ही समय बाद मुनिराज की आंखें खुलीं। वे उत्कृष्ट ज्ञानी थे। दोनोंको मुनिराजने आशीर्वाद दिया–उभयों धर्मवृद्धिरस्तु। तुम दोनों को धर्मवृद्धि हो। अब तो राजा श्रेणिकको कुछ विवेक जगा। सोचा कि मैंने इतना बड़ा पाप किया, फिर भी मुझे ऐसा आर्शीवाद दिया। हम दोनोंके प्रति मुनिराजका यह भी भाव नहीं हुआ कि इस चेलनाने तो उपसर्ग दूर किया है, धर्मात्मा है, साधुभक्तिसे ओतप्रोत है

तो इसकी ओर कुछ प्रसन्नतासे देख भी लें और इसे पहिले आशीर्वाद दें, सो भी नहीं। उन मुनिराजकी दृष्टिमें वे दोनों एक समान थे। अब तो श्रेणिक यह सोचने लगा कि मैनें ऐसे उदार महान् योगिराजको ऐसा उपसर्ग किया। मुझे तो जीवित रहना ही न चाहिए। विचार करने लगा कि मैं अपनी ही तलवारसे अपनी गरदन इसी समय उड़ा दूँ, ऐसे पापीको जीनेका अधिकार नहीं है। मुनिराज बोले—अरे श्रेणिक! यह क्या विचार तुम करते हो? ये तो कर्मोंके उदय हैं। आत्मातो स्वभावतः पवित्र है। तुम आत्महत्या करना क्यों विचार रहे हो? लो मनकी बातको मुनिराजने बता दिया। इतनी बात सुनकर अब श्रेणिक और धर्मानुरागी हुआ। अब साधु महाराजके प्रति श्रेणिकके इतनी भक्ति जगी कि धन, सम्पदा, विषय, कषाय के सर्वविकल्पोंका परित्याग करके साधुके गुणोंमें अनुरक्त हो गया। उसे सम्यक्त्व जगा कि उसके प्रतापसे सप्तम नरकसे घटकर केवल पहिले नरककी स्थिति रह गई और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया।

साम्यधर्मकी ओर—एक समताभावके रख लेनेसे साधुको भी आनन्द रहता और भक्तका भी उद्धार होता है। यों अरहंत, सिद्ध, साधुको मंगल कहा। अब चतुर्थ मंगल सुनें। केवली भगवान्ने जो धर्म बताया है, जो मेरा स्वरूप बताया है उस स्वरूपकी दृष्टि करना यही है धर्मपालन। यह धर्मपालन मंगल है। यों इस मंगलकी ओर जो लगाये, वह तो है वास्तविक मित्र और जो इस मंगलसे हटकर जन्म संतान बढ़ानेके ही करतब कराता है वह तो इस जीवका वास्तविक बैरी है। परिजन वैभव आदिकमें व्यामोह मत करो, हित मानकर राग न करो। किन्तु अपने आपके स्वरूपदर्शन और प्रभुदर्शनको हितका कारण मानकर उसकी ओर बढ़ो।

रे धनरन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणे क्षणे॥८५॥

यत्न कर-कर जलते हुए स्वयंको और ज़लाना—यह भ्रान्त जीव आशारूपी अग्निमें धनरूपी ईंधनके भारको डाल-डालकर जल तो रहा है और अपने को शान्त समझ रहा है। जो बात संसारी प्राणियोंपर बीत रही है, उसको कहा जा रहा है। जिस चीज पर अपना वश नहीं है, जो अपनेसे अत्यन्त भिन्न है उसकी आशा बढ़ाना, यह तो अपने आत्मा भगवान् पर अन्याय करना है। यह स्वयं आनंदमय है। विकल्पोंने आनन्द में बाधा डाली है। जैसे गम्भीर शान्त कोई तालाब हो और उसमें कंकड़ डाल देवें तो जैसे उसकी शान्तिमें खलल पड़ जाती है, तरंगें उठती हैं और वह सारे जलाशय को हिला देता है, ऐसे ही स्वभावतः ज्ञायकस्वरूप शान्त इस आत्मा भगवान्में यह विकल्पोंका ढला पड़ा है, तरंग उठती हैं और यह आत्माको विकृत कर देता है। हे भव्य आत्मन्! यही काम तू अनादिसे करता चला आया है, इस कार्यसे तू विराम नहीं लेता। इस धन ईंधनके भारको अग्निमें डालकर जल रहा है, बढ़ रहा है, अग्नि ज्वालासे संतप्त हो रहा है और फिर भी मानता है कि मैं शान्त हूँ। दुःखी होकर भी अपने को दुःखी नहीं मान सकते। यह कितना तीव्र भ्रम है और दयनीय स्थिति है?

उन्मत्तकी दयनीयता—जैसे जिसका दिमाग खराब हो जाता है वह पागल दुःखी तो रहता है और अपनेको दुःखी भी नहीं मान पाता, हँसता हैं, गाली देता हैं और दुःख उस पर बहुत अधिक है। इस दुःखको दूसरे लोग अनुमानतः जानते हैं। इष्टजन परिजन उस पर बड़ी तरस खाते हैं—हाय! कैसे उसका दिमाग सुधरे, कैसे इसके विवेक जगे। इसकी तो बुद्धि ही उलट गयी है, किन्तु जिसकी बुद्धि पलट गयी है वह अपनेको उल्टी बुद्धि वाला नहीं मानता है। दुःखी होकर भी अपनेको दुःखी नहीं समझ पाता है और व्यग्र तो अत्यधिक हो रहा है। हे आत्मन्! जितने अपने आत्मा के निकट आवोगे उतनी ही शान्ति पावोगे। एक ही निर्णय है। चाहे कोई राजा महाराजा हो, चाहे कोई कुबेर सेठ हो, कोई भी हो, प्रत्येक जीव अपनी इस अज्ञानताके कारण निरन्तर दुःखी हो रहा है।

भेदभावके विवेककी आवश्यकता—अग्निमें ईंधनको डाल-डालकर अग्निको शान्त नहीं किया जा सकता है, वह तो बढ़ेगी। ऐसे ही दुःख तो आशाका लगा है और यह आशा जैसे-तैसे वैभव धन मिलता जाता है तैसे ही तैसे बढ़ती जाती है। यह सब आंखों देखी बात है। आप हम सब देख रहे हैं। इस जीव तत्वको जानने वाला यहां है कौन? सब इस मायामयी पर्यायको निरखकर इस रूप शक्लसूरतको देखकर यह मानते हैं कि यह ही है जीव। यें ही हैं इष्टजन, ये ही हैं अनिष्टजन। ऐसे मायामय ये सबभाव बनाकर अपनी कल्पनाएँ बढ़ाता है यह जीव। परमार्थसे अपनेको समझता कौन है? ज्ञानी पुरुष पर ऐसी भी बड़ी विपदा आ जाय, जिसमें कि ये तीन लोकके जीव सब मार्ग छोड़ दें, किन्तु यह ज्ञानी संत पुरुष गृहस्थ हो तो क्या, साधु हो तो क्या, जिसमें ज्ञानबल प्रकट हुआ है वह प्रत्येक स्थितिमें अडिग रहता है। जिसे दुःख न चाहिए उसका कर्तव्य है कि जिस वस्तुका जिस जिसका समागम हुआ है उसमें मोहमस्त न हो, उससे आसक्त न हो। यह तो दो और दो चार जैसा युक्तियुक्त है। जो समागम खुशी मानेगा उसे वियोगके समय दुःखी अवश्य होना पड़ेगा। वियोग सबको आयेगा। जिस जिसका संयोग हुआ है उस उसका वियोग अवश्य आयेगा और वियोगके कालमें ऐसा ही दुःख भोगना होगा, जैसे हम अनेकको दुःखी देख रहे हैं।

खुदको जलानेकी उन्मत्तता—जैसे कोई बावला थोड़ी सी अग्निसे जल रहा है और उसमें ईंधन डाल कर अग्निको बढ़ाये और बहुत जलने लगे तिस पर भी अपने को शीतल माने तो उसे आप कितना बावला कहेंगे? होती है बच्चोंकी ऐसी आदत कि वे आगको छूते हैं, मुट्ठीमें आगको पकड़ लेते हैं और जल जाते हैं। नादान बच्चा जलती हुई अग्नि को पकड़ लेता है, उससे भी बढ़कर है पागल पुरुष। कोई अग्निसे जल रहा है और उसीमें ईंधन डाल दे, आग ज्यादा जलने लगे, तिस पर भी वह अपनेको शीतल हुआ मानता है, ऐसे ही यह भ्रान्त आत्मा थोड़ी आशाकी अग्निको बढ़ाकर और ज्यादा जलने लगा। आश्चर्यकी बात तो यह है कि उस ज्यादा जलती हुई स्थितिमें अपने को वह सुखी मान रहा है। परमार्थसे वह सुखी नहीं है।

व्यवहारमें परमार्थताका अभाव—भैया! क्या किया जाय कि सुख मिले? धन सम्पदा बढ़ायें, उसमें भी सुख नहीं। अच्छी बात दिलमें घर नहीं करती। क्योंकि धन सम्पदाकी तृष्णा लगी हुई

है। कीर्ति बढ़े, प्रशंसा बढ़े, यश बढ़े उसमें भी दुःखी रहता है। सत्य बात तो यह है कि किसको तुम क्या दिखाना चाहते हो? जो ये दृश्यमान् मूर्तियां हैं वे सब मायामय हैं, परमार्थ नहीं है। जिसे कहते हैं कि कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा। भानुमतीने कुनबा जोड़ा। कहां तो ये आहारवर्गणाके स्कंध जिनसे शरीर बनता है, कहां ये कार्माणवर्गणाके स्कंध जिससे कर्म बनते हैं। तैजस वर्गणाके स्कंध जिससे तैजस शरीर बनता और भाषावर्गणाके स्कंध जिससे भाषा बनती, मनोवर्गणाके स्कंध जिससे मनकी रचना होती। कहींका ईंट कहींका रोड़ा, और भ्रान्त जीव ने यह कुनबा जोड़ा। सारभूत तत्व है क्या यहां? किसे मानते हो कि यह मैं हूँ। जो मैं हूँ अदृश्य हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दघन हूँ। इस मेरेमें किसी भी प्रकारका कोई अपनी ओरसे मिलता नहीं है, किन्तु जरासी भूलपर इतनी मलिनता चिपट गई है कि स्वभाव की बात नहीं नजर में आती, नहीं समझमें आती।

असंभवको संभव करनेका व्यर्थका प्रयास—भैया! आखिर यह तो ख्याल करो—एक समय वह भी तो आता है कि सब कुछ छोड़कर देहको भी छोड़कर यहां से चला जाना है। जरा कल्पनामें तो उस अगले १०-५ वर्षको अभी ला दो मनमें उपयोगमें। मानलो यह अभी ही हो चुका हो कि मैं सब कुछ छोड़कर आगे चला गया, मर गया तो अब किस गतिमें होता? मेरे लिए तो अब यहां का कुछ नहीं रहा, जिसको निरखकर चिंता और व्याकुलताएँ मचाया करते हैं, सुगम स्वाधीन इलाज तो किया नहीं जाता और जो पराधीन, दुर्गम, दुर्गम भी क्या, असम्भव है उसे सम्भव करने पर तुले हुए हैं ये भ्रमी जीव।

प्रत्येक परिस्थितिमें ज्ञानबलका प्रभाव—इस प्रसंगमें यह प्रश्न हो उठता है तो फिर क्या करें? क्या दुकान न जायें? क्या थोड़ी बहुत कमायी न करें? फिर कैसे व्यवस्था चलेगी इस देहकी, घरकी और अन्यजनोंकी और जो ऋषी संत त्यागीजन उपदेश दे रहे हैं उनकी भी क्या गति होगी? हम सब गृहस्थ छोड़ दें तो कैसे व्यवस्था बनेगी? अरे व्यवस्था कोई नहीं बनाता। मार्ग तो ज्ञान और वैराग्य का ही है युक्त चलने के लिए। उस पर दृढ़तासे न चल सकें तो उस कमजोरीमें ऐसा रागभाव बर्तता ही है कि यह सब करना पड़ता है। करते हुएमें भी यथार्थ बात तो चित्तमें रक्खो कि मैं क्या हूँ, मेरा निमित्त पाकर फिर बाहरमें कितनी परिणतियां बनती हैं? यथार्थज्ञान करनेको कौन रोकता है? परिस्थितिसे बाध्य हैं आप, ठीक है, रहेंगे बाध्य कुछ समय तक, पर ऐसा बाध्य होनेकी स्थितिमें भी सच्चा ज्ञान करें तो उसे कौन रोकेगा? कौन आड़े आयेगा? संसारके संकटोंसे छूटनेके लिए एक सम्यग्ज्ञान आवश्यक है, जिसके प्रतापसे सब औपाधिक संकट दूर हो जाते हैं। भ्रम कर करके खूब उमर बढ़ी, आशा लगा लगाकर जवानीका अन्त आ रहा है और इस स्थितिके बाद क्या गुजरता है तिस पर भी कितना बेहोश रहता है—इस बातको गुणभद्र स्वामी कह रहे हैं—

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति॥८६॥

निर्बुद्ध दशा—बुढ़ापा शुरू हुआ, यह सारा सिर सफेद बालोंसे भर गया, श्वेत ही श्वेत ये केश

दिख रहे हैं, यह क्या चीज है? यह क्या सिरमें ये सफेद-सफेद निकल रहा है? ये सारे श्वेत बाल निकल रहे हैं, यह बुद्धि की स्वच्छता निकल रही है। जो देहमें स्वच्छ बुद्धि थी अब उस स्वच्छताके लायक यह घर नहीं रहा। शरीरका बल भी घट जाता है। बुढ़ापेमें और दुःख तो कम रहते हैं, पर बुद्धिकी स्वच्छता निकलनेसे दुःख विशेष बढ़ जाता है।

वृद्धकी हठ–लड़के हों चार छः और एकसे एक बढ़िया व्यापार भी करते हैं, कमाऊ हैं, तिस पर भी इस बुड्ढेसे नहीं रहा जाता। यह बुड्ढा उन लड़कोंकी किसी न किसी करतूत में कुछ न कुछ बतावेगा। लड़केन मानेंगे तो यह खिसियायेगा कि कोई मानते नहीं हैं। उसके बताने से चाहे नुकसान हो जाये, तिस पर भी यह बूढ़ा चुप नहीं बैठ सकता। अरे रोटी खाना और शान्तिसे बैठना यही काम होना चाहिए, सो नहीं, शरीर जैसे ही शिथिल हुआ, इन्द्रियां जैसे शिथिल हुईं वैसे ही इसकी वाञ्छाएँ और बढ़ जाती हैं। यही तो कायरता है। बलवान् पुरुषके वाञ्छावोंकी परवशता नहीं होती है।

लोककी प्रकृतिवश अशुभवृत्ति–ये देखो सफेद केश के बहानेसे तेरी बुद्धिकी स्वच्छता शरीरसे निकली जा रही है, अब तू वृद्धावस्थामें परलोक के वास्ते भी विचार नहीं करता। तू ऐसा विचार कि युवावस्थामें तो धन स्त्री आदिकके सुख भोगेगा और वृद्धावस्थामें धर्म करके परलोकका यत्न करेगा, सो देखा, वृद्धावस्था जब आती है तो श्वेतकेश निकलते हैं, उससे बुद्धिकी शुद्धता निकल जाती है। तू जो पहिले सोच रहा था वह सब व्यर्थ हो जाता है। कोई बिरला ही पुरुष होगा, जिसके आत्मकल्याणकी भावना जगती है।

लोककी प्रकृतिवश अशुभवृत्ति–एक ऐसी ही किम्वदन्ती है कि नारदके चित्तमें आया कि चलो जरा पाताल लोककी सैर करें। गये पाताल लोक। नरकभूमिमें देखा कि ठसाठस जीव भरे हुए हैं। कहीं खड़े होने तक को भी जगह न मिली। वहांसे भागकर स्वर्गलोक गए। वहां विष्णुदेव दो तीन सेवकों सहित आराम कर रहे थे। नारदने कुछ डाटासा कि तुम पक्षपाती हो। नरकमें ठसाठस जीवोंको भर दिया है, वहां खड़े होनेकी भी जगह नहीं है और यहां बिल्कुल सूनासाना है। अपना घर आप अच्छा बनाए हैं। तो विष्णु बोले कि यहां कोई आता ही नहीं है। जावो हम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि जो भी यहां आना चाहे उसे लिवा लावो। अब नारद आये मध्यलोकमें। सोचा कि बूढ़ोंसे अपनी दाल गलेगी। उन्हींके पास चलना चाहिए। गये एक बूढ़े के पास। उससे कहा चलो बाबा जी! हम तुम्हें स्वर्ग ले चलेंगे। स्वर्ग बिना मरे तो जा नहीं सकता, सभी जानते है। तो उस बूढ़े ने जवाब दिया कि हमही तुमको मिले, तुम जावो, हम न जावेंगे। इसी तरहसे कई बूढ़ोंके पास नारद गये, पर वहां दाल न गली। सोचा कि अब जवानोंके पास चलें। एक जवानके पास जाकर बोले नारद कि चलो हम तुम्हें स्वर्ग ले चलेंगे। तो उसने भी अपनी सारी झंझटें बखान दीं। ये बच्चा-बच्ची हैं, इनकी शादी करना है, पढ़ाना लिखाना है। यों कई जवानों के पास नारद गये, पर कोई भी जाने को तैयार न हुआ। तब नारदने सोचा कि जवानोंसे दाल नहीं गलती चलो अब लड़कोंके पास चलें। ढूंढते-ढूंढते एक १९ वर्षका लड़का मिला, जो कि किसी मंदिरके

चबूतरे पर बैठा हुआ माला फेर रहा था। सोचा कि यह जरूर चलेगा। नारदने कहा—चलो बेटा हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें। वह झट तैयार हो गया, चल दिया। कुछ दूर चल कर कहता है कि महाराज! सुनो, अभी १०-५ दिन पहिले सगाई हुई है, ५ दिनमें शादी होने वाली है। कुछ रिश्तेदार तो अभी से आ गए हैं। सो महाराज शादी हो जाने दो, फिर आप ५ वर्ष बाद आना हम जरूर चलेंगे। ५ वर्ष बाद नारद पहुंचे। अब वह हो गया था २४ वर्ष का। नारदने चलनेको कहा तो वह बोला—महाराज! एक बच्चा हो गया है। इसे समर्थ करदें फिर चलेंगे। सो महाराज २० साल बाद में आना। २० साल बाद नारद आये। अब वह हो गया ४४ वर्ष का। नारदने चलने को कहा तो वह बोला—महाराज अब नातीका मुख देख लें तब जरूर चलेंगे। आप १५ वर्ष बादमें आना। १५ वर्ष बाद नारद आये तो अब तो वह बूढ़ा हो चुका था। नारद ने चलने को कहा तो वह बोला, महाराज मैंने धन कमाकर रक्खा है लड़के नाती कुपूत हो गये हैं, यदि हम चलेंगे तो ये इस धनको थोड़े ही समयमें बरबाद कर देंगे। सो महाराज आप इस भवमें नहीं, अगले भवमें जरूर आना तब हम चलेंगे। अब वह तो मरकर सांप बन गया, उसी स्थान पर रहे जहां धन गड़ा था। नारद वहां भी पहुंचे, स्वर्ग चलनेको कहा तो वह फन हिलाकर कहता है—महाराज! हम तो धनकी रक्षा करनेके लिए ही यहां पैदा हुए हैं। नारद लौट गए।

आशानिवृत्ति व समातावृत्तिमें कल्याण—अरे भैया! अब कल्याण करोगे? वृद्धावस्थामें तो और भी शिथिलता आ जाती है। वृद्धावस्थामें वह ही पुरुष सफल होता है जिसने जवानीमें तप व्रत संयम किया हो, ज्ञान कमाया हो। सो अब विराम लो। इन धनरूपी ईंधनको डाल-डालकर आशारूपी अग्निको न बढ़ावो। अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर झुकाव करके शीघ्र धर्म कर लेना चाहिए। सर्वविकल्पों को मिटाकर समतापूर्वक मरण करेंगे तो उस समाधिमरणके प्रतापसे सद्गति पाकर आनन्द पायेंगे।

इष्टार्थाद्यदवाप्ततद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर-
न्नानामानसदुःखवाऽवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे।
मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे,
मोहग्राहविदारितास्यविवराद् दूरे चरा दुर्लभाः॥८७॥

संसारसमुद्र—यह संसार भयानक समुद्रके समान दुस्तर और दुःखकर है। जैसे कोई भयानक समुद्र जो प्रथम तो सारे खारी जलसे भरा हुआ है और जिसमें बीच-बीचमें बड़वानलकी ज्वालाएँ भी निकलती हों, जिनकी बड़ी कठोर चपलताएँ उठ रही हों और जिनके मध्यमें बड़े-बड़े मगर ग्राह विचर रहे हों, ऐसे समुद्रमें कोई मनुष्य फंस जाय तो उस मनुष्य को कितनी व्यथा है, कितनी आकुलता है? ऐसे ही जानो कि यह संसार उस भयानक समुद्रसे भी घोर भयानक है। इस संसार में सुख तो है। जैसे समुद्रमें जल तो है मगर खारी है। इसी तरह इस संसारमें सुख तो है, लेकिन इन्द्रियजन्य, पराधीन, विषयकर उत्पन्न होता है, अतएव उससे तृप्ति होती नहीं है। ऐसा खारी जलकी भांति है यह। जैसे खारी पानी को पीने से प्यास दूर नहीं होती, इसी प्रकार सांसारिक सुखोंके भोगनेसे प्यास दूर नहीं होती है, तृष्णा दूर नहीं होती है।

विषयोंकी व्यर्थता–भला कह लो एक जीनेके लिए भोजन आवश्यक है, पर एक भोजनको छोड़कर बाकी जो अन्य विषय हैं-स्पर्शनके, गंध तेल इत्र फुलेलके, रूप देखनेके, संगीत सुननेके, ये जो समस्त विषय हैं उन विषयोंके साधन न मिलाये जायें तो यह जीव मर तो न जायेगा। हां भोजन और पानी न मिले तो मर जायेगा यह मनुष्य, पर इत्र फुलेल न सूँघे तो मनुष्य मर जायेगा क्या? ये विषय व्यर्थ ही तो हुए ना। जीवनमें साधक नहीं और व्यर्थकी कल्पनावोंके उत्पादक हैं। चक्षुरिन्द्रिय से सुन्दर रूप मनके अनुसार रूप न देखा जाय, मान लो आंखें बंद करके ही बहुत काल तक रहा जाय तो क्या प्राण घुटते हैं, क्या मरण हुआ जाता है? यह बिल्कुल व्यर्थका विषय है कि नहीं?

इन्द्रियज विषयसाधनकी दूरता–इन इन्द्रियोंके दूर दूरसे ही विषय साधन होते हैं। रूप दूरसे ही तो निरखा जाता है। जो सुन्दर रूप मालूम पड़े, तो आंखमें लगा लो कुछ नजर ही न आयेगा। तो यह भी व्यर्थका आपत्तिमें फंसाने वाला विषय साधन है। संगीतकी भी बात इसी प्रकार है। कर्णोंसे न गायन सुनें, न गीत सुनें, न संगीत सुनें तो भी जीवन बिगड़ता नहीं है। भोजन पानकी बातभी विचारणीय है। इस विषयमें भी चटपटी और रसीली स्वादिष्ट चीजें न खायें तो कुछ बिगड़ता नहीं है। ऐसे ही स्पर्शन इन्द्रियका विषय बिल्कुल व्यर्थका है और फिर मान लें विषय साधनोंका उदय है, करना पड़ता है, पर यह भी तो तृष्णा और व्याकुलतासे भरा हुआ है। यह सांसारिक सुख समुद्रमें खारे जलकी तरह है। इस सुखसे तृष्णा शान्त नहीं होती है।

ज्ञानसिंधुमें क्लेशाग्नि–जैसे समुद्रमें बड़वानलकी ज्वालाएँ फूट निकलती हैं। भला देखो विचित्रता है कि पानी, किन्तु उसमें से अग्नि निकल आती है, उसीको बड़वानल कहते हैं। है ना अचरजकी बात कि पानीमें आग लग जाय और यहां देखो तो पानीसे आग ही पैदा हो जाती है। इसी को बड़वानल कहते हैं। ऐसे ही मानसिक जो दुःख हैं, चिन्ताएँ हैं ये भी बड़वानलकी तरह हैं। जहां मानसिक आभ्यंतर निरन्तर पीड़ा चल रही है वह पीड़ा इस जीवको सोख रही है। जैसे समुद्रमें उठा हुआ बड़वानल जलको सोखता है ऐसे ही संसारका जो मानसिक दुःख है वह मानसिक दुःख इन्द्रियजन्य सुख तक को भी भोगने नहीं देता। जब कोई मानसिक क्लेश होता है तब भोजन भी नहीं सुहाता, खाया नहीं जाता। जब कभी धन बढ़ाने की तृष्णाकी धुनमें मानसिक क्लेश बढ़ जाता है तो जो पासमें सामग्री है, साधन है, वैभव है उसका भी सुख नहीं भोग सकता। एक कहावत है—आधी छोड़ सारी को धावे। आधी मिले न सारी पावे॥ वर्तमान प्राप्त सामग्रीमें संतोष न करके जो अप्राप्त है, नहीं है उतने वैभवकी ओर दृष्टि रहे तो वह अधिक तो प्राप्त है ही नहीं। उसका सुख कहांसे हो, और जो प्राप्त है उसका भी सुख नहीं रह पाता। बस यही मानसिक दुःख है। यह इस संसारमें बड़वानलकी तरह संताप उत्पन्न करने वाला है। भयानक घोर समुद्रसे भी अत्यन्त भयानक यह संसार है। समुद्रमें तरंगे जैसे चंचल और कठिन चलती रहती हैं, ऐसे ही इस संसारमें जन्ममरण बालक जवान वृद्ध सभी सभी दशायें चंचल होकर चलती रहती हैं।

क्लेशमुक्तिका बीज यत्न–संसारसमुद्रमें फंसा हुआ यह जीव अनादि कालसे दुःख भोग रहा है। इन समस्त दुःखोंसे छूटनेकी जरासी कुंजी है। जिसने कुञ्जी पा ली उसको सुगम है और न पाया तो उसे कठिन अथवा असम्भव है। इस देहके अन्दर सोचने वाला, चिन्तन करने वाला कोई सत् पदार्थ है ना। जिसको लोग मैं मैं कहा करते हैं–मैं आया, मैने किया। मैंने सोचा, वह मैं क्या है? उसका वास्तविक स्वरूप एक झलक में जान जाता है। जैसे महलका बनाना एक सेकेण्डमें नहीं बनता, कोई व्यापारादिका चलाना एक सेकेण्डमें नहीं बनता, सांसारिक साधनोंकी बात एक मिनटमें नहीं होती, किन्तु यह आत्मस्वरूपकी झलक एक मिनट नहीं, एक सेकेण्ड नहीं, उसके भी कई हिस्सोंमें जितना समय हो जाता है, उतने में हो जाता है। किन्तु अनादि कालसे मोहवासनासे दूषित इस आत्माको ज्ञानभावना और ज्ञानाभ्यासकी विशेष जरूरत है।

मानवजीवनका लक्ष्य–सच पूछो तो यह मानवजीवन एक आत्मस्वरूपका परिचय पाकर उसमें मग्न होकर आत्मकल्याण करनेके लिए है। यह निर्णय जब तक न किया जायगा तब तक तो भटकना पड़ेगा और वह जीवन यों ही व्यर्थ खो दिया जायेगा। यह बात सबकी अपनी-अपनी है। एक इस आत्मासाधनाके सिवाय बाकी अन्य जो क्रियाएँ हैं उनमें खूब परख लो, उनको करके अन्तमें लाभ कुछ न मिलेगा। वर्तमानमें भी यह कल्पना मात्र है कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा घर है, यह मेरी स्त्री है, और फिर उन सबका भाग्य तुम्हारे भाग्यमें समाया हुआ है क्या? यह भी विश्वास नहीं होता कि जितने घरमें प्राणी हैं उन सबका भाग्य उन सबके साथ है, इतना भी विश्वास न हो तो फिर अनाकुलता पानेकी तो चर्चा ही क्या की जाय? अरे यह सम्भव है कि घरमें रहने वाले जो लोग हैं उनका भाग्य तुम्हारे भी भाग्यसे अधिक अच्छा हो। और यदि उनका भाग्य ऊँचा न होता तो कमानेकी कला अच्छी जानने वाले आप उनकी सेवा क्यों करते? इस लोकमें चिन्ताकी बात तो कहीं रंच भी नहीं है। चिन्ताके ढंगसे अपना ज्ञान बनाया तो चिन्ता बनती है, नहीं तो कहीं चिन्ताकी बात ही नहीं है।

ज्ञानियोंका बल–यह संसार यद्यपि खारे समुद्रसे भी भयानक है, फिर भी जो ज्ञानी पुरुष होते हैं वे इस मोहके ग्रासके मुखसे अलग बने रहते हैं। बाह्यदृष्टि करके किस ओर दौड़ लगायी जाय कि जहां मेरेको शरण मिल जाय? बाहरमें आलम्बन देने वाले तो मिल जायेंगे, पर यह सब धोखा है। कोई मेरी रक्षा कर सके, ऐसा किसी दिशामें दौड़ लगाकर कहीं पहुंच जानेसे कोई मिल जाय तो बता दो। कहीं इस जीवको शरण नहीं है। इस का शरण तो स्वयं ही यह है। जब बाह्यपदार्थोंका विकल्प त्यागकर ज्ञानपुंज मात्र अपनेको अनुभव करें, बस उसीकी शरण मिलेगी। फिर रही यह बात कि आखिर फिर भी तो शरीर लगा है। इसको खिलाना पिलाना और व्यवस्था करना फिर भी तो आवश्यक है। ठीक है, पर उसके लिए जीवन न समझो। इससे तो रहित होनेका प्रोग्राम है अपना।

ज्ञानभावनाका पूज्य क्षण–भैया! कोई क्षण ऐसी भावना तो आए कि मैं शरीरसे रहित खुद ही खुद रह जाऊँ। इसकी सफलता देहमें दृष्टि करने से न मिलेगी। यह आत्मा तो बड़ा समर्थ सत्

है। देहदृष्टिसे तो देह मिलनेकी परम्परा ही बढ़ेगी और आत्मदृष्टि रखोगे, देहसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्माका अनुभव करोगे तो देहोंका मिलना छूटेगा। ऐसी भावना करो कि मुझे तो इस शरीरसे भी न्यारा रहना है। सर्वशरीरोंसे जुदा केवल ज्ञानस्वरूप मात्र मुझे रहना है। यह अपना प्रोग्राम यदि नहीं बन पाया तो फिर मंदिरमें किस लिए आते हैं सो बतावो? एक इस प्रयोजनको छोड़कर अन्य कोई प्रयोजन मनमें हो और उन उद्देश्योंसे मंदिरमें आना हो रहा हो तो फायदे की बात कुछ न मिलेगी। भले ही कुछ मंदकषाय होनेसे पुण्य बंध हो जाय। प्रथम तो इसका ही विश्वास नहीं है कि मंद कषाय है। क्या एक तेज बोलनेसे ही तीव्र कषाय कहलाता है? मोह भरा रहे, तृष्णा बनी रहे, राग बना रहे, लोभ बना रहे, बाह्य वस्तुओंको अपनानेकी बुद्धि रहे, यह तो गुस्सा करने वाले से भी तेज कषाय हैं। मंद कषाय भी कहां हुआ? अब सोच लीजिए। यदि चित्तमें यह बात नहीं समाती है तो मंदिरमें आकर कोई लाभकी बात नहीं पायी।

प्रभुमार्गके अनुसरणका निर्णय–भैया! यह निर्णय बनावो, मंदिर आते ही प्रभुकी मूर्तिको निरखकर प्रभुके परिणमनमें जो बातें गुजर रही थीं, उन सब दृश्योंको अपने उपयोगमें ले आएँ और उनके चरित्रको निरख कर अपनेमें ऐसी भावना जगावें कि हे प्रभो! जिस मार्गसे आप चले उस मार्ग पर चले बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता। आपने जो किया वह श्रेष्ठ ही किया, वही मेरे करने लायक काम है। ऐसी उपासनाका प्रोग्राम मनमें न आये तब तक नाम मात्रके हम धर्मी पुरुष हैं। वास्तवमें धर्मका पालन हो और दुःख रह जाय यह हो नहीं सकता। धर्मका नाम लगाया जाता रहे और कषायोंकी बात ही पोषी जाय, वहां अनाकुलताका क्या काम है?

संसाररूपी भयानक समुद्र और उसके तिरनेका उपाय–यह संसार खारे समुद्रसे भी भयंकर स्थल है। कोई जीव ऐसे समुद्रमें फँस जाय जहां खारा पानी है, बड़ी तेज लहरें उठ रही हैं और कहीं कहीं बीचसे अग्निके भयंकर संताप उठ रहे हैं और नीचे हजारों मगर फिर रहे हैं तो सोचो उसको कितनी व्याकुलता और बेचैनी है? ऐसे ही जानो कि जहां संसार सुखका खारा जल भरा हुआ है, पीवे तो प्यास बढ़े, तृष्णा बढ़े। जहां मानसिक चिंतावोंकी भयंकर धारायें चल रही हैं, ऐसे स्थलमें यह जीव कितना दुःखी है? देखो पानीमें भी भभका उठता है और आनन्दनिधान इस आत्मामें भी मानसिक दुःखके बड़वानल का भभका उठ रहा है, बीमारी बन रही है।.... डाक्टर साहब बीमारीकी दवा दो। ...अरे जो तुम्हारे रोग है उसकी तो हमारे पास दवा ही नहीं है। छोड़ दो चिन्ता, समस्त पर हैं, उनकी चिन्ता, उनका शोक, उनका विचार, मोह व्यामोह और आकुलता छोड़ दो। कोई परिस्थिति ऐसी हो कि न छोड़े जा सकें तो वहां यह समझ कर छोड़ दो कि हमारे वश की परिस्थिति तो नहीं है। अब जैसा जो जहां परिणमन होगा, हो लेगा, जरासी औषधि है। अपनेको सबसे न्यारा जान लो, चिन्ताएं त्याग दो, जैसा समय गुजरे, गुजरने दो।

अतीत और भावी निर्णय–अहो! यह जीव भव भवमें भी व्यामोह नहीं छोड़ता और मरण कर जाता है, दूसरे भवमें भी पहुंचकर व्यामोह नहीं छोड़ता। यह सोच, यह बात, यह चाल

अनादिकालसे चली आ रही है। इस संसारसमुद्रमें यह मोहरूपी ग्राह अपना मुख फाड़ रहा है जीवोंको लीलनेके लिए। इस मोहसे जो दूर विचरता है, जो इस मोहके विषयसे तद्रूप नहीं होता है—ऐसे जीव संसारमें दुर्लभ हैं, थोड़े हैं। अगर ऐसे जीव बहुत हो जायें तो यह संसार फिर चल न सके। संसार कैसे चलेगा? देखो संसारमें कितने प्राणी हैं? इतने प्राणी हैं कि अब तक उनमेंसे अनन्त जीव मोक्षको प्राप्त हो गए हैं और अनन्तकाल तक मोक्षको प्राप्त होते ही रहेंगे। आज संसारी जीवोंकी संख्याका अनन्तवां हिस्सा भर मुक्त जीव है और अनन्तकालके बाद तक भी संसारी जीवोंकी अनन्तानन्त हिस्से रूप अनन्तकी संख्या मुक्त जीवोंकी रहेगी याने सब जीवोंका अनन्तवां भाग भी इतनी बड़ी वृहद् राशि है, अनेक अनन्त होने पर भी वह अनन्तानन्तवां भाग है।

जैसे एक अरब रकममें से एक एक पैसा निकलता जाए तो उसे यह भी कह सकते हैं कि अरबका करोड़वां हिस्सा है और सौ हो जाए तो करोड़वां हिस्सा है—ऐसे ही समझिए अनन्तानन्तमें से कई अनन्त निकलें, वह भी अनन्तानन्तवां भाग है। एक निगोद शरीरके जितने जीव मिलते हैं, उतनी भी संख्या नहीं हो पाएगी अनन्तानन्तकाल तक मुक्त जीवोंकी। यह संसार सारा क्लेशमय है, फिर भी ज्ञानीपुरुषमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह मोहके ग्राससे दूर रहता है, वह निकटसंसारी है। अल्पकालमें वह मुक्तिको पाएगा। अपना प्रोग्राम भी यही बनाना है।

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः,
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम्।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधो मृगीभि-
र्दग्धारण्यस्थलकमलिनीशंकयालोक्यते ते॥८८॥

वीर सुकुमारोंको धन्यवाद—वे पुरुष धन्य हैं जो गृहस्थावस्थामें बड़े लाड़ प्यारसे पाले गए और अनेक प्रकारकी सम्पन्नताके सुख भोगते थे वे कदाचित् ज्ञानवैराग्य जगने पर सकल संन्यास करके स्थिर आसनसे निश्चल उपयोग रखें, जो एक ज्ञानस्वरूपका अनुभवन करें, जिसके ऐसे स्थिर शरीरको निरखकर ठूंठ जानकर हिरणियां अपना अंग खुजलायें—ऐसी स्थिति जिनकी हो, वे महाभाग धन्य हैं। जिन्होंने ऐसे सुख पाये हैं, जिनका विच्छेद नहीं हुआ, कोई पुरुष तो सुखका विच्छेद होने पर कुछ हैरानी मानकर भावुकता परित्याग कर देते हैं, किन्तु जिसके लिए धन्यवाद कहा जा रहा है, उस पुरुषकी बात यहां यों बतायी गयी है कि जिसके भी जीवनमें सुखका कभी विच्छेद नहीं हुआ। सुखके समान सुखके साधन तिसकर पाला हुआ है, उन्होनें सकल संन्यास करके आत्मीय आनन्द पाय है।

वीर सुकुमाल—जैसे एक सुकुमाल मुनीश्वरकी कथा है। जो बड़ी ही सुकुमार क्रियाओंसे पाले गए थे, जो रत्नोंकी ज्योतिसे दीप्त महलमें निवास करते थे। दीपकी शिखा भी जिन्होंने आंखोंसे न निरखी, कमलके फूलमें बसे हुए सुगंधित चावलों का भोजन ही जिनके चलता था और और भी तो समस्त आरामके साधन थे, पर जब यथार्थज्ञान होता है—'यह मैं आत्मा समस्त परद्रव्योंसे भिन्न,

परभावोंसे विवक्त केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, इस मेरेका किसी भी अन्य पदार्थसे कुछ संबंध नहीं है, यह मैं न किसी का स्वामी हूँ, न कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ, मेरे गुण अथवा पर्यायका किसी परवस्तुमें सम्पर्क और प्रवेश होता ही नहीं है, फिर यह मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप जैसा हूँ, तैसा उपयोग रखना कर्तव्य है। जब ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है और यथार्थ ज्ञानके प्रसादसे वैराग्य हो जाता है, तब वह सुकुमाल जिसको महलसे बाहर निकलनेका कोई रास्ता नहीं दिया जाता था, वह माता पिताका इतना प्रिय था। वे एक पल भी सुकुमालको अन्यत्र न देखना चाहते थे।

विरोध उन्हें सहन न था। इस प्रकारके लाड़प्यारमें पाले गए सुकुमाल जब विरक्त हुए तो अन्य कुछ उपाय न निरखकर रात्रिके समय वे धोतियां बांध बांधकर रस्सासा बनाकर महलके पीछेसे धोतियोंके सहारे ही निकल गए। कितना सुकोमल था उनका शरीर। अच्छे रास्तेमें जा रहे हैं तो भी कंकड़ चुभते हैं और पैरोंके तलेसे खून भी निकलता जाता है, लेकिन इस ओर उन्हें भान भी नहीं है। यह उपयोग जिस ओर रम जाता है, उस उपयोगकी दृष्टिमें वही समाया हुआ रहता है। सुकुमालको केवल यह विशुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूँ—ऐसा निर्णय हो चुका, उसी ओर दृष्टि है। इस कारण खूनकी ओर ख्याल भी नहीं जाता, चले जा रहे है बनको। वनमें जाकर वे किसी योगीश्वरके समक्ष दीक्षा ले लेते हैं और आत्मध्यानमें अडिग पद्मासनसे बैठ जाते हैं। रास्तेमें पैरोंसे गिरे हुए खूनको चाटती हुई स्यालिनी सुकुमालके निकट पहुंची। सुकुमालको देखते ही पूर्वभवके स्मरण से वह बड़ी क्रुद्ध हो गई। उसने अपने बच्चों सहित सुकुमालके शरीर का भक्षण करना शुरू कर दिया। तीन दिन तक ऐसे उपसर्गमें यह सुकुमाल कैसे अडिग रहे?

धुनकी दृढ़ता—जिसको जिसकी धुन हो जाती है, वह उस वस्तुकी प्राप्तिके लिए सब कुछ सह सकता है। किसी को धन प्राप्तिकी धुन हो तो सफर करते हुएमें अनेक प्रकार के संकट आयें, उनको भी वह सह लेता है। ऐसे ही जिसे ज्ञाताद्रष्टा रहने की, विशुद्ध आनन्दको भोगनेकी, सर्वविकल्पोंसे अलग होकर अपने आपके इस ज्ञानस्वरूपमें प्रवेश करनेकी जिसे धुन है—ऐसे पुरुषको कैसे किसी बाह्यउपाधि शरीर आदिकके आश्रय वेदनाकी तो अनुभूति हो?

धन्य हैं वे योगिराज जो बड़े लाड़प्यारसे भी पाले पोषे गए थे और जिनकी युवावस्थामें अनेक अथवा मनप्रिय रमणियोंने विनय सत्कार और मिष्ट भाषण करके अथवा कलाकौशल से जिनको प्रसन्न किया है, जो जवानीमें भी बड़े सुखके साधनोंमें रहे हैं—ऐसे महापुरुष जवानीकी अवस्था के बीचमें ज्ञान पाले हुए ज्ञानी संत पुरुषकी तरह विरक्त होकर आत्मसाधनमें मेरूवत् निश्चल रहते हैं व वहां ये हिरनियां अपना खुजैला अंग खुजानेको निःशंक हो ठूंठ समझकर आती हैं। ऐसी अन्तरभावनाके कारण जिनकी स्थिति हुई, वे प्रशंसनीय हैं। वे पुरुष धन्य हैं जो आखिर सबका परिहार करके अपने विशुद्ध ज्ञानका उपयोगकर आनंदमें मग्न रहा करते हैं।

बैरी और उसका विजय—मोहभाव और ममत्वभाव हम आपके बैरी हैं। जगत्में अन्य कोई पदार्थ बैरी नहीं है। कोई जीव मेरा दुश्मन नहीं है। ये सभी जीव चाहे उनकी चेष्टा इनके

विषयसाधनोंमें बाधक भी बने, तिस पर भी दूसरे जीवोंने केवल अपने कषायकी चेष्टा की है, दूसरे से कोई बैर भजा भी नहीं सकता है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थमें अपना गुण, द्रव्य, पर्याय, प्रभाव और असर कुछ भी नहीं पहुंचा सकता। यह तो सब जितने विभावोंका परिणमन है, निमित्तनैमित्तिक योगसे प्रत्येक पदार्थका अपने अपने उपादानमें विभावोंका परिणमन है। यह ज्ञानी पुरुष अपनेको अशत्रु देख रहा है। मेरा दुनियामें कोई बैरी नहीं है। चाहे कोई अज्ञानी अपने चित्तमें ऐसी भी कल्पना करे कि मेरा यह बैरी है, तिस पर भी कोई किसीका बैरी नहीं है। सब जीव अपने अपने कषायोंके अनुसार मन, वचन और कायकी चेष्टा किए जा रहे हैं। ऐसा सम्यग्ज्ञान पाकर इस जीव को विश्राम होता है।

समृद्धि–भैया! अपने आपके लिए जैसे पूर्वभवका समागम आज अपने लिए कुछ नहीं है, ऐसे ही चंद दिनोंके बाद इस भवका समागम भी उसही प्रकार व्यवहारमात्रका भी कुछ न रहेगा। योगिराज ज्ञानीसंत श्लाघनीय हैं, जो अपने को मात्र ज्ञानस्वरूप ही निहारते हैं और ऐसे ही श्रद्धा बनाते हैं। जैसा अभ्यास होता है वैसी ही इस जीवकी प्रवृत्ति होती है। पूर्व पुण्य उदय कर सुखसम्पन्न और अनुकूल स्त्री पुत्रादिकके कारण महाभाग पुरुष संसार सुखसे भी सुखिया रहते हैं और जो इस प्रकारके सुखिया रहे थे ज्ञान पाने पर जब वैराग्य बढ़ा, सकल संन्यास किया उनके दृढ़ मन, वचन कायकी स्थिरता हुई। जैसे स्वरूपाचरण चारित्रका वर्णन करते समय यह बताया गया है कि ऐसी निश्चल काया हो जाती है कि पत्थर जानकर जंगलके पशु उससे अपनी खाज खुजाने लगते हैं। आत्मध्यानकी ऐसी ही विचित्र महिमा है। परमसुखिया तो तीर्थंकर चक्रवर्ती भी तब हुए जब आत्मज्ञानके आग्रहसे मेरूपर्वतवत् निश्चल विराजे। अपने आपके अन्तर में अपने आपके मनको निश्चल रखनेका यत्न करना चाहिए।

दुःखके कारणको खोजकर दूर करना–यह ज्ञान जिसका निश्चल नहीं रह पाता है उसके विचल होनेका कारण है किसी परपदार्थसे अपना हित और बड़प्पन समझना। जब कभी भी अपने को क्लेश हो, मनकी व्यग्रता हो तो बजाय किसी परवस्तुके विग्रह अनुग्रह करनेके एक यह तलाश करना चाहिये कि मैंने किस परपदार्थको अपने उपयोगमें जो स्थान दिया है, उसे खोजो। परका आश्रय लिए बिना इस जीवको क्लेश हो नहीं सकता। यदि किसी भी परको अपने उपयोगमें स्थान न दिया जाय तो क्लेशका फिर कोई कारण ही नहीं बन सकता। यह खोजो अपने आपमें कि मैंने किस परपदार्थमें अपनी मोहदृष्टि की है, वही दुःख का कारण है। चाहे कुछ करना पड़े किसी परिस्थितिमें कैसी भी क्रिया बने, लेकिन कुछ क्षण, कुछ मिनट अथवा कुछ सेकेण्ड ऐसी अपने अन्तरङ्गमें स्थिति बनाना चाहिए कि जिस समय किसी भी परद्रव्यके प्रति मोह और अनुराग न जगे, विकल्प न उठे ऐसी मनकी संताक करें जिसके पश्चात् यह उपयोग भी संभल जाये। ऐसा करना प्रत्येक कल्याणार्थीका कर्तव्य है। धनसंचय विशेषहोने से आत्माका कुछ भी पूरा न पड़ेगा। इन सब समागमों को छोड़कर जाना पड़ेगा। जैसा परिणाम किया उसके अनुकूल आगे यह वैसा ही स्थान पायेगा पूरा न पड़ेगा यहां के समागमोंसे।

समागमोंकी दृष्टि नियमसे क्लेश का कारण बनती है। उन सब क्लेशोंसे निवृत्त होनेका उपाय क्लेशरहित ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्वमें अपने उपयोगको लगाना है। जिसने ऐसा किया वह पुरुष धन्य है, इसी सम्बन्धमें गुणभद्र आचार्यदेव और कह रहे हैं।

बाल्ये वेत्सि न किञ्चिदप्यरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं,
कामान्धः खलु कामिनीद्रु मघने भ्राम्यन् वने यौवने।
मध्ये वृद्धतृषार्जितु वसुपशो क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्धमृतः क्व जन्तफलितं धर्मो भवेन्निर्मलः॥८९॥

बाल्यकालके क्लेश—बालक अवस्थामें जब सम्पूर्ण अंगोंसे पूर्ण भी न था, कुछ हित अहितको जानता भी न था। बालक क्या जाने हित और अहित को? वह तो जलती हुई अग्निके कणको देखकर उसे भी हाथसे उठा कर मुखसे खानेका यत्न करना चाहता है। ऐसी बाल्यावस्थामें हित और अहितका कोई परिज्ञान नहीं रहा और जब जवानी आयी तो स्त्रीविषयक कामवासनाके कारण स्त्री रुपी वृक्षों से सघन वनमें भ्रमण करते हुए यह अंध बना और मध्यमें जो स्थिति हुई वह तृष्णाकर व्याप्त हुई। पशुवोंकी भांति भार ढो ढोकर धन उत्पन्न करने के लिए अनेक श्रम कर रहा है। कोई खेतीमें महान् श्रम करता है, कोई किसी व्यापारमें कष्ट उठाता है। वृद्धावस्था में आध ा मृतक हुआ ऐसे तेरा मनुष्य जन्म फल देने वाला कहाँ, होय निर्मल धर्म कहाँ होय?

सर्वत्र यथार्थज्ञानका आवश्यक कर्तव्य—देखिये ये ही सब बातें एक आत्मविवेक पाये बिना निन्दामें निहित होती जा रही हैं। क्या करें? गृहस्थावस्थामें रहकर कुछ करें नहीं क्या? खेती व्यापार सेवा कुछ भी व्यापार न करें क्या? यह तो गृहस्थके लिए गृहस्थावस्थामें हितकर नहीं हो सकता। सुनिये गृहस्थ त्रिवर्गका साधक कहलाता है-धर्म, अर्थ, काम, इन तीनों वर्गोंको एक समान सेवन करे उसे सद्गृहस्थ कहते हैं। कोई पुरुष धर्म धर्मको ही स्थान देता रहे, गृहस्थावस्थामें न धन अर्जनकी ओर दृष्टि दे, केवल धर्म ही धर्मकी धुन रक्खे, ऐसे पुरुषको तो साधु हो जाना पड़ता है। न वह गृहस्थ रहे, धर्म, अर्थ, काम इन तीनोंका निरादर करे तो उस गृहस्थीकी आगे निभ नहीं सकती कुछ। ठीक है तिस परभी इतना तो कर्तव्य है ही कि निजको निज परको पर जानकर परवस्तुवोंमें हितका विश्वास न करे। इस मध्यावस्थामें तृष्णा बढ़ती है तब यह पशुके समान भार ढो ढोकर महान् क्लेश पाता है।

अज्ञानीके अवस्थाकृत बुद्धिविक्लवता—जब वृद्ध हुआ यह तो अर्द्ध मृतक सम हो जाता है। अंग शिथिल हो गए। लोग कहते हैं ना कि यह तो अधमरा हो गया। सारे मनुष्यजन्ममें समस्पनोंमें ऐसी दशाएँ गुजरें, वह जीवन कैसे सफल होगा? निर्मल धर्म उनके कहाँसे उत्पन्न होगा? छहढालामें लिखा है—बालपनमें ज्ञान न लह्यो, तरूण समय तरूणीरत रह्यो और जब वृद्ध हुआ तो अर्द्ध मृतकसम भयो, अब बतावो अपन स्वरूप वह कैसे लिख सकता है? यह सर्वथा एकान्तसे बात नहीं है। कोई वृद्ध पुरुषका अथवा सभीका जीवन रहा आये तो वृद्ध होना ही पड़ता है। क्या सारे

जीवन भर बड़े-बड़े धर्म तपस्याएँ संयम इन कार्योंमें अपने को लगाए और बूढ़े हो गए तो यदि आत्मज्ञानके अपात्र रह जायेंगे तो इस तरह फिर साधु बननेकी क्या जरूरत है? आखिर बूढ़े होना ही पड़ेगा और बुढ़ापेमें आत्मस्वरूप से वंचित रह जाना होगा। उसका समाधान यह है कि यह सब जो कहा गया है वह ऐसे एक व्यक्तिके बारेमें लगाना चाहिए, जिस पुरुषने बचपनमें कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है और जवानी में कामांध रहा वही पुरुष जब वृद्धावस्था पाता है, अंग शिथिल हो जाते हैं, भीतरमें जो आत्मबल नहीं बना पाया, सो वह पुरुष अब कैसे आत्माका ज्ञान कर सकता है। एक व्यक्तिके सम्बन्धमें बात समझना।

ज्ञानीके अवस्थाकृत विक्लवताका अभाव–जो पुरुष बचपनमें ज्ञान प्राप्त करता है और जवानीमें भी विषयासक्त नहीं होता, उसके बुढ़ापा आ जाय तो बुढ़ापेमें भी उसके ज्ञानधर्म उत्साह सब कुछ जरूर चमकता है। जिसने युवावस्थामें धर्मकी ओर दृष्टि नहीं की, वह ही पुरुष वृद्धावस्थामें विचलित होता है। अपना कर्तव्य है कि कोई भी उमर हो, बचपन हो, जवानी हो अथवा वृद्धावस्था हो, जब कभी भी ज्ञान किरण जगे, दृष्टि जगे हमें उस आत्मज्ञानकी उपासनामें लगना चाहिए। मुख्य काम तो जीवका आत्मकल्याण है और गौण काम है आजीविका का साधन। ऐसा निर्णय ज्ञानियोंके होता है। जो आनन्द अपने आप को केवल ज्ञानमात्र निहारे रहने में होता है वह आनन्द अन्य किसी भी बाह्यविषयोंकी साधना में नहीं होता। ऐसा जानकर इस ही ज्ञानकी उपासनाके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर कर दीजिए। यदि यह आत्मज्ञान मिल सका तो समझो कि मैंने सब कुछ पा लिया।

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्तर्तुंच तन्नोचितम्,
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्त्रार्पितं यत्त्वयि।
वार्द्धिक्येप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं,
पश्याद्यापि विधर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते॥९०॥

प्रबल बैरीके विनाश प्रोग्रामके अभाव पर आश्चर्य–कोई पुरुष यदि एक बार भी अपना बुरा करे तो उससे उपेक्षा तो हो ही जाती है, साथ ही उसके नाश करनेका भी संकल्प कर लिया जाता है, किन्तु देखो इन कर्मोंसे हम आपने अनादिकालसे नाना बुरा परिणमन किया, करते चले जा रहे हैं और इस भवमें भी अभी बतावेंगे कि कैसे-कैसे कष्ट इन कर्मों के निमित्तसे मिलते हैं, फिर भी कर्मोंके नाशका यह उपाय नहीं करता है।

बाल्यावस्थामें कर्मवृत्त उपद्रव–इस पर्यायमें बाल-अवस्थामें इन कर्मोंने जो कुछ तेरा बुरा किया उसका स्मरण भी उचित नहीं हो पाता है। बाल्यावस्थाके बालकोंको देखकर परख लो, न ज्ञान है, न विवेक है, न कुशलता, न वृद्धि, एक हम आपको उनकी निश्चिन्तता दिखती है, पर वे भी निश्चिंत नहीं हैं, उनके भी क्लेश है। उनके मनमाफिक कोई बात न हो सके तो वे दुःखी हो जाते हैं। बच्चे जब चाहे रोते रहते हैं, उनके भी क्लेश है। विवेक तो है ही नहीं, बुद्धि नहीं है। यह तो

बतानेकी बात है कि बच्चे कषायरहित होते हैं। अरे क्या उनके कषाय नहीं है? जैसी कषाय बड़ोंके है वैसी ही कषाय उन बच्चोंके है। वे बच्चे नहीं हैं, वे बूढ़े होनेके बाद आये हैं। पूर्वभवमें तो बड़े-बूढ़े थे, कितना कषायोंका उनके पास स्टाक था। वह सब स्टाक लेकर बचपनमें आये हैं। उन्हें यों न देखना कि कषाय उनके नहीं है, पर इन्द्रियां अभी पुष्ट नहीं हैं, वे कषायोंका प्रकाशन नहीं कर पाते हैं, पर कषायें उनके भी हैं।

आबालवृद्धोंमें परस्पर दूसरेको सुखी माननेका भ्रम–बचपनकी अवस्थामें तो जवानीसे भी अधिक क्लेश है, पर लगता ऐसा है कि ये बच्चे अच्छे हैं। और बच्चे कोई ५-७ सालके हों तो वे सोचते हैं कि वे बड़े लोग बड़े अच्छे हैं। बड़ी अवस्थाके लोगोंकी, उन बूढ़ोंकी बातको उपादेय मानते हैं, सो उनकी नकल भी किया करते हैं। उन बूढ़ों जैसा कमर झुकाकर लाठी लेकर चलना, वैसा ही खांसना और इसमें वे बच्चे कुछ अपना बड़प्पनसा समझते हैं। अपनेको करनेका यही काम है, ये लोग बड़े अच्छे हैं, बच्चोंको वृद्धावस्था वाले सुन्दर लगते हैं, बड़ोंको बचपनकी अवस्था वाले सुन्दर लगते हैं। दुःखी सभी एकसे हैं।

अहितकारी कर्मोंके प्रति–इन कर्मोंने क्या क्लेश उपजाए? इनके निमित्तसे हम कैसी दयनीय हीन स्थितियोंमें आये हैं, यह बताया जा रहा है। इतनी हीन स्थिति पाकर भी दुःखोंसे दूर होनेका प्रोग्राम मनमें बैठता ही नहीं है। अरे जो कुछ यहां मिला है उससे क्या पूरा पड़ेगा? तृष्णा करके, असन्तुष्ट रहकर यह जीवन बिता दिया जायेगा और इसे आगे अपनी यात्रा करनी पड़ेगी। इन कर्मोंने इस जीवका अनन्त बार बुरा किया। इनके नाश करनेका मनमें संकल्प क्यों नहीं करता? बाल्यावस्थाके कष्ट बालक ही तो भोगते हैं। कुछ थोड़ीसी गलती हो जाये तो मां बाप उसे पीट देते हैं। वे बच्चे अपनी कल्पनावोंमें बसे हुए दुःखी होते रहते हैं। जब बाल्यावस्था आयी, किशोर अवस्था आयी तो उस समयके क्लेश भी विचित्र होते हैं। मध्य अवस्थामें विवाह हुआ, बड़े हुए, अब मध्य अवस्था के क्लेश नाना प्रकारके हैं। धनका उपार्जन करनेमें क्लेश और जिनको जितना धन मिला है वे उतनेको पर्याप्त समझते ही नहीं हैं। उससे अधिक होता तो सुख था, ऐसी कल्पना बन जाती है। सो जो कुछ पासमें है उसे भी आरामसे नहीं भोग सकते। यही स्थिति है मध्य अवस्थाकी। इस जवानीमें भी इन कर्मोंने क्लेश दिया।

सकल क्लेशोंका सामना–ऐसा कोई दुःख नहीं बचा जो न मिला हो। सांसारिक रोग मानसिक कष्ट, अनेक चिन्ताएँ, कल्पनाएँ, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग अथवा बैठे-बैठे ही इच्छा बढ़ाकर निदान बना बनाकर दुःखी होते रहते हैं। सभी क्लेश इस जीवने पाये हैं। कष्टोंसे परिपूर्ण यह मध्य अवस्था है। ये सब कष्ट कर्मोंके निमित्तसे ही तो होते हैं। कष्ट आया जीवमें, उपादान है यह आत्मा, पर ऐसा कष्ट भोगना इस आत्मामें अपने आपके स्वभावसे नहीं होता। आत्माका स्वभाव तो शुद्ध शान्त निर्विकार ज्ञानानन्दमय है। इन कर्मोंके निमित्तसे हमें बार-बार कष्ट भोगना पड़ा, तिस पर भी इन कर्मोंसे विरक्ति नहीं आती। ओह! कितना कषायोंका मैल चढ़ा हुआ है कि

कषायोंसे दुःखी भी होते जाते और उन कषायोंको छोड़ भी नहीं पाते। वस्तुस्वरूपका अभ्यास करो, भेदभावनाका अभ्यास करो, समग्र परवस्तुवोंसे और औपाधिक भावोंसे न्यारे निज ज्ञानतत्वकी आराधना करो अन्यथा संकटोंसे छूटनेका मार्ग न मिलेगा।

कर्मोंका बैर—इन कर्मोंने तो दांत भी तोड़ डाले वृद्धावस्थामें। कोई किसीके दांत तोड़ डाले तो कितनी कलह हो जाती है और ये दांत अपने आप जो गिरते हैं इनको किसने तोड़ा? कर्मोदयने। तो ये कर्मोदय दांत भी तोड़ देते, आंखे भी फोड़ देते। अनेक कष्ट आये। बार-बार कष्ट भोगे, फिर भी उन कर्मोंके नाशका उद्यम नहीं करना चाहते। ये कर्म जो दुःखोंके निमित्तभूत हैं ये परपदार्थ हैं, इनका हम कुछ परिणमन नहीं कर पाते। अरे अपने परिणामोंको हम निर्मल बनाएँ, भावकर्म, रागादिकभाव इन्हें न होने दें तो ये कर्म तो अपने आप खिर जायेंगे। उनके नाशका क्या उद्यम करना? वृद्धावस्थामें इन कर्मोंके निमित्तसे तेरा बड़ा अपमान हुआ। दांत तोड़े, आंखें फोड़ी, कान बहिरे कर डालें, मुंह टेढ़ा कर दें, शिथिल हो गए, अरे ऐसा कोई पुरुष करे तो लोग उसे बड़ा अन्यायी कहते हैं, और इन कर्मोंके उदयसे ये सब होते जा रहे हैं। उन कर्मोंके विनाश का चिन्तन नहीं करते।

आत्मोपलम्भका अभ्यास—भैया! एक बार तो अपनी चीज छू लो। अपनी चीज क्या? आत्माका ज्ञानस्वभाव ज्ञानप्रकाश निजस्वरूप और उसे छूना कैसे होगा? इस उपयोगसे ज्ञानसे अपने ज्ञानको इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्वमें लगावो। वहां जो अनुभव जगेगा वही अनुभव शरण है। इन अनन्त जीवोंमें से एक दो जीवोंको अपना सब कुछ परिचयी मान लेना, ये ही मेरे सब कुछ हैं, ऐसी जो एक भ्रमपूर्ण श्रद्धा बना रहा है यह इस आत्मा भगवान्‌को एक मुदी चोटकी तरह निरन्तर कष्ट दे रहा है। अपने ज्ञानस्वभावका उपयोग करना और उस ज्ञानस्वभावमें ही उपयोग करना और उस ज्ञानस्वभावमें ही उपयोगको स्थिर बनाना, यह बात सुगम है, पर इसके लिए हमें चाहिए अहर्निश अभ्यास। कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि जितना समय हमारा धनार्जनमें लगाया जा रहा हो अथवा जितना समय गृहस्थीकी व्यवस्थामें लगाना पड़ रहा हो, लगायें, पर उससे बचा हुआ शेष समय तो सत्संगति, धर्मचर्चा, ज्ञानाभ्यास आदि कार्योंमें लगायें। नगर में दो चार आदमी भी ऐसा करने लगें तो यह परम्परा बन जांयगी। उनके बाद फिर कोई लोग होंगे।

हितप्रयोगमें हित—काम करनेको तो यही है आत्मदर्शन व आत्मरमण। केवल बातोंसे पेट नहीं भरता। इस संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूटनेकी बात सोचो और काम कुछ न करना पड़े, यह नहीं हो सकता। एक बालक १०-१२ वर्षका अपनी मांसे कहने लगा, मां मुझे तैरना सिखा दो। वह बालकोंको तालाब में तैरता हुआ, किलोल करता हुआ देखता था, एक दो बार वह खुद पानीमें घुस गया था, डूबते भी बचा था। बहुतसे बालकोंको डूबते मरते भी देखा था, पर उसके चित्तमें यह उत्सुकता जगी कि मैं भी तैरना सीख लूँ और पानीमें तैर कर खेला करूँ। सो वह बालक अपनी मांसे बोला—मां मुझे तैरना सिखा दो। मां कहती है—बेटा! सीख जावोगे, सिखा देंगे। हां सिखा तो दो, मगर पानीमें मुझे पैर न रखने पड़े। अब बतावो पानीमें घुसे बिना तैरना कैसे सिखाया जा सकता है?

प्रयोग बिना विद्याका अविकास–एक स्कूलमें बच्चोंको तैरनेकी शिक्षा दी जा रही थी, उनके कोर्समें था। सो अध्यापकने किताबोंसे तैरने की खूब शिक्षा दी। इस तरह कूदना चाहिए, इस तरह लेट जाना चाहिए, ऐसे हाथ पैर फटकना चाहिए। खूब सिखा दी। ६ महीनेका कोर्स था। अब इसके बाद मास्टर ने कहा कि अब सब लोगोंकी परीक्षा होगी। सब बच्चे नदीके किनारे गए। अब मास्टर उन बच्चोंसे कहता है हम सब एक दो तीन कहेंगे, सो तीन कहने के साथ ही साथ सब बच्चे नदीमें कूद जायेंगे और अपनी तैरनेकी कला दिखायेंगे। बहुत अच्छी बात। मास्टर ने एक दो तीन कहा कि सभी बच्चे नदीमें कूद गए। सभी बच्चे डूबने लगे, तब नाविक आया और उन बच्चों को उठा उठाकर नावमें धरा। फिर नाविकने मास्टर से कहा कि तुम बड़े बेवकूफ हो, इन बच्चोंको यों ही नदी में पटक दिया। मास्टर कहता है तुम क्या जानते हो? हमने ६ महीने तक इन बच्चोंको खूब ट्रेनिंग दी। हर बात सीख ली, कैसे कूदा जाता है, कैसा तैरा जाता है? भैया! इस किताबी पढ़ाईसे तैरनेका काम नहीं बन सकता। अरे यह तो प्रयोगसाध्य चीज है, किताबसाध्य नहीं है।

आत्मानुभवका प्रयोग–यह आत्मानुभव भी किताबी पढ़ाईसे नहीं होता, वह तो प्रयोगसाध्य बात है। लगावो चित्त, अनुभव करो, हिम्मत बनावो, सबको पर जानकर अनकी उपेक्षा करो। अपने आपके इस ज्ञानस्वभावी प्रभुसे नेह लगानेकी धुनि बनावो तो यह बात मिलेगी। हम प्रयोग कुछ न करना चाहें तो यह सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रयोग भी हमारा इस आत्माकी अराधनाका तब बन सकता है जब कि उसकी एक धुनि बन जाय। २४ घंटे जिसकी जो धुनि होती है उसकी ओर ही तो उसकी प्रवृत्ति बनेगी। अपनी अपनी धुन देख लो। सब अपनी-अपनी धुनि धुना करते हैं। देख लो। जो जड़ पौद्गलिक वैभव, परिजन रूप-रंग, विषय कषायोंमें ही धुन बनाये रहते हैं उनको उसकी ही धुन है। वे सब विनश्वर हैं, असार हैं, उनसे कोई शान्तिकी सिद्धि नहीं है। धुन बने, लगन बने तो आत्मस्वरूपकी आराधना की बने। उसमें लगने वालोंकी प्रवृत्ति ऐसी होगी कि बात करते हुए भी बात नहीं कर रहे हैं, खाते हुए भी नहीं खा रहे हैं। जिनके अध्यात्मधुन बनती है उनके चित्तमें वही बात बसी रहती है।

प्रभुभक्तिकी शरणरूपता–प्रभुकी भक्ति करते हुएमें प्रभुसे भीख मांगनेकी जरूरत नहीं है कि हे प्रभो! मुझे शरण मिले। जब तक लगन नहीं लगी है तब तक ही शरण मांगी जाती है। शरणका मांगना तब तक नहीं बन सकता जब तक प्रभुको यह न बतायें कि हममें लगी है लगन। लग तो जाय लगन, शरण होंगे प्रभु, पर अपने चित्तसे पूछो तो सही कि प्रभु से लागी लगन कि बच्चों और घर से लागी लगन। यहां भगवान् शरण देने न आयेंगे। भगवान्के प्रतिनिधि आप ही स्वयं हैं। सब काम आप ही कर लेंगे भगवान्के नाम पर। जो धुन होगी, जैसी लगन होगी तैसा यहां बीतेगा, गुजरेगा। ये सब चीजें उदारता बिना, त्याग बिना सिद्ध नहीं हो सकतीं। वैभव परिवार बच्चोंमें ही यदि लगन लगी है तो लगाये रहो, धुनमें बसाये रहो। अन्त बतावेगा, समय बतावेगा कि तुमने व्यर्थ समय खोया। जो जीवन व्यतीत हुआ है वह व्यर्थ ही गया। यह खुद मान जायेगा आपमें।

विषय खोज–जैसे जिसको खाज हुई है, दाद हुई है, खुजाते समय तो उसे आगे पीछेका भी ध्यान नहीं रहता, वह उसमें बड़ा चैन मानता है। जिनके दाद, खाज होती है उनके गलेमें खूब बात उतर रही होगी। जैसे योगी लोग आत्मध्यान करके खूब प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही ददैला भी खुजलाते समय सब दुनियाको भूल जाता है, हाथ पैरको टन्नाकर सुख लूटा करता है। ठीक है, परन्तु उसके बाद यह रोग और बढ़ गया। उस रोगको मिटाने की फिर पड़ती है। ऐसे ही पञ्चेन्द्रियके विषय और मनका विषय यह खाज है। इस खाजको खुजाते समय आगे पीछेका कुछ ध्यान नहीं रहता। उस समय तो यहां सब कुछ नजर आता है। जब समय मरनेका आता है तब मालूम होता है कि हमारा अतीत बिगाड़का समय कितना खोटा गुजरा। यों ही बनी बातका मूल्य बिगड़े समयसे पूछो। पछतावा होता है कि यों न व्यतीत होता तो अच्छा था।

बने और बिगड़ेका माप–एक अभिमन्यु नाटकमें आया है कि जब अभिमन्यु गुजर गया तो उसकी मां अपने मरे हुए बच्चोंको देखने आयी तो कुछ लोगोंने उस मां को रोका कि कहीं उस मरे हुए लड़के को देखकर यहां मां भी अपने प्राण न दे दे। उस समय मां कहती है–"करूणानिधान करूणा, करूणा भरे से पूछो। ज्वाला वियोगाका दुःख, छाती तरेसे पूछो॥ क्या मूल्य है बनेका, बिगड़े समयसे पूछो। बच्चेका प्यार उसकी मांके हृदयसे पूछो॥" उस समय उसको हितकारी मानों। श्रीकृष्णने ही उसे रोका था। करूणाकी बात करुणा भरे ही बता सकते हैं, वियोग का दुःख वियोगी ही बता सकते हैं। बने समयका कितना बड़ा महत्व है यह बिगड़े समयसे ही अंदाज किया जा सकता है। अभी तो सब बिगड़ा जा रहा है। विषयों की खाजके सुख लूटे जा रहे हैं। अभी अच्छी स्थितिका मूल्य कुछ नहीं जँच रहा है। निर्विकार ज्ञानानुभवमें विविक्त निज अन्तस्तत्वका आश्रय हो, उसकी जो स्थिति है उसका महत्व समझमें नहीं आ रहा है, क्योंकि यह अभी विकल्पोंका समय चल रहा है। जब बननेका समय आयेगा तो बिगाड़का खोटापन भी समझमें आयेगा और बनेका महत्व भी बिगड़े समयकी याद करके समझमें आयेगा, अन्तरंग निमित्त कारण। इन कर्मोंके उदयसे निमित्तसे कैसी-कैसी परिस्थितियां हुई हैं, बड़े-बड़े अपमान हुए हैं, फिर भी इन कर्मों के ही आधीन चलने की चाह रखते हैं। हे आत्मन्! अपने अन्तःपुरुषार्थको प्रबल बनावो और अपना पौरूष स्वरूप संभालकर कर्मोंके अभावसे निराकुल रहनेका अब संकल्प करो।

अश्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति-
श्चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतम्।
भीत्यैवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते,
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्जरे॥९१॥

वृद्धावस्थामें बधिरता–वृद्धावस्थामें इस मनुष्यकी क्या हालत हो जाती है और उस हालतमें भी यह अपनी रक्षाका कुछ विचार नहीं लाता है। इस मर्मका इस छन्दमें वर्णन किया है। वृद्धावस्थामें कान बहिरे हो जाते हैं। बहिरे क्या हुए? वृद्धावस्था एक ऐसी असमर्थ दशा है कि इस

अवस्था वाले को जो चाहे गाली दे, अपमान करे, तिरस्कार करे, ये सब बातें चलती हैं। अपमान, निन्दा, तिरस्कारके वचन सुनकर इस बूढ़े पुरुषके कान थक गए। अब ये कान अपमान और निन्दाके वचन नहीं सुन सकते हैं। इसलिए ये थक करके शिथिल हो गए हैं। कवि अलंकारमें कह रहा है। वैसे तो जो हितकी बात नहीं सुन सकते, हितकी बातको हृदयमें धारण नहीं कर सकते, वे सब बहिरे हैं।

बहरों की गोष्ठी–एक कथानक है कि एक मुसाफिर किसी गांवको जा रहा था। रास्तेमें बहुतसी भेड़ बकरियां चराने वाला गडरिया इस मुसाफिरको देखकर सोचने लगा कि मैं इस मुसाफिर से कहूँ कि तू दो घन्टेके लिए हमारी बकरियोंको रखे रहना, हम घर जाकर भोजन कर आयें और आकर संभाल लेंगे। भाग्यकी बात है कि वह मुसाफिर भी बहिरा था और वह गडरिया भी बहिरा था। सो गडरिया मुसाफिरसे बोलता है इशारा करके कि भाई इन बकरियोंको रखाये रहना २ घंटेके लिए रोटी खा आयें, हम फिर आकर संभाल लेंगे। वह मुसाफिर खड़ा हो गया। गड़रिया भोजन करने चला गया। भोजन करके जब आया तो गडरियेने सोचा कि इसने दो घंटे मेहनत की तो इसे कोई बकरी इनाममें देना चाहिए। सोचा कि कौनसी बकरी दें? कोई ज्यादा काम तो किया नहीं। इसने दो ही घंटे तो काम किया। बढ़िया बकरी देने लायक परिश्रम तो किया नहीं, इसे टांग टूटी वाली बकरी दे देना चाहिए। देने लगा वह अपनी लंगड़ी बकरी तो उस मुसाफिरने सोचा कि यह कह रहा है कि तुमने मेरी बकरी की टांग तोड़ दी। सो गुस्सामें आकर कहता है कि हमने तो दो घंटे तक इतना श्रम किया, फिर भी व्यर्थका इल्जाम लगाते हो कि बकरी की टांग तोड़ दी। गडरिया ने समझा कि यह कहता है कि हम लंगड़ी बकरी न लेंगे, हम तो अच्छी लेंगे। सो कहता है गडरिया कि तुमने थोड़ी ही देर तो सेवा की, अच्छी बकरी तुम्हें कैसे दे दें? दोनों परस्परमें लड़ने लगे। इशारे से यह तय हुआ कि चलो अपने तीसरे व्यक्तिसे इसका न्याय करा लें। अब वे तीसरा व्यक्ति ढूँढ़ने लगे। रास्तेमें सामनेसे एक मुसाफिर अपने छोटे घोड़े के बच्चे पर सवार हुआ चला आ रहा था। इन दोनोंने अपना झगड़ा उसके सामने रक्खा। भाग्य की बात कि यह घुड़सवार भी बहिरा था। उसने समझा कि ये कह रहे हैं कि यह घोड़ा चोरी का है। सो कहता है कि यह घोड़ा तो हमारे घरकी घोड़ी का पैदा हुआ है, क्यों बेकारमें घोड़ेकी चोरीका इल्जाम लगाते हो, भगवान् कसम हमने घोड़ा नहीं चुराया। अब उन तीनोंमें लड़ाई होने लगी। तीनों में इशारे से यह तय हुआ कि चलो अपने किसी चौथेके पास चलकर न्याय करा लें। चले चौथे व्यक्तिको ढूँढ़ने के लिए। एक गांवमें एक पटेल (गांव का मुखिया) मिला। उस दिन उस पटेलसे उसकी औरत की लड़ाई हो रही थी। लड़ाई हो रही थी कि उन तीनों ने पहुंचकर अपनी-अपनी बात उसके सामने रक्खी। सुयोगसे वह पटेल भी बहिरा था। सो मुसाफिर तो कहे कि यह गडरिया हमें बकरी की टांग तोड़नेका व्यर्थमें इल्जाम लगाता है, गडरिया कहे कि इसने दो ही घंटे तो हमारी भेड़ बकरी ताकी, कैसे हम इसे अच्छी बकरी दे दें, घुड़सवार कहे कि यह घोड़ा तो हमारे घरकी घोड़ीसे पैदा हुआ है, ये व्यर्थमें क्यों

इल्जाम लगाते हैं कि यह घोड़ा चोरीका है। पटेल ने समझा कि हमारे घर लड़ाई हुई है, सो ये सब लोग समझाने आये हैं। सो पटेल बोला कि तुम सब चले जावो यहांसे, तुम कौन समझाने वाले होते हो, यह तो हमारी घरेलू लड़ाई है। तो जैसे जहाँ बहिरे बहिरे ही बसे हों, वहां कैसे व्यवस्था बनें? क्या न्याय हो, ऐसे ही इस जगत्में जो हितकी बात सुन न सके, हृदयमें समझ न सके, मोक्षमार्गकी बात जिसको न रूचे उसे तो बहिरा ही कहना होगा। जहां बहिरे बहिरे ही बस रहे हों वहां सभी अपनी अपनी गा रहे हैं। हित की बात कोई नहीं सुन सकता है।

वृद्धावस्थामें बधिरता व कम्पनका अलंकारिक कारण—वृद्धावस्थाकी बात कही जा रही है कि इस वृद्धावस्थामें कानोंने काम करना बंद कर दिया। तिरस्कार, अपमान, निन्दा गाली आदिक दुर्वचनोंको सुन सुनकर कान थक गए। सो जो थक जाता है वह काम बंद कर देता है। वृद्धावस्थामें इन कर्णों की शक्ति घट जाती है। और इन आंखोंने भी अपना काम बंद कर दिया। इसकी अब दयनीय दशा हो गयी, अंध हो गया। और देखो ये बूढ़े कांप क्यों रहे हैं, इनके कम्पन क्यों हो रहा है? कवि से पूछो, वे सबका राज जानते हैं ना। कवि जवाब देता है कि अब इस वृद्धके सामने काल आ गया है, सो उसके डरके मारे कांप रहा है। अर्थ उसका यह लगाना है कि वृद्धावस्थाके बाद चौथी अवस्था और क्या आयेगी? मरण वृद्धावस्थामें थर-थर कांपने लगता है, शरीरमें बल नहीं रहता है। ऐसी तो इसकी स्थिति है। वृद्धावस्थामें सारे शरीरके अंग जीर्ण हो गए। जैसे अग्नि लग जाने पर घरकी जो दशा हो जाती है, ऐसी ही दशा इस शरीरकी हो जाती है। फिर भी तू हे वृद्ध प्राणी, हे आत्मन्! क्यों व्यर्थकी चिंताएँ लाद रहा है? इन चिन्तावोंसे कुछ भी तो हित नहीं होनेका है। अहो, आशा जीर्ण नहीं हुई, किन्तु खुद ही जीर्ण हो गए।

ममत्वका संकट—भैया! जितने संकट हैं वे सब अपने से भिन्न परपदार्थमें ममत्व रखनेके कारण हैं। कोई पुरुष धनमें ममत्व रखता है तो उसके संकट आता है। कोई पुरुष शरीरमें ममत्व रखता है उसके कारण संकट आता है। संकट भी क्या, विकल्प कल्पनाजाल। इन संकटोंसे छूटने का उपाय भी तब ही मिलेगा जब सर्वसे भिन्न ज्ञानस्वरूप अपने आत्मतत्व को निहारा जाय। जब भी आनन्द मिलेगा इस ही उपायसे मिलेगा। जिनको भी आनन्द मिला है उन्हें इस उपायसे ही मिला है। बूढ़े पुरुष अपनी कमर झुकाकर चला करते हैं। झुक ही जाती है कमर। और किन्हीं किन्हीं की कमर तो इतनी विशेष झुक जाती है कि घुटने और सिरमें मुश्किलसे हाथ भरका अन्तर रहता होगा। ये बूढ़े अपनी कमर झुका कर क्यों चलते हैं? किसी कविसे पूछो। कवि बताते हैं कि ये वृद्ध पुरुष नीचे झुककर अपनी जवानी ढूँढ रहे हैं। उनकी जवानी कहीं गिर गयी हैं, इस लिए वे अपनी जवानी ढूँढ़नेके लिए झुककर चलते हैं। कहीं जमीन पर गिर गई हो, मिल जाय, यह तो कवि की बात है। वृद्धावस्थामें यह स्थिति हो जाती है, यह कुछ बूढ़ोंको सतानेकी बात नहीं कही जा रही है। बात यह दिखायी जा रही है कि बचपनमें लोग अनेक विकल्प कर करके तृष्णा आशाजाल गूँथ-गूँथकर धन संचयकी धुन और स्वप्न बना बनाकर ऐसे बूढ़े हो जाते हैं, फिर भी यह आशा

जीर्ण नहीं होती। यह सब व्यर्थका रोना है। एक आत्मस्वरूपकी भूलकी, उसके फलमें यह सब रोना रोना पड़ता है।

ज्ञानभावना का महत्व–किसी भी क्षण जितनी देर आकाशमें बिजली चमकती है, एक आध सेकेण्ड को भी उतनी ही देर अपने आपमें बसा हुआ यह ज्ञान विकास इस उपयोगकी नजरमें आ जाय, इतने क्षणों में इस जीवको मोक्ष प्राप्त होनेका फैसला हो जाता है। जिसने एक क्षणभी अपने आपमें बसे हुए ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लिया उसका जीवन सफल है। एक क्षण भी अपने आत्माका यह एकत्व सहज ज्ञानप्रकाश नजरमें आ जाय तो अनन्त कालके सदा आनन्दमग्न रहनेका निर्णय हो जाता है। भावनाके आधीनही संसारमें रुलनेका काम मिल जाता है और सदाके लिए संकटोंसे छूटकर शुद्ध सहज आनन्द में मग्न होनेका काम कर लिया जाता है। अब जैसी भावना, जैसा मन करना हो तैसी भावना बना लेनी चाहिए।

अभीष्टकी भावनासाध्यता–भैया! किसीके सामने एक ओर खली रख दी जाय और एक ओर रत्न रख दिया जाय और उससे कहा जाय कि जो तू मांगता हो सो मांग ले या जो तू उठाना चाहता हो सो उठा ले और वह उठाले खलका टुकड़ा तो उसे तो लोग पागल कहेंगे। यों ही हम आपकी भावनाके आधीन ही दो बातें हैं, संसारमें अनन्त कालके लिए रुलना और अनन्तकालके लिए संसारसे छूटकर आनन्दमय रहना–ये दोनों बातें हम आपको केवल भावनासे मिलती हैं। उसमें किसी परद्रव्यका लगाव नहीं लगाया जाता है। एक निर्विकल्प निश्चल शुद्ध निज ज्ञानस्वभावकी रूचि जगे, यही मात्र मैं हूँ, अन्य सब झूठ है, ये संसारमें रुलानेके कारण हैं, ऐसी भावना बने, ज्ञान भावना जगे तो इसके परिणामसे मुक्ति मिलेगी। क्या क्या मुक्तिके लिए करना है? केवल एक भाव। केवल भीतरमें भावना बनायें उसके फलमें मोक्ष मिल जायेगा। और देखिये जहां यह भाव बन जाय यह घर मेरा है, वैभव मेरा है, इन लोगोंके कुछ भला कह देनेसे मेरी इज्जत बन जायगी, मेरा बड़प्पन हो जायेगा। कर क्या रहा है यह? भीतर अपने ही प्रदेशोंमें रहते हुए एक भाव बना रहा है। भावोंके अतिरिक्त यह अज्ञानी अन्य कुछ नहीं कर रहा है। अज्ञान भावनाके फलमें यह संसारमें जन्म मरणका चक्कर लगाकर रुलता फिर रहा है। कीट पतंगा बन रहा है। देख लो–भावनाके ही फलमें अनन्त दुःख मिलता है और भावनाके ही फलमें अनन्त आनन्द मिलता है। इतने पर भी कोई भावना दुःख प्राप्त करनेकी ही बनाए तो अब उस पर क्या किया जाये? कोई स्वयं ही मरना चाह रहा है, बरबाद होना चाह रहा है तो उसे कौन रोके?

शुद्ध भावनामें निर्भयता–सारे विकास व विकार नटखट सब भावना के आधीन हैं, इस भावका मर्म जिसने पहिचान लिया, जिसने केवल निज आत्मस्वरूपसे रिश्ता माना, उसे तो मरनेके समयमें भी भय नहीं रहता। जिसने मरण समयमें अपना परद्रव्योंसे कुछ सम्बन्ध नहीं माना है उसे मरनेका क्या डर? जिसने परद्रव्योंमें आत्मीयताकी श्रद्धा नहीं बसायी है उसे मौतसे क्या डर? उसे तो यह विश्वास है कि जो मेरा वैभव है, वह त्रिकाल भी मेरे से छूट नहीं सकता। और जो मेरा

नहीं है वह त्रिकाल भी मुझमें आ नहीं सकता। ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें ये सब चमत्कार बसे हुए हैं। चमत्कार क्या? आनन्द मिल जाए। इससे भी बढ़कर कुछ चमत्कार है क्या दुनियामें? ऐसा विशुद्ध आनन्द मिले जिसके बाद कभी दुःख आये ही नहीं ऐसा आनन्द पानेका उपाय बन जाय तो इससे बढ़कर और चमत्कार क्या अच्छा है? यह चीज तब होगी जब अपने को अकिञ्चन् माना जाय। मेरा जगत्में कहीं कुछ नहीं है। जिन्हें हम इष्ट मित्र कह रहे हैं, परिवारजन कह रहे हैं उनके ही कारण हमें विपदा आ जाय, मरण आ जाए, इतना तक भी हो जाता है।

निर्मोहमें निर्भयता–जिनको मोह ममता नहीं है, ज्ञानस्वरूप आनन्दघन अपने सहज स्वभावसे ही जिनकी प्रीति लगी है उतने निजस्वरूपमात्रमें जो निजके सत्वका अनुभवन कर रहे हैं–ऐसे ज्ञानी संतोको न इस लोकका भय है, न परलोकका भय है, न वेदनाका, न मरणका, न अरक्षा का, न किसी आकस्मिक घटनाका। दुःख उन्हें होता है जिनका दिल फँसा है कहीं औरोंकी ओर, निज गेहसे छूटकर अन्यत्र भोगने की जिनके नौबत आ गयी। बुद्धिमानी उस सद्गृहस्थकी है जो अपना मरण समय सुधारले। मरणके समयमें रागद्वेष मोह न जगे, समता बनी रहे, धैर्य बना रहे।

मारणान्तिक कष्ट–देखो भैया! प्रायः कष्ट भी सब इकट्ठा होकर मरणके समयमें ही आता है। देखते भी हैं कि मरणके समयमें कितनी वेदना हो जाती है? अंग शिथिल हो जाते हैं, आत्मा खिंच रहा है, गलेके नीचे पानी नहीं उतरता, प्यास तेज लग रही है, किसीको कुछ बता नहीं सकते, करवट बदलते हैं तो बदल नहीं सकते। और तो कहानी क्या कहें, यों कह लो कि सारे कष्ट मिलजुलकर वहां ही आते हैं जहाँ इन कष्टों की दाल गल सके। जहां कुछ देहमें बल है वहां कष्टोंकी दाल पूरी नहीं गलती। इसलिए ये सारे कष्ट खिंचखिंचकर वृद्धके ही पास पहुंचते हैं। ऐसी स्थितिमें भी ज्ञानमें बड़ा बल है। थोड़ी ज्ञानशक्ति लगाने से ये सब कष्ट भाग जाते हैं। चित्तमें मात्र इतना ही बसाना है कि मैं तो ज्ञानपुंज मात्र हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ, लो सारे कष्ट भाग जाते हैं। हिम्मत करने वाले हिम्मत करते हैं। जैसे किसी बुढ़ियाके घरमें दो चार चोर घुस आये तो वह बुढ़िया जरासा खांस भर दे कि सारे चोर वापिस भागने की सोचते हैं और भाग जाते हैं। तो जैसे एक खांसी मात्रसे चोर खिसक जाते हैं, (चोरों की बात कह रहे हैं डाकुवों की नहीं) ऐसे ही इस ज्ञानकी क्षणिक झलक से ये सारे संकट भाग जाते हैं।

कष्टनिवारणका मौलिक उपाय–भैया! कष्टों को जीतना है ना, तो बाहरी उपचार करके कहाँ तक जीतोगे? जैसे मेंढकोंका तौलना बड़ा कठिन है। कोई जिन्दे मेढ़क एक किलो तौलकर दिखा तो दे। पलड़े पर दो मेंढक रक्खे जायेंगे तो दो उछल जायेंगे। तो जैसे जिन्दा मेढकोंका तौलना कठिन है ऐसे ही बाहरी उपचार कर करके कष्टोंका मिटाना कठिन है। कहां तक बाहरी उपचार करके कष्टोंको मिटावोगे? कभी पुण्य अनुकूल हो तो कहो कष्ट मिटानेका कोई रास्ता बन आये। कष्टोंके मिटानेका उपाय एक ज्ञानस्वरूपका अनुभव है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। यहां केवल ज्ञानविकासके अन्य कुछ नहीं है, यह दृष्टि बने, समता जगे, समाधिमरण बने तो जैनधर्मका पाना और तप व्रत

संयम आदिका करना सब सफल हो जायेगा। ऐसी दृष्टि बनावो कि मेरा समाधि मरण हो जाय और उसके योग्य अभीसे ज्ञानसाधन का विशेष उपाय बनावो।

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः।
त्वं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणोष्वरतः॥९२॥

लोकरीति व अज्ञानरीति–लोककी ऐसी रीति है कि जिन पदार्थ में अधिक परिचय हो जाता है उनमें इस मनुष्यकी अवज्ञा हो जाती है और नवीन वस्तुका सम्बन्ध हो तो उसमें प्रीति हो जाती है। ऐसी लोकोत्ति है अथवा लोकरीति है। प्रायः ऐसा देखा भी जाता है कि जिनके संग अधिक रहना होता है उनमें अवज्ञा हो जाती है। प्रीति, उत्सुकता, उत्साह फिर नहीं रहता है, लेकिन हे आत्मन्! यहां तुम उस लोकोत्तिको भी झूठ बना रहे हो। यह शरीर अनादि कालसे तुम्हें मिलता चला आ रहा है, इससे ज्यादा और परिचयकी बात क्या कही जाय? ये राग द्वेष विषय कषायके परिणाम अनादिकाल से तेरे साथ चले आ रहे हैं, कितना चिरकाल परिचय है, इसमें तुझे अवज्ञा क्यों नहीं होती है? इन रागादिक भावोंका इतना अनादिकालीन परिचय है–इन विषयकषाय भावोंसे, इनसे तुझे ग्लानि नहीं होती। और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र जो आत्माका कल्याण करते हैं इनको अभी तक कभी नहीं प्राप्त किया गया, ऐसे गुणोंमें तू क्यों रति नहीं करता है? तू तो उल्टी-उल्टी चाल चल रहा है।

स्थूलशरीर व सूक्ष्मशरीर–इस जीवके साथ दो प्रकारके शरीर लगे हुए हैं–एक सूक्ष्मशरीर, दूसरा स्थूलशरीर। सूक्ष्मशरीर तो तैजस और कार्माण है, स्थूलशरीर यह औदारिक हम आप लोगों के जो लगा है वह है। इसके अतिरिक्त एक वैक्रियिक शरीर भी होता है। आहारक शरीर ऋद्धिधारी मुनियोंके प्रकट होता है। इन ५ प्रकारके शरीरोंमें तैजस और कार्माण ये दो शरीर जो कि सूक्ष्मशरीर कहलाते हैं व इस जीवके साथ अनन्तकालसे अब तक अनविच्छिन्नधारासे जिसका कभी सेकेण्डको भी वियोग नहीं हुआ है इस तरहसे चले आ रहे हैं और यह स्थूलशरीर जो मनुष्यके ढांचेमें है, मरकर कल कोई और शरीर बन गया तो स्थूल शरीरका तो परिवर्तन हो रहा है। आज मनुष्य का है, कल हाथीका है, फिर कल चीटींका है, विचित्र विचित्र परिवर्तन होते हैं, किन्तु तैजस और कार्माण शरीर इस जीवके साथ निरन्तर लगा आया है। इन दोनों शरीरों का कभी वियोग हो जाय तो फिर यह शरीर सदाके लिए विमुक्त हो जायेगा।

द्रव्यकर्म व भावकर्ममें भी मोहीके अवज्ञाका अभाव–भैया! कर्मों से भी तो अब तक विच्छेदरति संबंध बना आया है। उन कर्मोंमें तुझे अप्रीति नहीं होती। भावकर्म, क्रोध, मान, माया और लोभ आदिक भाव अदलते बदलते हैं, किन्तु कोई न कोई विभाव सदा रहता चला आया है। कितने दिनोंका परिचय इन रागादिक भावोंका है, किन्तु तुझे इनमें अप्रीति नहीं होती है।

यह भी प्रसिद्धि है कि जिसका बहुत-बहुत सेवन हुआ हो, उसी कषायसे अनादर हो जाता है और कोई वस्तु अपूर्व प्राप्त हो, उसमें ही प्रीति हो जाए। तेरे रागादिकभावोंका सेवन

अनादिकालसे हुआ। यही तो रागादिक भाव तेरे क्लेश बढ़ा रहे हैं और रत्नत्रयका लाभ नहीं होता है। रत्नत्रयका लाभ एक अपूर्वलाभ है, इसमें तेरी प्रीति नहीं होती है। बड़े आश्चर्य की बात है कि तू बड़े लोकविधानोंको भी उल्टा कर देनेमें तत्पर हो रहा है।

रागादिकोंकी मायारूपतापर एक दृष्टान्त–ये रागादिकभाव परमार्थभाव नहीं हैं, ये किसीके बनकर नहीं रह सकते, इनका कोई निश्चित् स्थान नहीं है। जैसे हाथ आदिक किसी वस्तुकी कहीं छाया पड़ती हो तो वह छाया न तो हाथकी है और न किसी वस्तुकी है, क्योंकि यदि वस्तुकी छाया होती तो सदा उसमें बनकर रहती। हाथकी छाया होती तो हाथमें ही रहती, हाथसे बाहर न होती। तो परमार्थसे छाया किसीको नहीं कह सकते है। धूपमें हम किसी मार्गमें चलते हैं तो इस शरीरकी छाया पड़ती है। तो अब आप बताओ कि वह छाया किसकी है? वह छाया इस शरीरकी नहीं है। क्या वह छाया इस पृथ्वीकी है? यदि पृथ्वीकी छाया होती तो जब चाहे पृथ्वीमें रहती। आप पृथ्वी पर खड़े हों या न खड़े हों, छाया सदा पृथ्वी पर रहनी चाहिए। जैसे आपके खड़े रहनेसे या न खड़े रहनेसे पृथ्वीका जैसा रूप है, वैसा ही रहेगा अर्थात् आपके खड़े रहनेसे पृथ्वीके रूपमें कोई भी अन्तर न आएगा। और जो भी विशेषताएं पृथ्वीमें हैं, आपके रहने या न रहनेसे सदा रहेंगी।

क्या इस तरह छाया पृथ्वीकी बनकर हुई है? वह छाया परमार्थसे पृथ्वीकी नहीं है, तो क्या आपकी है, आपका रूप है, वह आपमें समायी हुई है, आपसे बाहर है क्या? आपका आकार प्रकार जो कुछ है, वह आपमें ही समाया है, आपसे बाहर नहीं है। हाथकी छाया हाथमें ही समायी हो, आप में ही समायी हो, यह भी नहीं है। तब छायाको किसकी बतायी जाए? वह छाया तो मायारूप है। इसी प्रकार ये रागद्वेष और कषाय, जिनके कारण इतने हैरान हो रहे हैं–ये सब मायारूप हैं। वास्तविक परमार्थभूत कुछ नहीं है।

रागादिकोकी मायारूपता–अच्छा यह बताओ कि ये रागादिक भाव किसके हैं? परमार्थसे इनका कौन अधिकारी है? यदि यह बताओगे कि ये परमार्थसे आत्माके हैं तो फिर रागादिक भाव आत्मामें सदा ही रहने चाहिएं। जैसे कि ज्ञान, दर्शन और आनन्द आदि गुण आत्माके हैं, यों ये रागादिक भाव आत्मामें सदा तो रहते नहीं है। प्रथम तो ये रागादिक भाव अदल-बदलकर बने रहते हैं और कभी बिल्कुल भी मिट सकते हैं। अच्छा तो क्या ये रागादिक भाव कर्मोंके हैं? क्योंकि कर्मोंके उदयके निमित्त से मिले हैं ना? तो इन्हें कर्मोंके भी नहीं कह सकते हैं? कर्मोंके होते तो ये रादिक भाव कर्मोंमें ही समाये रहते, कर्मोंसे बाहर फिर ये क्यों हुए? जीवमें, आत्मामें और इस आधारमें क्यों आ गए? ये रागादिक भाव कर्मों में भी नहीं हैं। ये सब रागादिक भाव मायारूप हैं। हैरानीका कारण माया है, परमार्थस्वरूप नहीं है। मायाके जड़ नहीं, मूल नहीं–ऐसे निराधार माया के कारण हैरानी बड़ी होती है। जो अपना मूल है, वह परमार्थस्वरूप है उसके कारण हैरानी नहीं होती।

भूलसे हैरानी–भैया! भूलसे हैरानी है। आत्मामें हैरानी बसी हुई नहीं है किन्तु उस भूलको कोई छोड़ना ही नहीं चाहता है। तो उसकी कौन चिकित्सा करे? जिस क्षण भूल त्याग दे, उसी क्षण

आत्मामें आनन्द प्रकट हो जाएगा। कोई भूलको ही अपनी होशियारी माने तो भूलको त्याग कैसे देगा?

एक ग्रामके प्रारम्भमें एक बढ़ईका घर था। वह बड़ा मस्खरा था। जो भी मुसाफिर उधरसे निकले, उसके पूछने पर वह गलत रास्ता बता देता था। रास्ता हो किसी दिशाको और बतादे किसी दिशाको। साथ ही वह यह विश्वास भी दिला देता था कि गांवके सभी लोग मस्खरे हैं, उनके कहनेमें न आना, नहीं तो तुम्हें फिर लौटकर आना पड़ेगा। अब एक मुसाफिर वहांसे निकला और उसने उससे किसी गांवका रास्ता पूछा। उसने गांवको दक्षिणमें बता दिया, किन्तु था वह पूरब में। वह दक्षिणकी ओर चला। गांव के भीतर किसी दूसरेसे उस गांवका रास्ता पूछा तो उसने पूरबको बताया। वह समझ गया कि यह सच है यहां के लोग मस्खरे हैं। इस तरह चार छः लोगोंसे पूछा तो सभीने पूरब में बताया। उसे पूरा शक हो गया कि वह बढ़ई ठीक कहता था कि यहांके सभी लोग मस्खरे हैं। अब तो वह बेचारा दक्षिणमें चलकर खूब भटककर एक गांव में पहुँचा, वहांके लोगोंसे पूछा तो वहां के लोगोंने बताया कि तुम रास्ता भूल गए, पहिले यहांसे उत्तरको जावो, फिर पूरबको जाना।

गांवके लोगोंने कहा कि एक बढ़ईने तुमको यह रास्ता बताया होगा। बेचारा राहगीर उसी गांव लौट आया। फिर पूरबके रास्तेसे चलकर जिस गांवको जाना था, वहां पहुंचा। ऐसे ही हम भूल करते हैं और उस भूलको हम होशियारी मानते हैं।

भूलको होशियारी माननेका भ्रम–परिजनोंमें हम मोह करते हैं और उस मोहको करते हुए हम अपनेको बड़ा विवेकी समझते हैं। हम बड़ा अच्छा घर बसाना जानते हैं, व्यवस्था करना जानते हैं और कमाना भी तो जानते हैं। इसमें आप होशियारी समझते हैं, किन्तु भूल करते हैं और उस भूलको ही होशियारी मानते हैं, तो बताओ कि उस भूलसे निवृत्ति कैसे हो सकती है? हे आत्मन्! देखो कि जिन वस्तुओंसे अत्यन्त अधिक परिचय हो जाता है, उन वस्तुओंमें अवज्ञा हो जाया करती है। तुझे इन रागादिक भावोंसे व इस शरीरसे परिचय चिरकालसे चला आ रहा है, तुझे इसमें अरूचि भी नहीं मालूम होता है और तेरा अपूर्व कल्याण करने वाले जो सम्यग्दर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यकचारित्र हैं, उनमें तुझे प्रीति, स्नेह और ममता भी पैदा नहीं होती है।

आत्मपरिबोध–सम्यग्दर्शन नाम है सही देखने का। प्रत्येक पदार्थको, अपने आत्मस्वरूपको सही देखो, जानो, रूचि करो और विश्वास करो, वही तो सम्यग्दर्शन है। यह मैं आत्मा कैसा हूँ? यह मैं आत्मा जो कुछ भी हूँ, वह कोई एक सत् है। कई वस्तुओंसे मिलकर आत्मा नहीं है। कोई भी जो पदार्थ सत् है, वह अकेले ही सत् हुआ करता है। कई पदार्थ मिलकर सत् नहीं हुआ करते। यह मैं आत्मा एक स्वतंत्र सत् हूँ। इसमें क्या चीज भरी पड़ी है? कुछ देखो तो सही। देखो यह आंखोंसे तो दिखनेमें नहीं आता। आंखें खोलकर देखो तो बाहरकी माया दिखती है, आंखें बन्द करके देखो तो न भीतर और न बाहर कहीं कुछ नहीं दिखता है। कैसे देखें उस अपने ही आत्मा

को? अच्छा तो कानों से जरा सुनकर बताओ कि यह मैं आत्मा कैसा हूँ? ये कान तो बाहरकी सुना करते हैं, भीतरकी कैसे सुनें? कभी तो पेट गुड़गुड़ करता है तो वह भी भीतरकी चीज नहीं है, वह भी बाहरकी चीज है। मेरी अपने आपके भीतरकी बात तो कुछ सुनाई नहीं देती है। चाहे तो सूंघ सूंघकर जान जावो कि मेरा आत्मा कैसा है? आत्मा सूंघनेकी भी वस्तु नहीं है, इसी प्रकार आत्मा रसनासे चखकर जाननेकी वस्तु नहीं है, छूकर भी जाननेकी वस्तु नहीं है कि कैसा गर्म है, कैसा ठण्डा है? कोई सा स्पर्श भी समझमें नहीं आता। यह आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है। इसका सही दर्शन एक अपूर्व दर्शन है। यह मैं ज्ञानमात्र हूँ और इसके अनुभवनेका उपाय यह है कि अपना ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जाननेमें लगे, अन्य कुछ तत्वको न जाने तो अपने स्वरूप जानने वाले ज्ञानके द्वारा अपने आपका दर्शन होता है।

मोहसंकट—इस जीव पर संकट केवल मोहका है। कभी-कभी तो जब हैरान अधिक हो जाये तो समझमें आता है, पर वह वास्तविक समझ नहीं है, क्योंकि थोड़ी देरको कुछ न्यारे हुए और फिर उसीमें जा धमकते हैं, वे तो समझते नहीं हैं। परेशानीके कारण कुछ ऐसा मालूम पड़ा है। क्लेश तो केवल मोहका है। अच्छा यह बतावो—घरके लोग पुत्र, स्त्री आपके लिए बड़े प्रिय हो रहे हैं, पर बाकी और सब लोगोंने क्या कसूर किया है जो उनमें प्रेम नहीं जग रहा है? बाकी लोगोंको गैर मान लिया है और घरके दो चार प्राणियोंको अपना मान लिया है, यह व्यर्थका अन्तर है कि नहीं? अरे सभी को गैर मानो। हम हों, आप हों या घरके स्त्री पुत्रादिक हों, सबको भिन्न स्वरूप वाला मानो। किसीसे कहना नहीं है स्त्री आदिकसे कि तुम भिन्न हो, असार हो, नरक निगोदके घर हो। अरे भीतरमें इस बातको समझलो कि ये सब भिन्न पदार्थ हैं, इनमें उपयोग बसाने से, इनसे आसक्ति रखने से आत्माका कल्याण नहीं है, ये साथ तो निभायेंगे नहीं, इनकी दृष्टि रखकर केवल आकुलता ही भोगनी पड़ती है। सही बात हो तो मान लो, न सही हो तो न मानो।

जैनदर्शनका मूल लक्ष्य—जैनदर्शन इस बातको समझाने पर जोर देता है कि तुम हो, अन्य पदार्थ हैं, जो कुछ है, उन सबको जैसे हों तैसे मानो। इतनी ही तो बात है, यही हमारा धर्म है। कष्ट नहीं होता धर्मपालनमें। व्यामोहमें ही बड़ा कष्ट होता है। उस बड़े कष्टको मिटानेके लिए छोटे कष्ट करने पड़ते हैं। लोग मानते हैं कि तप, व्रत, संयम आदिमें बड़े कष्ट होते हैं, पर यह तो बतावो कि पुत्र, स्त्री आदिके मोहमें, धनसम्पदाके मोहमें, अपना नाम चारों ओर फैलानेके परिश्रममें, जनताको राजी रखने में कम कष्ट है क्या? बड़ा कष्ट है। तप, व्रत, संयम, सत्संग, ज्ञानार्जन इनके करनेमें कष्ट न मानों। जिसकी बुद्धि व्यवस्थित हो गयी है उसके किसी प्रकार के कष्ट नहीं है। सम्यग्दर्शन कष्ट नहीं है, बल्कि कष्टके मिटाने का उपाय है। यह मैं आत्मा ज्ञानानन्दघन हूँ, इस ही रूप अपने आपको माना जाये, यही कष्ट मिटानेका उपाय है। सदाके लिए संकटोंसे छूटने का उपाय मात्र यही एक है, अन्य कोई उपाय ही नहीं है। ऐसा यह रत्नत्रयका लाभ एक अपूर्व लाभ है। उसको तो तू ग्रहण नहीं करना चाहता, प्रीति नहीं करना चाहता और ये सर्व कर्म रागादिक

भाव जो चिरकाल से, अनादिकालसे लिपटे चले आये है उनमें ही प्रीति जगती है। हे आत्मन्! संकटोंमें बहुत समय गुजर गया, अब तो कुछ विवेक करो। जो हितरूप तत्व है उसे ग्रहण करो। जो अहितरूप है उसका परित्याग करो। ये रागद्वेष मोह अहितरूप हैं, इनका त्याग करो और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यकचारित्र—ये रत्नत्रयरूप धर्म कल्याणरूप हैं, इनसे प्रीति करो।

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसाऽपि,
नो संगतं दिनविकाशि सरोजमित्थम्।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव,
प्रायः कृतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः॥९३॥

व्यसनि पुरुषोंका अविवेक—पूर्व छन्दमें यह बताया था कि जिन वस्तुवोंमें अधिक परिचय हो जाता है, लोककी यह रीति है कि उसमें अवज्ञा हो जाती है, उससे दिल हट जाता है, और कोई जैसे नवीन मिले तो उसमें प्रीति पैदा होती है, लेकिन यह मोही पुरुष इस लोककी रीतिको भी उलट रहा है। कितना गाढ़ परिचय होता है शरीर और कर्मोंका? रागादिक भावोंकी उससे तो अवज्ञा नहीं होती और नवीन चीज अपूर्व है रत्नत्रय, उसमें प्रीति नहीं होती। इस वर्णनके बाद यह बता रहे हैं कि व्यसनी पुरुषको अपने कल्याणके सम्बन्धमें विवेक नहीं रहता है।

व्यसनी पुरुषोंके अविवेक पर एक दृष्टान्त—एक अन्योक्ति अलंकारसे कह रहे हैं कि देखो—भवंरा कमलके गन्धका लोभी बनकर, कमल पुष्पके अन्दर ही रहकर मरण कर जाता है। उस भंवरेसे इतना तक भी नहीं देखा जाता कि जिस कमलमें हम लोभी बनकर मर रहे हैं यह कमल इतना खतरनाक है कि इसको अत्यन्त कठोर जानकर हंसोंने भी नहीं खाया। हंस तालाबमें रहता है और तालाबमें कमल भी होते हैं। हंस नाना मोतियोंको चुन लेता है, मगर कमलको छूता तक भी नहीं है। जिसको हंसोंने नहीं भोगा, उसको यह भंवरा भोगनेके लिए गया और मरा। और भी देखो—ये कमल जहां पैदा होते हैं वह जल भी इस कमलको छूता नहीं है। याने कमल ऐसी वस्तु है जिस जलमें ये कमल पैदा होते हैं उस जलमें रहने वाला हंस पक्षी इस कमलको छूता तक नहीं है। ऐसे इस कमलमें इन भंवरोंने अविवेकी बनकर उसके अन्दर बसकर अपना मरण किया है। यह तो एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे भंवरा कमल के गंधके लोभमें आकर यह विचार नहीं करता है कि इस कमलको हंसने भी सेवन नहीं किया, यह कमल बड़ा कठोर है, खतरनाक है और देखो जिस जलमें यह उत्पन्न हुआ, वह जल भी इस कमलसे न्यारा रहा करता है। ऐसे कठिन कमलसे प्रीति करके भंवरा मर जाता है।

आसक्तिमें कष्टपरिहारका अनुपाय—यह कमल रात्रिमें तो मूंद जाता है और जब दिनका समय होता है तो प्रफुल्लित रहता है। तो यह भंवरा अन्तमें इस खतरनाक कमलके बीच आ गया। जैसे ही शाम हुई कि वह कमल बन्द हो गया। अब देखो इस भंवरेने जिसमें इतनी शक्ति है कि मोटी काठकी लकड़ीको भी कुतर-कुतर कर एक ओरसे दूसरी ओर पहुंच सकता है वह भंवरा भी

गंधके लोभमें आकर ऐसे कमल पत्तों वाले कमल पुष्पोंमें बन्द होकर मरणको प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही जानो कि यह सरागी जीव विषयसामग्रीमें इसके सुखका लोभ लगा है, अतः उन विषयोंका सेवन करता हुआ यह विचार नहीं करता। यह रागी मोही प्राणी यह विचार नहीं कर रहा है कि इन विषयोंको महान् पुरुषोंने सेवन तक नहीं किया, इनको छोड़कर अपना अलग ही निवास किया। ये विषय ऐसे कठोर हैं, दुःखदायी हैं और फिर ये विषय इस निर्मल आत्मस्वभावसे न्यारे ही रहा करते हैं तथा जैसे कमल अंधेरी आते आते बन्द हो जाते थे, ऐसे ही जब पापोंकी अंधेरी आती है तो ये विषयोंके साधन भी विघट जाया करते हैं, लेकिन यह सरागी वृथा ही पापबन्ध करता है, विषयोंके पीछे मरता है और नरकादिक गतियोंमें उत्पन्न हुआ करता है। ठीक बात है। जो व्यसनी पुरुष हैं उन्हें अपने हितका विचार नहीं हो सकता है, उन्हें तो आसक्ति ही है, अतः हित और विवेकके सम्बन्धमें कुछ दृष्टि ही नहीं है, लेकिन यह निर्णय है कि इन विषयसाधनोंके भोगनेका फल इसे खुद दुःख भोगना पड़ता है।

विषयनिर्विण्णता—इस छंदमें विषयोंके भोगनेसे अपने आपको न्यारा कर लेनेके लिए कहा गया है। यदि अपने आपके आत्मामें शान्ति की भावना हो तो कुछ विवेक लायें, मनको सही बनाएँ, इन विषयोंमें आसक्त न हों, ऐसा होना भी है। यदि किसीमें सम्यग्ज्ञान बन जाय तो फिर इन विषयोंकी ओर दृष्टि नहीं रहती, किन्तु जिसे अपने आत्मस्वरूपकी नहीं जगी उसे ये विषय ही सर्वप्रकारसे सुखदायी मालूम पड़ते है। अनुभवसे भी देख लो—इतना जीवन गुजर गया विषयोंको भोगते-भोगते, पर उन विषयोंको भोगनेके फलमें आज कोई कल्याणकी बात हाथ है क्या? इस जैनदर्शनके पानेका ऐसा सदुपयोग प्राप्त करें कि धर्मदृष्टि रहे, निर्विकार परिणाम रहे, परिग्रह में आसक्ति न जगे, अपने न्यायको खो न दें। आत्मदृष्टिके हम पात्र रह सकें—ऐसा अपना कोई पुरुषार्थ करना चाहिए। जहां शान्ति और आनन्दकी समस्या खड़ी की जाय, वहां कुछ भी विवेकसे सोचा जाय तो यह निर्णय होगा कि विषयोंके भोगनेमें जो सुख मिलता है वह पराधीन है, मलिन है और दुःखोंको उत्पन्न करने वाला है, किन्तु अपने आपके आत्माको स्वभवातः जो एक झलक होगी, अपने स्वरूपका भान होगा, उसमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह शुद्ध आनन्द है।

आत्मभासनाकी अत्यावश्यकता—यद्यपि गृहस्थावस्थामें इतनी पात्रता नहीं है कि हम आत्मकल्याणकी बातको अधिकाधिक कर सकें, क्योंकि चिन्ताएँ बहुत हैं, अनेक आरम्भ परिग्रह कामकाजकी संभाल रखना है। इस कारण गृहस्थावस्थामें आत्मदृष्टि अधिक समय तक बनाये रखना कठिन है। रात दिनमें किसी भी क्षण थोड़ी भी झलक आ जाय तो इस आत्मानुभवके स्मरणके प्रतापसे बहुतसी आकुलताएँ दूर हो जाती हैं। देखो सुख शान्तिके लिए लोग अनेक प्रकारके पुरुषार्थ किया करते हैं। जहां इतना श्रम अन्य-अन्य कार्योंमें किया करते हैं वहां एक यह भी काम करके देखा जाय आत्मानुभवका जोकि ऋषीसंतोंने बताया है। किसी भी क्षण समस्त बाह्यपदार्थोंका विकल्प छोड़कर, उन्हें भिन्न समझकर एक अपने आपमें परम विश्राम पायें, यह भी

तो एक रोजगार करके देख लिया जाय। देखो कुछ अपने आपको मिलता है अथवा नहीं। अन्य सर्व समागम कल्याणके साधक नहीं हैं बल्कि एक आकुलताके कारण हैं। किसी क्षण तो इतनी हिम्मत बनायें कि सर्वविकल्पोंको त्याग दें, घर द्वार, कुटुम्ब परिजन किसीकी भी चिन्ता न रक्खें, यही एक काम करनेको पड़ा है, अन्य कुछ नहीं। यह मैं अच्छे देह वाला हूँ, मेरा कुल अच्छा है, मेरी जाति शुद्ध है ऐसा किसी भी तरहका ध्यान न आये और केवल एक विश्राम ही रहे उसमें जो आनन्द प्रकट होगा वह आनन्द दूसरे स्थानमें नहीं है।

धर्मका प्रयोजन–भैया! हम धर्म करनेका यत्न करते हैं। वह धर्म किसलिए किया जाता है? सांसारिक सुखोंके लिए धर्म नहीं किया जाता है क्योंकि सांसारिक सुखका तो जो दुष्परिणाम निकलता है वह सब हम आपके सामने है। थोड़ी देर को कल्पनाजन्य सुख मिला, लेकिन चिंता उस सुखके लिए कितनी करनी पड़ती है और पराधीनता कितनी भोगनी पड़ती है, इसका क्लेश विचित्र है। ऐसा कौन सा मूर्ख है जो जरासी अपनी महत्ता के लिए अपना सारा जीवन संकटमें डाले? जो विवेकी पुरुष होते हैं वे अपनी पायी हुई शक्तिका ऐसा सदुपयोग करते हैं कि उन्हें चिरकाल तक शान्ति मिले।

अनुपायकी मुसीबत–एक कोई नगर था, जिसमें किसी कुटुम्बका राजा न हुआ करता था। प्रजाके लोग मिलकर किसी एक को चुन लिया करते थे कि यह हमारा राजा है। प्रतिवर्ष वहां राजा का चुनाव होता था। और एक वर्ष बाद राज्यपदसे हटानेके बाद चूँकि उसे पेन्शन न देना पड़े इस कारण उसे बीहड़ जंगलमें छोड़ दिया जाता था। यह नियम बना रक्खा था। प्रयोजन क्या था यह नगरमें रहेगा तो नगरमें अपमान होगा कि यह वही पुरुष है जो पहिले राजा था, आज नगरमें गली-गली भीख मांग कर खा रहा है। इस कारण वह जंगलमें छोड़ दिया जाता था।

जैनशासनमें प्रतिरूप परम्परा–देखो जैनशासनमें जो परम्परा है नाटक करनेकी अथवा ड्रामा या रूपक दिखानेकी, उसमें कोई बालक भगवान्का रूप बनाकर नहीं आ सकता। कोई बालक ऋषभदेवका पार्ट करे तो कैसे वह मुनि हुए, कैसे तपस्याकी, कैसे ज्ञान हुआ, कैसे मोक्ष पधारे, ये सब रूपक रखनेकी जैनशासनमें आज्ञा नहीं दी गयी है, क्योंकि उससे जैन देवताका अपमान है। आज किसी लड़के को ऋषभदेवका या महावीरका रूपक किसी नाटकमें बना दिया गया, ऐसा करे कोई तो उसमें तो प्रभुका अपमान है। मान लो किसी बच्चेमें महावीर स्वामीकी कल्पना कर ली गई और थोड़ी देरमें वह बच्चा रोकर दाल रोटी मांगे अथवा कोई रागभरी चेष्टा करे, अपने शरीरको संभाले, कुछ लोगों के बीचमें अपनेको देखकर, अपना आदर होते देखकर अपने मनमें खुश हो तो यह तो प्रकट भगवान्का अपमान है। एक पाषाणकी मूर्तिमें भगवान् की स्थापना करते हैं उसकी तो भक्तिमें मन लग जायेगा, क्योंकि उस मूर्तिकी ओरसे कोई राग भरी चेष्टा नहीं होती है। किसी बालकको थोड़ी देरके लिए भगवान् बना दिया तो उसके चलने, उठने, बैठनेमें राग साफ नजर आयेगा, फिर वहां कैसे मन लगेगा?

अधिकारका प्रयोग–उस नगरका राजा एक साल बाद बीहड़ जंगल में छोड़ दिया जाता था ताकि उसके बादमें फिर उसका अपमान नगरमें न हो। यों बहुतसे राजा उस नगरमें बने, अन्तमें वे जंगलमें छोड़ दिये जाते थे और बादमें मर जाते थे। एक बार कोई विवेकशील पुरुष राजा बनाया गया। उसने सोचा कि हमें भी एक वर्ष बाद किसी बीहड़ जंगलमें छोड़ दिया जायेगा और बुरी तरहसे कष्ट उठाकर प्राणाघात सहना पड़ेगा। कुछ विवेक जगाया। सोचा कि हम एक वर्षको राजा बने हैं, एक वर्षको तो हमारा सारा अधिकार है। हम जो चाहें सो एक वर्ष तक कर सकते हैं। उसने क्या किया कि उस बीहड़ जंगलमें उसने एक फार्म खुलवा दिया। नौकर भेज दिया, बैल वगैरह जो कुछ भेजना था भेज दिया, बाग बगीचा कुवाँ आदि बनवा दिया। अब एक वर्ष बाद जब राज्यकाल समाप्त होता है तो उसे जंगलमें छोड़ दिया गया। अब उस जंगलमें तो उसे कुछ भी नुकसान नहीं है। वह तो ठाठसे रहने लगा।

सुअवसरका सदुपयोग–ऐसे ही हम आप कुछ वर्षके लिए मनुष्य हुए हैं, यों समझिये कि संसारके जितने प्राणी हैं उन सबके हम राजा हुए हैं। अन्दाज करलो, अन्तरमें देख लो। मनुष्य कितनी कलावोंका धनी है? कैसे संगीत जानता, कैसे अनेक आविष्कार कर लेता, कैसे बड़े-बड़े महल चुनाता, कैसे-कैसे कपड़े पहिनता बुनता, कैसे-कैसे भोजन बनाता खाता? कैसे-कैसे ढंगसे भाषण देता, बड़ी-बड़ी बातें सोचना, ये सब कलाएँ कहां पशुपक्षियोंमें होती हैं? कहीं कीड़ा मकौड़ोंमें होती हैं? तो मनुष्य सबका राजा ही तो हुआ। संसारके सारे प्राणियोंका अब यह राजा बन गया कुछ वर्षोंके लिए, पर यहां यह रीति है कि कुछ वर्षोंके लिए राजा बना दो, मनुष्य बना दो और बादमें फिर इस मनुष्यको नरक निगोदके बीहड़ जंगल में पटक दिया जायेगा, ऐसा रिवाज है और इस ही रिवाजके माफिक अनेक जीव मनुष्य हुए और यहांसे चलकर नरक निगोदकी योनियोंमें, पशु पक्षियों की योनियों में चले गये। कोई विवेकशील मनुष्य बन जाय तो वह यह सोचेगा कि जब तक हम मनुष्य हैं, राजा हैं तब तक तो हमारा इतना श्रेष्ठ मन है कि हम इस मनसे बहुत बड़ी-बड़ी बातें जो निष्पन्न करना चाहें कर सकते हैं। अब इसने क्या काम शुरू किया? अपना परिणाम निर्मल बनाना, अपने एकत्वस्वरूपको निरखकर उसही स्वरूपमें रमण करना यह काम करना इसने शुरू किया। तो इस मनुष्य भवके छूटनेके बाद उसे मोक्षमार्गमें वृद्धिका मौका मिलेगा और कभी बहुत ही निकट शीघ्र अपने आपके संयमके बलसे शीघ्र संसारके संकटोंसे सदाके लिए मुक्त होगा और परम उत्कृष्ट आनन्दका धाम जो मोक्षस्वरूप है, उसको प्राप्त करेगा।

ज्ञानयुक्तका यत्न हम आपको ये तन, मन, धन, वचन, अपूर्व समय आदिको विषयोंमें बरबाद न कर देना चाहिए। कदाचित् चिग जाये और विषय साधन भी भोगने पड़ें तो भी सही-सही ज्ञान बनाये रहें। ज्ञान सही बनानेमें तो कोई आपत्ति नहीं है। हां, रागद्वेष भरे पड़े हैं इसलिए हम आप धर्मसे विचलित हो जाते हैं, चारित्र नहीं बन पाता, पर ज्ञान सही बनानेमें तो कोई बाधा नहीं है। घरमें रहता हुआ, बालकको खिलाता हुआ कोई सही ज्ञान बना ले तो उसको कौन रोकेगा? ये एक मायारूप पर्यायें

हैं, यह न केवल आत्मा है, न पुद्गल है, यह तो कर्म शरीर और आत्माको मिलाकर एक मायारूप बना है। बच्चा गोदमें रहे और बच्चेके प्रति यह ज्ञान बनाया जा रहा है कि यह भिन्न जीव है, इस के भी विषय कषाय लगे हैं, अन्य जीवोंकी भांति यह भी न्यारा है। क्या बच्चेको गोदमें लेकर भी ऐसा ज्ञान किया नहीं जा सकता? सही बात पुरुषको नियमसे जाननेमें आया ही करती है।

यथार्थज्ञानमें आकुलताकी समाप्ति–कोई सामने टेढ़ी मेढ़ी रस्सी पड़ी हो और उसमें सांपका भ्रम हो जाय तो जब तक भ्रमकी अवस्था बनी है तब तक आकुलता है, और कुछ हिम्मत बनाकर उसे देखनेके लिए बढ़े और समझमें आया कि यह तो कोरी रस्सी है और पासमें जाकर उसको छूकर उठाकर हिलाकर अच्छी तरहसे देख लिया, सही ज्ञान हो गया तो फिर उससे कोई कहे कि तुम वैसा ही भय सांपका फिर बना लो तो वह कैसे बना सकता है? एक बार सही ज्ञान होने पर फिर उल्टा ज्ञान कैसे किया जा सकता है? ऐसे ही परिस्थितिवश राग भी जगता है, लेकिन इस सम्यग्ज्ञानका सही प्रयोग रक्खें तो इसमें कौन बाधा डालता है? यथार्थ को जानते जावो। जाननेमें जो विपरीतता है, वही इस जीवको रुलाने वाली चीज है। सम्यक्त्व जगे, अपने शुद्धस्वरूपका का भान रहे तो इसमें आकुलता न उत्पन्न होगी। हम सबका कर्तव्य है कि इन कठोर दुःखदायी विषयोंका लोभ न करें। आसक्ति न हो और सुगम स्वाधीन ज्ञानानुभव मात्र धर्मपालनकी ओर अपनी दृष्टि जगायें। आत्मदृष्टिमें यह बल है कि वह जन्ममरण की परम्पराको मिटा देगी और अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करके संसारके संकटोंसे सदाके लिए मुक्त करा देगी। इससे एक निर्णय रखिये कि विषयोंमें फंसना नहीं है और सच्ची-सच्ची बात जानते रहना है। चाहे कुछ बीते। न छोड़ सकें राग, पर यथार्थ जाननेमें हम भूल करें, ऐसा कभी न होने दें। यह यथार्थ ज्ञान ही हम आपका सहाय है, शरण है। सर्वप्रयत्न करके शुद्ध ज्ञानके अर्जनमें अपनेको लगायें।

प्रज्ञे दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम्॥९४॥

जीवका आदिमवास–इस लोकमें आज हम आपने जो स्थिति पायी है वह उत्कृष्ट और दुर्लभ पायी है। इस जीवके आदि अवस्था निगोद दशाकी थी। यह बात आचार्य समझते हैं कि प्रत्येक जीव सर्वप्रथम निगोद अवस्थामें था और वह निगोद दशा जीवके अनादिकालसे थी। निगोद क्या चीज है? ऐसे एकेन्द्रिय जीव जिनके केवल शरीरमात्र है, जीभ, नाक, आंख, कान नहीं हैं और वे वनस्पतिके सहारे हैं अथवा बिना वनस्पतिके हैं ऐसे निगोद जीव कहलाते हैं। इनका एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म मरण होता है। कोई विवेक नहीं, बुद्धि नहीं, केवल दुःख भोगना, जन्मना यही उनका काम है। यह दशा सबसे अधिक निकृष्ट दशा निगोदकी है। नारकियोंके मन तो है, पर निगोद जीवके तो नाममात्रको स्पर्शन इन्द्रियका विकास है।

स्थावरोंमें–यह बात सुनाई जा रही है अपनी सबकी कहानी की। सर्वप्रथम हम आप निगोद दशामें थे, निगोद दशासे कभी निकलनेका सुयोग मिला तो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय,

वायुकाय और प्रत्येक वनस्पति इन स्थावरोंमें उत्पन्न हुए। ये स्थावर निगोदकी दशासे अच्छे हैं। इससे निगोद दशा निकृष्ट होती है। पृथ्वी आदिक भी हो गये तो कुछ लाभ नहीं होता। पृथ्वीको लोग सुरंगोंमें खोदते हैं। यों उसका भी हनन लोग किया करते हैं। कौन उस पर दया करता है? जलको भी बिलो करके, बन्द करके उसकी अनेक दशाएँ की जाती हैं। अग्निको भी लोग पानी डालकर बुझा डालते, हवाको भी लोग रबड़के पहियोंमें भरकर बन्द कर देते हैं अथवा पंखा चलाकर वायुकायिक जीवोंमें खलबली मचा देते है। यह सब वायुकायिक जीवोंका घात है। वनस्पतिकायिक जीवोंके विषय में देखो—पत्तियों को लोग छेद-भेद डालते, आगमें गर्म करते, धूपमें सुखाते, ये सारी बातें की जाती हैं ना, वे भी एकेन्द्रिय जीव हैं। ये दशाएँ भी कोई महत्वकी दशाएँ नहीं हैं, पर निगोदकी दशायें इनसे भी बुरी दशाएँ हैं।

दोइन्द्रियोंमें—कभी सुयोग मिला तो स्थावरोंसे निकलना होता है। दोइन्द्रिय जीव हो गया। इन दोइन्द्रिय जीवोंके उससे अधिक विकास है। रसनान्द्रिय हो गयी, अंगोपांग उसके होने लगे। एकेन्द्रिय जीवके तो अंगोपांग ही न थे, हाथ पैर मुंह कुछ भी तो न था। दोइन्द्रिय जीवोंको तो रसना इन्द्रियसे रसोंका स्वाद मिलता है। दो इन्द्रिय जीवके अब कुछ विकास हुआ, पर दोइन्द्रिय जीवोंकी भी क्या दशाएँ हैं, अनाजमें लट पड़ जायें उनको निकालकर यों ही फेंक दिया जाता है व्यर्थ जानकर। नीचे लट वगैरह चल रही हों तो लोग उनपर कूदते फांदते चले जाते हैं। मछली पकड़ने वाले लोग केचुवोंको पकड़कर अपनी बल्लीमें लगाकर पानी में डाल देते हैं ताकि मछली उसे खाये और उसमें फंस जाय। दो इन्द्रिय जीवोंकी ऐसी-ऐसी दशाएँ हुआ करती हैं। कुछ डाक्टर लोग तो जोंक पालते हैं, किसीका खून खराब हो तो वे जोंक लगा देते हैं, जोंकने खून खींच लिया और बादमें उस जोंकको मसलकर खून भी निकाल देते हैं। कोई एक जीवकी ही बुरी कहानी हो तो भी गनीमत, प्रत्येक दो इन्द्रिय जीवोंकी ऐसी-ऐसी स्थितियां चलती हैं।

तीन इन्द्रियोंमें—यह जीव कुछ विकासमें बढ़ा। तीन इन्द्रिय बन गया। अब देख लो तीन इन्द्रियका विकास। यह विकास दो इन्द्रियसे अधिक है। दो इन्द्रियके पैर नहीं होते हैं। अब तीन इन्द्रियमें पैर बनने शुरू हो गए। कुछ लोग आधुनिक जन कहते हैं कि यह मनुष्य कैसे बना? तो कुछ ऐसा बताया करते हैं कि पहिले मछली था, फिर मेंढक बना, फिर और कुछ बना, फिर बन्दर बना, फिर पूंछ घिस गयी सो आदमी बन गया, ऐसी बात यहां नहीं कही जा रही है। यहां तो कोई जीव नये जन्म विकासका धारण करता है और इस तरह उत्तरोत्तर विकासको पाकर मनुष्य बन गया है। तीन इन्द्रिय जीवोंके पैर होते हैं, नासिका होती है। अब इसके तीन इन्द्रियां हो गयीं स्पर्शन, रसना और घ्राण।

स्पर्शन, रसना व घ्राणका निर्देशन—स्पर्शन इन्द्रियका काम है स्पर्शका ज्ञान करा देना। रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म आदिक स्पर्शका ज्ञान करा देना स्पर्शन इन्द्रियका काम है। रसना इन्द्रियका काम खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, चरपरा आदि रसोंका ज्ञान कराना है। यह रसना

इन्द्रिय है कहां? लोग जीभ निकालकर बता देते कि यह है देखो रसना। जो बताया है आपने जीभ निकालकर उससे कोई चीज छुवा दे तो उससे ठंडा गरमका भी ज्ञान हो जाता है और ठंडा गरमका ज्ञान कराने वाली स्पर्शन इन्द्रिय है। जब गर्म भोजन किया जाता है तो जब उसे जीभ में छुवाया जाता है तो झट ठंडा गरम मालूम हो जाता है। तो यह रसना इन्द्रिय कहां छिपी हुई है, क्या बताया जाय? लोग बताते हैं जीभ निकालकर उसके ठीक बीचमें चीज धर दो तो स्वाद न आयेगा। वह जीभकी नोंक जब छू ले तो झट स्वाद आ गया। कहां छिपी है वह रसना? जिसने दुनियाको परेशान कर डाला है? कहीं मिल रही है वह। घ्राणइन्द्रिय हो गयी नासिका।

अविकासवत् विकास–चींटी चींटा, बिच्छू ये सब तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके जो आखिरी इन्द्रिय होती है उसका विषय उस जीवके बड़ा तेज होता है। तीन इन्द्रिय जीवके नाकका विषय बहुत तेज होता है। जिसे मिठाईका लोभ लगा हो, उस जीवको कहीं मिठाई रक्खी हो तो झट चलकर वह जीव वहां पहुंच जाता है। तीन इन्द्रिय तकका भी विकास हो गया, मगर यह कोई खास विकास नहीं है। वे सब मनरहित जीव हैं, चींटियां जमीनमें से एक-एक कण लाकर बाहर फेंकती हैं और भीतर भी अपना घर बना लेती हैं और कितना सिलसिले से जमीनसे दाने निकाल कर उसही जगह फेंकती हैं और इधर उधर भी उठा उठाकर कुछ चीजें फेंकती हैं, इतना तक भी चींटियां कर डालती हैं, लेकिन मन नहीं है। यह सब संज्ञावोंके बलपर किया जा रहा है। मन उसे कहते हैं जिसके निमित्तसे हित और अहितका विवेक किया जा सके। तीन इन्द्रिय जीव तक हो गया, परन्तु कोई लाभकी बात अभी तक नहीं मिली है। यह दो इन्द्रियसे अधिक विकास है। अब गंधका भी ज्ञान करने लगा।

चतुरिन्द्रियोंमें–कुछ और विशेष सुयोग मिला तो चारइन्द्रिय जीव बन गया। अब आंखोंसे देखनेका भी काम होने लगा, यह कम बात नहीं हुई। मक्खी, भंवरा, ततैया, मच्छर, टिड्डी–ये सब चार इन्द्रियजीव कहलाते हैं। चारइन्द्रिय जीव स्पर्शनसे स्पर्शका ज्ञान करले, रसनासे रसका ज्ञान करले, घ्राणसे सूंघनेका काम करले और आंखोंसे सब दिखता भी जाता है। इन चारइन्द्रिय जीवोंके इतना विकास हो चुका है, फिर भी कुछ लाभकी चीज तो मिली नहीं। अभी मन तो मिला ही नहीं, हित अहितका विवेक कर ही नहीं सकते।

पञ्चेन्द्रियोंमें–कुछ और विकास हुआ तो यह जीव मरकर पञ्चेन्द्रिय जीव हुआ। अब इसे कान भी मिल गए। चेत भी सकते हैं, किन्तु पञ्चेन्द्रियमें पशु पक्षी बन गए तो उनकी स्थिति भी कोई ऊँची नहीं है। अपने मनकी बात दूसरोंको बता नहीं सकते। दूसरोंके मनकी बात शब्दोंसे जान नहीं सकते। क्या है? बस खाना पीना आहार निद्रा, भय, मैथुन ये ही सब लगे हैं। उन पञ्चेन्द्रियोंमें मन वाले पञ्चेन्द्रिय होकर जहां कोई कला नहीं है, ऐसे पञ्चेन्द्रियोंका जन्म यद्यपि चौइन्द्रियकी अपेक्षा कई गुणा उत्कृष्ट है, लेकिन उससे विशेष कला और व्यवहार न होने के कारण अब भी न कुछ की तरह है। पञ्चेन्द्रियमें नारकी हो गए तो भी कोई खास बात लाभकी नहीं आयी।

मनुष्योंमें–मनुष्य हुआ यह तो अब देख लीजिए मनुष्योंकी कला कितने तो ये संगीत जानें, गीत जानें, कितनी हितकारी राग रागनियां जानें, बैल भैसा तो एक दोहा भी नहीं बोल सकते। कितनी कला है इन मनुष्योंमें, फिर ऐसे ही श्रृंङ्गारकी कितनी कलाएँ हैं, लेनदेन व्यवहार धन कमाना, और और सारे व्यवहार मनुष्य करते हैं। पशु-पक्षी कहां ये सब कर पाते हैं? मनुष्यका कितना ऊँचा स्थान है? इतना होने पर भी यदि योग्यसंगति नहीं मिलती, श्रेष्ठ धर्म नहीं मिलता, कुल जाति भी विशिष्ट नहीं मिलती। हो गए यों ही मनुष्य, बड़ी कमजोरी है। पागलसे फिरते हैं। होते हैं ना कोई बच्चे ऐसे जिनके दिमागका इलाज करवाना पड़ता है। वहां भी कुछ लाभ नहीं उठा पाया।

परमार्थके लिए प्रवृत्त बुद्धिकी श्लाघनीयता–कोई उच्चकुलमें उच्च संगतिमें उच्चधर्मके वातावरणमें और बुद्धि तर्कप्रतिभा भी अच्छी मिले, ऐसी जगह उत्पन्न हुआ तो उसने बहुत ऊँची चीज प्राप्त करली है। इतना प्राप्त कर लेने पर भी इस लोकमें विचाररूप बुद्धि होना कठिन है। जिस बुद्धिका उपयोग अच्छे विचारोंके लिए बनायें, वह बुद्धि दुर्लभ है और वह बुद्धि परलोकके अर्थ लग जाय, आत्मकल्याणमें प्रवृत्त हो, अगलाभव श्रेष्ठ मिले, धर्मका संग मिले, इसके लिए बुद्धि चले तो यह दुर्लभसे भी दुर्लभ है। अब इतनी विशिष्ट बुद्धिको प्राप्त करके यदि हम प्रमादी रहे तो यह बड़े खेदकी बात है।

अतीतका मूल्यांकन–भैया! समय बड़ी शीघ्रतासे गुजर रहा है। गुजरा हुआ समय पुनः वापिस न आयेगा। कोई सोचे कि हमने बचपनको खो दिया है वह वापिस हो जाय तो वापिस नहीं हो सकता। बीता समय पुनः वापिस नहीं आता। जो आजकी उमर है, जवानी है, शक्तिकी अवस्था है, वह भी गुजर रही है। कोई वृद्ध सोचे कि मैंने बड़ी भूल की, कि समर्थ रहते हुए इस देहको तप, व्रत, संयममें लगाते तो लाभ था, अब वह समय भी निकल गया, लाभ कुछ भी न पाया, उल्टा नुकसानमें रहे, फिरसे वह जवानी आ जाय, ऐसी कितनी भी मिन्नत करें तो वह आ नहीं सकती है। यों ही इस वृद्धावस्थाकी बात सोचिये। यह मनुष्यजीवन बड़ा दुर्लभ है, और जहां ज्ञानशक्ति मनोबल प्रबल बना हुआ है वहां यह देहकी शिथिलता भी नुक्सान न करेगी। बूढ़े हो गये, खाट पर पड़ गए, अंग शिथिल हो गये। हाथ पैर भी उठाये नहीं उठते। अरे नहीं उठते हाथ पैर तो न उठने दो। मनके बल का इस हाथके बलसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। भेदविज्ञान करके, समग्र परवस्तुवोंसे उपेक्षा करके अपने आपके मनोबलको बढ़ाया जाय तो वृद्धावस्था में भी लाभ लिया जा सकता है। प्रयोजन यह है कि जो श्रेष्ठ बुद्धि इसने पायी है इस बुद्धिका सदुपयोग करलें।

विशिष्ट बुद्धिकी व धर्मबुद्धिकी दुर्लभता–देखो एकेन्द्रियसे लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तकके जीव सभी और सभी प्रकारके अपर्याप्तक जीव कोई संज्ञी भी हो तो मनका विचार है नहीं, वहां कल्याण का विचार नहीं है। जहां मन भी नहीं मिलता है ऐसी पर्यायोंमें भटकना ज्यादा हुआ करता है। मनुष्यभव या अन्य पशुपक्षी का भव, यह तो बहुत कम मिला करता है। अधिक समय तो एकेन्द्रिय आदिक जीवोंमें जन्मते रहनेमें गुजरा करता है। सो इन सब बातोंसे निकलकर निम्न

दशावोंसे हटकर उच्च विकास करता हुआ कदाचित् यह बुद्धि पा ले तो ऐसी बुद्धिका मिलना बहुत कठिन है। कदाचित् किसी के बुद्धि भी मिल जाय, बुद्धि तो मिली हुई है। रेलवेका हिसाब देख लीजिए अलग-अलग है, उसमें भी कितनी बुद्धि के काम हैं, आविष्कारके कामोंमें देखो कितनी बुद्धि की महिमा है? बुद्धि भी विशेष पा ली, पर धर्मरूप विचार होना, बुद्धिका सदुपयोग होना यह बड़ा कठिन है। अनन्तबार मनसहित भी हुआ, बड़ी विशिष्ट बुद्धि मिली है, पर धर्मबुद्धि तो किसी ही जीवके होती है।

सुअवसरके व्यर्थ खोनेका विषाद–किसी के धर्मबुद्धि भी हो जाय, धर्मधारण करने लगें तो अधिकांश लोग तो यह सोचा करते हैं कि इसका दिमाग किस ओर है? इसके दिमागमें कुछ कमी है क्या? साधु सेवा करता, तीन बार मंदिर जाता, पूजा करता। क्या है इसके दिमाग में? लोग आश्चर्यसे देखते हैं क्योंकि मोही जीव मोहकी बात ही में होशियारी समझते हैं। जैसे आजकल लोग झूठ बोलकर किसीको दगा देकर कुछसे कुछ बात बना लें, विषयसाधन बना लें तो उसमें बड़ी होशियारी मानते हैं और कोई सीधा सरल पुरुष अपने कामका ही प्रयोजन रखता है, न मिलें उसे अनेक साधन तो उसे लोग यों ही देखा करते हैं, पर धार्मिक बुद्धिका होना यह बड़े सौभाग्य की बात है। यह किसी ही जीवके होता है, और भाग्यसे ऐसी धर्मबुद्धि भी कोई पा ले और पाकर भी सावधान न रह सकें, धर्मपालन में शिथिल हो जायें तो ज्ञानीपुरुष उस बात पर खेद प्रकट करता है कि इतनी दुर्लभ बात प्राप्त कर लेने पर भी प्रमादवश इस अवसर को खो दिया गया है, ऐसा उत्कृष्ट अवसर पाकर भी जो कोई चूक जाय तो हाय इसका कैसा होनहार है? ज्ञानी पुरुष उस पर विषाद प्रकट करता है।

संयमसावधानीका कर्तव्य–हम आपका इस प्रसंगमें कर्तव्य है कि ऐसी धर्मबुद्धि पाकर प्रमादी न हों। इस बुद्धिको और प्रगतिशील बनायें। तत्वचिन्तना में, ज्ञानार्जनमें, सत्संगमें, परोपकारमें, व्रत तप, संयम आदिकमें अपने आपको सावधान बनायें। जैसे मानलो आज के दिन कोई खूब दिन भर सोया हो बंद कमरे में, खूब कमरेको ठंडा करके, खूब विश्राम किया हो, दूसरोंके लिए देहसे कोई कष्ट भी न करना चाहता हो और यों दिन व्यतीत हो गया और किसीने परिश्रम करके, परोपकार करके दिन व्यतीत किया हो, इन दोनोंमें आलसी ने कौन सा लाभ पा लिया? अन्तमें कुछ हिसाब लगाकर तो देखो और एक श्रम करने वाले ने अथवा व्रत तप संयम करने वाले ने कौनसो घाटा कर लिया? बल्कि उसके चित्तमें प्रसन्नता है, उसे सन्मार्ग सूझता है, ऐसे ही आप जीवन भरकी बात ले लो, जिसने अपना सारा जीवन प्रमाद में व्यतीत किया हो तो अन्तमें मरणके समय बतावो उसने कौनसा लाभ उठा लिया? और एकने तप व्रत संयममें जिसने अपना देह लगाया तो अन्तमें बतावो उसने कौनसा नुकसान पाया है?

आन्तरिक प्रयोग–अरे भैया! यह शरीर तो विनश्वर है। इसको तो व्रत तप संयममें लगावो और अपने आत्माको सुरक्षित बनावो। ऐसी बुद्धि बहुत कठिनाई से प्राप्त की जाती है। अब

परलोकके सुधारके अर्थ इस बुद्धिको जप, तप संयम, ज्ञानार्जन, ध्यान, चिन्तन, सत्संग और सभी आवश्यक धर्मकार्योंको करके पाये हुए इस दुर्लभ समागमका सदुपयोग बना लें। एक घड़ी भी सम्यग्ज्ञान और बिना संयमदृष्टिके व्यतीत मत होने दो ऐसी अपने अन्तरंगमें भावना रखें और ऐसा ही अन्तःप्रयोग करें। इस प्रयोगसे तो हम निकट भविष्यमें अपना उद्धार कर सकेंगे।

लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाता-
स्तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या-
स्तेषां बुधाश्च वत किंकरतां प्रयान्ति॥९५॥

धर्मका प्रसाद–पूर्व छंदमें यह बताया गया था कि इस लोकमें दुर्लभसे दुर्लभ वस्तु है ऐसी बुद्धिका पाना जो बुद्धि आत्मकल्याणमें लगाती हो। धन, कन, कंचन, राजसुख सभी वैभव सुलभ हैं, पर एक पदार्थका यथार्थ ज्ञान होना बहुत दुर्लभ तत्व है। अब इस छंदमें यह कह रहे हैं कि ऐसी दुर्लभ बुद्धि पाकर भी ज्ञानी पुरुष इस बुद्धिका दुरूपयोग करें तो यह खेद की बात है। बड़े-बड़े राजा, सम्राट, लोकाधिपति एक इस धर्मके फलसे हुआ करते हैं। समस्तजन जानते हैं और ज्ञानी पुरुष तो इसे विशदरूपसे जानते हैं। जो कुछ यहां ठाठ-बाट, समागम संगति पाया है वह धर्मका प्रसाद है। धर्मका प्रसाद तो इससे भी उत्तम होता है।

धर्मप्रसादका विवरण–धर्मका अर्थ है जो अपना स्वभाव है उस स्वभावकी उपासना करना, अपना स्वभाव है ज्ञान और दर्शन, चैतन्य प्रतिभासका। उसकी उपासना करना, यही है धर्म का पालन करना। इस धर्मके प्रसादसे मुक्ति मिलती है, पर धर्मपालनके साथ-साथ अपनी शक्तिके कारण कुछ राग और द्वेष उपजते हों, धर्मानुराग होता हो, ऐसी स्थितिमें पुण्यकर्म बंधता है। धर्मभाव होनेके साथ-साथ दया, परोपकार, भक्ति, सत्संग ऐसा अनुराग जगता हो तो वहां विशेष बंध होता है और पुण्यके फलसे साम्राज्य वैभव परिजन सब इष्टपदार्थ, इष्टसमागम मिलते हैं। धर्मका प्रसाद तो इस पुण्य प्रसादसे बहुत ऊँचा है, किन्तु विशेष पुण्य धर्मके साथ-साथ हुआ करता है। इस कारण इसे भी धर्म का प्रसाद ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष भी राजावोंके दास बनें तो यह बड़े सोच की बात है।

धर्मप्रसंग–एक संन्यासी राजभवनमें रहने लगा और राजा उसके सत्संगमें रहकर अपना तीन चार घंटेका समय धर्मध्यानमें व्यतीत करता था। बहुत दिन हो गये, उसकी चर्चा सब जगह फैल गयी कि राजा बड़ा धर्मात्मा है। एक सन्यासी जो कि राजभवनमें रहता है उसके संगमें राजा तीन चार घन्टे रोज रहता है। विद्वानोंकी गोष्ठीमें यह चर्चा चली कि राजा तो धर्मका काम करता है, उत्तरोत्तर पुण्यवृद्धिका काम करता है और संन्यासी पुण्यक्षयका काम करता है। ऐसा क्यों? राजा को तो सन्यासीके सत्संगसे धर्मकी प्रेरणा मिलती है और यह सन्यासी जंगलका निवास तजकर राजभवनमें ठहरा है। राजा के प्रति कुछ अपनी आशा या अन्य कुछ कायरताका भाव रखता है।

वह उसके पुण्यक्षयका कारण है। लोग सम्पदाकी प्राप्तिके लिए अनेक यत्न करते हैं, किन्तु सद्भावना रहे, सदाचार रहे, सद्विचार रहे इसकी ओर दृष्टि नहीं देते। धन कमानेके लिए देख लीजिए जो कुछ करना पड़े कर डालते हैं, पर यह विचार नहीं होता कि परिश्रमसे व्यायामसे अर्थका उपार्जन नहीं होता, किन्तु जैसा पूर्व जन्ममें, पूर्वकालमें सुकृत किया हो, पुण्य बँध गया हो, उसके अनुकूल आज यह समागम मिला है।

परमार्थमें पुरुषार्थकी प्रधानता—भैया! सांसारिक बातोंमें तो कर्मोंकी प्रधानता है। जैसे कि लोग कभी विवाद करते हैं कि पुरुषार्थ बड़ा है या भाग्य बड़ा है। सांसारिक लाभके प्रसंगमें तो भाग्य बड़ा है और आत्मशान्ति, कल्याण, मोक्षके प्रकरणमें पुरुषार्थ बड़ा है और ऐसा भी कह सकते हैं कि भाग्यके उदयसे समागम मिलता तो है, पर वह पुण्य बंध हुआ कब था; कैसे-कैसे वह पुण्य बंध आत्माके सद्भाव, सद्विचार, सदाचारके परिणामोंके कारण हुआ था और वह सद्विचार सद्भाव पुरुषार्थ ही तो है। इस दृष्टिसे पुरुषार्थ ही बड़ा कहलाया। जो पुण्यबंध हुआ वह किसी न किसी पुरुषार्थके निमित्तसे हुआ ना, तो परम्पराका पूर्वकालका पुरुषार्थ इस सम्पदाके मिलनेमें कारण है, किन्तु मोक्षमार्ग कल्याण साधना आत्महित उस आत्माका पुरुषार्थ प्रधान है। यद्यपि वहां भी ऐसा है कि भाग्यका ठीक उदय हो, पुण्यका उदय हो तो ऐसी स्थितिमें मुझे अच्छा भव मिले, अच्छा वातावरण मिले और वहां यह आत्मा अपने ज्ञान पुरुषार्थको भी कर सकता है। यों पुण्य भी निमित्त बन रहा है मोक्षमार्गके चलनेमें, किन्तु प्रधान तो पुरुषार्थ ही है।

भाग्य और पुरुषार्थका विवाद—दो मनुष्योंमें झगड़ा हुआ। एक कह रहा था कि भाग्य बड़ा है और एक कह रहा था कि पुरुषार्थ बड़ा है। दोनों राजाके पास पहुंचे। राजाने बहुत कहा कि तुम लोग आपसमें सुलह कर लो। वे न माने, अपनी-अपनी हठ पर अड़े रहे तो राजाने एक बड़े कमरेमें कच्ची हवालात कर दी और कह दिया कि परसों तुम्हें निकाला जायेगा। पहिलेसे ही कमरेमें अच्छी जगह बड़े ताखमें आधा आधा सेरके २ लड्डू धर दिये थे। वे दोनों उस कमरेमें नजर बन्द पड़े थे। एक दिन गुजरा, अब तो भूखके मारे दोनों बेचैन पड़े हैं, भूखे पड़े हैं। जो पुरुषार्थ को प्रधान कह रहा था, उससे रहा न गया तो सारे कमरेमें छान बीन करने लगा। यहां वहां कुछ देर तक देखनेके बाद एक ताखमें रक्खे हुए दो लड्डू मिले। उसने तो एक लड्डू खूब खाया, पेट भर गया। अब वह सोचता हैं कि अपना पेट भी भर ही गया, यह भूखा क्यों मरे? इसे भी दे दें। उसे भी एक लड्डू दे दिया, उसने भी खाकर अपना पेट भर लिया। अब जब दो दिन व्यतीत हो गए तो वे दोनों न्यायालयमें बुलाये गए और पूछा—बोलो पुरुषार्थ कैसे बड़ा है? तो बोला—देखो हमने पुरुषार्थ किया, यहां वहां खोजा तो लड्डू मिल गए, सो हमने खूब खाया और इसे भी खूब खिलाया। भाग्य वालेसे पूछा—बोलो भाग्य कैसे बड़ा है? तो वह कहता है कि हमने कुछ नहीं किया, पड़े रहे टांगें पसारे, पर इसने खुद लाकर हमें लड्डू दिया। हमने खाकर पेट भर लिया। तो सांसारिक स्थिति में भाग्यकी प्रधानता है। इसलिए ऐसी हिम्मत बनावें कि रंच भी चिन्ता मत करें। जो भाग्य को मंजूर है, सो है। हम उसके आधीन नहीं हों। हम तो

सद्विचार, सद्भाव, ज्ञानदृष्टि रखकर अपना काम करें। जो स्थिति गुजरती हो, सो गुजरे। हमें उससे कोई प्रयोजन नहीं है। इतनी हिम्मत हो।

धर्मपन्थ–हममें वह कला है कि जैसी भी हमारी स्थिति होगी आर्थिक वैभवकी, हम उस सब स्थितिमें अपना निपटारा कर सकते हैं, गुजारा कर सकते हैं। हमारा जीवन वैभवशाली बननेके लिए नहीं है, किन्तु धर्मपालन करके आत्मकल्याणके लिए है। इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा कि ये समस्त वैभव मिलते हैं धर्मके प्रसादसे। बड़े राजा हो गए और धर्मके जानकार ज्ञानीपुरुष राजाकी ही दासता करे तो यह शोचनीय बात है। राज्यपद है, सो धर्मका फल है। ऐसे ही लोकमें खूब प्रसिद्धि है। धर्मसाधनाकी सर्वसामग्री मिलनेसे ही धर्मसाधना हो नहीं सकता। कोई धर्म तो साधे नहीं और धन आदिकका लोभ लेकर राजा महाराजाओंकी भारी सेवा करे, तो आचार्यदेव कहते हैं कि हमको इसकी चिंता है। राजा तो धर्मके किए से हुआ था और लोग धर्मकी तो सेवा न करें, राजाकी सेवा करें तो यह उल्टा ही काम तो हुवा। यह राजा जिस धर्मके प्रसादसे हुआ है, सेवा उस धर्मकी करनी चाहिए या राजाकी करना चाहिए? सब ज्ञान और अज्ञानका अन्तर है। जिस विवेकी पुरुषके हृदयमें ज्ञान जगता है और परकी अपेक्षा न करके साहसी बन जाता है उसको ही धर्मका पन्थ प्राप्त होता है।

धर्मसेवनकी उपादेयता–भाई! धर्मका सेवन छोड़कर अन्य कार्य करना योग्य नहीं है। पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी साधनामें और यश कीर्तिके विस्तारमें अनुराग बना करता है, किन्तु देखो ये दोनों ही बातें असार हैं। इन्द्रिय विषयोंसे इसे कोई लाभकी बात नहीं मिलती, अन्तमें पछताना ही पड़ता है और यशके विस्तारसे इसका कुछ उद्धार नहीं हो जाता। लोग इस देहको निरखकर सोचते हैं कि यह मैं हूँ, अरे ये देह, यह चाम तो सब जानते हैं, किसी दिन जला दिया जाएगा, राख बन जाएगा। कुछ जरा आगे की बात सोचो जो जलकर राख बन जाएगी। ऐसे इस देहमें यह मैं हूँ–ऐसी वासना बनाकर कितने पाप किए जा रहे हैं? मिथ्यात्वके समान और कोई पाप नहीं है।

चर्म परीक्षक–एक अष्टावक्र नामके ऋषि थे। इनके आठों अंग हाथ, पैर, मुख और पीठ आदि सभी टेढ़े-मेढ़े थे। शक्ल सूरत भी कुरूप थी, पर वे एक ऋद्धिधारी ऋषि थे। वे किसी बड़ी सभामें बड़े बड़े विद्वान भाषण देनेके लिए खड़े हुए। अष्टावक्र भी खड़े हुए। कोई ऐसे टेढ़े मेढ़े अंगका हो और अचानक भरी सभामें व्याख्यान देनेको खड़ा हो जाए तो लोग हंसे बिना नहीं रह सकते हैं। इसलिए सभामें जो पण्डित और विद्वान लोग थे, वे हंसने लगे। अष्टावक्र ऋषि जब व्याख्यान देने लगे तो जैसे लोग हे महानुभावों! हे सज्जनों!! हे बन्धुओं!!! आदि संबोधनके शब्द बोलते हैं इसी प्रकार उन्होंने संबोधनमें कहा–हे चमारों! (यह शब्द हम किसी के भी लिए नहीं कह रहे हैं, इसका कोई बुरा न मानना) इतनी बात सुनकर सभी लोग हैरान रह गए। सोचा कि इतने महान् ऋषि और इस प्रकार बोलते हैं, मुखसे इस प्रकारकी अशोभनीय बात निकल रही है। लेकिन अष्टावक्र भी खुद ही इसका उत्तर देते हैं–

भला ये तो बताओ कि जो चमड़ेका परखना जानते हैं उन्हें क्या कहते हैं? तो सभासद बोले कि चमार कहते हैं। अष्टावक्र ऋषिने कहा कि मैं खड़ा हुआ तो आप लोगोंने मेरे चमड़ेकी खूब परख की, परीक्षाकी। मेरे टेढ़े मेढ़े अंग और काले रूपको देखकर, रद्दी शक्ल सूरतको देखकर आप लोग हंसने लगे तो क्या आप लोगोंको चमार नहीं कहा जा सकता? इसलिए यदि मैंने हे चमारों! कह दिया तो तुम इस शब्दसे रोष क्यों करते हो?

यह तो एक ऋषि की घटनाका अंश बताया हैं। यहां इसका यह अर्थ है कि अपने आपके इस चामको ही निरखकर इस देहको भी देखकर यह मैं हूँ, बड़ा सुभग हूँ, बहुत होशियार हूँ, दुनियामें कुल डेढ़ अकल है, आधी अकल तो सारी दुनियामें है और एक अकल मेरे पास है, हम इन सबमें होशियार हैं—ऐसा इस देहमें कोई अंहकार न करे। देहको आत्मा मानना ही मोह है, मिथ्यात्व है, पर्यायबुद्धि है, अज्ञान है।

अज्ञानका पाप—जो चीज ज्ञानरहित है, उसको ज्ञानमय मानना ही अज्ञान है। जो चीज ज्ञानमय है, उसका ज्ञान न होना ही अज्ञान है। अज्ञानके समान कोई पाप नहीं है। लोग कहने लगते हैं कि जो जान करके पाप करेगा, उसे अधिक पाप लगता है और जो जानता ही नहीं कि इसमें पाप है और पाप करे तो उसे कम पाप लगता है। इस संबन्धमें आपका क्या निर्णय है? कुछ कुछ ऐसा समझमें जरा आता होगा कि ठीक तो है। जो जानते नहीं हैं कि यह पापका काम है, उन्हें काहेका पाप? जो जानते हों कि इसमें पाप है और पाप करे तो उनको पाप लगेगा, किन्तु यह भी तो संभव है कि जानने वालेके कषाय हो पाप करनेकी तो संभाल हुआ रहता है और जो जानता ही नहीं है, वह जो पाप करेगा, खूब डटकर करेगा। इसे अभी उदाहरण द्वारा समझाते हैं।

पापोंको जानकर कभी कर्मप्रेरणावश पाप करनेकी नौबत आये तो वह स्वच्छन्द होकर पाप न कर सकेगा। पाप करते हुए भी चूंकि जानकार है तो पापसे कुछ उपेक्षा रखकर, कुछ निवृत्तिका अंश रखकर पापकार्यमें भी लगता है और जिसे मालूम ही नहीं है, वह तो अपने पूरे बलके साथ पापकार्यमें प्रवृत्त होता है। एक यही कारण है कि अज्ञानीको पाप का बंध विशेष होता है।

अज्ञानीकी पापमयता—दूसरी बात यह सुनिये कि अज्ञान खुद एक बड़ा पाप है। जो उसने तन, मन और वचनकी चेष्टा से पाप किया है, वह पाप तो अलग है, किन्तु उससे कई गुणा पाप अज्ञान है। अपने आत्माकी जानकारी न रहना, परवस्तुओंके स्वरूपकी जानकारी न रहना आदि जो भी अज्ञान दशा है, वह स्वयं पाप है।

अज्ञानके संकटपर एक दृष्टान्त—तीसरी बात सुनिये। इसे समझानेके लिए एक दृष्टान्त देते हैं कि एक आगका जलता हुआ कोयला पड़ा हुआ है। किसी पुरुषके आगे आग पड़ी है वह यह जान रहा है। कोई पुरुष पीछेसे धक्का दे तो वह शीघ्रतासे आग पर पैर रखकर ही निकल जाएगा, वह आगमें अधिक न जलने पाएगा। और एक पुरुष जिसे यह पता नहीं है कि हमारे आगे आगका कोयला पड़ा हुआ है, वह तो निःशंक होकर बड़ी मजबूती से अपने पैर उस आग पर रख

देगा। जब वह बहुत कुछ जल जाएगा, तब वह अपने पैर उठाएगा। तो इसी प्रकार समझलो कि ज्ञान होने पर कदाचित् पाबंध हो तो उसमें तीव्र बंधनकी सामर्थ्य नहीं है, पर वास्तविक मायनेमें ज्ञान हो, उसकी यह कथा है।

शान्तिका उपाय धर्मपालन–ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह सर्वसाम्राज्य और समागम धर्मका फल है। फिर भी वह धर्मकी ओर तो झुके नहीं और उस समागमकी ओर, उस सम्पदा वैभवकी ओर झुके तो ज्ञानी व संत पुरुषके लिए यह अशोभनीय बात है। इस छंदमें यह शिक्षा दी गई है कि धर्मसे सदैव सुख होता है। कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि आजके इस समयमें जितना अन्याय किया जाय, चोरबाजारी की जाए, झूठे लेख लिखे जायें और भी जितनी चालाकियां हो सकती हों, उन चालोंसे चला जाए, दुनियाको धोखा दिया जाए और इन उपायोंसे अपना वैभव बढ़ा लिया जाय, यश बढ़ा लिया जाय, इसमें बुद्धिमानी है, और ऐसा करने वाले सुखी हैं। लेकिन जो पुरुष अनर्थ करते हैं, उनको तो स्वयं ज्ञात है ना कि मैंने यह अनर्थ किया है। उस प्रभुको स्वयं यह मालूम है और जिसे अपने अनर्थकी बात मालूम है उसमें वह बल नहीं जग सकता कि वह शान्ति प्राप्त करले, पहिली बात तो यह है। दूसरी बात यह है कि अन्याय चालाकियों से जो कोई धन या यश पा ले, उसके लिए अनेक उपद्रव लगे रहा करते हैं। जिसने बड़ा राष्ट्रनेता होकर भी भ्रष्टाचार किया है उसकी दशा आप लोग पेपरोंमें पढ़ते ही हैं। वे अन्तमें बुरी तरह मारे जाते हैं, धन भी छीन लिया जाता है। कहां उनको शान्ति मिलती है?

धर्मपालनका अनुरोध–भैया! शान्ति तो धर्मसाधना ही है। चाहे वहां वैभव न बढ़े, किन्तु जिनका ज्ञान अपने आपमें साध्य है, विवेक जिनका जागरूक है उन्हें शान्ति और संतोष मिलता है। धन वैभवसे शान्ति नहीं आती, किन्तु अपने ज्ञानसे यथार्थ अवगमसे शान्ति उत्पन्न होती है। इस कारण आनन्दके लिए अन्य उपाय और चिन्तावोंमें व्यग्र न होकर एक शुद्ध सम्यग्दर्शन, समयग्ज्ञान, सम्यक् आचरणके पथमें हमें चलना चाहिए और इस धर्मका लक्ष्य रखना चाहिए। सर्वसिद्धि धर्मके प्रसादसे ही हुआ करती है। पुण्यके फलमें हमें न झुकना चाहिए, किन्तु एक उस सम्यक् अवबोध आत्मदर्शन आत्मरमण रूपधर्मके पालनमें अपने आपको लगाना चाहिए। सर्वसिद्धियां धर्मके प्रसादसे ही हुआ करती हैं।

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः,
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्ना श्रियन्ते श्रियै।
भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो,
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्य महतां सर्वार्थसाक्षात्कृतः॥९६॥

धर्मकी आदेयता–यह आत्मकल्याणी धर्म जिस धर्मके प्रसादसे बड़े-बड़े राज्यपद प्राप्त होते हों और लोग भी लक्ष्मी वैभव सम्पदाके लिए जिस धर्मके प्रसादको अपने मस्तक पर धारण करते हों अथवा जिस लक्ष्मीके अर्थ लोग उन राजावोंको नमस्कार किया करते हों, जो धर्मके प्रसादसे बड़े

हुए हैं, यह सब उस धर्मका ही माहात्म्य है। कैसे हुए ये राजा, जो बड़े इक्ष्वांकुवंशमें उत्पन्न हुए, जिनकी बुद्धि अपरिमित थी, जिनका धन भंडार बड़ा विपुल था, ऐसे राजा जिस धर्मके प्रसादसे हुआ करते है वह धर्मका मार्ग सबको प्रतीति करनेके योग्य है।

धर्मफल–धर्मका फल आत्मीय आनन्द है। समस्त संकटोंसे मुक्त होना, सर्वकर्मोंसे छूट जाना यह सब धर्मका फल है, लेकिन इस धर्मके होते हुए जो कुछ शुभोपयोग रहता है, शुभ राग रहता है उसके कारण ऐसे पुण्य का बंध होता है जिसके उदयमें वैभव सम्पदा स्वयंमेव प्राप्त होते हैं। तप करना, व्रत पालना, दया संयमसे रहना, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता आदिक जो परिणाम हैं ये ही तो धर्मप्राप्तिके मार्ग हैं। यह धर्म कामी पुरुषोंके लिए दुर्गम है। जिनका चित्त कामवासनामें रहा है अथवा परवस्तुके प्रति जिनके व्यामोह रहा करता है उन पुरुषोंको यह धर्म अगोचर है।

धर्मकी सर्वप्रियता–धर्म शब्द सभीको प्रिय है और सभी लोग अपनी-अपनी कल्पनामें किसी न किसी क्रिया अथवा तत्वको धर्ममार्ग कह कर उसके विलासको उत्सुक रहा करते हैं। जिन्होंने जो भी धर्म माना उस धर्मपर न्यौछावर हो जाते हैं। वह धर्म आज नाना भेदोंमें दिख रहा है। जिसके नाना मजहब नजर आते हैं। वास्तवमें जैसे सब आत्मा एक समान है, एक स्वरूप है, ऐसे ही धर्म एक स्वरूप है। संसारमें रुलनेका उपाय भी एक है और संसारसे मुक्त होनेका उपाय भी एक है, लेकिन कोई निष्पक्ष भाव से विचारें तब धर्मकी झलक हो, और निष्पक्षता तब ही आ सकती है जब अपनेमें एक आत्माका ही नाता मानें। जहां इसने अपने देह पर दृष्टि दी तो इस देहदृष्टिके कारण अन्य वस्तुवोंको अपनानेकी बुद्धिके कारण धर्म का पात्र नहीं रहा। समतामें धर्म है। जहां रागद्वेष है वहां धर्म नहीं है। धर्मके बिना यह जीवन यों ही खोया जा रहा है।

भविष्यकी हैरानी–भैया! यहां जितने समागम हैं ये सब विनश्वर हैं, चंद दिनोंके हैं, मिट जायेंगे। अपना यहां कुछ नहीं है, पर इन भिन्न पदार्थोंका आश्रय करके उनको उपयोगमें लेकर जो रागद्वेषकी वृत्ति बनाई जाती है यह भविष्यमें हैरान करेगी। चीज तो नष्ट हो जायेगी। जिस वस्तुके बीच राग किया जा रहा है वह वस्तु तो विघट जायेगी। वह तो विनश्वर है, पर उस वस्तुका आश्रय करके ख्यालमें लेकर जो राग बनाया गया है यह राग भव-भवमें हैरान करेगा। यह जीव इस पुद्गलका आश्रय तो इसलिए करता है कि मुझे सुख हो, मुझे सहारा मिले, पर यह पुद्गल मिट जायेगा, दूर हो जायेगा और इसके प्रति किया हुआ जो मोह है यह मोहपरिणाम भव-भवमें दुःख का साधन बनेगा।

क्षणिक गलतीका चिर दुष्परिणाम–किसी क्षण तीव्र मोह करनेके कारण इस जीवको ७० कोड़ा-कोड़ी सागर तकका मोह ममताका बन्धन हो सकता है। देखिये–गलती तो एक सेकेन्ड को की, पर एक सेकेण्ड की गलतीमें इतने कर्मबंध किये कि इस जीवको अब ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक दुःखी होना पड़ेगा। एक सेकेण्डकी गलती में कितने समय तकके लिए कर्मबंध जाते हैं और इस संसारमें रुलना पड़ता है। इसके लिए एक कल्पना करो कि दो हजार कोसका लम्बा चौड़ा गहरा

गड्ढ़ा हो और उसमें बहुत छोटे-छोटे रोमके टुकड़े जिनका दूसरा भाग न हो सके, भर दिये जायें और ठांस दिये जायें, चाहे हाथी फिरा दिया जाय जिससे वह खूब ठस जायें। अब १००-१०० वर्षमें एक-एक रोमका टुकड़ा निकाल-निकाल कर बाहर करें तो कितने वर्षोंमें वे सारे रोम खाली होंगे? इसकी कुछ गिनती नहीं है। इतने समयका नाम है व्यवहारपल्य और उससे असंख्यातगुणा समय लगता है उसका नाम है उद्धारपल्य और उससे भी असंख्यात गुणा समय लगे उसका नाम है अद्धापल्य। ऐसे एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा करें तो वह हुआ एक कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्य। ऐसे १० कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्यका नाम एक सागर है। एक करोड़ सागरमें एक करोड़ सागर का गुणा करें उसका नाम है एक कोड़ा-कोड़ी सागर। ऐसे ७० कोड़ा कोड़ी सागर तकके लिए बंध जाना पड़ता है एक सेकेण्डकी गलतीमें।

कायमें पवित्रता व अपवित्रताकी दृष्टि—अब सोच लो, कल्याणकी दृष्टिसे तो यह नरदेह पवित्रकाय है, शरीर है, अन्य शरीरोंसे आत्मकल्याणका साधन नहीं मिलता और इस नरदेहसे आत्मकल्याणका साधन मिलता है। इस सारे शरीरमें जिसका वजन करीब डेढ़ सवा मन है इतने वजनदार शरीरमें कोई तिलके दाने बराबर भी सारभूत मैटर है क्या? हड्डी, खून, मांस, मज्जा, पीप, चाम, रोम नाम आदि हैं। कोई भी बात ऐसी नहीं है कि कुछ भी पवित्र हो। पशुवोंके तो दांत भी काम आते हैं, हड्डी भी काम आती है, खाल भी काम आती है। यद्यपि वे भी ऐसे ही अपवित्र हैं, पर कुछ काम भी आते हैं। मनुष्यका शरीर तो मरनेके बाद कुछ भी काम नहीं आता। सारा शरीर इसीलिए जला देना पड़ता है। काम आनेकी बात तो जाने दो। यदि यह शरीर ऐसे ही पड़ा रहे तो उल्टा जनताको क्लेश हो जाता है। दुर्गन्ध फैले, बीमारी फैले। ऐसे इस गंदे शरीरको हम आप लादे फिर रहे हैं, तिस पर भी इस देहको निरखकर अभिमानमें फूले जा रहे हैं।

आत्मकर्तव्य—भैया! जो देह विघट जायेगा उस देहका ख्याल कर-कर अपनेको मोह रागद्वेषमें फंसा लेना और सागरों पर्यन्त कर्मोंको बांध लेना, यह तो कोई विवेकका काम नहीं है, तब क्या करें? कैसे इन संकटोंसे, दुष्कर्मोंसे छूटें? उपाय एक ही है, अपना जो सहजस्वरूप है उसका परिज्ञान करायें। मैं अपने आप किस स्वरूप वाला हूँ, पर-उपाधिके सम्बन्धसे जो बात गुजरती है उसको नहीं कह रहे हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है। जो परनिमित्त पाकर बात आती है वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप यह है जो मुझमें अनादिसे अनन्तकाल तक स्वयमेव सहजस्वतः बना है। वह स्वरूप है चैतन्यशक्ति, प्रतिभासात्मकता। अपनेको केवल ज्ञानमात्र समझे। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं। कुछ कष्ट हो रहा है क्या इतना माननेमे? 'मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ', इसका अर्थ यह है कि मैं देहरूप भी नहीं हूँ। किसी काम काज वाला भी नहीं हूँ, परिवार वाला, मकान वाला, वैभव वाला, पोजीशन वाला भी मैं नहीं हूँ; धनी, गरीब, मूर्ख, पंडित भी मैं नहीं हूँ, किसी सम्प्रदाय वाला भी मैं नहीं हूँ। पुण्य आत्मा, धर्मआत्मा कितने ही विशेषण लगाते जावो, उन विशेषणोंसे जो भेद ज्ञात होता है वह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हूँ। इतना मान सकते हैं क्या हम? सही ढंगसे, ईमानदारीसे

अर्थात् फिर अन्य प्रकारका विकल्प जगे श्रद्धामें, पूरी तौरसे यदि यह श्रद्धासे जीत मिलेगी, वह प्रकाश मिलेगा जिसके अनुभवमें सत्य सहज अनन्त आनन्द बसा हुआ है।

एकमात्र निजोपयोगकी हितकारिता–हे आत्मन्! यदि शाश्वत आनन्द चाहते हो तो चित्तमें यह श्रद्धा लेनी होगी कि परिजन मेरे कुछ नहीं हैं, अणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है, ऐसी श्रद्धा होगी तब अपने आपका स्वरूप अपनेको नजर आयेगा। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं रक्खी जा सकती हैं, कपड़ेमें एक सुई एक साथ दोनों ओर सी नहीं सकती है, एक मुसाफिर एक बार पूरब और पश्चिम दोनों दिशावोंको नहीं जा सकता है, इस ही प्रकार एक उपयोगमें भोगभाव और धर्मभाव–ये दोनों ठहर नहीं सकते हैं। संसारका सुख भी लिया जाय और मुक्तिका उद्यम भी करते जायें–ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं। "दोउ काम नहिं होंय सयाने। भोग विषय और मोक्षमें जाने॥" वह ज्ञानी संत धन्य है जो समागममें घरमें रहते हुए भी अपने आपमें यह श्रद्धा बनाये हुए है कि मैं आत्मा तो ज्ञानमात्र हूँ, और इसका करतब तो जानना और देखनामात्र है, अन्य कुछ नहीं है। ऐसे अक्रियस्वभावकी जो प्रतीति रक्खे हैं और घरमें रहते हैं वे यद्यपि काम सभी करते जाते हैं तो भी ऐसे पुरुष जलसे भिन्न कमल की नाई शोभा पाते हैं।

जलमें भिन्न कमलवत् ज्ञानीकी रीति–देखो यह कमल जलसे ही पैदा हुआ, जलसे ही निकला और जलसे ही इस कमलका पोषण हो रहा है। मूलमें जल न हो तो कमल न उत्पन्न हो, न हरे-भरे रहे। जैसे जलके प्रतापसे इस कमलका जीवन है। यह कमल जलको छोड़कर जलसे कितना ही ऊपर रहा करते हैं। ऐसे ही गृहस्थभावमें इस गृहस्थकी उत्पत्ति भी इसी गृहस्थीमें होती, इसका पोषण भी इसी गृहस्थीसे चल रहा है, और धर्मसाधनाके लिए जितने जो कुछ साधन और वातावरण पा रहा है, इस गृहस्थ कार्योंकी वजहसे पा रहा है, तिस पर भी यह ज्ञानी गृहस्थ उन समस्त साधनोंसे, गृहस्थीसे, परिजनसे मोह आदिक भावोंसे अलग ही रहता है, विरक्त रहता है। ऐसा कोई अद्भुत ज्ञानापुंज इसने निरख लिया, पा लिया जिसके प्रसादसे इसकी एक ऐसी दुनिया बस गयी कि जिसमें आनन्द ही आनन्द बसा है, आकुलताका कोई काम नहीं है।

धर्मका महत्व–निज ज्ञानस्वभावका दर्शन करना, निज ज्ञानस्वभावका आश्रय करना यही धर्म है। इस धर्मकी महत्ताको बड़े-बड़े आचार्य पुरुष भी बतानेमें असमर्थ हैं। इस धर्मको तीर्थंकर, गणधर, ऋति, संत ऐसे ऊँचे-ऊँचे पुरुषोंने धारण किया है। यह प्रभु द्वारा प्रकट किया गया धर्म सबको प्रतीति करने योग्य है। धर्मपरिणामोंसे उत्पन्न होता है। बाह्य क्रियाएँ तो इतने काममें सहयोग देती हैं कि उल्टी क्रियाएँ जो की थीं अधिक विषयसाधन आरम्भ परिग्रह और अनेक-अनेक, उन खोटी क्रियावों उन खोटे आशयोंसे विराम मिले, इसके लिए ये व्यावहारिक धार्मिक क्रियाएँ हैं, किन्तु धर्म मिलता है एक शुद्ध जानन विकासमात्र स्वभावके आश्रयसे। जिसने लक्ष्यको जान लिया है वह पुरुष तो मार्गमें सफल हो जाता है और जिसने लक्ष्यको नहीं जाना है, मूलतत्वको नहीं पहिचाना है, वह सफल नहीं हो पाता।

अज्ञानचेष्टासे कार्यकी असिद्धि–एक बार किसी गांवसे तीन बजाज दूसरे गांवके लिए चले, अपना अपना घोड़ा लेकर कपड़ा खरीदनेके लिए। रास्तेमें रात होने लगी तो एक पेड़के नीचे वे बजाज ठहर गए। उस पेड़ पर बन्दर रहा करते थे। जाड़ेके दिन थे, सो जाड़ेसे बचनेके लिए उन्होंने एक उपाय बनाया कि आस-पासके खेतोंसे जो बाड़ लगी थी उसको उठा-उठाकर उसी पेड़के नीचे इकट्ठा किया, इसके बाद चकमकसे आग सुलगाकर मुखसे फूँककर उसको जला दिया, फिर जैसे तापने वाले लोग तापा करते हैं कुक्करू आसन लगाकर और हाथ फैलाकर इस तरह बैठकर वे तापने लगे। ये सब काम ऊपर चढ़े हुए बन्दर देख रहे थे। व्यापारी लोग तो सुबह चले गए। बन्दरोंने दूसरे दिन सोचा कि वे लोग भी हम जैसे ही थे। हमारे जैसे ही हाथ पैर उनके थे। उन्होंने तो अपना जाड़ा मिटा लिया था। क्या हम लोग नहीं मिटा सकते हैं? उन सब बन्दरोंने भी अपना जाड़ा मिटानेके लिए उद्यम किया। आस-पासके खेतोंसे बाड़ उठा-उठाकर ले आए और उसी पेड़के नीचे इकट्ठा कर दिया। अब बंदर कहते हैं कि इतना काम तो कर लिया, पर अभी जाड़ा नहीं मिटा। तो उन में से एक बन्दर बोला कि अभी जाड़ा कैसे मिटे, अभी इसमें लाल-लाल चीज तो पड़ी ही नहीं है। सो वे बन्दर आस-पास जो बहुतसी पटबीजना (जुगनू) उड़ रही थीं, सो उन्हें ले आये और बाड़में डाल दिया। ये लाल-लाल होती हैं ना। अब बन्दर कहते हैं कि अभी जाड़ा नहीं मिटा, तो एक बन्दर बोला कि अभी जाड़ा कैसे मिटे, उन्होंने लाल लाल चीज डाली थी, फिर मुखसे फूंका भी था। वे सब मुखसे फूँकने लगे। अभी जाड़ा न मिटा तो एक बन्दर कहता है कि वे लोग यों कुक्करू आसन लगाकर, हाथ फैलाकर बैठे थे। वे सारे बंदर भी उसी तरहसे कुक्करू आसन लगाकर हाथ फैलाकर बैठ जाते हैं, फिर भी जाड़ा नहीं मिटता। अरे जाड़ा कैसे मिटे? मूलतत्व जो आग है उसका तो पता ही न था।

मूलके परिचयका प्रभाव–भैया! सच जानों कि मूलतत्वका पता न होनेसे कितनी भी क्रियाएँ, आचरण किए जायें, पर उनसे सिद्धि नहीं होती है। अपना मूललक्ष्य यह होना चाहिए कि मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, जानना मेरा कार्य है, स्वभाव है, यही मात्र मेरा वैभव है, यह शुद्ध आनन्दमय है, मुझे तो केवल ज्ञाता दृष्टा रहना है। किसी भी परिस्थितिमें मेरेमें भीतर यह श्रद्धा बन जाये कि राग द्वेषके लिए कोई मुझे प्रेरणा न करे, मेरेमें मोह ममताका परिणाम न जगे। मैं तो ज्ञातादृष्टा ही रहना चाहता हूँ। यह जीवनका लक्ष्य बन जाय तो आत्माका उद्धार सुगम है। इसमें बड़ा बलिदान है, त्याग है। यह सब आन्तरिक तपश्चरण है, इसे चैतन्य प्रतपन कहते हैं। यह तपस्या करते बने जिस ज्ञानीपुरुषसे उस ज्ञानीने अपना मानवजीवन सफल किया समझिये, और जो कायर होकर अपने या दूसरेके शरीर में रागभाव करे, उसने तो अपना यह अमूल्य जीवन खो दिया। जैसे कोई पुरुष समुद्रके किनारे उड़ते हुए कौवेको और उड़ाने के लिए अपने हाथमें रक्खा हुआ रत्न फेंक दे, यों ही समझो कि यह दुर्लभ मानवजीवन व्यर्थ खो दिया। यह निर्णय अपना बनावो निःशंक होकर, साहसी बनकर मैं तो केवलज्ञानस्वभावमात्र हूँ और मेरेको एक काम यही रह गया है कि

मैं उस ज्ञानस्वभावका ज्ञान करता हुआ निर्विकल्प होऊँ। यही धर्मपालन है। जिनकी मुक्ति निकट है, धर्म उनको ही प्राप्त होता है, हमें इसका अन्तरङ्गसे यत्न करना चाहिए।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्,
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम्।
इमां दृष्टवाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते,
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः॥९७॥

शरीरकी अशुचि और आसक्ति—यह शरीर सर्व ओरसे अशुचि है तथा शारीरिक और मानसिक अनेक दुःखोंका यह साधन है। लोगोंकी सर्वाधिक प्रीति इस शरीरसे है। मोहीजन सब कुछ त्याग सकते हैं, पर इस शरीरकी प्रीति और शरीरके त्यागनेमें उनके भाव नहीं होता। कदाचित् भी कोई धनहानि करने आ जाए तो वह परिजनोंको बचानेका यत्न करेगा। परिजनों पर कोई आक्रमण करने आये या कोई उनकी हत्या करने आए तो सबसे पहिली बात अपने प्राण बचानेकी पड़ेगी। सर्वाधिक प्रीति पुरुषोंकी इस शरीरसे है। इस बातका कोई निर्णय नहीं करना है। परीक्षा लेनी हो तो अभी ले लो।

किसीकी चुटकी भरलो, चोटी पकड़कर खींच लो अथवा किसीके भी पास यदि आलपिन हो तो चुभो दो या खुद अपने चुभो लो या अन्य किसी के चुभो दो तो पता पड़ जाएगा कि कितनी ममता है इस शरीर से? कितना खोटा मोहजाल है। और एक ओर देखो उन मुनिराजको, जिनको शेर और स्यालिनी खाए, शत्रु परेशान करे, और तो क्या एक मुनिराजके शत्रुने उन की खालको चाकूसे छीला था और उस पर नमक छिड़कता जाता था—ऐसी ऐसी कठिन बाधाओंके अवसरमें भी वह कौनसा तन्त्र मन्त्र है, वह कौनसा जादू है, जिसके कारण उन्हें रंच वेदना भी नहीं हुई और वे अपने सत्य व परम आनन्दरसमें तृप्त रहे। वह तन्त्र मन्त्र है अपने आपका जितना स्वरूप है, उतना ही मानने का।

कोई पुरुष टूटी हुई झोंपड़ीमें रहता है। उसे उस झोंपड़ीमें बहुत ही अनुराग है। झोंपड़ीकी जरासी ईंट खिसक जाए तो वह उसमें ही चिन्ता करता है, शोक मानता है। यदि किसीकी हवेलीकी छत भी गिर जाए तो इस झोंपड़ी वालेको कोई शोक नहीं होता। इसका कारण यह है कि झोंपड़ी वाले को अपनी झोंपड़ीमें आत्मीयता है और उस हवेलीमें आत्मीयता नहीं है।

सकल क्लेंशोंका निमित्त शरीर—अहो! इस देहके साथ इस जीवका कितना विकट बंधन है? यह बंधन ही समस्त दुःखोंका मूल है। हम देहमें बंधे हैं हमारी मूर्तदृष्टि बन गयी है, हम पैनी ज्ञानछेनीसे अपने आपका भेद नहीं कर पाते हैं और अपने सहज प्रकाशमें मग्न नहीं हो पाते, इस ही अपराधके कारण विकल्पजाल चल रहा है। अनेक दुःखोंका निधान ही यह शरीर है। अनेक क्या, जितने भी जगमें क्लेश हैं, उन सब क्लेशोंका मूल कारण यह शरीर है। रोग भूख आदिका कारण शरीरका संबंध है। कोई भी गाली सुनकर, अपयशकी बात सुनकर जो अपमान अनुभव किया जाता

है, उसका कारण यह है इस शरीर पिंडको माना कि यह मैं हूँ। बस इस देह की ममताके कारण इसने अपमान महसूस किया। यदि यह भान होता कि मैं तो नामरहित, ज्ञानमात्र, आकाशवत्, निर्लेप केवल ज्योतिस्वरूप हूँ तो वह अपमान क्यों महसूस करता? सुखका मार्ग बहुत सुगम है, स्वाधीन है और अपनेमें है, पर उस मार्ग पर आनेकी कला मिले, तब ही ना। कला न मिले तो यह दुर्गम है।

स्वनिधिके अपरिचयकी दरिद्रता—अपने ही घरमें गड़ा हुआ धन यदि विदित नहीं है तो वह तो गरीबी ही अनुभव करेगा और कदाचित यह विदित हो जाए कि मेरे घरमें इस जगह बहुत बड़ी निधि गड़ी है तो यद्यपि अभी मिलने में देर है, लेकिन उस निधिका परिचय होते ही अन्तरमें एक ठसक सी आ जाती है, एक बड़प्पनसा अनुभव होने लगता है। जब तक इस जीवको अपने आपमें बसी हुई ज्ञान और आनन्दकी निधिका परिचय नहीं होता है, तब तक यह गरीब है। यह बाह्यपदार्थोंमें आशा कर करके दुखी होता रहता है।

आश्चर्य इस बातका है कि दुखी भी होते जाते और उसी दुखको पसन्द भी करते जाते हैं। यह सब मोहकी लीला है। जैसे घरमें कभी बड़ी कलह हो जाए और अनेक प्रतिकूलताएं हो जाएं तो यह पुरुष चाहता है, ऊब करके कहता है कि इस घरसे तो जंगलमें रहना भला है। अब इस घर में मैं न रहूँगा और फिर रहता वह घरमें ही है। चाहे कितनी ही विपदा आ जाए, यह सब क्या है? एक व्यामोह है। अच्छा तो घर छोड़कर कहां जाए? सुख शांति ज्ञान पर आधारित है। वह ज्ञान तो बसाया नहीं, उस वस्तुकी स्वतंत्रताका तो दृढ़ निर्णय किया नहीं—ऐसे ही धर्म व्यवहार क्रियाओंको करके यह मन कहां तक स्थिर रह सकेगा, कहां जाएगा? इस जीवकी बड़ी विचित्र दशाएं है।

संसारमें अशरणता—एक बार राजा भोजकी सभामें बहुतसे पण्डित बैठे थे। एक पण्डितके पिता भी बैठे हुए थे। राजाने पण्डितके पितासे एक समस्या पूछी, किन्तु वह तो मूर्ख था, पढ़ा लिखा न था। कोई यह नियम तो नहीं है कि पण्डितका बाप भी पण्डित हो, वकीलका बाप भी वकील हो, डाक्टर का बाप भी डाक्टर हो—ऐसा कुछ नियम तो नहीं है। वह तो मूर्ख था। तो पिता अपने लड़केसे कहता है—'पुरा रे बापा!' बाप पुत्रको किसी देशमें कहते हैं। इसकी पूर्ति करदे रे! लड़का होशियार था। उसने पिताकी मूर्खता छिपानेके लिए 'पुरारे बापा' कहकर ही श्लोक बना दिया—

पुरा रेवापारे गिरिरतिदुरारोह शिखरे,
गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनज्वालाव्यतिकरः।
धनुःपाणिः पश्चान्मृगयुशतकं धावति भृशं,
क्व यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति॥

उसने तो पुरा रे बापा कहा था, इसके आगे रे और लगाकर उसने पुरा रेवा पारे बना दिया, इसका अर्थ है कि रेवा नदीके तट पर हिरणका बच्चा खड़ा है और जंगल व पर्वतोंमें आग लगी हुई है और पीछे से १०० शिकारी धनुष बाण लिए हुए उस हिरणके बच्चेका पीछा कर रहे हैं

मारनेके लिए। उस समय वह हिरणका बच्चा अपने मनमें यह सोचता है कि "क्व यामः किं कुर्मः।" अर्थात् मैं कहां पर जाऊं और क्या करूं? बड़ा ही विलाप करता है। उससे अधिक विपत्ति हमें ही है, जो तनिकसी विभूति से सुखरसमें मग्न हो रहे हैं, विषयसाधनोंको पाकर अपनेको प्रभुसे कम नहीं समझते हैं।

संसारी जीवपर विपदाका बोझ–संसारी जीवों पर बहुत बड़ी विपदाओंका बोझ है। भला बताओ आज वह मनुष्य है, अच्छा शरीर है श्रेष्ठ मन है और मरकर हो गए कानखजूरा तो कितना अन्तर हो गया? कहां तो मनुष्य और कहां यह कानखजूरा। मरकर हो गए पेड़ पौधे, अब तो अंगोपांग भी नहीं रहे, जिह्वा भी नहीं रही, यह क्या जीव पर कम विपदा है? वह जीव विलाप करता रहता है कि मैं कहां पर जाऊं और मैं क्या करूँ? सारे दुःखोंका निधान यह शरीर है। जितने भी कष्ट हैं, सब इस ही शरीरके कारण होते हैं और जिसके कारण कष्ट होते हैं, उसमें ही हमे प्रीति रखते हैं।

शरीरसे छुटकारेका उपायकी जिज्ञासा–अभी कोई पूछ तो दे कि मैं क्या करूँ महाराज? यह अपना गला घोट दे क्या? इस शरीरसे अलग हो जाए क्या? मरण करले क्या? शरीर जब क्लेशोंका कारण है तो क्या करे? देखिए जब कभी दुष्टोंके संगमें फंस जाते हैं तो वहां अपनी ऐंठको बतानेसे काम नहीं निकलता। वहां जो मधुराईसे और धीरेसे यत्न द्वारा वहांसे छूटें तो निकल सकते हैं। ऐसे ही कोई सोचे कि यह शरीर दुःखोंका कारण है, इसलिए शरीरका घात करदें, प्राण तज दें तो यों तो शरीरका पिंड न छूटेगा। यह शरीर छूट जाएगा, किन्तु फिर दूसरा लेना पड़ेगा और वह इससे भी गया बीता होगा और कष्ट कई गुणित सामने आ ही जायेंगे। इसका छुटकारा पानेका प्रथम उपाय ज्ञानभावना माना हैं मैं शरीरसे न्यारा केवलज्ञानस्वरूप हूँ।

प्रभुस्वरूपके ध्यानसे अध्यात्म साहस–हे प्रभो! तुम शरीरसे न्यारे ज्ञानमात्र हो, कोई मुझमें तुम्हारी अतिशय भक्ति बने, हमारे गुणोंका तीव्र अनुराग जगे तो मुझमें ज्ञान भावनाका बल बढ़ेगा। अहो! यह शरीर सर्व प्रकार अशुचि है, बहुत दुःखोंसे व्याप्त है। इसमें रहते हुए यह मनुष्य विरक्त तो होता नहीं, उल्टा अधिकाधिक प्रीति ही करता है। जिसने न जाना अपने आत्माके सहजस्वभावके अनुभवका आनन्द, वह तो बाहरी पदार्थोंकी आशा प्रतीक्षा भोग आदि करके ही अपनेको सुखी माननेका यत्न करेगा। क्योंकि इसने खाया हुआ है अपने उपयोगमें परद्रव्योंकी प्रीतिका भोजन। इसे कैसे रूचेगा बढ़िया आनन्दका भोजन?

विषयक्षारवमनपूर्वक आत्ममाधुर्यानुभव–दो चींटियां थीं। एक चींटी तो नमक वालेकी दुकानमें रहती थी और एक शक्कर वालेकी दुकानमें रहती थी। एक तो रोज शक्कर खाये और एक रोज नमक खाये। एक बार नमककी दुकानमें रहने वाली चींटीके पास शक्कर वाली चींटी गई तो और बोली बहिन! तुम यहां रोज खारी क्यों खाती हो, हमारे साथ चलो, हम सदा मीठा ही तुम्हें खिलावेंगी। उसे विश्वास न हुआ। उसके बहुत-बहुत समझानेपर वह चली तो सही, पर मुखमें एक नमक की डली लेकर चली, ताकि वहां भूखों न मरना पड़े। जब वहां दोनों चींटियोंने जाकर

शक्करका स्वाद लिया तो शक्करमें रहने वाली चींटी पूछती है—कहो बहिन, कुछ मीठा स्वाद आया? तो वह बोली नहीं आया। फिर पूछा कि तुम्हारे चोंचमें कुछ रक्खा तो नहीं है। बोली, हां एक नमककी डली रक्खी है। वह इसलिए ले आयी हूँ कि मुझे कहीं उपवास न करना पड़े। तो शक्करमें रहने वाली चींटी बोली—अरे नमककी डलीको मुखसे निकाल दे तब स्वाद ले। उसने नमककी डलीको मुखसे निकाल दिया, तब स्वाद लिया तो स्वाद आया। अब शक्करमें रहने वाली चींटी पूछती है—कहो बहिन अब कुछ स्वाद आया? तो वह बोली, हां बहिन बड़ा स्वाद आया। नमकमें रहने वाली चीटीं पूछती है—कहो बहिन ऐसा मधुर स्वाद तुम कबसे ले रही हो? तो वह बोली कि हम तो रोज रोज ऐसा मधुर स्वाद लिया करती हैं। ऐसे ही जानों कि ये विषय विष जब तक रुचते रहेंगे तब तक आत्मीय सहज आनन्दरसमें प्रीति नहीं जग सकती। जिसे आत्मीय आनन्दरसमें प्रीति नहीं जग सकती, उसको प्रभुमें भक्ति भी नहीं हो सकती। वह प्रभुकी महत्ता जानेगा ही क्या?

अशुचि शरीरका दुरूपयोग—ये जगत्के प्राणी इस अशुचि शरीरसे विरक्त नहीं होते। इन कर्मोंने तो इसे मानों इसलिए यह अशुचि शरीर दिया कि इस शरीरसे शीघ्र विरक्त हो जाय, किन्तु यह संसारी ऐसा सुखद निकला कि ऐसे गंदे शरीरमें रहते हुए भी विरक्ति नहीं कर सकता। मुनिजन इसे समझाते हैं—मानों बड़ी करूणा करके समझा रहे हैं, जैसे कोई बालक आगको ही बारबार हाथोंसे पकड़ना चाहे या मिट्टी ही बार-बार खाते रहने की आदत बनाये तो उसकी मां उसे थप्पड़ मारकर डाटकर उसकी आदतको छुटाती है। ऐसे ही यद्यपि गृहस्थजनोंको साधुजनोंका उपदेश नहीं रूचता, लेकिन ये साधुजन फिर भी करूणाके कारण बारबार बताते ही तो चले जा रहे हैं। यह जीव कभी तो सुलझेगा ही। वे मुनिजन इस व्यामोही जीवको शरीरसे विरक्त करनेका यत्न कर रहे हैं। जैसे अपना स्वार्थ सधे तैसे तो सुख देने वाले बहुत हैं, किन्तु मुनिजनोंका क्या स्वार्थ सध रहा है? उपदेश देकर, यथार्थज्ञान कराकर, संसार शरीर और भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न कराकर इनका कौनसा स्वार्थ सध रहा है? ये साधुजन निःस्वार्थ हैं। इस जगत्के जीवों पर करूणा करके भगवान्की परम्परासे चली आयी हुई पद्धतिके अनुसार उपदेश दिया करते हैं। इस शरीरमें आसक्त मत हो।

शरीर श्रृंगारकी व्यर्थता—कोई लोग तो इस शरीरको गहनोंसे सजाकर, सफेद राख आदि कोई चीज लपेटकर अनेक तरहसे इस शरीरको सजाते हैं। न जाने क्या दृष्टि है उनकी? अरे किसको प्रसन्न करने के लिए शरीरको सजा रहे हैं? जगत्में दो तरह के लोग हैं—कुछ तो दुष्ट और कुछ सज्जन। ऐसे बनावटी सजे हुए शरीरको देखकर कोई दुष्ट अज्ञानी अभिलाषी कामी भले ही कुछ अच्छा कह दें, किन्तु सज्जन, ज्ञानी विरक्त तो उसे मूर्ख ही कहेंगे। कैसी बाह्यदृष्टि बनी है, कितना मोह ममत्वमें ध्यान बढ़ाया है कि ऐसी कृत्रिमता, ऐसी बनावट करते हैं जिससे दुनियाको यह दिखाना चाहते हैं कि मेरा शरीर कितना सुन्दर है?

सुन्दरतामें क्लेशकारणता—सुन्दर किसे कहते है? इसमें तीन शब्द हैं—सु उन्द् और अर। सु का अर्थ है भली प्रकार, उन्दी क्लेदने धातु है। जो अच्छी प्रकार कष्ट दे उसे सुन्दर कहते हैं।

मगर दुनियाने यह जाना कि सुन्दर के मायने हैं कोई उत्कृष्ट चीज। इसीसे लोग अपने प्यारों का भी नाम सुन्दर रखने लगे। किसीको विदित नहीं है कि सुन्दर शब्दका भीतरमें अर्थ क्या है? और यह बात ठीक भी है। जो जितना मनःप्रिय हो, इष्ट हो, अभीष्ट हो वह पदार्थ इस जीवको धीरे-धीरे तड़फाकर दुःखी करने का ही कारण बनता है। इस कारण उन अभीष्ट पदार्थोंका सुन्दर नाम लेना यथावत् ठीक है। अहो, कितनी भूल लदी हुई है इस उपयोगमें? कितनी बातें बसी हुई हैं? सब लोग अपनी-अपनी जानें। किसीको चिन्ता पुत्र स्त्री वैभव धन कुछ न कुछ अनेक ऐसी बातें बसी हुई है। वे उनसे अपने को हटा नहीं पाते हैं, ऐसा उनका अयोग्य उपादान है।

संकटहारिणी ज्ञान भावना–सब संकटोंको दूर करनेका उपाय ज्ञानभावना है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, सबसे निराला हूँ–ऐसी बारबार भावना बनाएँ और अपने आपमें इस ज्ञानस्वरूपको ही निरखा करें। इससे ही संकट दूर होंगे। बाहरी दिखावे की प्रवृत्तियोंसे क्लेश दूर नहीं होते। एक बुढ़िया थी। वह अपने घरमें पतले गोबर से लीप रही थी। वह गोबरको जमीन पर डाल दे और उसमें काफी पानी डालकर उसे बिल्कुल पतला बना दे, फिर उसे उसी जमीन पर लीपे। तो वह बुढ़िया शायद जैनी होगी। सो गोबरसे लीपती जाय और कहती जाय–'चींटी-चींटी चढ़ो पहाड़, तुम पर आइ गोबर की धार। तुम न चढ़ो तो तुम पर पाप, हम न कहें तो हम पर पाप॥, तो ऐसे पापोंके दूर करनेकी क्रियावोंसे तो काम नहीं चलता। आन्तरिक भेदविज्ञानके द्वारा परसे उपेक्षा करके अपनेको ज्ञानमात्र भावनेमें चिरकाल तक बनाएँ तो उससे सिद्धि होती है। इस छंदमें यह शिक्षा दी है कि शरीरसे प्रीति छोड़ो और खुद जो ज्ञान शरीरी है उस अन्तस्तत्वमें प्रीति करो।

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तभुक्तम्।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य सर्वपदां पदमिदं जननं जनानाम्॥९८॥

साधु संतोका करूणाप्रेरित उपदेश–संसारी प्राणी इस शरीर से विमुख नहीं होते हैं। शरीरकृत अनेक उपद्रव उपसर्ग सहते हुए भी शरीर से विरक्त होते हैं। साधुजन, ज्ञानीपुरुष इस जीवको शरीरके विमुख करनेके लिए नाना प्रकारसे उपदेश देते हैं। साधु संतोको इतनी अधिक शरीरकी बुराई करनेकी क्या पड़ी है, और जीवोंको शरीरसे विमुख करनेकी क्या पड़ी है? इसके उत्तरमें यह छन्द कहा जा रहा है–बहुत क्या कहें? इस संसारमें शरीरको बार बार भोगा और छोड़ा। जितना कुछ कहा जाय, इस शरीरके कारण होने वाले क्लेशोंका और क्लेशोंका कारण होनेसे शरीरकी असारताको जितना भी कहा जाए वह सब थोड़ा है। यह शरीर सर्वविपत्तियोंका स्थान है।

नारकशरीरका क्लेश–नरकगतिमें जो क्लेश नारकी भोगते हैं, वह सुननेमें भी बड़ा असह्य लगता है। वे नारकी जीव एक दूसरेको जब देखते हैं तो देखते ही नारकियों पर ऐसा टूट पड़ते हैं जैसे कोई कुत्ता किसी नवीन कुत्तेको देखे तो उस पर टूट पड़ता है। ये नारकी जीव पैदा होते हैं किस स्थानसे? जो नरक पृथ्वीका भाग है उसमें तिकोने चौकोने विकराल कुछ स्थान बने हैं। उन स्थानोंसे यह जीव नारकी होकर सिरके बल औंधा गिरता है। जमीन पर गिरनेके बाद यह

कितनी बार उछलता है और गिरता है। इन नारकियोंको जन्मते ही महाक्लेश मिलते हैं। उस दुःखसे कुछ विराम पाया, वह नारकी भूमिमें कुछ स्थिर हुआ कि एकदम दूसरे नारकी उस पर टूट पड़ते हैं। नारकी जीव दूसरेको सतायें वहां उन्हें कोई हथियार लाठी वगैरह नहीं खोजने पड़ते हैं। उनकी इच्छा हुई कि मैं इसे तलवार मार दूँ तो इस इच्छाके साथही हाथके उठाते ही हाथ तलवारका रूप रख लेते हैं। जितने भी शस्त्र वे चाहें मारनेके लिए वे शस्त्र उनके हाथ ही बन जाते हैं, ऐसा उनका वैक्रयिक शरीर है।

नरकभूमि–नरकमें रात दिवस बराबर होते हैं। रात दिवसके वहां विभाग तो हैं नहीं। न रात है न दिन, किन्तु जहां जितना अँधेरा है प्रकाश है वहां उतना ही अँधेरा प्रकाश है। पहिली पृथ्वीमें अर्थात् पहिले नरकमें रत्न जितना ही मात्र प्रकाश है। जैसे कोई रत्न इतना ही भर चमकता है कि यह मालूम पड़ जाय कि यहां रत्न रखा है। कहीं दीपककी तरह उसका प्रकाश नहीं होता है। कुछ थोड़ासा और प्रकाश हो गया। जैसे कि रातको देखने वाली घड़ी होती है, उसमें जैसा प्रकाश है उतना ही मात्र पहिले नरकमें प्रकाश है। इस नरकका नाम है रत्नप्रभा। दूसरे नरकमें शरीरकी जितनी आभा है। शक्कर सफेद होती है, उसके आभा क्या रहती है? क्या अंधेरेमें दिख जाती है? हां संभव है कि कुछ दिख जाय। इतना ही मात्र जहां प्रकाश है बस यही है दूसरे नरककी स्थिति। तीसरे नरकमें अंधेरा दिख जाती है। जैसे बालूकी रेती होती है, उसमें कहां उजाला है? ऐसा ही अंधेरा तीसरे नरकमें है। चौथे नरकमें कीचड़ जैसा अंधेरा है। ५वें नरकमें धुवां जैसा अंधेरा है। ६ठवें नरकमें जितना कृष्णपक्ष में अंधेरा रहता है उतना है, और ७वें नरकमें घोर अंधेरा है।

नरकभूमिका कष्ट–नरकोंकी भूमि इतनी करन्ट वाली है, इतनी कठिन है कि उस जमीनके छूते ही हजारों बिच्छू काटने जितना कष्ट होता है। यह शंका न करना कि क्या नरकमें भूमि ऐसी ही दुःसह है कि उस भूमिके छूनेसे ही हजारों बिच्छूवोंके काटने जैसा दुःख होता है। जैसे किसी जगह जमीन पर या भींतमें बिजलीका करेन्ट आ जाय तो वहां पर पड़े हुए लोग ही उसके दुःखको जान सकते हैं, ऐसे ही नारकी जीवोंको कितने कष्ट हैं, उसे वहांके नारकी ही जान सकते हैं। ऐसे भयंकर दुःसह कष्ट नारकी जीव भोगते रहते हैं।

नारकियोंको विपरीत ज्ञान–तीसरे नरक तक तो कुछ कलहप्रिय देव, जो कि असुर जातिके देव हैं वे जाकर नारकियोंको भिड़ाते हैं कि तुमको पूर्वभवमें इसने ऐसा कष्ट दिया था, याद दिलाते हैं, उसका कठिन क्लेश भोगते हैं और उन नारकियोंको भी ऐसा ज्ञान होता है, चाहे पूर्व भवमें माताने पुत्रकी आंखोंमें काजल लगाया हो अथवा सलाईसे अंजन लगाया हो, लेकिन यह पुत्रका जीव और मांका जीव नरकमें पहुंचे तो पुत्र का जीव ऐसा ज्ञान करेगा कि इसने मेरी आंखें फोड़नेके लिए आंखोंमें सलाई डाली थी, अंगुली घुसेड़ी थी।

विशेष दुःखके लिये नारकशरीरकी विशेषता–ये नारकी जीव एक दूसरेके शरीरके तिलतिल बराबर टुकड़े कर डालते हैं, लेकिन असाता वेदनीयका कितना तीव्र उदय है कि वह शरीर

तिल-तिल बराबर खंडित हो जानेपर भी बहुत ही जल्दी पारेकी तरह मिलकर पूरा शरीर बन जाता है। ऐसे दुःसह दुःख इन जीवोंने हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील, परिग्रह मिथ्यात्व मोह, ममता, अहंकार—इन सब अपराधोंके कारण सहे हैं। देखो इन सब दुःखोंका कारण यह शरीर ही तो हुआ। शरीर सब विपत्तियोंका स्थान है।

क्लेशका कारणभूत निगोदशरीर—कठिन नरक गतिसे भी निकृष्ट पर्याय है तो निगोद जीवोंकी। जो हम आपको यहां नजर नहीं आते वे प्रायः वनस्पतिकायके आश्रयसे रहते है। किन्तु निराधार भी बहुत जगह रहते हैं। त्रस जीव, मनुष्य तिर्यंचोंके, कर्मभूमिज मनुष्य तिर्यंचोंके शरीर में भी बसा करते हैं। दो इन्द्रिय आदिक जीवोंके शरीरमें भी निगोद रहते हैं। इनका काम एक श्वासमें १८ बार जन्ममरण करना है। श्वास वास्तव में नाम है नाड़ीके फड़कने बराबर कालका, क्योंकि श्वास पेड़ोंमें भी पायी जाती है। जिनके मुख नहीं है ऐसे एकेन्द्रिय जीवोंके भी श्वासोच्छवास पाया जाता है। हम आपके जितने रोमके छिद्र हैं उनसे उतनी श्वासोच्छवसे चलती है और उतने से ही क्या, सर्वशरीरसे चलती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—इन सबके सारे शरीरसे श्वासका निकलना और लेना यह बराबर चलता रहता है। एक सेकेण्डमें २३ बार निगोदिया जीवोंका जन्म और मरण होता है।

निगोदशरीरके क्लेशोंका उद्भव—जन्म ही का नाम मरण है, मरण ही का नाम जन्म है। चाहे मरण कह लो चाहे जन्म कह लो, बात एक ही है। जैसे यह अंगुली सीधी है इसे टेढ़ी करदें तो चाहे यह कह लो कि अंगुली टेढ़ी करली और चाहे यह कह लो कि अंगुली की सीध मिट गयी। दोनोंका एक ही अर्थ है। सीधका मिटना, टेढ़का बनना आदि दोनोंका एक ही मतलब है। पूर्वभवकी आयुका अलग होना और नवीन भवकी आयुका प्रारम्भ होना दोनोंका एक समय है। निगोदिया जीव एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म मरण कर लेता है। यहां तो लोग यश कीर्ति विषयसाधन आदि अनेक खटपट और कलावोंके लिए अपनी बुद्धि और विवेक लगाते हैं। उन निगोद जीवोंकी कौन सुने? एक कविने कहा है—

जो लोग किसीके सुखसे सुख मानते हैं, किसीके दुखसे दुख मानते हैं, इतने व्यामोही हैं, वे निगोद जानेकी तैयारीमें इस बातका अभ्यास कर रहे हैं, क्योंकि वहां तो एक जीवकी श्वास जब चले, तब ही वहां बसे हुए अनन्त जीवोंकी श्वास चले। जब एक जीव मरा, उसी समय अनन्त जीव मरे।

एक साथ जन्मना और एक साथ मरनेका अभ्यास मोहीजन यहां कर रहे हैं। कहीं निगोदमें जाना पड़े तो उसके अभ्यासमें कसर नहीं रह जाए। अपने विषयसाधनमें किसीके सुखमें सुख मानना और किसीके दुखमें दुख मानना तथा इतना अधिक तीव्र व्यामोहका होना—यह दुर्गतिका ही तो काम है।

विशिष्ट तिर्यंचोंका क्लेश—कभी सुयोगसे निगोदसे निकला तो अन्य स्थावर, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रियमें उत्पन्न हुआ। अब आप हम सब अपने बारेमें चिन्तन करते जायें कि इतना तो निश्य हो ही गया ना कि हम लोग निगोदसे निकल आये। अनन्त जीव तो ऐसे हैं जो

निगोदसे आज तक भी नहीं निकले हैं और इतना तो विश्वास है कि विकल्पजालोंसे भी निकल आए। अब यह जीव पञ्चइन्द्रिय, मनरहित पञ्चेन्द्रिय विकल्पोंकी भांति ही समझ लीजिए, वे अपना हित करनेमें असमर्थ हैं और सैनी भी हुए, क्रूर जानवर पशु पक्षी हुए तो वहां भी क्रूर पशुपक्षी हुए तो कौन सा लाभ पा लिया? नारकियोंकी दशा और अवस्था तो सुन ही रक्खी है तिर्यचोंके दुख सुन रक्खें हैं। बाजारोंमें देख लो कि जहां मैदा दाल वगैरह बिकते हैं एक ठेलेमें जिसमें एक भैंसा जुतता है, ४० बोरे तो शायद रख लेते हैं, इतना हमारा अन्दाजा है और उनका वजन करीब ६० मन तक होती होगी। इतना विकट बोझ एक भैंसा लादे चला जा रहा है और वह भैंसा भी कैसा कि जिसकी गर्दन फूटी हुई है, खून बह रहा है, फिरभी कंधे पर जुवा जोत दिया और कटघरे के भीतर जकड़ दिया चारों ओरसे। क्या करे अब वह बेचारा? न चले तो चाबुक लग रहे हैं। अरे वे भी तो हम आप जैसे ही जीव हैं। हम आपने भी ऐसी पर्याय पाई होगी, क्लेश भोगे होंगे। उन दुःखोंका कौन वर्णन कर सकेगा, वे ही जानें। उनके भूख लगी है, मालिक की मर्जी हुई तो भुस डाल दिया, जब मालिककी मर्जी हुई तो पानी पिला दिया।

मनुष्यभवकी उपयोगिताका बेसुधपना—इस मनुष्यभवमें इतनी पराधीना तो नहीं है फिर भी यह मनुष्य पाये हुए पुण्य, पाये हुए समागम में सन्तोष नहीं कर सकता है। यह भी तृष्णाके वशीभूत हुआ अपने को पराधीन अनुभव करता है। मनुष्योंके दुःख तो बहुत कुछ अनुभव किए हुए हैं और नजर आ रहे हैं। यह मनुष्य बचपनमें अज्ञानी रहा, जरा कुछ बड़ा हुआ तो स्वच्छन्दतासे खेलकूदमें अपना समय खो दिया। बड़ा हुआ, विवाह हुआ, बच्चे हुए, चिन्ताएँ चलीं, रोग शोक आदिक अनेक क्लेश हुए, बुढ़ापेमें शिथिल हो गए, चलने फिरनेसे भी लाचार, एक जगह पड़ा रहना चाहता है, ऐसे दुःसह दुःख में यह मनुष्यभव बिताया गया है। कैसे कल्याण करें?

अवसरोंका अनुपयोग—एक सेठकी राजासे बड़ी मित्रता थी। सेठ हो गया दुर्भाग्यवश बहुत गरीब, तो अपने मित्र राजासे क्या मांगता है? हे राजन्! अब दरिद्रताका दुःख तो नहीं सहा जाता है, कुछ उपाय लगावो। तो राजा कहता है कि जावो कल दिनमें एक बजेसे तीन बजे तकके लिए आज्ञा देता हूँ कि हीरा जवाहिरातके खजानेसे जितने हीरा जवाहिरात ला सको, ले आना। सेठ पहुंचा हीरा जवाहिरातके खजानेमें। राजाने खजान्ची को पहिले ही सूचित कर दिया था कि दो घंटेके अन्दर सेठ जितना हीरा जवाहिरात ले जा सके, ले जाने देना। जब वह खजाने के भीतर गया तो कहीं एक ही जगह छोटे कमरेमें न थे हीरा जवाहिरात। बहुत बड़ा मैदान था, अनेक कमरे थे। बहुत सुन्दर-सुन्दर खेल खिलौने थे, इन खेल खिलौनोंको देखा तो उनमें ही बड़ा मन लग गया। उन खेल खिलौनों में ही रमते हुए तीन बज गए। चपरासी ने खजानेसे बाहर निकाल दिया। सेठ रोता हुआ राजाके पास पहुंचा। बोला, महाराज आज तो खजाने से हम कुछ भी नहीं ला सके। राजाने दूसरे दिनके लिए १ बजे से तीन बजे तकके लिए आज्ञा दी कि सोने के खजानेसे जितना चाहे सोना ले आना। पहुंचा सेठ दूसरे दिन। वहां एकसे एक सुन्दर घोड़े बंधे हुए थे। सेठ घोड़ोंका शौकीन

था। उनमें ही रम गया, किसी घोड़े पर बैठ कर उसकी चाल देखने लगा। इसीमें ही दो घंटेका समय व्यतीत हो गया। सेठ वहांसे भी कुछ न ले जा सका। फिर राजाके पास पहुंचा। बोला महाराज आज भी कुछ नहीं ला सके। राजा ने तीसरे दिन चांदी के खजाने में जाने की आज्ञा दी, एक बजे से तीन बजे तक के लिए। वहां पहुंचा सेठ तो देखता है कि बड़ा सुन्दर मैदान है। कमरोंमें बड़ी अच्छी सजावट है। अनेक एकसे एक सुन्दर नारियोंके चित्र थे, वहां रहने वाली अनेक सेविकाएँ थीं। इन सबमें ही उसका चित्त रम गया। दो घंटेका समय व्यतीत हो जाने पर चपरासीने निकाल दिया। फिर राजाके पास वह सेठ पहंचा। राजाने चौथे दिनके लिए फिर ताम्बा, पीतलके खजाने में जानेकी और जितना ढोकर ला सके लाने की आज्ञा दे दी। वहां सेठ पहुंचा तो देखा कि बड़े भारी एरियामें एकसे एक सुन्दर पलंग पड़े हैं। वह पलंग विलक्षण स्प्रिंग वाले थे। विलक्षण उनमें कोमलता थी। उनमें से पलंग पर वह लेट गया देखने और दो मिनटमें सो गया। सोते सोते ही तीन बज गए। वहां से भी चपरासीने उसे बाहर निकाल दिया।

मनुष्यभवके अवसरोंकी उपयोगिताका बेसुधपना–ऐसे ही यह खेलों खिलौनोंमें समय गुजार देता है। किशोर अवस्थामें अनेक कलावोंमें, खेलों में, प्रायोगिक खेलोंमें समय बिता देता है। जवानीमें यह वासनावोंमें समय गँवा देता है। बुढ़ापेमें खाटपर पड़ा हुआ, कराहता हुआ समय गुजार देता है। हित इसने कहां कर पाया? देवगतिमें भी अनेक कष्ट रहे। वे कष्ट थे ऊधमके और मनके। एक दूसरेकी सम्पदा को देखकर वे सह नहीं सकते, ईर्ष्या करते हैं, जलते हैं। अपनी हीनता निरखकर निरन्तर कष्ट भोगते हैं। उनका भी क्या जीवन? इन सब क्लेशोंका कारण यह शरीर है। जिस जीवने जो भी कष्ट भोगा उस कष्टका आधार, माध्यम यह शरीर है। हे आत्मन्! तू अनादि कालसे शरीर धारण करता है, हम तुमसे केवल इतना ही कह रह हैं संक्षेपमें कि जितने भी संसारमें क्लेश होते हैं उन क्लेशोंके स्थानक यह शरीर है। इस कारण तू शरीर से विरक्त हो और जिस प्रकार शरीरका सम्बन्ध छूटे, सदाके लिए क्लेशोंसे छुटकारा मिले, वह यत्न कर।

दुष्टसे छुटकारा पानेका गंभीर उपाय–भला किसी दुष्ट मित्र से पाला पड़ गया हो तो उस मित्रसे छुटकारा पाने का क्या उपाय रचा जाता है? जब मालूम पड़ जाये कि यह मेरे साथ कपट करता है तो उससे उपेक्षा भाव हो जायेगा और यही उपेक्षा भाव उस दुष्ट मित्रसे छुटकारा दिला देगा। ऐसे ही इस शरीरका बन्धन लग गया है तो इससे छूटनेके उपायमें प्रथम क्या करना होगा कि इस शरीरका स्वरूप और अपना स्वरूप जानना होगा। यह शरीर केवल दुःखों का आश्रय है। यह मैं आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूपको लिए हुए हूँ। ऐसा शरीरमें और आत्मामें अन्तर जानकर शरीर से उपेक्षा करना और आत्मामें रूचि करना यह अपना कर्तव्य होगा। हे भव्य आत्मन्! इस शरीर को विपदाका स्थान जानकर इसमें मोह तो मत कर–यही मैं हूँ ऐसी प्रतीति तो न बना। इस शरीरसे न्यारा ज्ञानानन्द स्वरूप मैं सत् हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, अजन्मा हूँ। उस निज अंतस्तत्व का आश्रय करो। इस पुरुषार्षसे ही तेरे समस्त क्लेश दूर होंगे।

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्,
कर्मायत्तं सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्धया।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो,
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि॥९९॥

गर्भतः मनुष्योंके क्लेश–हे प्राणी! तू माताके उदरमें जो कि मल मूत्रका स्थान है वहां कर्मोंके आधीन हुआ बहुत समय पर्यन्त बढ़नेके लोभसे जो मां ने चबाया, खाया उसे मुखरूपी छिद्रसे उठाकर खाया। मां कोई बूँद मेरे मुखमें पड़ जाये। यह जीव जब गर्भ अवस्थामें आता है तब मांके पेट में रहता हुआ इस बात की चाह किये रहता है कि कोई बूँद मेरे मुखमें भी आ जाय, पर वहां खानेको कुछ मिलता नहीं है। किसी नली द्वारा जो बच्चेकी नाभिसे लगी रहती है और मां के पेटसे किसी स्थानसे जुड़ी रहती है उसके द्वारा ही कुछ आहार ले लेता है। मुख तो बंद रहता होगा। वह बालक गर्भ अवस्था में भूख और प्याससे पीड़ित रहता है। यह अपने दुःख की बात कही जा रही है। हम आपको याद नहीं है। गर्भमें रहे तब तक कैसे दुःख सहे, शायद किसीको भी याद न होगा। और तो जाने दो गर्भसे निकला और एक दो साल तक जो बीती होगी उस तक की भी याद नहीं है।

बचपनके क्लेश–बचपनके दुःखका कुछ अनुमान करो। जैसे अभी हम आपको कोई किसी संदूकमें बंद करदे, जहां हवा न मिले, पानी पीने को भी कोई न पूछे तो कैसा गुजरेगा? मां का पेट तो पूरा संदूक है इस गर्भ वाले बालकके लिए। पड़ा है सिकुड़ा हुआ, किस तरहसे भिचा हुआ वह गर्भमें रहता है, उसके दुःख की बात वही जाने। जब निकलता है गर्भसे तंब उसे कुछ आंखोंसे दिखता होगा जो कुछ भी, बोल तो सकता नहीं। पर सब कुछ अचम्भेकी बात नजर आती होगी। क्या है? जब उत्पन्न होते ही बच्चा रोता है तो उसकी आवाज कहां-कहां इस तरह हुआ करती है ना रोतेमें? तो कवि लोग यह कहते हैं कि वह बच्चा यह सोच रहा है कि अब मैं कहां आ गया? उसे तो सारी बात नई मालूम होती है। प्रकरण चल रहा है कि संसारमें जितने भी क्लेश हैं वे इस शरीरके कारण हैं। जीवका शरीरसे सम्बन्ध है इसीसे सारे दुःख हैं, लेकिन यह उन दुःखोंको सुख मानकर इस ही दुःखमें रम रहा है। गर्भमें बच्चेको रहनेके लिए कितनी जगह है? हम आप तो एक पूरे कमरेमें भी रहते हुए सोचते हैं कि हमारे रहनेका स्थान बहुत छोटा है और पेटमें कितना स्थान मिलता है इस बच्चेको रहनेके लिए? सिकुड़ा रहता है। उसके पास कहीं इतना भी स्थान नहीं है कि थोड़ासा सरक तो ले, कभी करवट बदल तो ले।

गर्भस्थ बालकके आन्तरिक क्लेश–गर्भस्थ बालक इतना अशक्त है, लेकिन मन उसको तभीसे है जबसे गर्भ में आया। शरीर चाहे गर्भमें तीन चार महीने तक कुछ पूर्ण बन भी नहीं पाता होगा, लेकिन मन बराबर उसी दिनसे है जिस दिनसे बालक गर्भमें आया है और मनसे विचारनेके दुःख, कल्पनाएँ करनेके दुःख चल रहे हैं। पेटमें थोड़ासा स्थान है वहां बच्चेका हलन चलन बनता नहीं है। उस बच्चेके साथ कौन है वहां? पेट में कोई कीड़े वगैरह हों तो वे ही उसके साथी हो

सकते हैं और कीड़े होते ही हैं हमारे आपके सबके पेटमें। किसी न किसी प्रकारके किसी रूपमें बने ही रहते हैं त्रसजीव। वे ही मात्र उस जीवके साथी समझिये। ऐसी गर्भअवस्थामें प्राणीने बड़े क्लेश सहे हैं और जब गर्भअवस्थासे निकला तब भी महान् क्लेश हुआ। इस मनुष्यभवमें, गर्भसे ही क्लेशोंकी शुरूआत है।

क्लेश मिटानेके थोथे सांसारिक प्रोग्राम–हे प्राणी! तू क्लेशोंको मिटानेके लिए बहुतसे सांसारिक प्रोग्राम क्यों बनाता है? जैसे बहने वाली नदीमें किसी जगह कोई कच्चा बांध बांधनेका यत्न करता है तो काहेको वह यत्न करता है? थोड़ी देरमें ही वह बह जायगा, ऐसे ही सांसारिक सुख पानेके लिए, क्लेशोंसे दूर होनेके लिए बड़े यत्न कर रहे हैं, हमारे पास धन जुड़ जाय, मकान बन जाय, नगरमें मेरी कीर्ति छा जाय, ऐसी बातें तू काहेको सोच रहा है? अरे इतना तो विकट दुःख यथाशीघ्र मिलेगा जब तू गर्भमें पहुंचेगा, या अन्य प्रकार जन्मेगा। तब दुःख ही दुःख हैं तो इस संसारमें उन दुःखोंसे छूटनेके लिए तू यहांके स्वप्नके प्रयत्न क्यों कर रहा है? दुःखोंसे छूटना है तो तू शुद्ध प्रयत्न कर। वह शुद्ध प्रयत्न क्या है? शरीरसे भिन्न ज्ञानानन्दमात्र निज स्वरूपास्तित्वमय अपने आप को देखो, यह मैं सबसे न्यारा ज्ञानघन आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि बना, अपने आपमें आराम विश्राम कर।

मरणभयमें जन्मक्लेशभयकी अन्तर्निहितता–तू मरणसे डर रहा है, यह मरण जन्मका कारण है। जन्म भी दुःखमय है, मरण भी दुःखमय है। मालूम होता है कि तू मरणसे क्या डर रहा है जन्मके दुःखसे डर रहा है। ये तो आ ही रहे हैं। जन्म और मरण ये जीवनके ओर छोर हैं। जैसे एक बांसके पोरमें दोनों ओर, ओर और छोर पर आग लगी हो और उसके बीचमें कीड़ा हो तो उस कीड़ेका कौन सहाय है, ऐसे ही हमारे जीवनके जिन्दगीके ओरमें तो गर्भ और जन्मका क्लेश है, जन्मकी आग लगी है और जीवनके छोरमें मरणकी आग लगी है, ऐसे हमारे जिन्दगीके ओर छोर बड़ी कष्ट ज्वालासे जल रहे हैं। उसके बीचमें हम आप जन्तु पड़े हुए हैं। काहेकी कुशलता? लोग पूछते हैं भाई कुशलता तो है ना? अरे काहेकी कुशलता बतायें? यह संसार ही सारा क्लेशमय है, जन्मे मरे जन्मे मरे–यही इस लोकमें होता है। आज यह मनुष्यकी जिन्दगी पायी तो कौनसी बड़ी बात पायी? यह भी स्वप्नवत् है, थोड़े जीवनका काम है, मरेंगे। जो बात अपरमार्थ है, वास्तविक नहीं है उसका भय किया जा रहा है।

स्वप्नका क्लेश–एक सेठ था। उसे दिनमें नींद आ गयी। पड़ा तो है वह अपने अच्छे ठंडे कमरेमें, स्वप्न आ गया कि मुझे बहुत तेज गरमी लग रही है, चलो समुद्रकी शीतल लहरोंमें थोड़ा पहुंचें। सो चलने को हुआ कि स्त्री, पुत्र, नौकर आदि सभी कहने लगे कि हमको भी तो गरमी लग रही है, हम भी चलेंगे। वे सबके सब नावमें बैठकर सैर करने चले। नाव जब मील दो मील दूर निकल गयी तो समुद्रमें एक भंवर उठी, नाव डगमगाने लगी। नाविक बोलता है कि नाव तो अब डूब जायगी, बचेगी नहीं। तो सेठ बोला भाई हमें बचावो, हमसे हजार रुपये ले लो, ५ हजार ले लो, हमें यहांसे बचावो। वह कहता है कि जब हम ही न रहेंगे तो रुपये कौन लेगा? हम तो नाव

छोड़कर तिरे जा रहे हैं। यह सब स्वप्नकी बातें कही जा रही हैं। जिसे ऐसा सवप्न आये उसके दुःखका क्या ठिकाना? सेठ दुःखी हो रहा है। सारा दुःख स्वप्नमें हो रहा है। नाविक तो नावसे कूदकर पार होने चला और सेठ बड़े कष्टमें है। देखो—कहां तो सेठ कोमल गद्दे में अच्छे ठंडे कमरेमें पड़ा हुआ है, कुछ सेवक लोग उसका मन बहलानेके लिए उसके जगनेका इन्तजार किए बैठे हैं, मगर सेठकी क्या हालत हो रही है? बड़ा दुःखी है। इतने साधन मौजूद हैं, पर सेठके दुःख को मिटानेमें कोई समर्थ नहीं है। सेठका दुःख मिट सकता है तो मात्र एक उपायसे कि उसकी नींद खुल जाय, जग जाय तो उसका क्लेश मिटेगा। जगने पर देखता है कि वहां न समुद्र है, न नाव है, न कोई डूब रहा है, लो अब उसके रंच भी दुःख नहीं रहा।

मोहनिद्राका क्लेश—ऐसे ही इस मोही प्राणीको मोहकी नींदमें स्वप्न आ रहे हैं, मेरा घर है, मेरा कुटुम्ब है मेरा वैभव है आदि। स्वप्न में कोई भी बात झूठ तो नहीं मालूम होती, ऐसे ही मोहके समयमें जो कुछ हम परख रहे हैं, जान रहे हैं यह झूठ नहीं मालूम देता। लेकिन जब हमारी मोहकी नींद खुल जायेगी, ज्ञान जग जायेगा तब समझमें आयेगा—ओह! कहां है मेरा यहां कुछ? अरे मैं तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे चैतन्य शक्तिरूप हूँ, सबसे न्यारा हूँ—जहां यह दृष्टि जगी कि उसका सारा क्लेश मिट गया। कितना विचित्र क्लेश है संसारमें? क्लेश है भी और नहीं भी है। है तो बड़ा विकट पहाड़सा लगता है, और न समझें तो क्लेश तो कहीं नहीं है। अभी अपनी ही जिन्दगीमें घटनाएँ देखो जो रोज आती हैं, कल्पनाएँ बढ़ा बढ़ाकर दुःख कर डालते हैं। हम आपको तो कोई क्लेश नहीं है। लाखों आदमियोंसे हम आपकी स्थिति अच्छी है और परमार्थ दृष्टिसे तो मेरे आत्मामें कुछ अनिष्ट गुजर ही नहीं रहा है। कहां क्लेश है? कुछ क्लेश न लगेगा। शान्तिके लिए अथक प्रयत्न तो किए जा रहे हैं, पर एक शुद्ध स्वाधीन दृष्टि बनाने रूप प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। जो वास्तविक काम है उसकी ओर तो दृष्टि नहीं है, और जो काल्पनिक है उनकी ओर बेसुध होकर लग रहे हैं। धन बढ़ रहा है तो उसकी खुशी का क्लेश भोगा जा रहा है। खुशीमें क्या क्लेश नहीं होता?

सांसारिक हर्षका क्लेश—एक साहब थे अंगरेज। उसकी आदत लाटरी लगानेकी थी। १० रू० लगाया तो १०, २० हजार, लाख दो लाख का इनाम मिलता था, पर उसको कभी इनाम नहीं मिला। सैंकड़ों बार उस ने लाटरी लगायी। एक बार उसने सोचा कि हमारा जो यह चपरासी है इसके नाम पर लगा दें। सो १० रू० उसके नामसे लगा दिये। संयोगकी बात कि उसके नामसे दो लाख रूपये निकल आये। साहब सोचता है कि इसको यदि ऐसे ही मैं कह दूँ कि तुझे ये दो लाख रूपये मिले हैं तो वह तो हर्षके मारे फूला न समायेगा, मर जायेगा, बच नहीं सकता। हर्षकी ऐसी चोट होती है। तब साहबने क्या किया कि पहिले तो चपरासीको बेंतोसे मार कर दुःख दिया। वह कराहने लगा। जब कष्टमें हो गया तो उसही बीचमें कहा कि तेरे नामसे दो लाख रुपये आये हैं लाटरीमें, सो तू इन्हें संभाल। तो ऐसे दुःखके बीच कुछ सुखकी बात सुननेमें आये तो उसकी संभाल रह सकती ना। बादमें वह चपरासी बोला—हजूर हम क्या करेंगे? कहां लगायेंगे? हममें इतनी बुद्धि

ही नहीं है। उस अंगरेजने कोई बड़ा काम छेड़ दिया और उसीमें नौकरी बजाने लगा, मैनेजर हो गया।

हर्षके अतिरेकमें पीड़ा—हर्षका भी बड़ा क्लेश होता है। अभी किसी बात पर कुछ तेज हँसी आ जाय आध मौन मिनट तकके लिए तो पेट ऐसा फूल जाता है कि श्वास लेने की भी गुञ्जाइश नहीं रहती है तो वह हँसने वाला मारकर कहता है कि अब मत हंसावो। मुझे तो हंसी में बड़ा क्लेश हो रहा है। तो यह जो पाये हुए समागमोंमें हंसी खुशी मानी जा रही है, उसका उससे कई गुणा दुःख भोगना पड़ेगा। हंस लो जितना हंस सको। पर इसकी एवजमें कई गुणा कष्ट आयेगा। जितने भी क्लेश हैं वे सब क्लेश इस शरीरके सम्बन्ध से हो रहे हैं। नरकगतिके क्लेश तो दूर ही रहे। उनका तो स्मरण भी हो तो शस्त्राघातकी तरह इस समय भी बड़े क्लेशका कारण बनेगा। यह उत्तम मनुष्य-पर्याय पायी है, इस मनुष्यपर्यायके ही क्लेश देख लो। इस मनुष्य-पर्यायको ग्रहण करते हुए शुरूवातमें ही, गर्भके समयमें ही कैसे-कैसे दुःख हुए हैं? उसका कुछ चिन्तन तो करो।

मरण क्लेशमें जन्मक्लेशका भय—कवि कहता है कि हम तो ऐसा मानते हैं कि जो तू मरणसे डर रहा है, सो मरण भय पीछे कोई नवीन जन्म धारण करना पड़ेगा। सो जन्मविषे तो तूने क्लेश पाया है, कुछ ख्याल है तिसके भयसे तेरे मरणका भय पाया जा रहा है। तू मरणसे इसलिए डर रहा है कि मैं मरूँगा तो फिर जन्म पाऊँगा, और जन्मके समयमें तो मरणसे भी कई गुणा अधिक क्लेश हैं। सो मालूम होता है कि जन्मके क्लेशोंके मारे तू मरणसे डर रहा है। यह न जान कि क्लेश मरणमें ही होता है। मरणसे भी अधिक क्लेश जन्ममें हुआ करते हैं। मरणसे इस लिए डर रहा है यह कि अब जन्ममें दुःख भोगने पड़ेंगे। सो वह मरणका भय नहीं है, जन्मका भय है। जन्ममें जो महान् कष्ट होता है उसे नहीं सह सकता यह जीव।

संकटविनाशका प्रयोग—भैया! अब ऐसा उद्यम करो जिससे जन्म का दुःख ही न हो। यह बात अपने आपके अन्तरङ्गमें जितनी दृढ़ भावना यह बना ले कि मैं शरीरसे रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप एक सत् हूँ। परिजनसे, वैभवसे, शरीरसे, मोह न रहे, अज्ञान न रहे—ऐसा मैं हूँ। यह मेरा है, यह मेरा हितरूप है, यह अज्ञान न रहे और जैसा यह मैं आत्मातत्व हूँ—ऐसाही अपने आपको मानूं तो मेरे ये संकट छूट सकते हैं। शरीरको यह मैं हूँ—ऐसा मानते रहेंगे तो शरीर मिलते ही रहेंगे। आखिर यह भी प्रभु तो है ना, भगवान् है, समर्थ है, अनन्तशाली है, शरीरको ही मानते रहेंगे कि यह मैं हूँ तो इसे शरीर मिलते रहेंगे। इस भगवान् आत्मा को जो प्रिय है वह इसके लिए सदैव हाजिर है। संसार प्रिय है, विषय प्रिय है तो ये सब बराबर मिलते रहेंगे। आखिर है तो आत्मा ऐश्वर्यशाली ना? कैसी इसकी विचित्र लीला है कि यह पेड़ोंमें जन्म लेगा तो शाखा, डाली, कोमल, पत्ते, तने और नसें आदि सब रूपोंमें वह आत्मा कैसे फैल जाता है—ऐसी भी यह लीला किया करता है, जब जिस शरीरमें पहुंचता है, तब उस शरीर रूप विस्तृत रहनेकी लीला करता है। शरीरमें यों लीला कर रहा है। चेत जा, अपने आपके स्वरूपको संभाल सके तो यह अनन्तज्ञानकी लीला करने

लगेगा। जन्म और मरण आदिके जितने भी क्लेश हैं, वे सब इस शरीरके संबंध हैं। अहर्निश ऐसी भावना बनाओ कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानान्दस्वरूप एक आत्मा हूँ। इस ज्ञानभावनाके बलसे ही समस्त संकट दूर होंगे।

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया,
विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा।
यदत्र किञ्चित्सुखरुपमाप्यते,
तदार्य विद्धयन्धकवर्तकीयकम्॥१००॥

स्वयंके द्वारा स्वयंके घातकी साधना–इस अज्ञानी जीवने अनादिकालसे जो कुछ भी किया, वह अपने घातके लिए किया। जैसे कोई कषायी किसी बकरीको घात करनेके लिए, लिये जा रहा हो, बड़ी धूप हो, गरमी में व्याकुलता आ गई। गरमीको मिटानेके लिए एक पेड़के नीचे छायामें वह बकरीको लेकर ठहर गया। वहां उस बकरीने अपने खुरोंसे जमीनको बहुत खरोंचा। उस खरोंचनेसे एक छुरी जमीनमेंसे निकल आयी। तो कषायीने अचानक अवसर पाकर उसी छुरीसे उस बकरीका घात कर दिया, उसके खूनसे अपनी प्यास बुझानेके लिए। तो जैसे बकरीने अपने आप अपने ही खुरोंसे ऐसी चीज प्रकट कर दी कि स्वयंका घात कर लिया–ऐसे ही यह संसारी प्राणी जिस कार्यको करके आत्माका घात होता है, उस कार्यको अपने आपही कर डालता है।

विकारसे विकासका घात–इस जीवका जो अनन्त विकास है, वह विकास विषयकषायोंके परिणामसे तिरोहित हो गया है। एक आत्मामें भी विकास और विषयकषाय दोनों का विरोध है। विषयकषायोंके परिणामोंके कारण इस जीवके ज्ञान, दर्शन, शक्ति और सुख आदिका विकास रूक गया है। क्या हेय है? क्या उपादेय है? इसका इस अज्ञानी जीवको विचार ही नहीं है। निमित्त तो कर्मोदय है, पर यह अपने आपकी इस स्वच्छन्दतासे जिसमें इसने अपना मौज माना, उस कार्यको वह शीघ्र कर डालता है। दुख ही दुखका काम किया इस जीवने, फिर भी जो कुछ थोड़ासा वैषयिक सुख मिला है, उसका कोई पक्ष आ जाए तो यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है? इसी तरह दुख दुखके कार्य करता हुआ अज्ञानी संसारी प्राणी थोड़ेसे विषय सुख पा गया, तो क्या हुआ? मिलने की कोई विधि तो न थी, पर अचानक सुखसमागम हो गया।

जैसे हजारों अन्धे कहीं पर थे तो उनमेंसे किसी अन्धेके हाथमें बटेर आ गई। उससे हजारों गुणा बाकी सारे ही अन्धे तो बटेर नहीं पाते हैं–ऐसे ही यह निरख लो कि हम आप जिनको जो कुछ थोड़ा बहुत सांसारिक सुख मिला हुआ है। संसारके समस्त जीवोंसे हम लोग कितने हैं? क्या संख्या है? अनन्त तो निगोदियाके जीव बेहोश पड़े हुए हैं और अनगिन्ते पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव पड़े हुए हैं। मनुष्योंकी क्या संख्या है? संज्ञी पञ्चेद्रिय जीवोंकी कितनी सी संख्या है? समस्त अज्ञानी प्राणियोंके यदि अनन्तवें भाग प्रमाण है। इसी प्रकार इन सब अन्ध जीवोंमें और मनुष्योंके हाथमें बटेर पक्षी आ गया तो अत्यन्त ही आश्चर्यकी और अनोखी बात है।

आत्मअसावधानी–इस अज्ञानी जीव पर अहर्निश यह भ्रम का ही अंधेरा छाया हुआ है। यह अपनी उन्नतिके लिए कुछ नहीं कर पाता। कभी कुछ प्रेम भी करता है किसी बातसे ऊबकर कल्याण करनेके लिए तो भी इसे वह विशुद्ध पद प्राप्त नहीं हो सकता। जिस पदसे यह आत्मीय साम्राज्य प्राप्त होता है। हे आत्मन्! तुझे कौन तारेगा? कौन सुखी करेगा? तेरी खबर लेने वाला केवल तू ही है। अपने आपके मनको संभाल, वचनोंको संभाल, शरीरको संभाल। तेरी ही संभालसे तो तुझे आत्मीय आनन्द प्राप्त होगा। व्यर्थके मोह और रागद्वेषके जालोंसे तुझे लाभ कुछ न होगा। किसी क्षण सबसे निराले ज्ञानानन्दघन निजअंतस्तत्वका अनुभव तो कर। सारे सारे बागजाल और सभीके सभी कल्पनाजाल–ये सब क्षणमात्रमें ही नष्ट होंगे।

जीवके बैरी–इस जीवके बैरी भाव छः हैं–प्रथम तो कामभाव है। किसी परके शरीरके प्रति विकारयुक्त कल्पनाएं जगाकर एक कामवासना का जाल गूंथना–यह इस जीवका एक प्रधान बैरी है। जैसे कोई कहार मछलीको जालमें डालकर मछली पकड़ कर बाहर फेंक देता है। सूखे स्थान में तो वह मछली तड़फ तड़फकर संक्लेशपूर्वक मरण कर जाती है। ऐसे ही यह काम विषयक विकल्प इस जीवको जैनशासनके समुद्रोंसे निकालकर बाहर तृष्णाके रेतीले स्थानमें इस जीवको डाल देता है। मछलीका जीवन पानी था। उस पानीसे अलग होकर मछली अपने प्राणोंको गंवा देती है–ऐसे ही यह संसारी अज्ञानी प्राणी जैनशासन ज्ञानसे अलग होकर अपने ही मन और कल्पनाके अनुकूल कुछसे कुछ कल्पनाजाल बनाकर इस जैनशासनसे अलग अलग होकर के तड़फता रहता है और दुखी होता रहता है।

मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ–इन पांच बैरियोंके वश होकर भी यह जीव संक्लिष्ट रहता है। सबका मूलजनक बैरी मोह है। वस्तुकी स्वतंत्रता आनमें न रहकर एक दूसरेका स्वामी मानना तो मोह है, इष्टकी अप्राप्ति व अनिष्टकी प्राप्तिमें रोष परिणाम रहना क्रोध है। पर्यायमें आत्मत्वके भाव होनेके कारण इस कल्पित निजकी अन्य जीवोंसे श्रेष्ठता चाहना मान है। कल्पित इष्टप्राप्तिके आशयसे मन, वचन और कायकी कूट मायामयी प्रवृत्ति करना माया है। कल्पित इष्टकी तृष्णा रखना लोभ है। इन सब बैरियोंके संकट शरीरके कारण है। इस शरीरसे विविक्त अपनी प्रतीति करनेसे सर्व संकट समाप्त हो सकेंगे।

पराधीनतामें सुखका अभाव–भैया! यह प्राणी किस किससे आशा रख रहा है अपने हृदयमें? बन्धुजन और इष्टजन तथा स्त्री पुत्र आदिक अनेक पदार्थोंमें आत्मीयताकी कल्पना कर रहा है कि यह मेरा है, पर इसका होता कोई नहीं है। हैरान होता है यह देखकर कि जो मैं सोच रहा हूँ, जो मैं करना चाहता हूँ–ऐसा परपदार्थमें नहीं होता है। पराधीन विषयोंसे सुख कहां मिले? दुखी हो करके स्वच्छन्दतासे अपने विषयकषायोंमें प्रवृत्ति कर रहा है। कदाचित् सांसारिक सुख भी मिल रहे हैं, पर उन सांसारिक सुखोंको यों जानों जैसे कि अंधेके हाथमें कोई उड़ता हुआ पक्षी आ जाये यह जीव अपने आपके संतोष और सुखके लिए क्या करता है? इसे अगले छंदमें गुणभद्र आचार्य कह रहे हैं।

हा कष्टमिष्टवनिता भिरकाण्डएव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि।
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते,
दग्धुं तपोऽग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते॥१०१॥

आत्मरक्षाका अविवेक–हाय! बड़े कष्टकी बात है कि जो आपको पंडित ज्ञानी मानता है ऐसे बड़े जनोंको भी यह प्रचंड काम स्त्री के निमित्त वशीभूत कर देता है, ज्ञानका खण्ड-खण्ड करके महान् दुःख उत्पन्न करा देता है। ये कषायोंके परिणाम, ये कामवासनाके परिणाम इस ज्ञानके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। अज्ञान ही समाया रहता है। ज्ञानका वहां कोई काम ही नहीं है। यह आश्चर्य तो देखो कि खोटे परिणामोंके कारण जो इस ज्ञानभावनाका खण्ड-खण्ड हो रहा है, उसे धीर-वीर बनकर सह रहा है। विषय-कषायोंके कतूहलोंको उत्पन्न होने वाले क्लेशोंको यह मनुष्य सहता हुआ अपने को बता रहा है। हो तो रहा है खण्ड-खण्ड, हो तो रही है खुदकी बरबादी और उस ही बरबादीमें अपने को धीरवीर बना रहा है। अरे इस कामविकार को तपरूप अग्निमें जलानेका उत्साह क्यों नहीं करता है?

कामविजयके लिये तपश्चरणादिकका आग्रह–इस देहको जितना ही आराममें रक्खो वह उतने ही अनर्थ व्यर्थके विकारोंको बढ़ाता रहता है। इस देहको तपस्या में झोंक दिया जाय और नियत समय पर खाना, नियत खाना, और और भी जो अनेक तपश्चरण हैं, सर्दी गर्मी आदिके उन सबको सह लेना। अपने आपके आत्मज्ञानको यह सावधान बनाये रहे तो इसे कहीं क्लेश न होगा। हाय, देखो इष्ट जो स्त्री आदिक हैं उनका निमित्त यह काम इस जीवको खण्डित कर रहा है और अपने आपको बरबाद करता हुआ भी खेद नहीं मानता। इस कामने तीन लोकके प्राणियों तक आतंक फैलाया है। स्वर्गोंमें देवता लोग नवग्रैवेयक से पहिले सोलहों स्वर्गों पर्यन्त वैक्रियिक शरीरधारी देवता भी इस कामसे बच नहीं सके। कोई मनुष्योंकी तरह कामसेवन करते हैं, कोई देव देवियोंके शरीरका स्पर्श करके संतोष मानते हैं, कोई देव शब्द ही सुनकर अपनी कामव्यथा दूर कर लेते हैं, कोई रूप देखकर, कोई मनसे ही विचार करके इस काम की विपत्तिकी चिकित्सा करते हैं। लेकिन पड़ते हैं वे भी किसी भी रूपमें पड़ें। इस कामाग्नि ज्वाला में भी वे भस्म होते जा रहे हैं, ऐसा तो आतंक छाया है, किन्तु यह जीव अपने को ज्ञानी मानता है। जो ज्ञानी लोकके द्वारा माने जा रहे हैं, उन्होंने इस कामविषय को छोड़ा है। यह कामविषय तो दुःख ही उत्पन्न कराता है।

महान् अविवेक–देखो कोई अपने को बड़ा बुद्धिमान् मानता हो और कर क्या रहा हो, कामवाणसे छिद्र रहा हो, दूसरेके कामवाणोंको साहस करके सह रहा हो और जो वाण चलाने वाला विकार है उसको मित्र मानकर उसके विनाशका उपाय नहीं कर रहा हो, बल्कि उसको पुष्ट कर रहा हो, उसे और इनाम दे रहा है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। जो अपना घात करे उसको ही मित्र माने और उसका पोषण करे, यही हाल हो रहा है संसारी जीवोंका। परिजन, मित्रजन, रागद्वेष

मोहकी ये सारी बातें इस जीवका विघात कर रही हैं और यह जीव उन ही प्रसंगोंको मित्रवत अपना रहा है। आशयमें उन्हें मित्र मान रहा है। आशयमें मित्र न माने और किसी कारण उन्हें पुष्ट करे तो वह बात अज्ञानसे अलग है।

नसीहत—एक कथानक है कि एक सेठ साहबकी हजामत एक नाई बना रहा था। नाई ने हजामत बनाते हुएमें एक दो जगह छुरा मार दिया, खून निकल आया। सेठ जी ने बादमें उसे २ रू० इनाम दिया। नाई बड़ा खुश हुआ। उसने सोचा कि यह तो बड़ी अच्छी तरकीब है। जितनी जगह छुरा मारो, उतने रूपये इनाम के मिलते हैं। एक बाबू साहब की भी हजामत बनाने पहुँचा। सोचा कि ये बड़े पुरुष हैं, बड़े अच्छे ढंगसे रहते हैं। इनसे तो ज्यादा इनाम मिलेगा। सो हजामत बनाते हुए में उसने दो तीन जगह छुरा मार दिया तो बाबू साहबने और उनके नौकरोंने जूतोंसे अच्छी मरम्मत कर दी। वह सोचता है कि मेरा हिसाब कहां बिगड़ गया? सेठ को दो छुरे मार दिये तो २ रूपये मिले और ये तो बड़े पुरुष हैं, ये तो रूपयोंके एवज में मार रहे हैं। वह एक बुद्धिमानी थी। उस सेठने नाई को मित्र मानकर रूपये नहीं दिये थे, किन्तु सजा दिलानेके लिए रूपये दिये थे। भीतर से मित्र तो ना मानों। यह जीव तो इन्हें भीतरसे मित्र मानता है। खूब विचार लीजिए।

आत्मानुष्ठानमें ही उद्धार—यह जीव कुछ दिनोंको जीवित है। यह मरण करके कहां जायेगा? इसका फिर यहांके लोगोंसे कुछ परिचय भी रहेगा क्या? अनेक भव व्यतीत हो गए। वहां के परिवार जनोंका कुछ भी तो परिचय नहीं है। यहां का कुछ भी परिचय न मिलेगा। तो ऐसे अभी से ही तू देख अपने आपको कि जो मिला हुआ भी है, इससे भी मेरा कोई परिचय नहीं है। सबको अपरिचित देखो, स्नेह न बढ़ावो, परिचय न बढ़ावो, मोह मत बढ़ावो, सबको न्यारा जानकर सबसे अलग हटकर अपने आपमें अपने ज्ञानमात्र स्वरूपका अनुभव करो। अपने आपमें पैठे बिना उद्धारका मार्ग न मिल सकेगा। बाह्यदृष्टिमें तो केवल अशान्ति ही अशान्ति रहेगी।

निजविश्रामके बिना विडम्बनाओंका चक्र—कोई पुरुष अपने घर को न जानकर, अपने घरमें प्रवेश न करके पराये घरमें प्रवेश करे और वहां अधिकार जमाये तो उसका फल लुटना और पिटना ही उसे मिले है। अपना घर छोड़कर पराये पर कोई अधिकार जमाये तो वह केवल क्लेशका ही कारण है। हमारा वास्तविक घर है, जहां ज्ञान और आनन्दस्वरूप समाया हुआ है—ऐसा यही मेरा आत्मप्रदेश है। उस अपने घरको छोड़कर परवस्तुवोंकी आशा करना, यही पर घरमें बास करना है। जैसे कोई बैरी वाणोंसे छेद रहा है और उसे भूलसे मित्र मानकर उसका पोषण किया जाए तो जैसे लोकमें वह मूढ़ कहलाता है-ऐसे ही कोई अपने को ज्ञानीरूप मानता है और ये कामविकारभाव स्त्रीरूप वाणों से इसे छेदें, अथवा परशरीर वाणों से छेदें और उन्हें यह मित्र मानें, तो उसकी दशाएं उसी प्रकार हैं।

जिसका ऊपर दृष्टान्त दिया गया है, वह पीड़ा सहता है और काम को हितरूप जानकर वहीं रमण करता है। अरे! तू तपरूप अग्निसे इसी कामको भस्म कर देनेका उपाय क्यों नहीं करता, क्यों अनेक सामग्री को संचित कर इस कामकी पुष्टताको चाहता है?

कामविजयसे लोकविजय–एक बात बड़ी प्रसिद्ध है कि शम्भुने कामदेवको जलाकर उसकी राखको अपने शरीरमें लपेटा और दुनियामें अपनी वीरताका परिचय कराया। एक स्तवनमें कवि कहता है कि बाहरी विचित्रता! इस कामदेवको वास्तवमें जलाया तो जितेन्द्रियने। उससे कामदेव भस्म हो गया तो उसकी राखको लपेटकर कोई अपनेको कामविजयी ही प्रसिद्ध करना चाहता है। शरीरको सुकुमार मत बनाओ। शरीरके रूचिया और आरामदेह मत बनो। इस शरीरको कष्टमय होने दो। तुम उपकार और परके काम करो। जो अपने शरीरको आरामसे रक्खेगा, अपने शरीरसे मोह करेगा, उसमें विकारभाव तीव्रतासे आयेंगे और अपने ही इन सब विकार परिणामोंसे अपने आपको संसारमें रूलाएगा। जन्म और मरणकी परम्परा बढ़ायेगा। तुझे यह विनश्वर शरीर मिला है। यह तो किसी दिन भस्म हो ही जाएगा।

अरे भैया! ऐसा काम करलो ना कि इस शरीरको तप और संयम में लगाकर तू विकारभावोंको भस्म कर डाल और अपने शुद्धज्ञानानन्दस्वरूपका निर्विकल्प होकर अनुभव करें। अपना काम और अपने परिणाम संभाल लेगा तो तुझे अलौकिक सुख प्राप्त होगा। यों आचार्यदेव अपने आपके स्वरूपमें मग्न होनेका उपदेश कर रहे हैं।

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचित्य विषयान् कश्चिच्छियं दत्तवान्,
पाषां तामवितर्पिणों विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलं विमृश्य सुभगाऽप्यन्यो न पर्यग्रही-
देते ते विदितोतरोतरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः॥१०२॥

उत्तरोत्तर त्याग–जिसके भेदविज्ञान निर्मल प्रकट हुआ है और इस भेदविज्ञानके बलसे परद्रव्योंकी उपेक्षा करके जिसे निजअन्सस्तत्वकी चाह लगी है, वह पुरुष इन विषयकषायोंमें बंधकर नहीं रह सकता है। फल यह होता है कि वह सर्वपदार्थोंका त्यागी हो जाया करता है। जो जन त्यागव्रत लेते हैं, उनके तीन प्रकार हैं–कोई अपनी सम्पदाको तृष्णवत् विचार कर और साथ ही कुछ कषायके अंश होनेसे याचकजनोंको देकर, कुटुम्बी और बहिन आदिक जिसको जो कुछ देना हुआ देकर, फिर उन विषयोंके त्यागी हो जाते हैं, लक्ष्मीका त्याग कर देते हैं। कोई जन इतने विरक्त होते हैं और कुछ ऐसे विरक्त होते हैं कि इस लक्ष्मीको पापस्वरूप और तृप्तिकी न करनहारी समझ कर उसके विनयोग की भी कल्पना न करके यों ही छोड़कर चल देते हैं। यह उनसे भी विशिष्ट कक्षके त्यागी हैं। कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि पहिले से ही इस लक्ष्मीको कुशलरूप न जानकर पहिलेसे ही त्याग देते हैं, भोगते भी नहीं हैं। यह उनसे भी उत्कृष्ट त्यागी हैं।

उत्तरोत्तर विशिष्ट त्यागका एक उदाहरण–उदाहरणके लिए एक घटना लो। किसी नगरमें मंदिरमें तीन पुरुष मिलकर व्रत नियम स्वाध्याय किया करते थे। जिनमें एक बड़ी उमरका था, दूसरा जवान था और तीसरा १८, २० वर्षका बालक था। स्वाध्यायका उन तीनोंके नियम था, धर्म की रूचि थी। एक दिन उन तीनोंमें यह बात तय हुई कि अपनेमें से जो विरक्त हो जाये, वह बाकी

दो को भी सम्बोधे। तो उस वृद्धपुरुषके मनमें आया कि उमर बहुत गुजर गयी, जो कुछ मनमें था वे कर्तव्य भी कर लिए, पर इस जगत्में सारभूत बात कुछ भी नहीं मिली। इस जगत्से तो विरक्त होना भी कल्याणकारी है। उसे सब कुछ छोड़नेका मनमें आया। तो उसने दो तीन माहमें सारी सम्पदाका हिसाब किताब बनाकर, जिसको जितना बँटवारेंमें मिला सब कुछ दे दिया, सब कुछ छोड़कर घरसे चल दिया। रास्ते में उस जवानकी दुकान पड़ती थी, जो स्वाध्यायमें उसका साथी था। उस जवान साथीसे बोला कि भाई! हम तो विरक्त हो गए हैं और जा रहे हैं, किसी धर्मसाधनाके स्थान पर। तो वह जवान बोला कि हम भी तुम्हारे साथ चल रहे हैं। दुकानसे उठा और साथ चल दिया। तो वह वृद्ध पुरुष कहता है कि तुम ऐसे क्यों चले जा रहे हो? लड़के को बुलवावो, दुकान संभलवा दो, दुकानकी चाबी सौंप दो तब चलो। तो जवान बोला कि जिस चीज को छोड़ना है, उसे जब छोड़ ही दिया तो फिर उसकी क्या व्यवस्था बनानी? जो लेना चाहे ले, जो लूटना चाहे लूटे। जिस वस्तुका हमने ममत्व त्याग दिया, उस वस्तुके बारे में अब क्या कल्पनाएँ जगाना? वह यों ही खुली दुकान छोड़कर उस वृद्ध पुरुषके साथ चल पड़ा। अब इन दोनों ने रास्तेमें किसी मैदानमें उस बालकको खेलते हुए देखा। वे दोनों कहते हैं कि हम दोनों विरक्त होकर जा रहे हैं। तो वह बालक बोला कि हम भी साथ ही चलते हैं। गेंद बल्ला वहीं छोड़कर उन दोनोंके साथ चल पड़ा। वे दोनों समझाते हैं कि तुम्हारे विरक्त होनेके दिन नहीं हैं, तुम्हारी सगाई हुई है, विवाह कर लो, कुछ सांसारिक आनन्द लूटो, बादमें विरक्त होना। तो वह बालक कहता है कि जिस चीज को हम आगे छोड़ेंगे उसको अभी क्यों ग्रहण करें? जिस कीचड़को हमें आगे धोना पड़ेगा, उसे हम पहिले से ही न लगायें तो यह कितनी उत्तम बात होगी? वह बालक खेल छोड़कर उन दोनोंके साथ चल पड़ा। अब जरा विचारो तो सही कि उन तीनोंमें उत्तरोत्तर कौन भला था? उस वृद्धसे भला तो जवान निकला जिसने कुछ व्यवस्था बनाने की भी नहीं सोची। जिसे त्याग दिया उसका अब क्या विकल्प करना? वह चल दिया। उससे भी उत्कृष्ट निकला वह किशोर बालक जो यह सोचता है कि जिस चीजको भोगकर छोड़ना ही है, उसको पहिले से ही क्या ग्रहण करना?

विषयत्यागकी अनिवार्यता—देखो, विषयोंके त्यागके बिना किसी का गुजारा नहीं चलता। जो विषयोंमें आसक्त हैं उनका भी विषयोंके त्याग बिना गुजारा नहीं चलता है। मान लो कोई खाता ही जाये, खाना छोड़े नहीं तो उसका गुजारा चल जायेगा। नहीं चल सकता। यों ही सभी विषयों की बात है, सब विषयोंको छोड़नेसे ही गुजारा चलता है। तो वे तीनों पुरुष उत्तरोत्तर विशिष्ट त्यागी हुए। यह तो हुई त्यागियोंकी उत्कृष्टता। अब जरा विषयकषायों की भी उत्कृष्टता देखो। कितना त्याग कषायोंमें होड़ मचाए हुए हैं।

अज्ञानमें विषयोंकी होड़—एक बार टोकरीमें मल लिए जाते हुए भंगिनको देखकर तीन पुरुष उसके पीछे लग गए। किसी सज्जन पुरुषने तो अच्छी तौलिया देकर ढ़क दिया था ताकि किसीको परेशानी न हो। वह भंगिन कहती है—भाई, क्यों हमारे पीछे लगे हो? वे तीनों बोले कि हम देखना चाहते

हैं कि तुम टोकरीमें कौनसी चीज लिए जा रही हो? इसमें तो कोई बढ़िया चीज होगी। वह भंगिन कहती है—भाई, लौट जावो इसमें मल है, गंदी चीज है। इतनी बात सुनकर उनमें से एक वापिस लौट गया, दो अभी तक पीछे ही लगे रहे। भंगिन कहती है—भाई! लौट जावो, क्यों पीछे लगे हो? तो वे कहते हैं कि हमें तो दिखा दो। जब सही-सही मालूम पड़ जायेगा, तब लौटेंगे। भंगिनने उस टोकरीसे तौलिया हटा दी। उस मलको देखकर उन दोनोंमें से एक वापिस हो गया। एक अभी तक पीछे लगा रहा। उसे विश्वास न हुआ कि भंगिन सही कह रही है। भंगिन कहती है—भाई लौट जावो—इस टोकरीमें मल भरा है। तो वह कहता है कि हमें तो अच्छी तरह से दिखा दो, जब ठीक-ठीक हमारी समझ में आ जायेगा कि यह मल है तब लौटेंगे। हमें तो लगता है कि इसमें कोई अच्छी चीज होगी। भंगिनने बहुत समझाया कि इसमें मल है, पर वह नहीं माना। इसे तौलिया हटाकर अच्छी तरहसे सूंघ सांघकर उसने जांच कर ली कि वास्तवमें यह मल है, तब वह लौटा।

उत्तरोत्तर त्यागका विश्लेषण—जगत्में सभी जीवोंको ये विषय साधन छोड़ने पड़ेंगे। चाहे कोई मर कर छोड़े, चाहे भोगकर छोड़े, चाहे पहिले से छोड़ दे। सबको ही विषय छोड़ने पड़ेंगे। ये वैभव सम्पदा जो मोहके साधन बनाए गए हैं यह सब छोड़ने पड़ेंगे। चाहे कभी छूटें, रहेगा यहां कुछ नहीं। यों जगत्में विचित्र विषयभोगी हैं और विशिष्ट प्रकारके त्यागीजन भी हैं। उत्कृष्ट तो वे सभी हैं जो विषयोंका परिहार कर दें। जैसे कहते हैं कि दिन भरका भूला शामको ठिकाने आ जाये तो उसे भूला नहीं कहते। ऐसे ही अपनी जिन्दगीमें कितने ही वर्ष बिता देंवे, कितने ही खटपट आरम्भ पापवासनामें अपनी जिन्दगी बिता देवें, पर किसी दिन चेत हो, विरक्ति आ जाये तो वह भूला हुआ नहीं है। ठीक है उसने अपना काम यहां बना लिया। जो भी पुरुष इन विषयसाधनोंका परित्याग करते हैं, वे तो उत्कृष्ट त्यागी ही हैं। उनमें अब यह छँटनी कर लेना कि जो पुत्र आदिकको धन आदिक देकर या जिसे देना है उसे बांटकर फिर त्याग करे, वह भी उत्कृष्ट त्यागी है। कोई पुरुष तो अन्तरसे किसी वस्तुका त्याग नहीं कर पाते हैं उनसे तो यह भला है। त्याग दिया एक तो ऐसे मनुष्य दूसरे ऐसे मनुष्य हैं कि किसीको देने, बांटनेका भी विकल्प नहीं करते ऐसे ही समग्र धन यों ही त्यागकर चले जाते हैं?। यह पुरुष उनसे उत्कृष्ट है क्योंकि पहिले उस वृद्ध पुरुषके कुछ कषायोंका अंश था। उनसे कुछ अपना सम्बंध ही तो समझा, तब किसीको देनेका परिणाम किया गया किन्तु यह भव्य किसीको देने तकका भी परिणाम नहीं कर रहा है। वह तो सबको यों ही छोड़ कर जा रहा है। यह पुरुष उससे भी उत्कृष्ट है और कोई बालक बालिकाएँ ऐसे कल्याणके अभिलाषी हों, जो भोगनेसे पहिले ही भोगे बिना त्याग देते हैं, वे उत्कृष्ट हैं।

धर्मरूचिकी उपादेयता—धर्म और ज्ञानकी प्रीति करना और धर्म एवं ज्ञानका दूसरे जीवोंके हितमें प्रचार करना, यह कल्याणका मार्ग है। यह संसार-विषयकलुपताका परिणाम इतना कठोर है कि इसके त्यागते-त्यागते भी इसके त्यागमें सफल नहीं हो पाते। अपने परिवारमें जो बालकजन हों, जो भी हों उन सवके प्रति आपका कर्तव्य है उनमें धर्मभावना रहे, ऐसा उपाय बनायें। वैराग्य,

धर्मभावना, ज्ञानप्रकाश आदि परिवारके सदस्योंमें है तो वह सुख शान्तिपूर्वक जीवन बिता सकेगा। जिसको धर्मकी रूचि नहीं है ज्ञान और चारित्रसे प्रेम नहीं है, ऐसे लोग कोई भी हों, वहां पद-पद पर झगड़ा चलता रहता है। जिसमें धर्मकी वासना हो लोकका जीवन भी बहुत बहुत अच्छी रीतिसे व्यतीत होता है और परलोकका सुख तो उसे प्राप्त होता ही है। धर्ममें आदिमें, मध्यमें अन्तमें सर्वत्र आनंद ही आनंद है और धर्मभाव हो तो सर्व कुछ सम्पन्नता होकर भी उसे कष्ट अनुभवना नहीं पड़ता है। वह पुरुष विशेषतया धन्य है जिसमें इतना ज्ञानबल बढ़ा हुआ है कि इन भोगोंको न चाहकर, न भोगकर पहिले से ही उन्हें छोड़ देता है। उसका उत्कृष्ट होनहार है। उसकी बुद्धि विद्वा सब उत्कृष्ट हैं जो विषयोंसे विरक्ति भाव रखते हैं, वे सर्वदर्शी होनेके पात्र हैं।

उदार पुरुषोंकी वृत्ति पर मोहियोंको आश्चर्य–जो समस्त परिग्रहों को त्याग कर साधुसंत होनेकी दीक्षा ले, उसने तो सब कुछ ही दान कर दिया। जो अपने लिए कुछ नहीं चाहता, जिसको अपने चित्तमें स्वार्थ नहीं है उसने तो सब कुछ दान कर दिया। आत्मकल्याणकी दृष्टिसे देखियेगा। जो पुरुष समग्र परद्रव्योंसे भिन्न निजस्वरूपमात्र अपनेको अवलोकता है उसका सर्वकल्याण होता है, इस पर मोहियोंको आश्चर्य लगता है कि ऐसी बड़ी सम्पदा लाखों करोड़ों अरबोंका धन प्राप्त करके फिर यह सब छोड़ जाते हैं। कैसे छोड़ जाते हैं? उन्हें उनकी वृत्ति पर आश्चर्य होता है, ठीक है।

विचित्र बीमारी–एक बार किसी कंजूसने नगरमें जाते हुए किसी सेठको अन्न, कपड़ा बांटते हुए देख लिया था। यों ही यह धन लुटाया जा रहा है, ऐसी दृष्टि करके उसे खेद हुआ। जो लोभी पुरुष है वह खुद भी त्याग नहीं कर सकता है और त्याग करते हुए दूसरोंको देख भी नहीं सकता है। वह कंजूस बड़ा उदास चित्त होकर घर आया। उसके सिरमें दर्द होने लगा था। उसकी स्त्री पूछती है कि हे लक्ष्मीपुत्र! तुम आज उदास क्यों हों? लक्ष्मीपुत्र जानते हो किसे कहते हैं? जो इस धन सम्पदाको माताकी तरह रक्खे, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र। जैसे पुत्र माताको भोगता तो नहीं है, ऐसे ही जो इस सम्पदाको भोग न सके, खर्च न कर सके, जो अतिकंजूस है वह तो लक्ष्मीका पुत्र है। लक्ष्मीपति होना और बात है लक्ष्मीपुत्र होना और बात है। वैसे भी बताया है कि इस लक्ष्मीकी सवारी उल्लू है। जैसे अलंकारमें सबकी सवारियोंका निर्णय है–गणेशकी सवारी चूहा है, महादेव की सवारी बैल है, ऐसे ही लक्ष्मीकी सवारी उल्लू है। स्त्री बोली–हे लक्ष्मीपुत्र! क्या हो गया? तुम क्यों उदासचित्त हो? "नारी पूछे सूमसे काहे बदन मलीन। क्या तेरो कुछ गिर गयो या काहूको दीन॥" क्यों उदास चित्त है, तेरा कुछ गिर गया है क्या? या तूने किसीको कुछ दिया है क्या? तू क्यों उदास है? तो सूम कहता है–"ना मेरो कुछ गिर गयो, ना काहूको दीन। देतन देखो औरको तासौं बदल मलीन॥" जो अनुदार होता है वह दूसरोंको देते हुए भी नहीं देख सकता है।

भोगके त्यागमें ही उत्कृष्टता–जो पुरुष भोगकर भी त्यागे, वह भी उत्कृष्ट है। बिना भोग भोगे त्यागे वह भी उत्कृष्ट। जो पुरुष जब चेत जाये जब निर्विकार हो सके तब ही भला है। जो अबसे असंख्यात वर्ष पहिले सिद्ध भगवान् हुए हैं। वे भी जगत्में अनन्तकाल भटककर हुए हैं। इस,

समय जो जीव आज दिख रहे हैं वे तो संसारमें भटक ही रहे हैं। जो जब चेत जाये, समझो उसका वही सवेरा और उसका उतनी जल्दी भला हो गया है। जिस-जिस वस्तुमें मोह किया जा रहा है, जो लोग मोह किए जा रहे हैं, वे स्वयं ही अपने आपको क्लेशके गड्ढेमें पटकते जा रहे हैं। यह मोहका अंधकार यह ज्ञानका अंधेरा इस जीवको शान्ति नहीं जाने दे सकता। खूब अपने आपके अंतःमर्ममें प्रवेश करके सोच लो, हम प्रभुकी भक्ति करें, पूजा करें और इस पौद्गलिक विभूतिसे ममता न हटे उसे ही अपना देवता मानते रहें तो हमारी भक्ति पूजन कहां विराजेगी? जब स्वपरवस्तुके प्रसंगमें ज्ञानप्रसंग में ज्ञानप्रकाश ही नहीं जग पा रहा है और परपदार्थोंमें यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकारका भाव किया जा रहा है तो उसे चैन मिलेगी कहां से? ज्ञानप्रकाश पायें और इन जड़ पौद्गलिक विभावोंको विनश्वर भिन्न जान लें, कुछ अपनी ममताको ढीली करें तो कल्याणका मार्ग मिलेगा अन्यथा यह पाया हुआ दुर्लभ मनुष्यजीवन बिल्कुल बेकार खोया।

मोहत्यागमें ही दुर्लभ समागमकी सफलता–भैया! यदि परपदार्थों के प्रति ममतामें ढिलाई नहीं की जा सकती है तो किस काम आया यह नरदेह, किस काम आया यह जैनशासनका एक वातावरण, किस काम आया यह प्रभुभजन? जब कि इसके चित्तमें परपदार्थोंसे उपेक्षा ही नहीं जग पाती है, परमें रले मिले ही चले आ रहे है, घुलमिल कर रहने की आदत बनी हुई है। ये जड़ वैभव सम्पदायें जो अपनी ओर से कोई रागभरी वाणी नहीं बोलते हैं वहां तो यह कंजूस इस मोह का अपने ही आपकी ओरसे एकाकी रहकर, एकाकी ही प्रयत्न कर रहा है, अपने आपको अंधेरे में और क्लेश गर्तमें डालनेके लिए। भाई सब कुछ छूटेगा तो जरूर, अभीसे कुछ उदारचित्त बना लो, कुछ अपने जीवनमें इस वैभवसे युक्त रहनेकी आदत बनालो, अन्यथा मरण समयमें अत्यन्त क्लेश होगा और आगे जन्म लेकर वहां भी सारे जीवन भर अपनेको कष्टमें ही लगाना पड़े। इससे त्याग की आदत डालो, त्यागका भाव बनावो, मोहमें ढिलाई करो। इससे ही कल्याणका मार्ग मिलेगा।

विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।
मावमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम्॥१०३॥

संतोंका वैराग्यपूर्वक त्याग–ज्ञानी संतपुरुष बड़ी उत्कृष्ट भी पायी हुई सम्पदाको त्याग देते हैं, इसमें कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि उनको इस परमें, विपत्तिमें रूचि नहीं जगी और उसमें ग्लानि बनी रही। किसी भी परपदार्थ पर देते हुए उपयोगमें आत्माका हित नहीं है। अशोभनीय और अयोग्य काममें रूचि न होनेसे यह सम्पदा छूट ही जाती है। और देखो छूटेगी तो सारी सम्पदा। किसीके भी पास सदा न रहेगी। यह ही मरण करके चला जायेगा। फिर क्या है यहां का इसके लिए? लेकिन जो अपने जीवनमें ज्ञानके बलसे सम्पदाको छोड़ देते हैं और ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्वमें प्रवेश करके शान्त रहा करते हैं ये सत्पुरुष धन्य हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि ऐसे बड़े पुरुष भी अलौकिक राज्य और वैभव सम्पदाको भी त्याग देते हैं, जैसे ग्लानिसहित भोजन किया गया हो तो उसे वह पुरुष क्या उगल नहीं देता। कोई पुरुष ग्लानि सहित भोजन करे

यह भोजन ठीक नहीं है, विषैला है या अन्य कुछ बात ध्यानमें रखकर ग्लानिसहित भोजन करे, रूचि न जगे तो उस भोजनका वमन कर देता है अथवा वह ऐसी औषधि खाता है जिससे वह किया हुआ भोजन उगल जाये वह अपने उदरमें रखना नहीं चाहता। इस ही प्रकार ग्लानिसहित इस वैभव सम्पदाको रखने वाला, भोगने वाला यह ज्ञानी पुरुष उस वैभव सम्पदा को त्याग ही देता है।

वैराग्यमें त्यागका निभाव–भैया! जब रागभाव रहता है तब त्याग करके दुःख मालूम होता है। इसी कारणसे सरागी पुरुष वहां आश्चर्य मानते हैं कि इसने वैभव कैसे त्याग दिया? जिसके विरागता उत्पन्न हुई, उसको त्याग करनेमें कुछ भी खेद नहीं होता, बल्कि उस परवस्तुके त्यागसे अपने आपकी ओर झुकाव अधिक बढ़ता है। उससे वह विशुद्ध शाश्वत निराकुल आनन्द ही चाहता है और कुछ नहीं चाहता है। पर इस विशुद्ध आनन्दकी झलक उसी को ही होती है जो परको पर जानकर परसे उपेक्षा करके निज आत्मस्वभावको शरण मानकर उसकी ओर न झुके। कितनी स्पष्ट सी बात है? जरासे विवेकसे भी समझमें आ जाने वाली बात है कि यह सब कुछ भिन्न है, अहित है, कुछ सम्बन्ध भी नहीं है। भला बतलावो इस भीतकी ईंटोंसे आपका कुछ ताल्लुक है क्या, कोई सम्बन्ध है क्या, कोई रिश्तेदारी है क्या? यों ही इस वैभव को भी सोचिये कि यह आपका कुछ लगता है क्या? अरे लगता तो यह देह भी कुछ नहीं है! इसे भी त्यागकर जाना पड़ता है, फिर अन्य वैभवकी तो बात ही क्या है?

आनन्दका आधार ज्ञान और वैराग्य–ज्ञान और वैराग्यमें जो आनन्द बसा है, आनन्द वही है। इसके अतिरिक्त तो सारे क्लेश ही क्लेश हैं। भ्रमसे मान लिया कि सुख है, परकी आधीनता स्वीकार करके नाना क्लेश ही क्लेश भोगे जाते हैं, तिस पर भी बुद्धि पर ऐसी धुन बनी रहती है कि परको ही सर्वस्व और हितकारी माना जाता है। यथार्थ ज्ञान बना रहना इससे बढ़कर अन्य कुछ भी वैभव नहीं है। आत्माका शरण सहायक सम्यग्ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं है। जब कभी यह मनुष्य इष्टका वियोग होने पर घबड़ाता है तो उसे इसका ज्ञानही सहायक होता है। दूसरा कोई पुरुष सहायक नहीं होता। सम्बन्धीजन उसे बहुत समझाते हैं, छोटा हो, भतीजा हो उसे गोदमें लेकर समझाते हैं, सिर पर हाथ फेरकर, लेकिन उस की समझमें आये, तब ना वह दुःख छोड़े। उसके ही ज्ञान जगे और यह बात स्पष्ट समझमें आये कि मेरा तो कहीं कुछ था ही नहीं, न है, न होगा। मैं तो अपने स्वरूपसे परिपूर्ण सत् हूँ। अपने ही स्वरूप मात्र हूँ। मेरा तो मेरे स्वरूप पर ही अधिकार है, अपने स्वरूपके सिवाय अन्य किसी परजीव पर अन्य किसी परपदार्थपर मेरा रंच भी अधिकार नहीं है। यह बात जब समझमें आये तब दुःख मिटेगा। दूसरोंकी कोशिश से दुःख न मिटेगा। यों ही अन्य और क्लेश आ जायें, उन क्लेशोंमें भी इस आत्माका सम्यग्ज्ञान ही शरण है। ज्ञानमें अद्भुत बल है, इसी प्रकार वैराग्यमें भी अद्भुत बल है।

क्लेशका आधार परका अनुराग–जितने भी क्लेश हैं वे सब राग से उत्पन्न किए गए हैं। सिवाय रागपरिणामके और कुछ क्लेश है ही नहीं। रात दिनकी सब प्रवृत्तियोंमें इसका अंदाज कर

लो, जब-जब भी इसे कोई क्लेश हो रहा होगा तब किसी न किसी परवस्तुके विषयमें राग करने से क्लेश होता होगा। सिवाय रागके और कोई कारण नहीं है कि मुझे दुःख हो जाय, और राग है व्यर्थका। जो अज्ञानसे अपने स्वरूपको न पहिचान कर श्रद्धा ही ऐसी बना लेता है कि यह अमुक परवस्तु मेरी हितकारी है, मेरी है, बस उसे क्लेश होंगे। सारे क्लेशके साधनों को छानते जाइये, सभी के अज्ञानसे क्लेश हैं। भगवान्‌की भक्ति करने हम आते हैं, भगवान्‌की भक्ति विशुद्ध एक यही प्रयोजन है कि हे प्रभु! मेरेमें राग परिणमन न रहे, यही मैं चाहता हूँ। मैं संसार के अन्य पदार्थोंको नहीं चाहता हूँ, क्योंकि उनके मिलने पर भी आत्माको शान्ति नहीं मिलती है, बल्कि अशान्ति बढ़ती जाती है। मेरे रागभाव न रहे, यही मैं चाहता हूँ।

प्रभुस्तवनमें भक्तकी चाह–स्तवनमें कहते हैं ना, "आत्माके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये।" आत्माका कल्याण करने वाले ये विषय और कषायके परिणाम हैं। इनमें मेरी प्रवृत्ति न हो, बस यही मैं चाहता हूँ। इतनी स्वच्छ बुद्धि ज्ञानी पुरुषके हुआ करती है। अज्ञानीजन तो लड़के मांगेंगे प्रभुसे, वैभव चाहेंगे, मुकदमेंकी विजय चाहेंगे, यश चाहेंगे और अनेक लौकिक कामनाएँ। किन्तु ज्ञानीपुरुष यही चाहते हैं कि मेरा जैसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है ऐसा ही मेरा स्वरूप रहे, अन्य कुछ कामनाएँ नहीं हैं। इतनी स्वच्छता सम्यग्ज्ञान बिना जग नहीं सकती। सम्यग्ज्ञान ही हम आपका वास्तविक शरण है।

अपूर्व मिलन–अपनी भक्ति अपने प्रभुज्ञानके निकट बसा करे, उस से और बढ़कर कोई मिलन नहीं है। खुद ही खुदसे मिल जाये यही अपूर्व मिलन है, बाकी तो किसी पदार्थसे हित बनाया, प्रेम किया, यह कोई अपूर्व मिलन नहीं है, वह क्लेशको ही देने वाला है। अपने अन्तरंगमें ऐसा यत्न तो करलो। गुप्त ही गुप्त अपने आपमें ही बसकर स्वाधीन सुगम पुरुषार्थ किया जाना है, सारा संसार मिलकर भी मुझे सुखी करनेका यत्न करे तो भी नहीं कर सकता है और मैं ही केवल अपने आप आपके बलसे ही अपने आपको सुखी होनेके लायक ज्ञानरूप प्रयत्न करूँ तो मैं सुखी हो सकता हूँ। सुखके उपायमें दूसरी कोई बात है ही नहीं।

विशुद्धज्ञानमें विरागताका स्वागत–ये ज्ञानी वैरागी पुरुष विरक्त होकर इस सम्पदाको छोड़ देते है तो इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है। हमारी बुद्धि जब तक वैराग्यकी ओर नहीं लगती है, तब तक ये शान्तिके सब काम अटपटे मालूम होते हैं। अनन्त तीर्थकरोंने क्या किया अन्तमें? यही वैराग्य उन्होंने परिग्रहका परित्याग किया, पर हमारी समझमें वह बात ठीक न जँचे तो हम अपनेको प्रभुके भक्त कहनेके अधिकारी नहीं हैं। हमारी निरन्तर यह भावना रहे दर्शन करते हुए, सामाजिक पूजन आदि करते हुए अथवा परमें भी बैठे हुए यह भावना जगे कि हे प्रभो! मुझमें इस भावका अपूर्वबल शीघ्र प्रकट हो कि रागद्वेषका मेरेमें निवास हो न हो। मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखता रहूँ, इस अन्तःप्रयोगमें ही मोक्षमार्ग समाया हुआ है।

श्रियं त्यजन् जड़ः शोकं विस्मयं सात्त्विकः सतां।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४॥

लक्ष्मीके प्रति अज्ञानी और ज्ञानीकी प्रतिक्रिया—जो मूर्ख पुरुष होते हैं, जो पराक्रमरहित होते हैं, जो विषयकषायोंको अपनानेके कारण कायर बने हुए हैं, ऐसे पुरुष तो इस लक्ष्मीको त्याग कर शोक करते हैं। ये पुरुष लक्ष्मीको त्यागते नहीं हैं, किन्तु जब लक्ष्मी छूट जाती है तब ये शोक करते हैं। ज्ञानी पुरुषको कितना स्पष्ट निर्णय है? पहली बात यह समायी हुई है कि मेरे आत्मस्वरूपके सिवाय बाकी अन्य सब कुछ नहीं है। यह सब पुद्गलोंका ठाटबाट मेरा कुछ नहीं है। पहिले तो यही बात समायी हुई है। दूसरी बात यह है कि इस वैभवको मेरे हाथ पैर नहीं कमाते हैं, भाव उत्तम हो पुण्यका उदय हो तो ऐसी ही बुद्धि से श्रमकी ओर भाव जगता है कि जिस पुण्योदयसे यह सर्वसाम्राज्य वैभव अनायास ही थोड़ेसे प्रयत्नसे प्राप्त हो जाता है। जैसे छायाको पकड़ने जायें तो उस छायाको पकड़नेमें हम सफल नहीं हो सकते। जैसे-जैसे हम छायाको पकड़ने जायेंगे वैसे ही वैसे छाया दूर होती जायेगी और जैसे जैसे छाया विमुख होकर किसी उल्टी ओर जायेंगें तो यह छाया पीछे पीछे चलेगी। अथवा इस बात से भी क्या मन बहलाना है? ज्ञानी पुरुषको तो यह सब कुछ असार और अहित जँचता है।

ज्ञानीका पराक्रम—जो सत्य पराक्रमके स्वामी हैं, जो अपना विक्रम आजमाया करते हैं वे पुरुष त्याग करें तो अपनेमें गौरवका अनुभव करते हैं। यह गौरव है, स्वाभिमान है और त्यागकी अन्तःप्रसन्नता है, किन्तु इससे भी ऊपर ऐसा तत्वज्ञान होता है कि वह लक्ष्मीको त्याग करता हुआ न तो शोक करता है और न गर्व करता है, ये सब ज्ञानकी महिमा है। कोई पुरुष ज्ञानमें अपना कुछ वैभव पाकर अभिमान पुष्ट किया करता है और कोई पुरुष ज्यों ज्यों विशिष्ट श्रीमान् होता जाता है त्यों त्यों नम्र होता जाता है। जैसे जैसे फल विशेष लगते हैं पेड़में वैसे ही वैसे वह पेड़ नम्रीभूत होता जाता हैं। बड़े पुरुषका नम्र होना यह बड़प्पनकी निशानी है, तो जो तत्वज्ञानी जीव है वह इस वैभवको त्यागते हुए न शोक करेगा और न गर्व करेगा। लौकिक पराक्रमी पुरुष तो किसी कारणसे, अपने उत्साहसे धन आदिकका त्याग कर दे तो उसे गर्व होता है कि मैंने ऐसा कार्य किया। उसके अन्तरंगमें यों अहंबुद्धि बनी रहती है, और जो पराक्रमरहित हैं, कायर हैं, विषयबाधासे बद्ध हैं और इसी कारण जिनके आत्मबल नहीं प्रकट हो पाता है। उन प्राणियोंके किसी कारणसे धन आदिका बिछुड़ना हो तो उनके शोक उत्पन्न होता है। जो शुद्ध निश्चल ज्ञानकी भक्तिसे ज्ञानकी उपासनामें लगे रहते हैं उनके भीतर ज्ञानके कारण अज्ञानका संकट सब दूर होता है और जो विषयोंसे बँधे हुए कायर हैं उनके सामने संकट और विशेष आ जाते हैं।

तत्वज्ञानीका ज्ञान व त्याग—अहो! वे विलक्षण संतजन धन्य हैं जो अपने आपमें अपने आपके स्वभावका ध्यान करके अपनेको अनाकुल बना लेते हैं, और आश्चर्यकी बात है अथवा युक्त बात है कि जो तत्वज्ञानी पुरुष हैं उनके धन छूट जाये तो उनके न शोक उत्पन्न होता है और न

गर्व उत्पन्न होता है। इस कारण जो तत्वज्ञानी पुरुष हैं, वे धन वैभवको परद्रव्य जानते हैं, और पर तो पर थे ही, उनका त्याग हो गया तो उससे ज्ञानी पुरुषको न शोक होता है, न गर्व होता है। दूर तो था ही, जरा और दूर हो गया। धन वैभव मेरे आत्मामें मिला हुआ नहीं है, दूर तो वह है ही पहिलेसे ही। अब क्षेत्रमें और दूर हो गया। कोई शोक नहीं होता है ज्ञानी पुरुषको और परमार्थसे त्यागना भी क्या? अपने स्वरूपको जान जावो कि यह मैं हूँ और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब पर है, इतना दृढ़तापूर्वक ज्ञान होनेका नाम है वस्तुका त्याग। बस इसे दृढ़तासे जान भर लो ऐसे ही, बस इसीका नाम है बाह्यवस्तुवोंका परित्याग।

ज्ञान और वैराग्यका शरण—सम्यग्ज्ञान ही हम आपको शरण है। अब अपनी-अपनी जीवनी देख लीजिए कि ज्ञानके अर्जनके लिए हम कितना तो शरीर लगाते हैं, कितना मान लगाते हैं और कितना उत्साह जगाते हैं, कैसी हठ मानते हैं? इसका भी अन्तर देख लीजिए। धर्मके झुकावमें यह कुछ आगे भी ले जायेगा और जड़ वैभवके झुकावमें यह कुछ भी न पा सकेगा। अपने तन, मन, धन, वचन सब इस आत्महितमें, ज्ञानार्जनमें लगाना है। यह जीवन ज्ञानके अर्जनके लिए है, विषयोंके सेवनके लिए नहीं है। ऐसा दृढ़ निर्णय न रहे तो उसने धर्मको पाला ही क्या है? पुण्यके अनुसार जितनी लक्ष्मी आये, आने दो। हम तो साहस करके उस ही में समस्त गुजारा कर लेंगे। इस जीवनको सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रकी आराधना में लगावो। यह वैराग्यका और ज्ञानका मार्ग हम आप की शरण है। विषयकषायोंमें फंसना, अनुरक्त होना यह केवल क्लेश ही उपजानेका एकमात्र साधन है।

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलम्,
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः,
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम्॥१०५॥

शरीरकी क्लेशकारणता—पूर्व छन्दमें यह बताया था कि जो मूर्ख लोग होते हैं वे लक्ष्मीके वियोगके समय शोक किया करते हैं और जो पराक्रमी पुरुष हैं, वे वैभवके त्यागमें गौरव अनुभव करते हैं और जो विशेष ज्ञानी तत्वज्ञ पुरुष हैं, वे न हर्ष करते हैं, न शोक न गौरव, किन्तु मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं। वैभवके त्यागको उक्त छंदमें उपादेय बताया है। इस छंदममें शरीरके मोहको छुटानेका उपदेश है। यह शरीर गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त क्लेशका ही कारण है। आज इस शक्ल सूरतमें हम आप बंधे पड़े हुए हैं तो दूसरोंकी शक्ल-सूरत निरखकर यह जानकर कि ये ही जीव हैं, इनको देखकर सम्मान और अपमानकी बात मानना; सम्बन्ध, हितू अनिष्ट बातें मानना जानना है तो इस क्लेशका भी कारण यह शरीर है। क्या जीवके नाक आंख कान की शक्ल होती है? यह सब कर्मोदयकी रचना है। जीव तो इस देहमें भी अमूर्त केवल ज्ञान दर्शन मात्र है। इस शुद्ध जीवको निरख कर कोई बात नहीं की जा रही है।

व्यवहारी जीवसे व्यवहार–भैया! जो कोई बात करता है तो इस नाक आंख कानकी शक्लको देखकर बात करता है। उस अमूर्त जीवपर किसकी दृष्टि है, और जगत्में बातों-बातोंका ही क्लेश है। किसी मनुष्यसे बात करना ही बन्धनका कारण है। कोई कुछ बोलेगा तो या तो वह राग भरा वचन होगा अथवा द्वेष भरा वचन होगा। रागयुक्त वचन बोलने में भी बन्धन है और द्वेषसे भरे वचन बोलनेमें भी संकट है। रद्दी आवाजसे बोलने वाली चिड़ियोंको कौन पकड़ता है? तोता मैना आदिक ये पक्षी क्यों पकड़े जाते हैं? वे पक्षियोंमें अच्छा बोलना जानते हैं। रागभरा कोई शब्द बोलने पर दूसरे जीवोंकी ओरसे भी रागभरा नम्रताभरा वचन मिलता है सुननेको, तब यह उस ओर और अधिक झुकता है और इस झुकावके फलमें जीवनमें एक ऐसा बन्धन बंध जाता है कि इसके परतंत्रता प्रकट हो जाती है, स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। धन्य हैं वे पुरुष जो अपने में इतना साहस बनाये हैं कि वे किसी भी परजीवसे अनुरागसे स्नेह नहीं करते हैं, किन्तु यथार्थतत्वके ज्ञाता रहते हैं।

स्थावरोंके शरीरकी भी क्लेशकारणता–सब क्लेशोंका कारण यह शरीर है। वनस्पतियोंमें भी देखो जंगलोंमें कैसे-कैसे फूल खिलते हैं, अपने आप खिर जाते हैं, उन्हें कोई उठाता भी नहीं है और गुलाबके फूल जो दिखने में भी सुहावने होते हैं और जिनमें सुगंध भी तेज होती है वे फूल तोड़ लिए जाते हैं। मशीनोंमें मसल दिये जाते है, इत्र निकाल लिया जाता है। देखो यहां भी जो रूपसे या गंधसे दुनियाको अपनी महिमा बता रहे हो। ऐसे फूल भी तोड़कर कुचल दिये जाते हैं। पत्थरोंमे जैसे पत्थर है तैसे ही लोहा है, सोना है, चांदी है, हीरा है, रत्न है, सब ही तो पृथ्वी हैं, पर यह देशी पत्थर अत्यन्त ऊबड़ खाबड़ कैसा उठा हुआ होता है, इसे कौन सताता है। संगमरमर पत्थर एक भी खाली नहीं रह पाता है। इन्हें तोड़ा जाता है, कूटा जाता है, छीला जाता है क्योंकि जरा रंगके सुहावने हैं। और स्पर्श भी चिकना कोमल है। ये हीरा रत्न किस तरह तोड़े जाते हैं, बड़ी दुर्गति की जाती है। सान पर चढ़ाकर उनकी राख निकाली जाती है, और इन पूर्वजोंके पत्थरोंको कोई नहीं तोड़ता है।

विलक्षण गोरखधन्धा–लोकमें यही तो गोरखधंधा है। कहते हैं कि पुण्यका उदय है। अरे पुण्यका उदय है तो दूसरोंसे सताया जानेके लिए है। बिरला ही प्राणी बचता है दूसरोंके द्वारा सताये जानेसे। पापके उदय भी दुःखके कारण हैं और पुण्यके उदय भी परमार्थसे दुःखके कारण हैं। अन्तर इतना भर है कि पुण्यके उदय वाले तो अपने को सुखी मानते हैं। पर हैं अन्तरंगसे वे भी दुःखी हैं। कभी कोई झगड़ा विवाद हो जाये तो इसका भी कारण यह शरीर है। कोई जीव जीवके स्वरूपको देखकर झगड़ा नहीं मचाता, किन्तु इसही शरीरकी शक्ल-सूरत को देखकर इसने मुझे यों कहा, उसकी यह प्रतिष्ठा भी नहीं रखता, बस इन विचारोंसे विवाद कलह हो जाता है। सच जानों अपने-अपने शरीरको निरखकर छूकर यह निर्णय करो कि हमारे समस्त क्लेशोंका कारण यह शरीर है। शरीर न रहे बिल्कुल मेरे पास तो उसकी क्या स्थिति होगी? मैं केवल कहलाऊँगा। केवल केवल सिद्धोंको बोलते हैं। जो केवल रह गये, सिर्फ आत्मा ही आत्मा रह गये उनका नाम सिद्ध है। वे अनन्त आनन्दमय हैं, सदाके लिए संकटोंसे छूट गए हैं। ऐसे सिद्ध होनेकी मनमें अभिलाषा रक्खो।

मोहका व्यर्थ आग्रह–यह परिवार, यह वैभव अनेक भवोंमें पाया है, इससे भी अधिक आज्ञाकारी विनयशील परिवार अनेक भवोंमें पाया है, पर सबको छोड़ना पड़ा। हिम्मत बनावो निर्मोह होने की, मोह तो कायरता है और भीतरमें निर्मोहताका भाव बनाना सो धीरता है। जो सत्य बात है उसको ही समझने में दृढ़ बने रहो, इतनी सी तो बात है। किसी झूठको सत्य मानते हो तो उसमें कष्ट है। खूब देख लो, सोच लो कि सभी जीव अपनेसे न्यारे हैं या नहीं। खूब सोच लो, उनका तो विश्वास है। जो पहिले मिले हुए परिजन थे, वे आज घरमें नहीं हैं, उनके प्रति तो ऐसी बात बैठ गयी कि वे मेरे न थे, जुदे जीव थे और जो जीव आज समागममें हैं, अपने पासमें हैं, उनके प्रति यदि अन्तरंगमें यह ज्ञान जग जाय कि ये भी अत्यन्त भिन्न हैं, मेरा स्वरूप मुझमें है, दूसरोंका स्वरूप उनमें ही है, ये अपनी ही करनीके अनुसार किसी गतिसे इस गतिमें आये हैं और इस गतिसे अन्य गतिमें चले जायेंगे, मैं अपनी करनीके अनुसार किसी गतिसे आया हूँ और किसी गतिको जाऊंगा, यहां तो सब जीवोंमें अपना-अपना स्वतंत्र स्वतंत्र रवैया है, ये भी जुदे हैं–ऐसी स्वतंत्रताकी समझ बन पायी तो धर्मपालन तब किया। और इतनी समझ न बने तो चाहे चांदीके फूल चढ़ाओ, चाहे खूब सजाकर द्रव्य चढ़ाओ यदि भीतरमें यह अज्ञान नहीं मिट रहा तो शान्ति तो मिलेगी ही नहीं। यह बात अपनी अपनी निजकी है।

अन्तःधर्मपालना–भैया! लोगोंसे ऐसा घरमें कहो कि तुम न्यारे हो, जुदे हो, हमारे कुछ नहीं हो, दुर्गतिकी खान हो–ऐसी झगड़ेकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु अपने ही मनमें इस ज्ञानका घूँट उतार लें और बोझको अपने उपयोगसे हटा लें, अपने आपको अकिञ्चन् ज्ञानमात्र अनुभव करते रहें तो बड़ी शान्ति मिलेगी और भी देखो–कोई साधारणसा शारीरिक रोगी भी हो, रोगकी कोई वेदना भी हो तो बिल्कुल सच समझो। सबसे भिन्न अकिञ्चन् ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवते रहनेसे वे रोग भी दूर हो जायेंगे। आत्मनिर्मलतामें बड़ा प्रताप है। ये औषधि और तन्त्रमन्त्र, ये काम न करें, किन्तु आत्माकी निर्मलता इस रोगको दूर करनेमें काम करती है। धर्मपालनमें सब लाभ ही लाभ है। हानिका तो नाम नहीं है, पर धर्मपालन नाम है मोहके न रहनेका, अपने आपको सबसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप निहारते रहनेका। यह धर्मपालन हो तो सारे संकट दूर होंगे। धर्मपालन कितना सुगम है, उसमें यह भी जरूरत नहीं कि नहाकर बैठें, तब तो धर्म मिलेगा या कुछ मुकुट कंकड़ा कड़ा छाला पहिनकर बैठें, इन्द्र इन्द्राणीका रूप बनाकर बैठें तो धर्म मिलेगा। अरे! अपने अन्तरंगमें जरा स्वरूपका विचार बन गया, धर्म हो गया। उस धर्ममें अलौकिक प्रताप है, इससे स्वस्थ्य भी रहेगा और प्रसन्न भी रहेगा।

देहविविक्त अन्तस्तत्वके दर्शनकी महिमा–भैया! इस शरीरसे प्रीति न करें और प्रीति कब तक करते रहेंगे? शरीरकी अन्तिम गति क्या होगी? लोग बड़ी जल्दी इस शरीरसे निकलकर ठठरी पर कसकर जला ही देंगे इस शरीर को। अपने आपके शरीरको देखकर बोलो कि यह किसी दिन बेरहमीसे जला दिया जायेगा। यह है इसकी अन्तिम गति। भला हो कि अभीसे इस शरीरसे अपनेको

भिन्न मानते रहो, तो इसमें शान्ति होगी, धर्म मिलेगा, भविष्यकाल बड़ा सुखमय व्यतीत होगा। कभी ऐसी आशंका हो जाये कि लो अब तो मैं मरसा रहा हूँ, कुछ जान सी ही नहीं रही, दिल भी कुछ काम नहीं करता। अरे यदि मर गये तो भी क्या नुकसान है? यह मैं आत्मा तो पूराका पूरा यहां नहीं रहा, लो दूसरी जगह रहा। इस मुझ आत्मामें बिगाड़ क्या हो सकता है? मेरा बिगाड़ तो मोहभावसे है? मोही है तो बिगाड़ है। इस शरीरसे क्या प्रीति करते हो? जो गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त कष्टका ही कारण रहा। वे कष्ट सभी जानते हैं।

देहकी सदा अपवित्रता—यह शरीर गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त अपवित्र अपवित्र ही रहा। कभी इतना भी नहीं हुआ कि आज दशलाक्षणी का पहिला दिन है तो सोनेका तो बन जाये, यह शरीर एक दिन तो ठीक हो जाये। बड़ा धर्म कर रहे हैं। बड़े शोभा श्रृंगारसे शरीर को सजाया है? एक दो मिनटको भी यह शरीर कंचनका बन जाये। अरे गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त प्रतिक्षण यह अपवित्र ही अपवित्र रहा। किसी को राग हो शरीरसे तो रागमें शरीर सुन्दर दिखता है, शरीरमें सुन्दरता कुछ नहीं है। मांसमांसका पिंड ही सर्वत्र है। सुन्दरताकी बात क्या, यह तो सब जगह दुर्गन्ध दुर्गन्ध ही फैलाता है। शरीर दुर्गन्धित न होता तो इत्र फुलेल की आवश्यकता न थी। शरीर कुरूप न होता तो अच्छे-अच्छे कपड़ों से सजाने की आवश्यकता न थी। रागमें यह जीव अपने शरीरको अथवा दूसरेके शरीर को 'यह सुन्दर है' इस प्रकार निरखता है। शरीरमें सुन्दरता कुछ नहीं है भला बतलावो किशोर अवस्थामें अथवा जवानी अवस्थामें थोड़ासा मांस अधिक चढ़ा हुआ है और जरा अवस्था ढली तो इतना ही तो हुआ कि थोड़ा सा मांस पतला हो गया। इतने में ही सुन्दरता कहां भाग गयी कौनसी बड़ी गड़बड़ी हो गयी? सुन्दरता तब भी न थी, सुन्दरता अब भी नहीं है। जिसको जिससे राग होता है उसको वह सुन्दर लगता है।

अपवित्रताका सौन्दर्य—एक सेठानीने नौकरानी रक्खी। दो एक दिन ही हुए। सेठानी का लड़का स्कूल पढ़ने जाता था। एक दिन वह लड़का अपने साथ खाना ले जाना भूल गया। मिठाईका टिपिन न ले जा पाया। तो सेठानी कहती है नौकरानीसे कि यह मिठाई का टिपिन ले और मेरे बच्चे को दे आ अमुक स्कूलमें। तो नौकरानी कहती है कि हम तो तुम्हारे बच्चेको पहिचानती ही नहीं हैं। तो सेठानी कहती हैं कि हमारे बच्चेको क्या पहिचानना, सारे स्कूल में जो सबसे अच्छा बच्चा हो, वही तो मेरा बच्चा है। उस सेठानी को गर्व था कि मेरा जैसा बच्चा किसीका नहीं है। उसी स्कूलमें नौकरानी का भी बच्चा पढ़ता था। वह नौकरानी टिपिन बाक्स लेकर स्कूल गयी तो वहां सभी बच्चोंको देखा। उसे कोई बच्चा अच्छा न दीखा। उसे तो अपना ही बच्चा अच्छा दीखा। उस अपने ही बच्चे को मिठाई देकर नौकरानी चली आयी। शामको जब सेठानी का बच्चा घर आया तो मां से रोकर कहता है कि आज तुमने हमें मिठाई खाने को नहीं भेजी। तो सेठानी ने कहा कि नौकरानीके हाथ भेजी तो थी। नौकरानीको सेठानी डांटने लगी। तो नौकरानी कहती है कि तुमने ही तो कहा था कि स्कूलमें जो सबसे सुन्दर बच्चा है वही हमारा बच्चा है। सो हमें तो हमारा ही

बच्चा सुन्दर लगा, उसीको सारी मिठाई खिलाकर मैं चली आयी। तो जिसके प्रति राग है बस वही सुन्दर है और सुन्दर कुछ नहीं है। ये तो मांस चामके पिंड हैं।

शरीरका अटपटापन–यह शरीर ऊबड़ खाबड़ बना है। मान लो ये मनुष्यके जैसे नाक कान न होते, बिल्ली शेरकी तरह चिपटी नाक होते तो क्या सुन्दर जंचते? सुन्दर न जंचते, यदि राग है तो, चाहे चार पैर वाले जानवर ऐसा सोचते हों कि ये कैसे विकट जानवर हैं कि दो पैरोंके बल खड़े हैं। ऐसी नाक उठी है, उन जानवरोंको यह मनुष्यका शरीर बड़ा बेडौल लगता होगा। हम जानवरोंको बेडौल देखते हैं। कुछ वास्तवमें सुन्दर नहीं है। यह शरीर ही समस्त संकटोंका कारण है। शरीर नहीं, शरीर में जो मोह पैदा होता है वह है संकट। जितना डर है वह शरीर के कारण है। केवल आत्मा हो, शरीरका सम्बन्ध न हो तो बिजली भी तड़क जाये, काहे का डर? यह ददक जाता है जरासी आवाजमें। जितने अपमान और पराभव होते हैं वे इस शरीरके कारण हैं। ऐसे इस शरीरको भूलो तो सही विचार तो करो। हे ज्ञानी सत्पुरुष! इसका मोह अनुराग छोड़ दो।

अशरीरतामें शाश्वत आनन्द–देखो भैया! वास्तवमें सुख मुक्तिमें है और इस शरीरके त्यागसे मुक्ति मिलती है, अनन्त आनन्द इस शरीर के त्यागसे मिलता है। तू इस अनन्त आनन्दको नहीं चाहता क्या? लोकमें कहावत है कि 'तुझे आम खानेसे काम या पेड़ गिननेसे काम।' तुझे अनन्त आनन्द चाहिए या यहांके तर्क वितर्क चाहियें। इस शरीरके विकल्पसे मुक्त होने पर सशरीर अवस्थामें भी आनन्दही आनन्द मिलता है और फिर यह शरीर बहुत देर तक टिक न सकेगा। सर्वदाके लिए मुक्त होकर यह आत्मा अनन्त आनन्दका अनुभव करेगा। इस शरीरका मिलाप जो होता है यह दुष्टजनोंके मिलापकी तरह जान। मुझ ज्ञानमय आत्माके साथ एक ऐसा दुष्ट लगा है कि शांति नहीं मिल पाती। वह कौनसा दुष्ट है जो मेरे साथ ऐसा चिपका हुआ है कि मुझे छोड़ता ही नहीं है? एक भवमें गुजर जाऊं तो दूसरे भव में फिर आगे तैयार है। इस शरीरका मिलाप दुष्टजनोंके मिलाप की तरह है।

शरीरकी अरम्यता–देखो इन बातोंमें एक भी बात सामने आए तो विवेकी पुरुष पसंद नहीं करते। अपवित्रता, डर, अपमान और पापमें से एक भी बात ज्ञानियोंको पसंद नहीं है और इस शरीरमें ये सबकी सब बातें पड़ी हुई हैं। तब क्या यह शरीर मोह और प्रेम करनेके योग्य है? जो समस्त अवगुणोंकी खान है, उससे लाभ कुछ भी नहीं है। इसके छोड़नेसे ही और वैभव सम्पदा व समस्त परवस्तुवोंके त्यागसे ही मुक्ति होगी। इस शरीरके मिलापको भी दुखमय जानकर इसका मोह तो छोड़ना ही श्रेयकर व सुखमय है।

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं,
त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्यप्रतिलोमवृत्तिभि-
र्ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्॥१०६॥

संसारप्रक्रियासे विपरीत चर्याका अनुरोध–अज्ञान और रागादिक भावोंकी चेष्टाओंसे जो बारम्बार जन्म मरण आदिक फल पाया है, तो अब ऐसा कर कि जिस विधिसे जन्म मरणके दुखका

फल पाया है, यदि उसका उल्टा चलने लगे तो संसार संकटोंसे विपरीत फल तुझे मिल जायेगा। वह फल क्या है? वह फल शांति मोक्ष है। लोकमें जिस कारणसे जो कार्य भी उत्पन्न होता है, उससे उल्टा कारण मिलनेसे उल्टा ही फल प्राप्त होता है। जैसे कर्मोंसे कोई रोग हो जाए तो उस रोगका मिटाना किसी औषधिसे ही होगा। इसी तरह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगसे जो संसारका परिभ्रमण चलाया है, इसके विपरीत अपनी परिणति हो तो सब संसार के भ्रमण मिट सकेंगे।

ऐ भव्य जीव! अज्ञान और असंयमसे जन्म मरण आदिक दुखरूप फल पाया है, सो यह बार बार पाया है। यदि एक बार भी धोखा हो जाए तो उसमें यह अज्ञान भी न बैठेगा कि मुझे इस बातसे धोखा हुआ है, परन्तु बारबार अज्ञान अविरतिके परिणाम करता है और उनके कारण बारबार जन्म मरण आदिक दुख भोगता है तो अब भी कुछ संदेह है? एक बार कोई विरूद्ध काम हो जाए तो न भी पता रहे उसका, किन्तु जब बारबार तू अपनी विपरीत परिणतियोंसे धोखा खा रहा है तो अब संदेहकी बात तो कुछ भी नहीं रही। तू मोह करता है, इससे संसारमें रूलता है। कषायभाव करता है, इससे दुखी रहा करता है। अब तू ऐसा कार्य कर कि जिससे संसारके समस्त संकट दूर हों। जैसा कार्य तू करता आया है, उसके विपरीत करने लगा। मोह करता आया तो अब निर्मोह वृत्ति जगा। निर्मोह वृत्तिसे सांसारिक संकट दूर होंगे।

क्लेशनिदानकी स्पष्टता होने पर भी प्रमाद करने पर खेद–जब कोई रोग बारबार हो जाता है, तब तो यह निर्णय हो जाता है कि मुझे इस कारण तकलीफ हुआ करती है। कभी कदाचित् कोई एक बार खाये और उसमें हो जाये बीमारी, तो भले ही उसमें निर्णय न हो सके कि मैंने ऊटपटांग खाया और जितने बार खाया, उतने ही बार रोग बना तो उसमें अब संदेह नहीं होना चाहिए कि मुझे यह रोग क्यों हुआ? इसी प्रकार इन संसारीजनों ने बारबार अज्ञान और असंयमका सेवन किया है और बारबार ही जन्म मरण के दुख भोगे हैं, अब तो ये नहीं रहना चाहिए।

जैसे कोई जब इमली खाये, तब ही देहमें दर्द हो, तो उसे यह ही निर्णय रहेगा कि इमलीके खाने से ही यह वायुका दर्द हुआ है। भ्रम तो नहीं रहता। यदि दूसरा कोई खाया करे तथा उसको रोग होवे तो भी भ्रम रह सकता है। जब खुद पर कोई बात बारबार बीतती है तो फिर उसमें भ्रम का क्या कारण है, अब यह निश्चय करो कि अज्ञान और मोहरूप परिणमन करनेसे तो क्लेश होता है और अब इसके विपरीत ज्ञानव्रत, संयमरूप परिणमन करे तो नियमसे क्लेश मिटेंगे। जिन परिणामोंसे संसार बढ़ा है, उनसे उल्टा चलें तो मोक्षमार्ग मिलेगा।

स्वयंके प्रयोगका अवबोध–यद्यपि मिथ्यात्व अज्ञान आदिक खोटे भावोंमें रहने वाले लोकमें अनेक जीव हैं और मोक्षमार्ग में लगने वाले जीव थोड़े हैं, लेकिन तू अपने आपमें अनुभव करके तो देख–यदि सत्यश्रद्धान् सत्यज्ञान और उस रूप ही उपयोग हो, ऐसी कभी वृत्ति जगती है तो तेरा कष्ट कम होता है या नहीं? कम होता है। तो जिस उपायसे कष्ट कम होता है, उस उपायमें यह विश्वास पूरा रहेगा कि यह उपाय पूर्णरूपसे बने तो कष्टका नाम नहीं रह सकता। अब कष्टके उपायसे विपरीत

चल। देख तेरा आत्मा और आत्मासे सम्बंधित ये शरीर आदिक पदार्थ और कल्पना किए गये वैभव परिजन आदिक इनमें तू भेद कर। छोड़ते न बने तो भी यथार्थ ज्ञानमें कौनसा कष्ट हैं? यह सब भीतरी तपश्चरणकी बात है। जो जीव यथार्थ ज्ञान बनाये रहता है, अन्तरंगमें सबसे निराले अपने स्वरूपास्तित्वमात्र इस ज्ञानानन्दघनको अपने उपयोगमें बसाता है, ऐसा उसे पूर्ण निर्णय है तो उसके संकट अवश्य मिटेंगे।

कार्यकारण योग–भैया! यह तो एक गणित जैसा उत्तर है। यदि बीज बढ़िया है गेहूंका, चनेका और वातावरण भी उत्तम है तो प्रतिबन्धके अभावमें बो देने पर उगेगा ही, और यदि बीज घुना है, उसकी जो नाकसी होती है वह निकल गयी है, उपादान अयोग्य है तो वह बीज बो देने पर भी उग नहीं सकता है। जैसे अग्नि पर बटलोहीमें पानी चढ़ा देनेसे प्रतिबन्धकके अभावमें वह गरम हो ही जाता है और ठंडे स्थानमें रख देनेसे वह ठंडा हो जाता है। निमित्तनैमित्तिक योगमें जो जिस तरह होना होता है वह होताही है। तो यहां भी यह निर्णय करो कि मोहके करनेसे जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती ही है, तब यथार्थज्ञान होने पर मोहके छूटनेसे यह जन्म मरणकी परम्परा दूर हो जायेगी। अपने हितके लिए तू ऐसा ही यत्न कर कि यह जन्म-मरण की परम्परा, विषयकषायोंके अभिप्राय ये सब तेरे समाप्त हो जायें।

प्रवृत्तिकी भावनानुसारिता–जो मनुष्य जिस तत्व की बार-बार भावना करता है उसको उस तत्वकी प्राप्ति होती है। अपनेको कोई मैं मूर्ख हूँ, मैं मूर्ख हूँ–ऐसा बार-बार विचारे तो रही सही बुद्धि भी बिगड़ जाती है। कोई अपने कुछ ज्ञानयुक्त कार्य भी करता हो और यह समझता हो, इसे मैं ठीक निभा ले जाऊँगा तो उसकी बुद्धिमें कुछ विकास होता है। जो अपने को मैं तो दुःखिया हूँ, संसारमें रूलने वाला हूँ–ऐसा ही विश्वासमें लिए रहे तो वह संसारमें रूलेगा ही। जो सांसारिक समागमोंसे विरक्त यह मैं ज्ञानमात्र, स्वयं ही स्वरूपतः सिद्ध और मुक्त हूँ, ऐसा प्रतीतिमें लाये तो उसको मुक्ति निकट मिलेगी। कभी-कभी नाटकोंमें नाटक करने वाले पुरुष जब अपने आपको भूल जाते हैं और जिसका पाठ किया है उस ही रूप अपनेको मान लेते हैं तो वे यदि किसीको मारनेका पाठ कर रहे हैं तो मार ही देंगे, क्योंकि अपने आपको भूल गये ना कि मैं अमुक हूँ और मैं तो यह नाटक कर रहा हूँ। जैसी अपनेमें भावना बनायी, तैसी ही इस पर गुजरती है।

सद्भावना–कोई पुरुष कैसी भी कठिन स्थितिमें ऐसी भावना बनाये कि मैं लाखों, करोड़ों पुरुषोंसे अच्छा हूँ, मुझे सर्वसाधन प्राप्त हैं, धर्म के लिए मुझे अवसर है तो वह कठिन और दरिद्र स्थिति में भी अपनेको प्रसन्न रखता हुआ निभा ले जायेगा और कोई धनिक सम्पन्न होकर भी तृष्णावश अपनेको यों निरखता रहे कि मैं तो बड़ा दुःखी हूँ, मेरी आवश्यक्ताएँ ही पूर्ण नहीं होती हैं, एक न एक संकट मेरे सामने है तो वह पाये हुए समागमका भी सुख नहीं ले सकता है। तो अपनेको जिस रूप विचारता है, वह अपनेको उस रूपही परिणमा लेता है। ज्ञानी पुरुष अपनेको निरन्तर ज्ञानमय प्रतीतिमें लिए रहते हैं, इसी कारण उनका ऐसा प्रकाश है, वे किसी भी समयमें भ्रममें नहीं आते हैं, किसीके बहकाये नहीं बहकते।

सुख दुःखकी निर्णाकता–जिसके सम्यक ज्ञान जग गया है, वह उसका अमिट ज्ञान है। सुख और दुःखका फैसला इस ज्ञानभावनामें है। यह मैं आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, सबसे निराला अकेला हूँ, मेरा मेरे में ही उत्तरदायित्व है, मैं अपने आपका ही स्वामी हूँ–इस प्रकार जो अपने आपमें अपने आपके एकत्वका निर्णय रखता है उसे संसार संकट नहीं है। जिसे अपने आपके स्वरूपका भान भी नहीं है, जिस शरीरमें यह बस रहा है उस शरीरमात्र ही अपनेको निरखता हो तो विपरीत बुद्धि होने पर इसको सारी बातें प्रतिकूल लगेंगीं, तब इसे क्लेश ही होगा। आत्मन्! यदि सत्य शान्ति चाहते हो तो अपने आपको सबसे निराला ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र समझना ही पड़ेगा। इस सम्यग्ज्ञानके अतिरिक्त संसारमें अन्य कोई उपाय नहीं है जिससे इसके संकट मिट सकें। अज्ञानमें जो भी यह प्रयत्न करेगा उससे इसके दुःख ही बढ़ेंगे, दुःख दूर न होंगे। यों श्री गुणभद्र आचार्यदेव ने इस बात पर दृष्टि डलायी है कि दुःखसे तुझे दूर होना है तो जिन चेष्टावोंसे दुःखी होता हो, उनसे तू विपरीत चलने लग तो तेरा दुःख समाप्त हो जायेगा। तब किस प्रकार चलें? उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं–

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुण प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥१०७॥

सत्पथगमनका अनुरोध–दया, इन्द्रियदमन, त्याग, समाधि इनके पथमें तू अपनी प्रवृत्ति कर। इसकी जो परिपाटी है उस मार्गमें तू यत्न करता हुवा सीधा निष्कपट गमन कर। यह मार्ग तो एक परमपद रूप है, जो वचनोंसे नहीं कहा जा सकता है। इस मार्गसे तू अवश्य कल्याणका साधन पायेगा। दया नाम है अपनी और परजीवकी करूणा करना। करूणा करने वाला जिस परिस्थितिका होगा इस ही प्रकारकी छोटी और बड़े ढंगकी करूणा उत्पन्न होगी। ज्ञानीजन इन जीवोंपर मौलिक करूणा करते हैं। थोड़ी वर्तमान शान्तिके लिए वचन विस्तार का सुख लूट लिया तो इससे जीवका पूरा तो न पड़ेगा। इस जीवका कष्ट सदाके लिए दूर हो, ऐसा प्रयत्न करे यह तो इसका पूरा पड़ेगा। ज्ञानी पुरुष जीवोंके प्रति ऐसा चिन्तन करता है कि इनको ऐसी सद्बुद्धि आ जाये, ऐसा ज्ञान जग जाये, जिस ज्ञान द्वारा यह अपने आपके यथार्थस्वरूपको पहिचान जाये। इससे सदाके लिए संकट मिट जायेंगे।

विदेह बननेमें देहकी उपेक्षाका मूल सहयोग–देखिये यह तो युक्तिसंगत बात है ना, कि जिससे प्रेम किया जायेगा, वह अपने साथ लग जायेगा। यदि कोई अनिष्ट मित्र अपने साथ लग गया है तो उसका उपाय यह है कि प्रीति न करे, उपेक्षा भाव कर दे तो वह टल जायेगा। ऐसे ही जब हम शरीरसे प्रीति रखते हैं, शरीरको अपनाते हैं तब तक यह निश्चय समझिये कि यह शरीर मेरे साथ लगा रहेगा। यह शरीरको छोड़ेगा तो अगले भवमें नया शरीर लग जायेगा। इस शरीरसे यदि सदा के लिए मुक्त होनेकी इच्छा है तो इस शरीरसे प्रीति न करिये। शरीरसे प्रीति करते जायें और उससे मुक्ति चाहें तो यह बात नहीं हो सकती। प्रथम कर्तव्य है जिससे हम डरना चाहते हैं उससे उपेक्षा कर दें। ज्ञानी जीव जीवों पर ऐसी परम करूणाका भाव करते हैं कि इन्हें सन्मति जगे

और भेदविज्ञान प्रकट हो कि सदाके लिए संकट मिटे। कुछ उनसे कम ज्ञानी जीव हों तो वे कुछ व्यावहारिक अच्छे आचार विचारोंमें लगा देनेकी करूणा करते हैं और बाकी कोई दयालु पुरुष दया करते हैं तो उसका जो ऐहिक संकट है, भूख होना, प्यास होना अथवा उसके रहनेका कोई साधन न हो तो उन बातोंको लेकर उनके दुःख दूर करते हैं, ऐसी उनकी करूणा जगती है।

करूणाभावमें आत्मस्पर्शनका स्थान–करूणाभावमें कुछ न कुछ आत्मस्वरूपका स्पर्श होता है। दूसरे जीवों पर दया तभी उत्पन्न होती है, जब इस तरहकी कोई बात खुदमें भी अनुभूत हो जाती है। अपने आपमें वेदना हुए बिना दयाका भाव पैदा नहीं होता। दूसरे जीवकी वेदना देखकर अपने आपमें कुछ वेदना बनेगी तो उस पर दया बनेगी। जब कभी आप हम खुजैल दुःखी कुत्ता बिल्लियोंको देखकर या जिसकी हड्डियां निकली हैं ऐसे भैंसा, बैल जिनके गर्दन पर कुछ फोड़ा है और खून चूता है और उन्हें कोई अपनी गाड़ीमें जोतकर चाबुक मारकर चलाते हैं, उन्हें देखकर जो दया आती है सो उसका मूल यह है कि खुदमें भी ऐसा अनुभव हो जाता है कि ऐसा यदि मैं होता तो कितनी मुझे वेदना होती? ऐसी कुछ उसके निकट पहुंच किए बिना, वेदना हुए बिना दयाका अंकुर उत्पन्न नहीं होता। यह दया का भाव शुभभाव है। यह विषयकषायोंकी कलुषताको दूर करनेका एक सुगमसाधन है। हम दयाके पंथमें चलें।

आत्महितमें इन्द्रियदमनका सहयोग–इन्द्रियदमनसे इन्द्रियके विषय रूक जाते हैं। ज्ञानबलसे विषयोंको रोक लेना यह है इन्द्रियदमन। हितार्थी आत्मन्! तुम दमनके पंथमें लगे। कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उनके मनमें कोई इच्छा जग जाय कि हम आज अमुक चीज खावेंगे, तो इच्छा तो जग गयी, मगर थोड़ी देर बाद उस ही वस्तुका त्याग कर देते हैं जिसकी कि इच्छा जगती है। क्यों उपयोग कर करके इच्छा जगती है? साधारण सुगम प्रयत्नसे जो बात बने वही भोगा जाय। इन्द्रियोंने जैसा जो कुछ चाहा, उनकी पूर्तिमें लग गये तो फिर कल्याणका यत्न कब करोगे? इन्द्रियदमनके पंथमें चलो।

त्यागमार्ग–परवस्तुवोंका राग छोड़ना इसका नाम है त्याग। रागसे अनेक क्लेश मिलते हैं। और रागके त्यागसे ये क्लेश दूर हो जाते हैं। रागके त्यागके पंथमें चलो तो इससे कोई निर्विकल्प परमपद प्राप्त होगा। समाधिभाव कहते हैं समतापरिणामको। रागद्वेष न जगकर एक केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेका प्रयत्न हो तो कोई अलौकिक आनन्द अनुभूत होगा। प्रयत्न करके और ढंगके साथ बढ़े, इन शुद्ध कामोंमें लगे तो संसारका परिभ्रमण मिटेगा।

शिवपथ और भवपथ–सूत्र जी में एक सूत्र आया है–सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः। और अगर ऐसा सूत्र बन जाय–मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः तो गलत है क्या? दोनों ही सूत्र ठीक हैं। सूत्र जी के ८वें अध्यायमें मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगबंन्धहेतवः कहा है, इसीका संक्षेपरूप है–"मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः।" हम जिस विधिसे चलकर दुःखी हो रहे हैं, उससे उल्टा चलने लगें तो ये सारे क्लेश दूर हो जायेंगे। हमारा कर्तव्य है कि हम इस ज्ञान दर्शनस्वरूप निज अंतस्तत्वकी श्रद्धा करें, उसका ही ज्ञान करें, उसका ही आचरण करें तो इस

रत्नत्रयके लाभसे संसारके संकटोंसे हम निवृत्त हो जायेंगे। हम रात दिनके चौबीसों घंटोंमें किसी क्षण इस निर्विकल्प ज्ञानज्योतिमात्र आत्मतत्व का स्पर्श करते रहें तो इस उत्कृष्ट भव और धर्मका पाना सफल होगा।

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणाभवश्यमजरामरं कुरूते॥१०८॥

ज्ञानपूर्वक त्यागमें परमविशुद्धिका सामर्थ्य–वस्तु विज्ञानसे जिसने मोहको दूर किया है, ऐसे पुरुषके जो परिग्रहका त्याग होता है वह अवश्य ही उसे अजर और अमर कर देता है। एक आयुर्वेदिक दृष्टान्त है कि ठीक स्थान बनाकर जिसमें पवनके स्थान स्वयं बने हुए हैं, ऐसी कुटीमें रहकर कोई रोगी पुरुष एक विशुद्ध कायको प्राप्त कर लेता है। इस ही प्रकार यह परिग्रहत्याग अजर और अमर पदको प्राप्त करा देता है। सम्यग्दर्शनकी अपूर्व महिमा है। जिस पुरुषको अपने आपमें विराजमान इस शुद्ध अन्तस्तत्वका भली प्रकार दर्शन हो जाता है, उस पुरुषका नियमसे निर्वाण निश्चित हो गया। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिए प्रथम भेदविज्ञान चाहिए। किसी भी वस्तुका हम समुचित दर्शन तब कर पायेंगे जब हम अन्य परवस्तुवोंसे उसकी भिन्नता नजरमें लें। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपरूपमें है। मैं भी अपने ही स्वरूपरूप हूँ, समस्त परपदार्थोंसे न्यारा हूँ, ऐसे विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको उपयोग द्वारा दर्शन कर लेना सो सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे मोह दूर हो जाता है। मोह दूर करके फिर रागद्वेषके विजयके लिए जो परिग्रहका त्याग किया जाता है वह सम्यक्चारित्र है इस जीव को सम्यग्दर्शन भी हो, सम्यग्ज्ञान भी हो और सम्यक्चारित्र भी हो तो अब इन तीनोंके प्रसादसे उसे निर्वाण अवश्य मिलेगा। यदि कारण सब ठीक मिल जायें, उपादान ठीक हो तो कार्यसिद्धि कैसे न होगी? जैसे ये संसारके कार्य हमारे मिथ्यात्व मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरणके बलसे चल रहे हैं, ऐसे ही समझिये इससे विपरीत अर्थात् अपने स्वभावके अनुरूप हम रत्नत्रयमार्ग पर चलें, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की आराधना सहित चलें तो नियमसे निर्वाण होगा, संसारके संकट छूटेंगे।

बैरीमें राजी रहनेका व्यामोह व उस संकटसे छुटकारेका उपाय–यह जीव राजी रहता है मोह में, किन्तु इस जीव का वास्तविक बैरी है मोह। बैरीसे सताया जा रहा है व उस सतानेमें ही राजी है और उस बैरीमें भी राजी है। यह कितना विकट भ्रम है इस जीव पर? सम्यग्दर्शन होने पर इससे मोक्ष होगा, यह तो निर्णीत हो गया, पर सम्यक्चारित्र भी साथ हो तो सम्यकचारित्र की पूर्णता होते ही नियमसे मोक्ष है। हां, इन तीनोंमें कोई कम रह जाय, सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यक चारित्र नहीं है तो उसे अभी मोक्ष न मिलेगा, किन्तु मोक्षमार्गपर अंशरूपसे चलता जरूर जा रहा है। प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिए उस कार्यका विश्वास हो, उस कार्यका ज्ञान हो और उस कार्यके अनुरूप अपना आचरण बने, यह सर्वत्र आवश्यक है। जैसे घरका काम हो, व्यापार का काम हो, सबमें विश्वास ज्ञान और आचरण चाहिए।

कार्यसिद्धिमें विश्वास, ज्ञान और आचरणकी आवश्यकता—जैसे एक रसोई बनानेका ही काम है, तो उसमें भी यों विश्वास होता है कि रसोई ऐसे बनती है। क्या कभी ऐसा संदेह किया जाता है कि कल तो चूल्हे पर तवा रखकर आटेसे रोटी बनाकर पकाया था, आज आटासे रोटी बनेगी या नहीं? ऐसा संदेह नहीं होता है। कैसा उसका पूरा विश्वास है, उसकी विधियोंका भी पूरा ज्ञान है, जिस प्रकारसे जो चीज बनती है वह सब भी बराबर ज्ञानमें है और जैसा विश्वास है, ज्ञान है, वैसा काम भी करने लगे तो रसोई क्यों न तैयार होगी? ज्ञान भी रहे, विश्वास भी रहे और बनाये नहीं, पड़ा रहे आलस्य किए तो रोटी कैसे बनेगी? व्यापारके काम में भी व्यापार विषयक विश्वास चाहिए। अर्थके अर्जनका उपाय यह ही है। यह विश्वास बना हुआ है और उसकी कुछ विधियों पर भी विश्वास बना है उसका भी ज्ञान है और फिर कार्य भी करने लगे तो वहां भी उसे लाभ होता है। यों ही समझिये आत्माको मुक्त करना है, मोक्ष देना है तो पहिले मोक्षसम्बन्धी विश्वास चाहिए। यह मैं आत्मा स्वभाव से ज्ञानानन्दघन हूँ—ऐसा विश्वास चाहिए और उन सब तत्वोंका ज्ञान चाहिए जिसके आश्रयसे हम मुक्त हो सकते हैं और फिर वैसा आचरण कर लिया जाय तो उसको मोक्ष भी अवश्य होगा।

अकिञ्चन्यभावना व निष्परिग्रहताके हितमें पूर्णयोगदान—मोक्ष के मायने हैं केवल अकेला रह जाना। आत्माके साथ जो शरीर, कर्म, समागम, परिग्रह देह आदिक दंद फंद लगे हैं वे सब टल जायें, उनसे निवृत्ति मिले इसका नाम है मोक्ष। पहिले तो यह विश्वास होना चाहिए कि मेरा स्वरूप निर्मल है और मैं निर्मल हो सकता हूँ। जो पुरुष अपनेको ही निर्मल नहीं मान पा रहे हैं, जिन्होंने इस देहको ही अपना सर्व कुछ मान लिया है उन्हें मुक्ति कहांसे प्राप्त होगी? पहिले तो अपने में निर्मलपनेका विश्वास होना चाहिए और फिर इस तरहका अपना उपयोग बनायें, ऐसा ही अपने में अनुभवन करें तो उन्हें निर्वाण अवश्य होगा।

निष्परिग्रहता और अकिञ्चन्यभावना—ये दोनों शान्ति की ओर ले जाते हैं। निष्परिग्रहता आचरणमें चाहिए और आकिञ्चन्य श्रद्धानूमें चाहिए। मैं आकिञ्चन हूँ, मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है, जो मेरा स्वरूप है वही मैं हूँ, वही मेरा है, इसके आगे एक अणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह विश्वास चाहिए। चाहे रागवश, परिस्थितिवश न रह सके अकेले और परिजनका, इष्टजनका पालन पोषण आदिक भी करें, धर्नाजन भी करें तो भी ज्ञानी पुरुष को अन्तरङ्गमें यह श्रद्धा है कि मैं तो अकेला ही हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा अन्य कुछ नहीं है—ऐसा ज्ञानी गृहस्थका निरन्तर विश्वास रहा करता है। फिर उसका यह विश्वास जब भलेरूपमें होनेको होता है तो इसकी अणुव्रत और महाव्रतमें प्रगति होती हैं। जो श्रावकका व्रत अथवा साधुका व्रत ग्रहण करता है उसके सम्यक्चारित्र बनता है। यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रके प्रसादसे यह जीव कर्मोंका क्षय करता है।

ज्ञानका गाम्भीर्य—ज्ञान तो जीवका एक स्वरूप है। ज्ञानके किसी प्रकारका परिणमन होनेके कारण कर्मबंध अथवा कर्ममोक्षकी व्यवस्था नहीं बनती है, किन्तु मिथ्यात्व हो और मिथ्या आचरण

हो तो यह जीव संसार में रूलता है, कर्मोंसे बंध होता है। यदि यह जीव अपने उपयोग को संभालता है, अपने रूप रहता है तो इसे कर्मबन्ध नहीं होता है। हर एक परिस्थितिमें अपना सम्यक्त्व बराबर जागृत रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यकचारित्र निर्जराके कारण है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र ये संसार के कारण हैं। ज्ञान एक मध्यस्थ है, तटस्थ है। ज्ञानके कारण न बंध हो, न मोक्ष हो। जो यह बताया जाता है कि कोई उल्टा ज्ञान करे तो कर्मोंसे बँधता है, सो उसके मिथ्यात्वके कारण बंध है, ऐसा समझना। मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्रसे बंध है, पर ज्ञानसे बंध नहीं, और न ज्ञानसे मोक्ष है। ज्ञान जब अनुपम तटस्थ है तभी तो हमारे लिए वह आलम्बन है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने स्वरूपको जानें, विश्वास करें और निष्पक्ष होकर, समतामें रहकर, ज्ञाताद्रष्टा रहकर अपने आपकी सम्पदाकी वृद्धि करें, यही निर्वाण पाने का उपाय है। अब यह बतला रहे हैं कि निर्वाणके मार्गमें लगने वाले अनेक पुरुष होते हैं, उनमें सर्वोत्तम त्यागी पुरुष कौन है?

अभुक्त्वापि परित्यागात्स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणो॥१०९॥

कौमारब्रह्मचारियोंको प्रणाम–जो जीव इन भोगोंको न भोगकर पहिले से ही उनका त्याग करते हैं, मानों यह दृष्टि रखकर कि इन सब भोगों को अनन्त बार भोगा, ये सब भोग तो भोगे हुए होनेके कारण जूठे है। इन जूठे भोगोंमें क्या प्रीति करना? यों जानकर जो पुरुष भोगे बिना ही परिग्रह का, भोग विषयोंका परित्याग करते हैं वे कुमार ब्रह्मचारी हैं। ऐसे ब्रह्मचारी जनोंको, आत्मरमण करने वाले साधुसंतोंको, व्यवहार चारित्र पालने वाले संतोंको हमारा नमस्कार हो।

त्रिविध त्यागी–दुनियामें त्यागी तीन प्रकारके होते हैं। जैसा कि इस ग्रन्थमें पहिले वर्णन किया है। उनमें कुछ तो ऐसे हैं कि जो पहिले भोगसामग्रीको संकलित करते हैं और उस भोगसामग्रीका उपभोग करते हैं, पर किसी कारणसे उससे विरक्ति आ जाये तो उन पदार्थोंको छोड़ देते हैं और कुछ पुरुष महाभाग ऐसे होते हैं कि इन भोगोंको असार अहित जान कर भोगे बिनाही भोगोंका परित्याग कर देते हैं। ये हैं कौमार ब्रह्मचारी। इन्होंने कुमार अवस्थामें ही दीक्षा धारण की है। आज भी ऐसे बालक बालिकाएँ पाये जाते हैं जिनको अपने सम्पूर्ण शीलसे ही रूचि है। वे किसी दूसरे पुरुष अथवा स्त्रीसे एक वैवाहिक बन्धन बांधकर भी अपनेको परतंत्र नहीं रखना चाहते हैं। पुरुष हो वह भी विवाह करने पर परतंत्र हो जाता है, स्त्री हो वह भी विवाह करने पर परतंत्र हो जाती है। यह परतंत्रता भावोंकी है। प्रीतिभावके कारण यह परस्परमें पराधीनता बनी रहा करती है। जो पुरुष सर्वपराधीनतावोंसे मुक्त हो जाये, उसे साधु पुरुष कहते हैं। लक्ष्मणके ८ कुमार पुत्रोंने कुमार-अवस्थामें दीक्षा धारण की थी। यों अनेक पुरुष हुए हैं, ये कौमार ब्रह्मचारी सर्वोत्कृष्ट त्यागी पुरुष हैं। कुछ पुरुष ऐसे होते हैं, जो मरकर ही छोड़ पाते हैं।

उच्छिष्टताके सूक्ष्म प्रकार–जैसे किसी पुरुषके आगे भोजन रखा जाय और वह उसे बिना खाये छोड़ दे तो उसे बड़े पुरुष नहीं खाते हैं। यह सब भावोंकी बात है। किसीके सामने पातल

परोस दी गयी हो और वह उसे बिना खाये ही उठ जाये तो बड़े पुरुष भी उसे जूठा समझ लेते हैं और उसे नहीं खाते हैं। वह तो अब जूठके समान हो गया। यह एक दृष्टिकी बात है। जैसे किसी पुरुषके गलेमें फूलोंकी माला डाल दी जाये, तो एक बार गलेमें वह माला डाल देनेके कारण उसे कोई दूसरा पुरुष अपने गले में डालना पसंद नहीं करता है। वह तो अब अयोग्य हो गयी, ऐसा समझ कर उसे कोई भी अपने गलेमें डालना पसंद नहीं करता है। यह सब भावोंकी बात है। जिसे भोजनमें आसक्ति होती है वह तो कुछ भी विचार नहीं करता है, उसे ग्रहण कर लेता है और जिसे उस भोजनमें आसक्ति नहीं है वह उसे जूठा समझकर त्याग देता है।

वज्रदंतके पुत्रोंका वैराग्य–पूर्वकालमें चक्रवर्ती वज्रदन्त हुए हैं। वे एक बार सभामें विराजे हुए थे। मालीने आकर राजाके आगे एक फूल भेंट किया। वह कमलका पुष्प था। उसे जब पंखुड़ियोंको इधर-उधर करके फैलाकर देखा तो उसके अन्दर मरा हुआ भंवरा पड़ा था। उस चक्रवर्ती को तत्काल ही वैराग्य उपजा। अहो! देखो जैसे यह भंवरा गंधके लोभमें आकर अपने प्राण गंवा बैठा है, ऐसे ही हम सब संसारी जीव विषयोंके लोभमें आकर अपने प्राण गंवा देते हैं। हम आप खुद अपने आपका ही घात करते रहते हैं। उसे विरक्ति हुई तो वह अपने बड़े लड़के से कहता है ऐ राजपुत्र! तुम राज्य ग्रहण करो, तुम्हारा राज्यभिषेक करेंगे। वह बड़ा राजपुत्र बोला वज्रदन्त चक्रवर्तीका पुत्र कि पिताजी! आप क्यों छोड़कर जा रहे है? वज्रदन्तने बताया कि मुझे अब इस वैभवकी, राजपाटकी इच्छा नही रही। इसमें ही बने रहे तो आत्मकल्याणसे विमुख होकर संसारमें जन्म-मरण ही बढ़ाते रहेंगे। अब मुझे विरक्ति हो गई, हम इसे छोड़कर जा रहे हैं, इसे तुम ग्रहण करो तो वह पुत्र बोलता है जिसे तुम असार जानकर, अहितकारी जानकर छोड़कर जा रहे हो, उसे हमारे सिर क्यों पटकते हो? यदि हमारे सिर पटक रहे हो तो यह कोई न्याय नहीं है। जिस चीजको तुम विपदा समझकर छोड़े जाते हो, उस चीजको हम न ग्रहण करेंगे। हम भी तुम्हारे साथ जाकर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करेंगे। चक्रवर्तीने बहुत समझाया–देखो तुम अभी कुमार अवस्थाके हो, जंगलके घोर दुःखोंको तुम न सह सकोगे। तो चक्रवर्ती का पुत्र बोला–पिता जी! तुम तो एक मामूली राजाके लड़के हो, हम चक्रवर्तीके लड़के हैं। हम विचलित नहीं हो सकते। दूसरे लड़केसे कहा–तो उसने भी ऐसा ही उत्तर दिया। उनके जो कुछ हजार लड़के थे, सबका वही उत्तर हो गया। अन्तमें वज्रदन्त चक्रवर्तीने एक छोटे पोतेको जो अभी बच्चा ही था, बोलना भी न जान सकता था, उसके सिर पर राज्यपट्ट बांधकर लोगोंको यह कह कर कि अब तुम लोगोंका यह राजा हुआ है, सब छोड़कर चल दिये।

वैराग्यकी कुछ घटनायें–वैराग्यके कारणोंमें अन्य भी ऐसी घटनाएं होती हैं। एक कमलके फूलमें मरे हुए भंवरेको देख लिया, वैराग्य हो गया। सिरका केश सफेद देख लिया वैराग्य हो गया। अब तो किसीके वैराग्यकी बात चित्तमें नहीं समाती लोग पशुवोंकी जानसे खेल खेलते हैं। किसी कुत्ता बिल्लीको कड़ी धूपमें बांध दिया, वह तो चिल्ला रहा है, प्यासके मारे तड़फ रहा है, फिर भी

उसे देख देखकर लोग मौज मानते हैं। अनेक घटनाएँ दुःखद देखते सुनते हैं, फिर भी कभी चित्तमें वैराग्यकी बात नहीं समा पाती। किसीको उड़ते हुए बादल दिख जानेसे ही वैराग्य हुआ है। अभी तो महलकी छत पर खड़ा हुआ था, बादलोंसे बने हुए मंदिरका फोटो लेनेके लिए। छतसे नीचे कैमरा या पेन्सिल लेने आया, इतनेमें ही वहां पर जाकर देखता है कि सारे बादल विघट गये हैं, इधर उधर उड़ गये हैं। बस उसके वैराग्य आ गया। सोचा कि जैसे ये बादल शीघ्र ही विघट गए, ऐसे ही ये धन वैभव सारे समागम शीघ्र ही विघट जाते हैं। ऐसे-ऐसे अनेक कारण होते हैं।

भोगपरित्यागके बिना शान्तिकी असंभवता–जो पुरुष भोगोंको भोगे बिना, स्वीकार किए बिना त्याग देते हैं वे पुरुष कुमार ब्रह्मचारी हैं, जो भोगकर छोड़ें तो भी भला है। इसमें कुछ विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है। यह गृहस्थीमें सादा खाना, सादा पहिनना, सादे रहन सहनसे रहना यह भी एक त्यागका रूप है। वे तो सर्वोत्कृष्ट त्यागी हैं जो भोगोंको भोगे बिना ही उनका परित्याग कर देते हैं और आत्मध्यानमें ही अपनी बुद्धि लगाते हैं। ऐसा स्मरण कर करके हमें यह भाव करना चाहिए कि भोगों का परित्याग करें, तब ही हमें शान्तिका मार्ग मिलेगा।

अकिञ्चनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥११०॥

परमात्मतत्वका रहस्य–हे सम्यग्दृष्टि पुरुष! देख धीरेसे सुन। तुझे आज परमात्माका वह रहस्य बतावेंगे जो योगियों द्वारा गम्य है, जिस रहस्यको योगिराज चिरकाल तक तपश्चरण और संयम करके अनुभवसे जानते हैं। वह परमात्माका रहस्य क्या है? परमात्मतत्वकी प्राप्तिका उपाय क्या है? मैं अकिञ्चन हूँ अर्थात् मेरा मेरे सिवाय अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है, ऐसा निर्णय करके तू विश्राम सहित अपने ही एकत्वमें अकड़कर रह जा। जिसे देहातमें बोलेते हैं टन्नाकर रह जाना। जैसे कभी कोई बच्चा किसी बात पर हठ करता है तो वह उस हठके प्रसंगमें एक चुपचाप वाली अकड़से रह जाता है। ऐसे ही तू अपनेको यह जानकर कि मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है। तू अपनेमें विश्राम करके रह जा। यह योगिगम्य परमात्वतत्वकी प्राप्तिका उपाय कहा गया है।

ज्ञानानुभवका प्रसाद–ज्ञानी विरक्त संत योगी बनकर जंगलमें और किया क्या करते हैं? एक अपने आपको ज्ञानमात्र सबसे निराला केवल ज्योति प्रकाशमय निरखते हुए एक निष्पंद बन जाता है। उस समय संकल्प विकल्प हट जानेके कारण अपने आपमें एक उत्तम ज्योति प्रकट होती है, सहज आनन्द जागृत होता है, उस स्थितिमें तू परमात्माका रोज अनुभव कर सकता है। इस जीव पर कुछ माननेका घोर संकट है। मेरा कुछ है नहीं और मान लिया कि मेरा है, इस कारण यह संसारी प्राणी रूल रहा है। कभी ऐसी बात समझमें भी आती है, फिर भी उस मार्ग पर नहीं डट पाते हैं।

मोहका क्लेश–यह मोह करना बुरा है, दुःखदायी है, संसारमें रूलाने वाला है और इस ही भवमें बारम्बार रूलाने वाला है। कहीं किसी दूसरे जीवके मोहमें शान्ति नहीं मिला करती है। दूसरे जीव भी तो कषायवान् हैं, उनकी भी उनमें हठ है, उनके भी दिल है, वे भी आजादी पसन्द हैं।

तुम करोगे दूसरे जीवोंमें मोह तो भले ही तुम चाहो यह कि मैं जैसा चाहूँ तैसा ही ये जीव परिणमा करें, पर यह कैसे होगा? तब पराधीनता का क्लेश स्पष्ट ही है। कहीं भी तो सुख नहीं है संसारमें। किसी भी स्थितिमें सुख नहीं है। कुछ धनिक हो गए तो क्या शान्ति मिल गयी? बड़ी खुशीमें इतने संगीत समारोह करके बड़े नाच गान करके खुश हुआ जा रहा है, वहां भी भीतरमें देखो तो वही आकुलता है, खुशी नहीं है। आकुलता खुशीके रूपमें भी फूटती है और विशादके रूपमें भी फूटती है। कौन निराकुल है? जो खुश है वह भी व्याकुल है और जो शोकमग्न है वह भी व्याकुल है। किसी जीवको यहां वहां कहीं से ढूंढकर ऐसा तो लावो जो पूर्णरूप से निराकुल हो। निर्व्याकुल तो एक भगवान् ही है।

आत्मविश्रामका यत्न—हे आत्मन्! मैं अकिञ्चन हूँ, ऐसा अपने आपमें विचार करके तू परमविश्रामसहित निष्पंद होकर ठहर जा। देख यह एक ऐसा परमात्मत्वकी प्राप्तिका राज है कि जिस राजमें परम आनन्द बसा हुआ है, अज्ञानभावके कारण परपदार्थोंमें ममत्व हुआ करता है, वह ममत्व भले ही करे कोई, किन्तु कोई पदार्थ अपना कभी होता नहीं है। स्पष्ट देख लो, हाथमें पकड़कर देखलो—अपने ही शरीरको या गृहके वैभव कोदेखलो, कभी अपना होता है क्या? प्रकट न्यारा है, स्वरूप चतुष्टय भिन्न भिन्न है, न मेरा गुण अन्यमें है, न मेरा परिणमन अन्यमें है, न मेरा बड़प्पन अन्यमें है, न मेरा किसी पर अधिकार है, न किसी पर स्वामित्व है, ऐसा प्रकट निराला जगत् है। इसमें आत्मत्वभाव अज्ञानसे ही होता है और यह अपना होता है नहीं, तब यह जीव बड़ा व्यग्र होता है, हीन दशाको प्राप्त होता है। इस मोही जीवने अपने हृदयमें उत्सुकता तो यह भरी है कि यह वस्तु मेरी है, मेरा इस पर पूर्ण अधिकार है और वस्तुस्वरूपके कारण निकला वह अनाधीन। तब बड़ी व्यग्रता होती है, ओह मैंने इतने कष्ट सहे, विकल्प किया, प्रयत्न किया और यह जीव या यह पदार्थ मेरे अनुकूल नहीं परिणाम रहा है। देख सारे संकटोंसे मुक्त होना हो और इस भवमें भी यदि तुझे अपनेको निर्व्याकुल अनुभव करना हो तो मैं अकिञ्चन हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, ऐसा तू केवल निजज्ञानपुंज अपनेको निरख। इस उपायके बिना तुझे शान्तिका कोई ढंग न मिलेगा।

परभावसे विविक्तताकी भावना—ज्ञानी जीवके यथार्थ भावना होती है कि कुछ भी परद्रव्य मेरा नहीं है, धातुवोंमें सब धातु, शरीरमें सब शरीर, और की तो बात क्या, भावोंमें अपने ही विचार रागद्वेष विकल्प, ये भी अपने नहीं हैं, ये समस्त पर होते हैं, विघट जाते हैं, कोई परद्रव्य मेरा नहीं हैं—ऐसा जब परिणाम हो तो परम उदासीनता प्रकट होती है। इस ही उदासीनताका नाम है चारित्र। इस चारित्रके फलसे देख तू तीनों लोकका अधिपति हो जायेगा। अपनेको अकिञ्चन मानेगा तो तीनों लोकका मालिक बन जायेगा और अपनेको यहां किसीका कुछ मालिक मानेगा तो हीन दशामें रहकर संसारमें जन्म मरण पायेगा। देखो कितना पुष्ट, किन्तु सुन्दर निर्णय है।

मानकी चाहमें सम्मानका अलाभ—कोई पुरुष मानका अर्थी हो, मुझे सम्मान मिले, यों वह सम्मानका अर्थी आगे-आगे तुरैयासी छौंकता हुआ, अपने ही मुखसे अपनी बड़ाई करता हुआ, बिना

ही बुलाये, बिना ही लोगोंके आदर किए, सबसे आगे उठता बैठता हुआ जो पुरुष चेष्टा करता है उसे कभी सम्मान मिला है क्या? जो अपने मुँह अपनी बड़ाई करता है। उसे लोगोंके द्वारा बड़ाई मिलती है क्या? बड़ाई तो मिलेगी उसको जो अच्छा काम करेगा। अच्छा काम करके जो अपने मुखसे बड़ाई करले, उसको कभी बड़ाई नहीं मिलती है। सम्मानका अर्थी अपनी बड़ाई के लिए बड़ी चेष्टाएँ करता है, पर अन्तमें उसे सम्मानकी जगह पर अपमान ही प्राप्त होता है।

योगिगम्य परमात्मत्वविधि–जो पुरुष परोपकारके कार्य करके भी अपने को न कुछ, नम्र, विनयशील, गर्वरहित, सबका अनुयायी, पीछे ही पीछे उठने बैठने चलने वाला पुरुष है, वह पुरुष दूसरोंके द्वारा सम्मानको प्राप्त होता है। ऐसे ही जानों कि जो पुरुष अपने आपको अकिञ्चन मान कर नम्र, विनयशील, अपने आपके स्वरूपमें रमकर संतोष करने वाला होता है, वह तीनों लोकोंका अधिपति अर्थात् जिनेन्द्रदेव होता है और जो अपनी ही कल्पनामें जगत्में अपनेको कुछ मानता है, उसको ही दशामें रहकर संसारमें रूलना पड़ता है। यह सारा रहस्य योगीश्वर जानते हैं भली प्रकारसे।

आत्मप्रयोक्तृत्वमें ज्ञातृत्व–जिनको तात्विक ढंगसे यह मर्म न उतरा हो वे पुरुष बातें भले ही करलें, किन्तु वे ज्ञाता नहीं कहलाते हैं। जैसे तैरने की कला जानने वाला, जो तैरकर अनुभव कर चुका है, उसे ही तैराक कहेंगे। किताबी ढंगमें जो लिखा है, विधि है, उस तरहका अभ्यास कर लेने वाला उसका ज्ञाता न कहलायेगा। भला देखो कोई पुरुष रोटी बनाना रोज देखता है, ताजी ताजी रोटी रोज बनती हैं। वह पुरुष खाता जाता है सारी बातें देखता जाता है, इस तरह आटा गूथा, इस तरह लोई बनायी, इस तरह बेला, इस तरह तवे पर रक्खा, इस तरह उलटा, अग्निपर सेका, खूब देख रहा है रोज-रोज वह पुरुष, मानों २५ वर्ष हो गये देखते-देखते। एक दिन ऐसा आ जाय कि खुद ही रोटी बनाना पड़े तो वह रोटी न बना सकेगा, यद्यपि २५ साल हो गये रोज देखते हुए और वह दूसरोंसे रसोई बनानेकी बात बड़े अच्छे ढंगसे पूरी पद्धतिसे कह डालेगा। यों आटा गूनो, यों रोटी पकावो, सब कुछ बता डालेगा, पर खुद को बनाना पड़े तो न बना पायेगा। तो क्या उसे रोटी बनाने की विधिका ज्ञाता कहा जायेगा? ढंगसे अनुभव से तो ज्ञाता न कहलायेगा। ऐसे ही मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा जगतमें परमाणु भाव भी कुछ नहीं है, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, इतनी ही बातें करने वाले इस मर्मके ज्ञाता नहीं कहला सकते, किन्तु जो अपने उपयोगको ऐसा बना कर इस तत्वज्ञानके अमृतका पान करके संतुष्ट हुए हैं, उन्हें ही इस कलाके ज्ञाता कहेंगे।

अकिञ्चन और सकिञ्चनकी मान्यताका प्रभाव–हे आत्मन्! मैं वैभववान् हूँ, मेरी इतनी इज्जत है, इस ही बात को दिलमें धारे हुए क्या तू शान्ति पा रहा है? अरे क्षणिक इन विकल्पोंके भारको तू अपने उपयोग से हटा तो दे, कुछ क्षण एक बार भी तो अपने को अकिञ्चन अनुभव कर। देख फिर तुझे कितना आनन्द जगता है? एक बात और भी है, जो अपने को अकिञ्चन मानेगा, बाह्यपदार्थोंमें तृष्णा लोभ लालच न करेगा उसके पुण्यरस स्वयमेव अधिक बढ़ता है, पापोंका क्षय होता है और कुछ ही समय बाद वह समतासे भी भरपूर हो जाता है। अपनेको अकिञ्चन

माननेमें सभी गुण हैं और सकिञ्चन माननेमें विडम्बनाएँ ही बनती हैं। मैं हूँ कुछ, ऐसा माननेमें विडम्बनाएँ ही बनती हैं।

मैं मैं तू तू का फल–एक कोई नटखटी लड़का था। कई जगह नटखट करता गया। एक बार पाव भर गुलाबजामुन लेकर गांवके किनारे गया। जहां तालाबमें एक धोबी कपड़े धो रहा था। उसका लड़का भी था। उस नटखटी लड़के ने उसे दो चार गुलाबजामुन खिला दिये। अब तो वह रोने लगा कि मुझे और चाहिए। धोबी ने पूछा कि तुमने इसे क्या खिला दिया? तो उसने कहा–गुलाबजामुन। ये कहां मिलेंगे? इस पासके ही बागोंमें चले जावो, जितने चाहे तोड़ लावो। धोबीने कहा–अच्छा भाई तुम मेरा सामान देखे रहना, मैं इसे गुलाबजामुन तोड़कर खिला लाऊँ। अच्छा तुम्हारा नाम क्या है? वह नटखटी लड़का बोला–मेरा नाम है कल परसों। वह तो पासके बागोंमें अपने सारे बर्तन कपड़े वगैरह उसको जताकर चला गया। उस नटखटी लड़के ने क्या किया कि वह उसका सारा सामान लेकर चम्पत हो गया। जब वह धोबी लौटकर आया तो चिल्लाने लगा, अरे कल परसों मेरा सामान ले गया। लोग कहते हैं, अरे बेवकूफ कल परसों सामान ले गया, तो आज क्यों रोता है? वह नटखटी लड़का आगे बढ़ गया। रास्तेमें एक घुड़सवार मिला। घुड़सवार बोला, भाई हमें प्यास लगी है, अपना डोर लोटा दे दो और मेरा घोड़ा पकड़ लो, हम पानी कुवेंसे भरकर पी लें। अच्छा भाई तुम्हारा नाम क्या है? मेरा नाम है, कर्ज लेनेमें। वह तो पानी पीने चला गया और वह लड़का उस घोड़ेको लेकर चम्पत हो गया। घुड़सवार रोने लगा, चिल्लाने लगा, हाय मेरा घोड़ा कर्ज लेनेमें ले गया। लोग सुनने वाले कहते हैं, अरे बेवकूफ! कर्ज लेनेमें घोड़ा ले गया तो क्या बुरा किया? तूने कर्ज क्यों न चुकाया? वह नटखटी लड़का आगे किसी नगरमें पहुंच गया। वहां एक धुनियाके घर पहुंचा। धुनियातो घर पर था नहीं, उसकी औरत थी। वह लड़का धुनियाकी औरतसे कहता है कि आज रातको अपने घर मुझे ठहर जाने दीजिए, सुबह चले जायेंगे। अच्छा ठहर जावो बाबू जी। अच्छा तुम्हारा नाम क्या है? मेरा नाम है "तू ही तो था" ठहर गया वह। पासमें एक बनियाके घरसे घी आटा दाल वगैरह सारा सामान लिया और कहा कि सुबह पैसे चुका देंगे। अच्छा तुम्हारा नाम क्या है बाबूजी? हमारा नाम है 'मैं था।' उसने धुनियोके घर भोजन बनाया, खाया और जो कुछ धोवन था, वह धुनियाकी रूई में डालकर सवेरा होते ही चला गया। जब धुनिया आता है तो देखता है कि सारी रूई खराब हो गयी है। औरत से पूछता है कि किसने इसे खराब किया? कौन यहां रातको ठहरा था? धुनिया की औरत ने कहा कि जो ठहरा था तू ही तो था। उसने उसे पीटना शुरू किया। सच बता कौन था? तू ही तो था। खूब पीटी। बनिया ने उसे पिटते देखा तो उसके दया आने लगी। बनिया आकर बोला अरे जो ठहरा था वह मैं था, लो बनिया भी पिट गया।

जो बाहरी बातोंमें, मैं मेरा करता है उसको विडम्बना ही नसीब है। हे जिनेन्द्रदेवके भक्त! जिनेन्द्रकी भक्तिके प्रसादसे तू अनन्त सुख पायेगा तू अपने आपको इस देहसे न्यारा केवल ज्ञानपुंज अपनेआपको निरख। प्रभुभक्ति वास्तवमें इसीमें है। अपने आपको सबसे न्यारा केवल ज्ञानपुंज मान ले। क्या है? यह वैभव तो मिटने को ही है। चाहे जब मिटे, वियोग तो होगा ही। इसमें आसक्ति

न करके एक अपने आपमें अपना शुद्ध प्रकार पायें। मैं अकिञ्चन हूँ ऐसा मानकर तू ठहर तो जा। विश्राम मान कर अपने में देख तू तीन लोक का अधिपति हो जायेगा। यह परमात्मप्राप्तिका राज रहस्य जिससे बड़े बड़े योगीराज परमार्थ तपश्चरण को प्राप्त करते हैं, यह रहस्य तुझे कहा गया है।

त्रिलोकाधिपतित्वका यत्न–परमात्मतत्वका यह रहस्य कैसे मिलेगा? वस्तुस्वरूपका ज्ञानाभ्यास करें, जिसको भी देखो उसे पूर्ण स्वतंत्र देखो। कोई भी जीव यदि किसीके अधीन बन रहा है तो वह स्वतंत्र होकर परके आधीन बन रहा है। परके आधीन बननेकी बात तो त्रिकाल हो ही नहीं सकती। कोई जीव किसी दूसरे जीवके आधीन कभी बन ही नहीं सकता। वस्तु के स्वरूपमें ही नहीं है यह बात। जो जीव दूसरेके आधीन बन रहा है वह अपनी कल्पना में, अपनी कल्पनावों द्वारा, अपनी कल्पनावोंके आधीन बन रहा है। कोई जीव किसी दूसरेके आधीन बन ही नहीं सकता है। देख यह स्वाधीनता का मार्ग परमात्मतत्वकी प्राप्ति का राज तुझे कहा है।

त्रिलोकाधिपतित्वका यत्न–हे आत्महितार्थी पुरुष! तू प्राप्त ऐसी ही भावना कर–मैं अकिञ्चन हूँ, मैं अकेला हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है। देख यह एक तेरा घरका मंत्र है। अपने आत्मा भगवान्से मिलने का उपाय है। तू बारबार ऐसी सत्य भावना तो कर कि मैं अकिञ्चन हूँ, अकेला हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं सबसे निराला हूँ–इसकी बड़े योग उपयोगसे अपने आपमें खोज तो कर, स्वतः ही एक ऐसा अपूर्व आनन्द उत्पन्न होगा, आल्हाद होगा, जिसके प्रतापसे तू सहज आनन्दमें तृप्त हो जायेगा। तू धीरे से सुन, गम्भीरता से सुन, तुझे तेरे खास कानमें बात कही जा रही है। तू अपने आपको अकिञ्चन मानकर सबसे निराले रूपसे ठहर तो जा, तू तीन लोकका अधिपति हो जायेगा। इस प्रकार ज्ञानभावनाके लिए आचार्यदेव ने हम लोगोंको उपदेश दिया है। चाहे परिस्थिति कुछ हो, कर्तव्य कुछ हो, परसच्ची श्रद्धासे दूर न भागो। मैं निर्मल ही हूँ, अकिञ्चन ही हूँ, ज्ञानमात्र ही हूँ–ऐसी अपनी श्रद्ध बना तो तू संकटोंसे यथाशीघ्र पार हो जायेगा।

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम्॥११॥

तपके लिए मनुष्यभवकी विशेषता–यह मनुष्यजन्म दुर्लभ जन्म है, किन्तु अपवित्र है, सुखरहित है, जिसमें मरणका समय नहीं जाना जा सकता है ऐसा अविदित मरण समय है। यहां उत्कृष्ट भी आयु हो तो भी अल्प है ऐसी तो इस मनुष्यभवकी स्थिति है और यहां बात यह है कि तब मनुष्यपर्यायमें ही होता है, मुक्ति तपसे ही मिलती है, तब मनुष्य पर्याय प्राप्त करके हे कल्याणार्थी पुरुष! तुझको तप ही करना युक्त है। इसमें जो विशेषण दिया गया है यह बहुत मर्म बताने वाला है। देख यह मनुष्यजन्मका मिलना अति दुर्लभ है और ऐसे दुर्लभ मनुष्यजन्ममें बहुत उत्कृष्ट कार्य हो सकता है तो उसे कर लेना चाहिए। धर्मका उत्कृष्ट पालन इस मनुष्यभवमें ही हो सकता है।

तपकी मनुष्यभवमें ही संभवता–मनुष्यके सिवाय तीन गतियां और हैं नारक, तिर्यञ्च और देव। इन तीनोंकी हालत सुनिये। देव तो विषयोंमें आसक्त हैं, उनको धर्मपालनकी चित्तमें बात नहीं

आती है और फिर उनके शरीरकी बनावट, शरीरका ढंग और कर्मोंका उदय इस प्रकार का है कि उस देवशरीरमें रहकर धर्मकी बात मनमें, संयमकी बात मनमें नहीं आती है और न उसे कर सकते हैं। वे संयमकी बात करने में असमर्थ हैं। देवगति तो यों निपटी। नारकी जीव तीव्र दुःखसे व्याकुल रहा करते है। वे स्वयं संतापसे तपे रहते हैं। धर्मका पालन वे क्या करेंगे? तिर्यञ्च जीव विवेकरहित हैं, सो प्रत्यक्ष दिखता भी है। एक मनुष्यभव ही ऐसा है जिसमें धर्म की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर तपस्या के लिए अपनी उत्सुकता रहनी चाहिए और शक्तिमाफिक तप करना चाहिए।

देहकी अपवित्रताका वैराग्यमें सहयोग–यह मनुष्यदेह अपवित्र है। यह देह नीचे से ऊपर तक अपवित्र है। मल, मूत्र, मांस, मज्जा, हड्डी, पीप, नाक, खून, खकारसे रचा हुआ है। ऊपर पतली चामकी चादर मढ़ी है। अरे शरीर जब अपवित्र ही अपवित्र है तो इससे क्या प्रीति करना? देवगतिके जीवोंमें जो रूप होता है उसके समक्ष यहां के रूपमें सुन्दरता नहीं है। सुन्दर हो शरीर, पवित्र हो शरीर तो थोड़ी तृष्णा भी कर लो कि तपस्या करके इस शरीरको क्यों सुखायें, क्यों बिगाड़ें, पर न तो यह शरीर पवित्र है और न यह सुन्दर है। तब ऐसे अपवित्र शरीर को पाकर तप में लगानेका भय क्यों करते हो? आरामसे रहेगा तो भी यह शरीर अवस्था पाकर बूढ़ा बनकर नष्ट होगा। इस अपवित्र शरीरको तपकी साधना में लगाया जाय तो उससे लाभ ही मिलेगा।

मनुष्यभवकी अपसुखता का वैराग्यमें सहयोग–यह मनुष्य शरीरसुखसे रहित है। यह देह यदि सुखसे भरपूर होता तो भी थोड़ी यह कहने की गुंजाइश रखते कि ऐसे सुख वाले शरीर को तप करके क्यों बिगाड़ें, क्यों इसको हैरानी में डालें? किन्तु सुख है कहां? बच्चोंसे लेकर बूढ़ों तकमें तो कल्पनावोंके अनुसार इन सब जीवोंको दुःख लगा हुआ है। देवों की तरह यहां सुख होता तो यह कहना ठीक था कि ऐसे सुखको छोड़कर क्यों कठिन तप करना, क्यों कष्ट सहना? तनका भी दुःख है, वचनका भी दुःख है, मनका भी दुःख है। इस मनुष्य शरीरमें कितने ही रोग होते हैं। लाखों किस्मके रोग होते हैं। उन रोगोंसे भरा यह शरीर है। 'शरीरं व्याधिमंदिरम्।' शरीर रोगोंका घर है। शरीरकी तो यह हालत है। मनकी हालत भी बड़ी कठिन है इस मनुष्यभवमें। कुछ सुविधा भी होती कुछ रोगरहित शरीर भी होता तो भी मानसिक सुखोंसे वह छूट न पाता। दुःख पड़ा हो तो मानसिक दुःख भोगता है, सुखमें पड़ा हो तो मानसिक दुःख भोगता है।

मनुष्यभवकी अपसुखता–एक छोटा भी बच्चा हो दो तीन साल का, मांके पास बैठा हो, उसके मनमें यह आ जाये कि हमें सड़क पर जाना है।, तो मां उसे बहुत सुखसे रक्खे, गोदमें रक्खे, कुछ खिलाए और आराम से थपथपाये तो भी उसे मानसिक दुःख लगेगा, न कुछ इतनीसी बात कि मुझे तो सड़क पर जाना है और यह जाने नहीं देती। वह बच्चा भी दुःख में आकर तड़पता है, रोता है, सो प्रत्यक्ष दिखता है बूढ़ां के मानसिक दुख देख लो, देख ले। बूढ़ोंको कोई खाने पीनेका भी दुःख नहीं देता। समय पर खूब खिलाया, थोड़ी शरीरकी सेवा भी कर दिया तो भी उसके मनमें

अनेक बातें आती हैं। उनकी परिणति मनके अनुकूल नहीं होती या मनके अनुकूल नहीं चलते तो वे भी मानसिक दुःखसे तप्तायमान रहते हैं। जवानोंकी बात तो विचित्र है। उनका मन तो अति चंचल है। शरीरमें बल भी है, सो वे वह चाहते हैं कि मैं जिसकामको मनमें विचारूँ वह काम तुरन्त हो, ठीक हो लेकिन पर-पदार्थका परिणमन अपने आधीन है नहीं, सो पर तो पर ही है, उसके परिणमन पर हम आपका अधिकार क्या है? यों बच्चोंसे लेकर बूढ़ों तक सभी मनुष्य मानसिक दुःखसे दुःखी हैं। इस शरीरमें सुख नहीं है, सो ऐसे दुःखों वाले आत्माको तपस्यामें लगा दीजिए। दुःखी तो सम्भव है कि दुःख न हो। कहो वहां अन्तरङ्गमें आत्मीय आनन्द जगे तो यह मनुष्यभव सुखरहित है। इसे तपस्यामें लगाना योग्य है।

अविदितमृत्युसमयताका वैराग्यमें सहयोग—तीसरा विशेषण दिया है, इसके मरणका समय नहीं जाना जाता है। न जाने कब मृत्यु हो जाये? जैसे देवतावोंका मरणका समय निश्चित है। उन्हें भी विदित है कि हम अमुक दिन मरेंगे, क्योंकि देवतावोंकी आयु बीचमें कटती नहीं है। जैसे यहां शस्त्रसे, रोगसे या किसी कारणसे अकाल मृत्यु हो जाती है, ऐसी बात देवतावोंमें नहीं है। वे अवधिज्ञानी होते हैं, वे जान जायेंगे कि अमुक दिन, अमुक मिनट पर हमें मरना है। तो जहां मरणका समय विदित हो वहां यह भावना बन सकती है कि अभी तो इस दिन तक जीना है। पीछे कर लिया जायेगा धर्म अभी तो इतने वर्ष पड़े हैं, लेकिन इस मनुष्यका तो कलका भी पता नहीं है कि क्या होगा? ऐसे ही अंदाजसे अपनी वासनाके अनुसार अपने चित्तमें यह बसाये हुए हैं कि हमें बहुत जीना है। लेकिन जब भी कोई मरता है उसके दो चार दस दिन पहिले भी क्या कोई सोच पाता है कि अब हम निकट समय में ही मरने वाले हैं। अतः हमें धर्मसाधनाके लिए तपस्या आदिकका शीघ्र काम कर लेना चाहिए।

नरभवकी अल्पायुष्कता—यह मनुष्यभव अत्यन्त अल्प आयु वाला भव है। देवतावोंकी आयुसागरों पर्यन्त की होती है। जैसे मानलो किसी की २५ सागरोंकी आयु है तो उसका अर्थ यह है कि वह असंख्यात वर्ष जीवित रहेगा। करोड़ नहीं, शंख महाशंख नहीं, किन्तु असंख्यात वर्ष तक इस शरीरमें रहेगा। कल्पना करो कि कोई दो हजार कौशका लम्बा चौड़ा गड्ढा है। उसमें उत्तम भोगभूमिमें पैदा हुए ७ दिनके मेढ़ेके बच्चेके रोमके अत्यन्त छोटे टुकड़े जिनका कि कतरनीके काटनसे दूसरा हिस्सा न हो सके, ऐसे रोम उस गड्ढेमें भर दीजिए और उसके ऊपर हाथी फिरा दीजिए, तो उसमें कितने रोम भरे हैं, कल्पना लावो, और उनको एक-एक करके सौ-सौ वर्ष बाद निकालते जावो, तो जितने वर्षोंमें सब रोम निकल सकें उतने वर्षोंका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असंख्यात गुणा है उद्धारपल्य। एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुण्रा करके जो आया उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका होता है एक सागर ऐसे ३३ सागर तक देव जीवित रह सकते हैं। समय तो है, उसका माप कल्पना द्वारा बताया जा रहा है। कुछ करने की बात नहीं कह रहे हैं। उतना बड़ा गड्ढा खोदकर उतने रोम भरे नहीं

जा सकते और फिर उन पर हाथी फिराकर उन्हें एक-एक करके सौ-सौ वर्ष बाद निकाला नहीं जा सकता है, पर इतना लम्बा समय है, यह समझमें आये कैसे? इसको समझानेके लिए कल्पना करके ऋषि संतोंने बताया है कि इस ढंगसे लोग समझ जावें। ऐसी है उन देवों की आयु। ऐसी ही नारकियोंकी आयु होती है। उसके सामने ये मनुष्यके १०० वर्ष हो गए, लाख वर्ष हो गए, करोड़ वर्ष हो गये तो ये कौनसी गिनती में है? यह तो अल्प आयु है। बहुत बड़ी लम्बी आयु हो तो यह सोचा जाये कि चलने दो अभी मनमौजीका काम। जब बड़ा समय रह जाये तब देखा जायेगा। यह आयु बहुत थोड़े समय वाली है, ऐसी अल्प आयुमें तप व्रत, संयम, साधना करके इस दुर्लभ मनुष्यजीवनका लाभ उठा लेना चाहिए।

परमार्थ तपश्चरणसे ही मुक्ति–तपस्याके बिना मुक्ति नहीं होती। बाह्य तपश्चरणोंमें तीव्रता भले ही न हो। कोई साधु बाह्य तपश्चरण अधिक कर रहा हो, कोई बाह्य तपस्यायें कम कर रहा हो, पर अन्तरङ्ग जो तपश्चरण है, शुद्धनिज ज्ञायकस्वरूप का आश्रय लेना उसका ही अनुभव करना, वहां ही उपयोग रमाना, ऐसा जो पारमार्थिक अन्तरङ्ग तपश्चरण है, और प्रायश्चित विनय आदिक जो अन्तरंग तपश्चरण है, ये सबको करने होते हैं। भरत चक्रवर्तीको दीक्षा लेने के बाद अन्तमुहुर्तमें केवलज्ञान हो गया था। बाह्य तपश्चरण करनेका उन्हें अवसर ही नहीं मिल पाया था पर उनकी जिन्दगी में अन्तरङ्ग तपश्चरण वर्तता रहता था। राज्यपद संभालते हुए भी, चक्रवर्ती होकर भी धर्मका काम और अन्तरङ्गमें वैराग्य का काम बराबर चल रहा था।

परमार्थ तपश्चरणकी अनिवार्यता–बाहुबलि स्वामी एक वर्ष तक कार्योत्सर्ग आसनमें खड़े रहे। वर्षाकालमें बेलें लिपट गयीं, सर्पोंके घर पासमें ही बन गए, अनेक सर्प आस-पास डोलने लगे, ऐसी एक वर्ष की कठिन साधना की। ऐसे दृष्टान्त कम सुनने में आते हैं। बाहुबलिके पिता ऋषभदेवने दीक्षा लेकर उपवासकी ६ माहकी प्रतिज्ञा ली थी। रोज-रोज वे चर्याको निकलते रहे, पर ६ महीने तक उन्हें विधि न मिली। देखो तो कर्मोंकी बात। इतने बड़े भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी कालमें चतुर्थकालमें सर्वप्रथम रक्षक हुए हैं, जिनकी दयाके कारण लोकमें प्रसिद्धि हुई। कोई सृष्टिका रचने वाला है। ६ माह तक रोज चर्याको जायें, पर आहार का योग न मिले। उस समयके लोग जबकि ऋषभदेव चर्याको निकले राजा महाराजा सभी हाथी घोड़ा लेकर भेंट करने जाते थे। कोई कहे सोना, चांदी, रत्न ले लो, कोई कहे हाथी, घोड़ा ले लो। कोई अपनी लड़की विवाहके लिए भेंट करने जाता था, जैसा कि उस समय रिवाज था। सब कुछ देनेके लिए सभी लोग जाते थे, पर आहार देनेकी विधि न जान पाते थे। इसीसे उन्हें ६माह तक आहारकी विधि न मिली। तो किसीकी तपस्याका समय जाना जाता, किसीको नहीं जाना जाता, पर अन्तरङ्ग तपस्या बिना किसीको मुक्तिका लाभ नहीं होता।

निगोदसे निकलनेका सुयोग–हे कल्याणार्थी पुरुष! इस दुर्लभ नरदेह को पाकर इसे सदुपयोगमें लगा। यह मानुष देह पाना बड़ी दुर्लभ वस्तु है। प्रथम तो तुझे निगोदसे निकलना ही

बड़ा दुर्लभ था। अनन्त निगोदिया जीव अनादि कालसे अब तक निगोदमें पड़े हैं और अनन्तकाल तक निगोदिया रहेंगे। कुछ ऐसे भी निगोदिया जीव हैं जो इस निगोद पर्याय को कभी छोड़ नहीं सकते। निगोदमें महा कष्ट है। श्वासमें १८ बार जन्म और मरण होता है। केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है। शरीर भी ऐसा साधारभूत है कि एक जीव मरे तो अनन्त जीव संगमें मरें, एक जीव जन्म ले तो अनन्त जीव जन्म लें। ऐसे निगोदके कठिन दुःखोंसे तो हम आप निकल आये हैं। अब इसी भवमें अनेक चिंताएँ, अनेक शोक किया करते है।

प्रत्येक स्थावरोंमें जन्म–निगोद से निकला तो यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें उत्पन्न हुआ। इनकी भी दशा कोई सुखमय दशा नहीं है। पृथ्वीको चाहे जो काटे भेदे, उसके पास रक्षाका क्या साधन है? ऐसे ही जल को चाहे जो बिलोये, अग्निको चाहे जो बुझायें, वायुको चाहे जो रबड़ आदिमें रोकदे और वनस्पतिको चाहे जो तोड़े भेदे फूल पत्तियोंको तोड़कर चाहे जो अपना दिल बहलाये। कोई तो प्रभुपर फूल चढ़ाकर लोग कहते हैं कि हमने धर्म किया, पर धर्म वहां कहां होता है? हालांकि गृहस्थावस्थामें ये सभी कार्य किए जाते हैं, पर इनके छेदने में भेदने में जो प्राणाघात है वह तो होता ही है।

स्थावरोंसे निर्गमन–इन स्थावरोंसे निकलकर दो इन्द्रिय जीव हुए, लट, केचुवा, जोक, शंख कौड़ी, सीप आदिकी पर्यायमें आयें, उनका भी कितना घात होता है? थोड़ा एकेन्द्रियसे इनमें अधिक विकास है। अनेक प्रकारके कष्ट इस जीवने दो इन्द्रिय पर्याय पाकर भोगे। दो इन्द्रिय से निकल कर यह जीव तीन इन्द्रिय पर्याय में आया। कीड़ा कीड़ी बन गया, यह भी कोई खास विकास नहीं है। चार इन्द्रिय हो गया तो मक्खी मच्छर आदि की पर्याय मिली। उनकी भी स्थिति हम आप सभी देख ही रहे हैं। पंचेन्द्रियमें पशु पक्षी हो गए, उनकी भी सभी लोग हालत देख रहे हैं।

वर्तमान उपलब्ध सुयोगके सदुपयोगका अनुरोध–इन सबसे निकल कर मनुष्यपर्यायमें आना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। मनुष्य हो गये, पर उत्तमदेश का मिलना कितनी कठिन बात है? पैदा हो गये होते कहीं बर्फीले प्रदेशमें, जहां अन्न और फल नहीं पैदा होते हैं तो कितनी दयनीय स्थिति होती? उत्तम देश भी मिल गया तो उत्तम कुलका मिलना मुश्किल है। देश भी उत्तम मिल जाये और नीच कुल मिल जाये तो वहां भी भावोंकी उन्नति नहीं है। उत्तम कुल मिल जाये, फिर शरीरका निरोग मिलना, बुद्धिका विकास होना, प्रतिभासम्पन्न होना, धर्मविद्याका सुयोग मिलना, उसमें रूचि रखना, धर्मकी बात सुनना, समझना, चित्तमें धारण कर लेना, उनका पालन कर सकना–यें सारी बातें उत्तरोत्तर कठिन है। इतनी दुर्लभ चीज हम आपको आज मिली है, इसे पाकर इसे अन्य गतियोंकी भांति विषयकषायोंमें ही गंवा दिया तो सोच लीजिए ऐसा समागम मिलना आसान नहीं है। आज दुर्लभ मानुष देह मिला है तो इसे तप व्रत संयममें लगायें, इससे ही मोक्षका काम सिद्ध होगा।

आराध्यो भगवान् जगत्त्रय गुरुर्वृत्तिः सतां सम्मता।
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम्।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनम्।
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः॥११२॥

अल्पसाधना और महान् फल–तीन लोकके गुरू भगवान् तो आराधना किए जाने योग्य हैं अर्थात् जहां त्रिलोकीनाथ भगवान्की आराधना करनेका काम है और सज्जन पुरुषोंकी जैसी प्रवृत्ति करनेका काम है, वहां अब भगवान्के चरणोंका स्मरण करनेमें अंदाज कर लो, कितना क्लेश है और लाभ कितना है? अरे! इन सत्कार्योंसे कर्मोंका क्षय हो जायेगा। मुक्तिका सुख मिल जायेगा। आप सोच लो इतना काम करने के लिए हमें कितना समय मिला है इस मनुष्य भवमें और एक मनको साधने भरका काम है। एक स्वाधीन सुगम कार्य करनेमें क्या कष्ट है? कष्ट तो विकार भावोंमें है। विषयोंकी इच्छा हो, कामकी वेदना हो, रसीले स्वादिष्ट भोजन करने की वाञ्छा हो, इत्र फुलेल सुगंधित पदार्थोंका परिणाम बना हो, सुन्दर-सुन्दर रूपोंके अवलोकनकी उत्सुकता हो, गायन, राग सुननेका भाव हो, यश कीर्ति बढ़ाने का चित्तमें चाव हो तो ये सब क्लेश हैं। समाधिभाव होना क्लेश नहीं है। सज्जनों जैसे वृत्ति बनाना, भगवान् प्रभुकी आराधना करना यह क्लेश नहीं है। यह तो कष्टके निवारणका उपाय है। हे भव्य पुरुषों! अपना चाव बतावो, चित्त बनावो विमुक्ति और सत्संग सेवाका। इन दो बातोंका चाव बनावो और अपना जीवन इन दो प्रसंगोंमें बीते तो क्लेश न होगा, शान्ति ही मिलेगी।

ध्यान तपकी विशेषता–कोई पुरुष समझे कि तपमें तो बड़ा कष्ट है और कष्ट सहा जाता नहीं, उसके प्रतिबोध के लिए यह छंद कहा गया है कि देखो समस्त तपोंमें उत्कृष्ट तप ध्यान है। उपवास करना, कायक्लेश करना इनको तो नहीं कहा जा रहा है। सब तपोंमें उत्कृष्ट तप ध्यान है। मनका अच्छी जगह स्थित होना, यह सबसे ऊँचा तप है। एक मनको गिराने से गिरना हो जाता है और एक मनको संभाल लेने से उठना हो जाता है। अन्तरङ्गमें देखिये कितने क्लेश हैं? कितनी सी बात है। अरे प्रभुकी भक्ति करो और सत्संगमें निवास करो, सज्जनों जैसी चर्या बनाओ। इसमें कष्ट तो रंच है ही नहीं। लाभ अनेक हैं, शान्ति मिलेगी, निराकुल रहेंगे, स्वतंत्र रहेंगे और भव-भव के बँधे हुए कर्मोंका विनाश होगा। देखो समस्त तपोंमें उत्कृष्ट तप है ध्यान। इसमें क्या कष्ट है सो तो बतावो? दो ही कार्य तो बताये गए, प्रभुभक्ति और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति। इनके खिलाफ काम क्या होगा? परिवारकी भक्ति अर्थात् परिजनोंसे मोह करना और नीचे कार्योंका, नीचे पुरुषोंका सेवन करना, इनमें तो खेद ही होगा। कोई अयोग्य काम कर लिया। नीच काम कर लिया तो प्रथम तो लज्जाका खेद भोगना पड़ता है और फिर इतना ही नहीं, इसके बाद अपमान और तिरस्कार भी हो जाया करता है। जिन विषयोंमें, विकारोंमें तू रम रहा है क्लेशके कारण तो ये ही हैं। सो नीचका सेवन करनेमें खेद ही खेद है और तीन लोकके नाथ अरहंत आदिक का, तीन लोकके ज्ञायक

परमात्काका आराधना करना इसमें न क्लेश और न भविष्यका कोई संकट है। इस प्रकार सज्जनोंकी प्रवृत्ति बनाना, जो सज्जन लोग किया करते हैं ऐसी वृत्ति से चलना, इसमें खेद नहीं होता।

प्रभुभक्ति और सद्वृत्तिमें उत्कर्ष–आपको नीच कार्य करना पड़े तो उसमें खेद होता है। जिस वृत्तिकी बड़े पुरुष भी प्रशंसा करते हैं, ऐसी प्रवृत्ति ही अंगीकार करनेके योग्य है। अभी चार आदमियोंमें कोई बात कहेंगे तो भली-भली कहेंगे। चाहे वह स्वयं भला न हो, चाहे उसकी प्रवृत्ति भले की न हो, पर चार आदमियोंमें बात बोलनी होगी तो भली ही बोली जायेगी। तो जिस बात को चार आदिमियोंके बीच कहनेमें लज्जा आती है, उस नीच कार्यका सेवन कितना अनर्थ करने वाला होगा? देख तेरे लिए दो ही काम बताये जा रहे हैं–भगवान् की आराधना करना और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति करना। इनके करने में कोई कष्ट यदि आता है तो वह तो तेरे लिए श्रृंगार है, कष्ट नहीं है। तू यदि सद्वृत्ति बनाए हुए है, प्रभुभक्ति बनाए हुए है तो ये सारे संकट जो इस बीच आते हैं वे श्रृंगार है, संकट नहीं हैं। और देख प्रभुभक्ति और सज्जनों जैसी प्रवृत्तिको देखकर यदि नीच कार्योंमें लगा तो इससे तो अनन्त क्लेश भोगने पड़ेंगे। नीच गतिमें जन्म लेगा। कोई पूछनहार न रहेगा। इससे उल्टा चलने पर तो अनन्त क्लेश पावोगे। यदि एक सीधे मार्ग पर चलनेमें वर्तमान परिणामोंके अनुसार कुछ कष्ट होता तो वह कुछ कष्ट नहीं है।

प्रभुभक्ति और सद्वृत्तिका फल–भगवान् आत्माके आराधना करने में अथवा प्रभुके शुद्ध गुणोंके स्मरण करनेमें, अपने आपके कल्याण की साधनामें तेरा कुछ जाता है क्या? तेरे स्वरूपमें से कुछ घटता है क्या? अगर कुछ घटता हो, जाता हो तो उसमें दुःखी होना चाहिए। उसमें दुःखी होना ठीक ही है। सो जाता तो कुछ है नहीं, बल्कि क्लेशका कारण जो कर्मसमूह है उस कर्मसमूहका ही नाश होता है। अपने निजस्वरूपमें ही कुछ खर्च नहीं होता, किन्तु जो बाधा विपदा लगी हुई है, बोझ चढ़ा हुआ है वह बोझ नष्ट हो जाता है। और भी देख, भगवान्की आराधना और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति इन दोनोंका फल साधारण नहीं है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट मोक्षफल है। यदि तुझे कुछ क्लेश जँचता हो, प्रथम तो क्लेश है ही नही! सद्विचारोंमें, सद्आचरणोंमें क्लेश नहीं होता, बल्कि प्रसन्नता ही होती है, किन्तु मन चिरकालसे विषयोंमें लिप्त बना चला आ रहा है, इस कारण मनकी वृत्ति कुछ गंदी है। इसीसे इसे अनगिनते क्लेश होते हैं। खैर, सद्वृत्तिसे रहे तो इसमें कोई साधारणसा क्लेश है, किन्तु फल कितना शिवमय होता है।

असद्वृत्तिमें पराधीनता–भैया! कोई साधन पराधीन हो तो उसमें खेद होना ठीक है, पराधीन साधनमें खेद होता है। लेकिन तू देख तो सही, तू पराधीन शब्दोंका भी अर्थ नहीं लगा सकता। अरे! विषय के साधनोंमें आधीन होनेका नाम पराधीन है। लोकमें उसको पराधीन कहने लगते हैं कि जो छोटा पुरुष है, किसी बड़ेके अण्डरमें काम करता हो तो लोग कहते हैं कि यह पराधीन है। पर यह कोई खास पराधीन नहीं है। पराधीनता तो विषय के साधनोंकी हुआ करती है। मोही जीव जिसको स्वाधीन समझते हैं वह तो बहुत पराधीन हैं। परिजनसे प्रेम है, मोह है, उन

परिजनोंकी कितनी ही बातें सहन करनी होती हैं और फिर भी विषयों के लोभके पीछे, विषयसाधनोंके कारण वहां पराधीनताका अनुभव नहीं करते, किन्तु जहां धर्मका कार्य हो, सत्संग की बात हो, प्रभुभक्ति सद्वृत्ति की बात हो वहां पराधीन मान लेते हैं। पराधीन तो इन्द्रियके विषयोंके साधनके आधीन बननेका नाम है। यह कार्य तो स्वाधीन है। अरे अपने मनकी ही तो साधना करना है।

प्रभुभक्तिकी स्वाधीनता—देखो! जो सज्जन पुरुष है वह भी वीतराग है, और जो भगवान् है वह तो उत्कृष्ट वीतराग है ही। अपने मनसे इस वीतराग प्रभु और गुरुवोंके प्रति अपनी भक्ति भाव रहे, उनकी सेवा उपासना बनी रहे तो देखो सेवा उपासना करने पर भी उनकी ओर से तुझे कोई बाधा नहीं आती और तू उन वीतराग पुरुषोंकी, प्रभुकी सेवा उपासना न करे तो भी उनकी ओरसे तुझे कोई बाधा नहीं आती है। अब तो केवल तेरी ओरसे ही करने का काम है। मनका साधन बना और प्रभु एवं गुरूवों की सेवामें रत रह। कितना स्वाधीन काम है? एक अपने मनको डाटने भर की बात है। कष्टकी बात, पुरुषार्थकी बात तो इतनी मात्र है, और लाभ कितना है? निराकुलता रहे, शान्ति रहे, स्वाधीनता रहे, भव-भवके कर्मों के बन्धन भी कटें, इतने लाभ हैं। फिर भी यह मोही जीव प्रभुभक्ति और सद्वृत्ति को नहीं करना चाहता है। हे कल्याणार्थी पुरुष! तू विचार तो, एक प्रभुके ध्यानमें कौनसा कष्ट है? इस तपमें तू अनादर मत कर।

तपश्चरणकी स्वाधीनता—शायद यहां कहोगे कि सज्जनों जैसी वृत्ति करनेमें और तपकी साधनामें जहां तक ध्यानका सम्बन्ध है, ज्ञानका सम्बन्ध है, वहां तक तो हम मान जायेंगे कि इसमें कोई कष्ट नहीं है, बल्कि प्रसन्नता ही है, क्योंकि नवीन-नवीन और सत्य बात मालूम हो जाती हैं। यदि अनशन करें, उपवास करें, ऊनोदर करें तो इनमें तो बड़ा कष्ट है। इन तपोंसे तो हमें अलग रहना चाहिए। इनमें लगनेकी बात तो हे आचार्य देव! आप कहो। इसमें तो कष्ट मालूम होता है। उसका समाधान यों है कि अनशन आदिक तपोंसे भी तब कष्ट है जब स्वयं करना न चाहे और करना पड़े, अपनी उत्सुकतासे, अपनी प्रसन्नतासे जो अनशन आदिक तपों को करता है उसे इस तपमें भी कष्ट अनुभूत नहीं होता है। यदि कोई दुनियाको बतानेके लिए या दुनिया मुझे नाम न धरे, दुनियामें भी प्रशंसा बढ़े, ऐसे कुछ भी भाव रखकर अनशन करे तो वह दिलसे नहीं किया। अनशनके चावसे अनशन नहीं किया, वह तो जबरदस्तीसे हुआ। जो आप न करना चाहें और किसी कारण जबरदस्ती हो जाये तो उस अनशनमें कष्टका अनुभव होता है, पर जो स्वयं अपने आपके परिणाम प्रमादी न बन सकें और क्लेशरूप भी परिणाम न बनें, इस प्रकार ध्यानकी सिद्धि के लिए अनशन आदिक भी करना चाहिए। इसमें कोई कष्टकी बात नहीं है।

विशुद्ध उपयोगका अनुरोध—जब तक शुद्ध मार्गका लक्ष्य नहीं होता तब तक ये धर्मके कार्य कष्टरूप मालूम होते हैं। जब एक धुनि इस अन्तः तपके लिए जग जाती है तो उसमें अनशन आदिक तप करनेमें कोई कष्ट नहीं होता है। हे आत्मन्! तू इन दो बातोंको मत भूल। तीन लोकके नाव वीतराग सर्वज्ञदेवकी भक्तिमें बढ़ो। प्रभुकी मुद्रा विचार कर, आकाशमें समवशरणका दृश्य विचार कर बड़ी

शोभा वाले समवशरणके बहुत बीच में गंधकुटी पर जैसे चतुर्मुख भगवान् विराजमान हैं, ऐसे उन प्रभुकी शान्त मुद्राको निरखकर अपना विशुद्ध उपयोग बना। इस उपयोगमें प्रसन्नताका अनुभव होता है। जबकि पुत्रोंमें, स्त्रीमें, धनवैभवमें चित्त लगाया जाये तो उसमें कायरताका अनुभव होता है। क्यों इस मोह वाले प्रसंगमें रहने से दिल दिन प्रतिदिन कमजोर होता जाता है? अपने आप तू कष्ट और उपसर्गो को चाह रहा है। इसकी चाह छोड़कर प्रभुभक्ति और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति बना। इन सद्प्रवृत्तियों से तेरा अवश्य कल्याण होगा। अब आगे और भी प्रतिबोध करते हैं।

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्ष्यते।
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः॥
चरणमपि किं स्पृष्टुं शक्ताः पराभवपांसवो।
वदत तपसोप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम्॥११३॥

कामव्याध का वेध–धन वैभव सम्बंधी जो विचार हैं, ये विचार इस संतप्त जीवोंको ताप बढ़ानेके लिए पवनके समान हैं। जैसे हवा चली तो अग्निका जोर बढ़ा, दाह तपन उत्कृष्ट बनी, ऐसे ही ये वैभव जड़पदार्थों के विचार, ये इस संसारके दुःखी संतप्त जीवोंका और भी दुःख बढ़ाते हैं। जो इन जड़ वैभवके विचारोंमें ही निरन्तर अपने चित्तको रमाते हैं, उन्हें कहांसे सुख हो सकता है? यह आत्मा तो निष्काम है, अदुष्ट है, शिष्ट है, इसे कामरूपी ये शिकारी इस अदुष्ट आत्माको दुष्ट कर रहे हैं। ये चारित्र को ढकनेमें धूलका काम करते हैं। जैसे कभी तेज हवा चले उस हवासे धूल नीचे से उड़े और उड़कर सूर्यको भी आच्छादित करदे, ऐसे ही ये जड़ पदार्थोंके विचार यह ही हुई हवा। इन हवावोंसे कष्टोंकी धूल उड़ती है। जड़ पदार्थोंमें गमन वाञ्छा रखनेसे कष्ट ही उत्पन्न होता है। उस कष्टरूपी धूलसे हे आत्मन्! तेरा चारित्ररूपी सूर्य ढक जाता है। तू परिग्रहकी ओरका विचार मत कर। प्रभुभक्ति और आत्मरमणकी ओर अपने विचार बना। अच्छा भैया! तुम्हीं बतावो तप से जो सिद्धि होती है ऐसे मनोवाञ्छित पदार्थकी सिद्धि कराने वाला अन्य कौन है? सभी जीव केवल एक अपने सही विचारके माफिक चलें तो सुखी हो सकते हैं। विकारयुक्त गन्दे परिणाम करनेसे जीवको सुख नहीं हो सकता है।

मानवोंकी मानवृत्ति–जगत्में यह जीव जितने कार्य करता है, सो सब मान आदिकके अर्थ करता है। मेरा मान रह जाये। मानके लिए तो यह मनुष्य अपने प्राण भी गंवा देता है। जगत्के जीवोंमें मानकी चाह विशेष पायी जाती है। संसारमें चार गतियां है–नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। कषायें भी चार हैं–क्रोध, मान, माया, लोभ। नरक गतिके जीवोंके क्रोध की विशेषता है, तिर्यञ्च गतिके जीवोंमें मायाकी विशेषता है, देव गति के जीवोंमें लोभकी विशेषता है और मनुष्य गतिके जीवोंमें मानकी विशेषता है। यह पुरुष संतान चाहता है तो क्या संतानके लिए संतान चाहता है या अपने आत्माके लिए संतान चाहता है? लोकमें अपना मान रखनेके लिए संतान चाहता है। उसके मरेके बाद भी लोग यह कहें कि यह अमुकका बेटा है, इतना मात्र कहलाने का सुख लूटने के लिए संतान चाहता है, पर वह सुख तो है नहीं।

मानका अनर्थक हठ–व्यवहारमें कहते हैं ना कि इतनी बात कहलानेके लिए इतने बड़े कष्ट सहे जा रहे हैं। रात दिन परिग्रहके व्यामोहमें लगे जा रहे हैं। इसका फल कितना होगा? वास्तवमें तो इससे लाभ नहीं है, बल्कि इससे हानि है। कुछ सोच लिया कि लोग मेरा नाम कहेंगे। अरे मर गये फिर काहे का नाम? मरकर न जाने किस क्षेत्रमें और किस भवमें शरीर धारण किया? अब तो वहांकी जो बात है वही अनुभव में आयेगी। आज मनुष्य हैं सो आज की नाना व्यञ्जनों जैसी भोजन की प्रवृत्ति है और फिर वही जीव मरकर बन जाय केंचुवा, तो उसका मिट्टी का भोजन है। काहे का मान रखते हो, काहेका बड़प्पन, काहे का सम्मान? कुछ भी इसमें सुख नहीं है। मरणके बाद क्या दशा होगी? इसका कुछ भी ख्याल नहीं रखते, लेकिन मान रखने के लिए सब कार्य करते हैं। तू अपना मान रख तो ऐसा रख, जो अनन्त कालके लिए तुझे सुख पहुँचायेगा। लोग प्राण देकर भी अपनेको बड़ा मनवाना चाहते हैं। जितने भी कष्ट यह मनुष्य करता है–व्यापार करना, धन जोड़ना, और-और भी इष्ट सामग्री के साधन मिलाना, यह तो सब विपत्ति हैं। तू मान आदिकके निमित्तसे ऐसा आर्तध्यान कर रहा, तू इससे सदा दुखी ही रहेगा।

तपश्चरणसे सर्व अभ्युदय–देख तपस्यामें समस्त लाभ हैं। त्याग संयम ध्यान सदाचारमें बढ़, इससे ऋद्धिसिद्धि सब कुछ उत्पन्न हो जाती है। तपस्यासे बढ़कर उत्कृष्ट और कुछ नहीं है। तू तपमें प्रमादी मत बन। प्रभुका ध्यान, सज्जनोंकी सेवा, इन दो तत्वोंमें तो कुछ कष्ट भी नहीं है। सो थोड़ी एक मनकी साधना बना ले। पापोंसे दूर होगा तो तेरा सर्वकल्याण होगा।

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्,
गुणाः परिणमति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिमचिरात्स्वयं यापिनी।
नरी न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥११४॥

तपश्चरणसे कषायविजय–तपके होनेसे यहां ही तत्काल क्रोधादिक बैरियोंको जीत लिया जाता है। तप नाम है अपने ज्ञानस्वरूपमें अपने उपयोगको तपाना अर्थात् जो उपयोग अनादि कालसे बाहरी पदार्थोंमें स्वच्छन्दतासे मौज मानता हुआ लग रहा है, उस उपयोगको बाह्यपदार्थों से हटाकर अपने आपके स्वरूपमें लगाना। इसमें एक तपनसी होती है। देर तक अपनेमें रंग नहीं पाता, बैठ नहीं पाता, कभी किसी को घबड़ाहट भी होती है तो अपने आपके स्वरूपमें अपने ज्ञानको लगाना यही वास्तविक तपश्चरण है। इस तपश्चरणमें यह प्रभाव है कि इससे क्रोधादिक बैरियोंको तत्काल जीत लिया जाता है।

गुणविकासकी सर्वप्रियता–जिस गुण को लोग अपने प्राण देकर भी प्रकट करना चाहते हैं उस अपने गुणके विकासमें उत्सुक होओ। नाना प्रकारके गुण सीखना यह गुणोंके विकासका ही तो उद्यम है। ज्ञानविकासमें केवल जानकारी भर होती है, बाह्यमें मिलता कुछ नहीं है, उसके लिए भी बड़ी उत्सुकता रहती है। जैसे बालकोंको आर्टमें या गणितमें किसी भी चीजमें कोई ज्ञान मिलता

है तो उन्हें उसमें बड़ी प्रसन्नता रहती है। उनको न तो मिठाई मिलना है और न उनको कोई आराम दिया जा रहा है, केवल एक उनमें जिज्ञासा उठी है कि यह क्या है? उस जिज्ञासाके हल कर लेनेमें उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है। जिस गुण विकासके लिए लोग जान जानकर उद्यम करते हैं वह गुणविकास इस परमार्थ तपश्चरणके प्रसादसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।

जीवोंमें ज्ञान और आनन्दकी उत्सुकता—जीवको चाहिए ज्ञान और आनन्द। मूलमें केवल ये दो ही चाह हैं और जितनी भी चाह बना ली है यशकी, नामकी, धनकी, वैभवकी ये सब आनन्दकी प्राप्तिके लिए हैं। मूलमें जीवको केवल दो ही चाह हैं। किसीको बड़ा आराम दिया जाये, आनन्द दिया जाय और जिज्ञासा हल करने का कोई साधन न मिले, ज्ञान बढ़ानेका कोई साधन न मिले तो वह पुरुष भी ऊब जाता है। उसे प्राप्त हुआ आराम भी सुहाता नहीं है। उसे चाहिए ज्ञानकी खुराक और किसीको ज्ञान ही ज्ञान मिलता रहे, उसमें भीतर शान्ति न हो, आनन्द न मिले तो वह ज्ञानसे भी थक जाता है। इस जीवके दोनों इच्छा हैं—मुझे ज्ञान मिले और आनन्द मिले, पर ज्ञानके लिए बड़ी-बड़ी मेहनत करे तो मेहनत करनेके आधार पर कितना सा ज्ञान मिलेगा? थोड़ासा पढ़ने सीखने प्रेक्टिकल काम करने आदिक उपायोंसे हम ज्ञानका संचय करलें तो हमें कितना ज्ञान मिल पायेगा? थोड़ा सा मिल पायेगा।

ज्ञानीकी निर्विकल्पताकी भावना—बाहरी बातोंका विकल्प तोड़ने के अतिरिक्त मुझे कुछ भी न चाहिए। मुझे तो परवस्तुवोंका ज्ञान भी न चाहिए, ऐसे बड़े साहससे अपने आपके आत्मामें ही इस ज्ञानको लगा दें, तपा दें तो इस तपश्चरणके प्रसादसे बिना चाहे तीन लोक, तीन कालका ज्ञान करने वाला ज्ञान प्रकट हो जाता है। जिन गुणों को लोग प्राण देकर भी चाहते हैं वे गुण इस तपश्चरणके प्रसादसे अपने आप सुगमतया प्रकट हो जाते हैं। तत्काल लाभ तो यह है और आगामी कालका लाभ यह है कि वह शीघ्र अन्तिम जो पुरुषार्थ है मोक्ष, उसकी सिद्धिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

तपश्चरणमें आनन्दका प्रवाह—यह तप आतापका विनाश करने वाला है। तपमें आताप नहीं है, तपन नहीं है, दाह नहीं है, कष्ट नहीं है, किन्तु तपश्चरणमें विशुद्ध आनन्द का प्रवाह जग उठता है। वह तपश्चरण है आन्तरिक आत्मस्वरूपमें उपयोगको लगाना और निज ज्ञायकस्वरूपका अनुभव जगना। यही है वास्तविक तपश्चरण। इसमें ये दो खूबियां हैं कि तत्काल तो गुण विकास करे, शान्ति प्रकट करे और भावी कालमें मुक्तिको प्राप्त कराये, ऐसे तपको कौन विवेकी पुरुष न करेगा? जिसे समझमें आ जाय कि करनेका काम यही है—तपश्चरण आत्मदर्शन अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र। यह करनेका काम है, इतना जिसके चित्तमें बैठ गया और इस तरह जिसका झुकाव चला रागांश रहने तक, उनके पुण्य बंध तो स्व्यमेव होता ही रहता है।

धर्मात्माके पुण्यकी प्रचुरता—जब तक यह धर्मात्मा पुरुष संसारमें रहेगा तब तक सूख सूखा न रहेगा। जितने जीव मोक्ष गये है उनमें कोई एक परसेन्ट भले ही ऐसे हों जो मुक्ति जानेसे पहिले भी अधिक महिमावान् लोकपूज्य न हुए हों, वरना ये जो जीव मुक्त हुए हैं, वे पुण्यके प्रसादसे बड़े घरके

लोग थे, राजा थे, सेठ थे, पंडित थे। उन्होंने अपनी इच्छासे इस वैभवको असार जानकर इन सांसारिक समागमोंको मायारूप जानकर त्यागा और इस चैतन्य प्रतपनरूप परम तपश्चरणका उन्होंने आदर किया। उसके प्रसादसे वे भुक्त हुए। घरका कोई आदमी विदेश जाये विलायत वगैरह, तो लोग कितना सगुन समारोहके साथ विलायत भेजते हैं। जो जीव इस संसारसे सदाके लिए विलायत चले जायें, मोक्ष चले जायें तो उन के लिए कितना समारोह, कितना पुण्य रहता होगा? रूखे-सूखे गरीबी ढंग से मुक्ति जाने वाले जीव अल्प हैं, किन्तु समारोह और पुण्यवानी पूर्वक मुक्ति जाने वाले जीव अधिक होते हैं। इसका कारण यह है कि जो पुरुष आत्मधर्मका सेवन करता है उसके परिणाम इतने निर्मल होते हैं कि पुण्य बंध तो सुगमता होता रहता है। उनका उदयकाकल आयेगा तो अनेक वैभव आये और बड़ी पुण्यसामग्री को छोड़कर वे साधु हुए। साधु अवस्थामें और और ढंगोंसे पुण्य उनके सामने आता है।

पुण्यतरुके नाना फल—पुण्यके उदयसे जो इष्ट हो वह मिलता है। अथवा कोई धर्मात्मा किसी चीजको चाहते भी नहीं हैं और उदय है। पुण्य का तो जनताकी दृष्टिमें जो बात अति उत्कृष्ट होती है वह उन्हें सहज प्राप्त हो जाती है। पहिले वे यहां योगिराज राजा थे या सेठ थे, सब राज्य वैभव या धन वैभव उनके निकट अटूट था। उस सबको त्याग दिया तो अब लोकोंके द्वारा पूज्य हो रहे हैं। यशोलक्ष्मी उनके अधिक बढ़ी। पुण्य जायेगा कहां? धनका त्याग किया तो यशकीर्ति लक्ष्मी बढ़ी। पुण्यके उदय से जो जनताको उत्कृष्ट इष्ट है अथवा स्वयंको जो इष्ट है उसकी प्राप्ति होती है। किसी पुरुषको धन इष्ट नहीं है और वह धनिक भी नहीं है, किन्तु सदाचार और सद्भावना लोकोपकार इनमें चित्त दिया है, उसे ये इष्ट हैं तो इस इष्टकी सिद्धि उनके होती है। यही उनका पुण्य उदय है। पुण्य कई प्रकारसे सामने आता है। केवल धन मिल जाये यही पुण्यका कार्य नहीं है। यश मिले, लोकमें आदर हो, उसकी बात मानी जाये, लोग उस पर विश्वास करें, ऐसी स्थिति बन जाये, यह भी तो पुण्य का ही उदय है।

तपश्चरणसे तात्कालिक व शाश्वत लाभ—ये लौकिक पुरुष जिस काममें, चाहे आगामीकालमें दोष हो, मगर तत्काल गुण हो जाये तो उसे चाहते हैं और कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि तत्काल चाहे अवगुण हो, लेकिन आगामीकालमें वह गुण बन जाये, लाभकी बात हो तो उस कार्यमें अनुरागी होकर लग जाया करते हैं। दो तरहकी बातें हैं। कोई पुरुष चाहे वर्तमानमें अवगुण हो, आगामीकालमें गुण हो उसे चाहते हैं और कोई पुरुष वर्तमानमें गुण हो आगामीकालमें चाहे अवगुण हो, उसे चाहते है, पर तपकी बात तो बड़ी विचित्र है। इस तपश्चरणके प्रसादसे तत्काल भी गुण मिलता है और भविष्यकालमें भी गुण मिलता है। ऐसे तपको कौन बुद्धिमान न धारण करेगा? इस तपश्चरणसे जो भी क्रोधादिक कषायें हैं उनका शीघ्र शमन हो जाता है, अभाव हो जाता है। भविष्य में मुक्तिका आनन्द मिलता है। हम आप सब जीव अपने आप स्वभावसे सहज ही आनन्दमय हैं। कष्टकी कोई बात नहीं है। लेकिन कल्पनाएँ उठाते हैं, मन को स्वच्छन्द बनाते हैं और अपने आप कषायवान् बनकर दुःखी होते हैं। हम आपका बैरी कषायभाव है, दूसरा कोई नहीं है ऐसी दृष्टि बनावो।

जगत्के सब जीवों पर चाहे कोई अत्यन्त प्रतिकूल हों, वे भी मेरे बैरी नहीं हैं। उदय है मेरा ऐसा और उस उदयमें इस प्रकारकी बात बन रही है, पर मेरा बैरी दुनियामें कोई नहीं है। जीवके सुख दुःख का कारण, अन्तरङ्ग कारण कर्मोंका उदय है। अपनी ही करतूत से जो उसने पूर्वमें कर्म किया उसके अनुसार सुख-दुःख मिलता है। जब उदय प्रतिकूल है तो उस दुःखमें कोई निमित्त तो बनेगा नहीं। कोई जीव किसी दूसरे जीवको दुःखी करनेके लिए नहीं यहां आया है। अपनी ही कल्पनामें दूसरेको दुःखका निमित्त मानकर दुःखी हो रहा है।

किसीके द्वारा परकी परिणति करनेका अभाव—वास्तवमें किसी जीवका कोई दूसरा जीव बैरी नहीं है। जैनशासन पाकर एक यही बात अपने चित्तमें रख लें कि मेरा बैरी दूसरा कोई जीव नहीं है। ये कैसे हो? सभी जीव अपने-अपने ज्ञान और आनन्दके इच्छुक हैं। जैसे उन्हें आनन्द मिले, वैसी ही वे अपनी चेष्टायें करते हैं। हमारे लिए कोई नहीं करता है। जो पुरुष जो काम करता है वह अपनी वेदनाको शान्त करनेके लिए करता है। दूसरेको सुखी अथवा दुःखी करनेके लिए कोई चेष्टा नहीं करता है। कदाचित् इस मनुष्यको ऐसी भी हठ हो जाये कि अमुक पुरुष को दुःखी कर डालें, बरबाद करदें नष्ट करदें—ऐसा परिणाम करके भी चेष्टा करें तो भी इनकी चेष्टा दूसरेको दुःखी करनेके लिए नहीं हो सकती। केवल एक अपने आपके विचार कलुषित बनानेके लिए और उस कलुषित फलको भोगनेके लिए चेष्टा कर रहे हैं। जब कोई दूसरा पुरुष मेरे लिए कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर मेरा बैरी कौन है? जीवका बैरी कषायभाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ—ये समस्त कषाय हम आपके बैरी हैं, अन्य कोई हमारा बैरी नहीं। इतना निर्णय अपनी मान्यतामें रहना चाहिए। दूसरे को बैरी माननेमें अपने ही धर्मका घात होता है, अपने ही आनन्दका विघात होता है। जिस कामके करनेमें हमारा खुद का नुकसान है, उसे हम करें ही क्यों? दूसरे जीवोंको अपना बैरी समझनेमें खुदका नुकसान है फिर क्यों किसीको अपना बैरी समझें?

अनेक गुणोंका अनायास लाभ—धन्य है वह गृहस्थ जो अनेक प्रसंगोंके बीचमें रहता हुआ भी ज्ञानबलसे अपने आपमें प्रसन्न रहा करता है। लोग तो भली बातको, गुणकी बातको अपने प्राण गंवाकर भी चाहा करते है। ऐसा प्रत्यय ये ज्ञानादिक गुण ऋद्धि सम्पदा, अतिशय, सर्वये चीजें जिनके लिए लोग प्राणों की बाजी देते हैं। प्राण जायें, पर कीर्ति सम्मान ज्ञान आदिक प्राप्त हो जायें। वे सब गुण जो लोग गुणप्राप्तिके लिए तपस्या करते हैं उनके अनायास स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। यह तो है तपश्चरणका तात्कालिक गुण। निर्विकारवर्तनरूप तपश्चरणसे क्लेशों की शान्ति हो जाती है। ओह! निर्विकार परिणतिमें कितना विचित्र आनन्द है? निज तो निज ही है, वह स्वतः निर्विकार है। विकार भाव हों तो वहां क्षोभ ही होगा। विकारकी क्षोभसे मित्रता है, शान्तिसे मित्रता नहीं है। किसी रूप निरखकर अन्तरंगमें कामका विकार जगे, बस समझो अब वह पराधीन होगा, ऐसी प्रतिक्षा करके अपने समयको ही बरबाद करेगा। कोई भी कषाय जग जाये, इस जीवके अनर्थके लिए है। जैसे लोग किसीसे बदला चुकानेके लिए, बैर भंजानेके लिए उसे तोड़नेका पीटनेका

या छीननेके उपद्रव किया करते हैं। किसीसे अपना बदला पूरा लेना हो, बैर भंजाना हो तो उसका डटकर विकट उपाय यह है कि उसे ऐसे साधन जुटा दें कि वह वैभवकी, लक्ष्मीकी तृष्णामें आ जाये। किसी जीवको तृष्णा लगा दे इससे बढ़कर और कोई विपदा नहीं हो सकती है।

तपश्चरणकी वर्तमानमें व भविष्यमें गुणकारिता—ये क्रोधादिक परिणाम दूर हो जाते हैं इस परमार्थभूत तपस्याके प्रसादसे। यह इस तपस्याका तात्कालिक लाभ है। यहां किस तपस्याकी बात की जा रही है? अपने आपके सहजस्वरूपको जान लेना, विश्वास करना और उस सत्य स्वरूपमें ज्ञान बना रहे, बहुत समय तक ज्ञान टिका रहे, ऐसे उद्यमका भावात्मक पुरुषार्थ करना, इसका नाम तपश्चरण कहा जा रहा है। इस तपश्चरणके होने पर क्रोधादिक कषायभाव रह नहीं सकते। यह तो इस तपस्याका तात्कालिक गुण है। अब भावी लाभ क्या है कि तपस्या जिसके लिए की जा रही है ऐसा प्रयोजनभूत जो मोक्ष तत्व है उसकी प्राप्ति उसे शीघ्र हो जायेगी। इस प्रकार यह तप इस लोकमें भी गुणकर है और इस भवके बाद भावीकालमें भी गुणकर है। ऐसे तपश्चरणमें लगनेकी भावना रक्खें।

तपश्चरणसे जीवनको सफल करनेका अनुरोध—भैया! इस दुर्लभ मनुष्य जीवनको पाकर व्यर्थके विषय साधनोंमें मत गँवावें। कौनसा विषय साधन ऐसा है जो समर्थ हो, इस आत्माको लाभ पहुंचानेके लिए? कामका विषयसाधन यह तो एक विचित्र व्यामूढ़ता है। अशुचि शरीर, दुर्गन्धित शरीर, मायामय शरीर। इसमें रूचिका परिणाम होना यह तो एक विकट हानि है। आत्माके स्वरूप का इसमें विघात हो जाता है। यह कषायभाव ही इस जीवको दुःख देने वाला है। ये कषाय हमारे ही निज ज्ञानसे शान्त होंगे, इनकी शान्तिका कोई दूसरा उपाय नहीं है। ध्यानमें लायें मुझे यह आत्महित करना है। अन्य-अन्य कामोंमें लग रहें हो, दुकान भी करना हैं, सेवा भी करना है। सब कुछ करते हुए भी मूल में लक्ष्य यह होना चाहिए कि मेरा जीवन आत्मस्वरूपको जानकर उस स्वरूपकी दृष्टि में अपनेको लगानेके लिए है, विषयोंके भोगनेके लिए यह मनुष्य-जन्म नहीं है। इतना साहस हो तो वह स्वयं अनुभव करेगा कि सर्व आनन्दका कारण तो यह तपश्चरण है। कितना सुगम काम है? अपने आपके ही भीतरमें कर लेना है कि जो बाह्यदृष्टि हो गयी है उसे अन्तर्मुख करना है। अपने उपयोगको अपने आपकी ओर लगाना है। बाह्यसे मुख मोड़कर एक भीतर ही भीतर अपना काम कर लेना है। जहां अपने आपके सहज स्वभावको निरख कर सभी इष्टतत्व प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे तपश्चरणके लिए अपना उत्साह जगाना चाहिए।

तपोवल्लयां देहः समुपचितपुण्यार्जितफलः।
शलादग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः॥
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः।
स धन्यः सन्यासाहुतभुजि समाधानचरयम्॥११५॥

तपश्चरणसे आयु और देहकी सफलता—जो तपमें प्रेम करते हैं, ऐसे भव्य जीव आयु और शरीरको किस प्रकार सफल करते हैं? इसकी प्रशंसा की जा रही है। जिसका शरीर तपरूपी बेलमें

उपजा है, जिसमें पुण्यरूपी उत्कृष्ट फल लग रहा है, इस प्रकार यह शरीर जैसे कच्चे फलके अग्रभागमें आने पर फूल झड़ पड़ें, ऐसा काल पाकर यह शरीर गल जाता है। इसमें ये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे बेलमें फूल उत्पन्न होता है और उस में कच्चा फल लग गया तो जैसे कच्चा फल लगनेके बाद फूल झड़ जाता है, ऐसे ही यह शरीर फूल की तरह है और तपरूपी बेलमें लगा हुआ है। सो पुण्यके फलको उत्पन्न करके यह शरीरफूल झड़ जाता है। यहां शरीर का उपकार भी बता रहे हैं। जैसे बेलमें फल लग गया और उसमें जब फल आनेको होता है तो फूल झड़ जाता है, ऐसे ही इस तपस्यामें तपस्या की बेलमें इस शरीरको तपमें लगानेके कारण पुण्यरूपी फल उत्पन्न हुआ और पुण्य पैदा करके यह शरीररूपी फूल झड़ जाता है।

ज्ञानीके आयुकी कार्यकारिता–आयुका क्या हाल है? समाधिरूप अवस्थाके होने पर संन्यासरूपी अग्निमें यह आयु जलकर समाप्त हो जाती है। जैसे दूध और पानी मिले हुए हों, उसे आग पर रख दिया जाये तो गरमीके मारे यह पानी खुद तो सूख जाता है और दूधको बनाये रहता है। ऐसे ही संन्यासकी अग्निमें यह धर्मकी तो रक्षा कर देता है और आयु जल की तरह सूख जाती है। एक अलंकारमें यह दृष्टान्त कहा है। जैसे दूध गर्म किया जाता है तो वहां अग्निसे तपकर पानी तो सूख जाता है और दूध बना रहता है। ऐसे ही मरणके समयमें जो त्याग किया जाता है, सल्लेखना धारण की जाती है, उस अग्निसे तपकर यह आयु तो सूख जाती है और धर्मकी रक्षा बनी रहती है। प्रयोजन यह है कि तपस्यासे इस जीवको लाभ ही लाभ है।

विकाररूप बैरीसे छुटकारेका यत्न–इस जीवका बैरी विकारभाव है। ये विकार इस मोही जीवको बड़े सुहावने लगते हैं, पर इन विकारोंके कारण जीवकी कितनी दुर्दशा होती है? पेड़ पौधोंमें, कीड़े मकौड़ोंमें जन्म मरण करना होता है। इन विकारोंकी रूचि होना, सो मिथ्यातत्व हैं और विकारोंकी रूचि न होकर एक शुद्ध ज्ञानस्वभावकी रूचि होना, सो सम्यक्त्व है। इस जीवको विकारोंमें बसनेसे फायदा कुछ नहीं मिलता। वह गृहस्थ धन्य है जो घर गृहस्थीमें रहकर भी धर्मको नहीं भूलता। यहां के समस्त समागम अहितरूप हैं, भिन्न हैं, इनसे मेरा कुछ पूरा न पड़ेगा, कुछ समय को ही इस मनुष्यभवमें आये हैं। यह सब बराबर ध्यान रहे। सभी कार्य करने पड़ रहे हैं, करें, पर ज्ञान वैराग्य बना रहे तो उस व्यक्तिका जीवन सफल है। एक यह धुन बन जाये कि मुझे तो केवल एक ज्ञानस्वरूप में अपनी दृष्टि लगाना है, धर्मके लिए एक यही काम पड़ा हुआ है–ऐसी जिसके अपने ज्ञानस्वभावकी आराधनामें धुनि बन जाये, वह ज्ञानी पुरुष अमर है, सर्ववैभवसम्पन्न है।

आनन्दका स्रोत–भैया! सुख कहांसे आता है? ज्ञान जैसे बने तैसे सुख दुःख अथवा आनन्द प्रकट होता है। यह सब अपने ज्ञानके आधीन है। कोई इष्टवियोगरूप अपनी जानकारी बनाए, अनिष्ट संयोग में अपना उपयोग लगाये तो उसका दुःखी होना प्राकृतिक है। कोई पुरुष अन्य इष्टवियोग अनिष्टसंयोग पर ध्यान न देकर पाये हुए समागमोंमें मोज मानें तो वह सुखी होगा। सुखी दुःखी होना अपने ज्ञानके आधीन है, धन वैभवके आधीन नहीं है। कोई पुरुष धन वैभवसे सम्पन्न

होकर भी एक अपना ज्ञान कषाययुक्त बनाये, भ्रमपूर्ण बनाये, तृष्णावान् बनाये तो धनी होकर भी वह दुःखी है। धनको तो बड़े बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती, राजा, महाराजा त्याग देते हैं। धनके त्याग करनेके बाद, निर्धन अवस्था स्वीकार करने के बाद क्या उन्हें कोई कष्ट होता है? वे तो अपने ज्ञानकी उपासनाके आनन्दमें सदा मग्न रहा करते हैं और इस ज्ञानकी आराधनाके प्रतापसे उनको मोक्ष प्राप्त होता है।

आत्मसावधानीका अनुरोध–भैया! हम आप सबको ज्ञानमें, तपस्या में, संयममें, व्रतपालनमें उत्सुकता होनी चाहिए। मोह, रागद्वेष ये सब अनर्थ करने वाले हैं, ऐसी दृढ़ दृष्टि होनी चाहिए अन्यथा यह आयु तो समाप्त ही हो जायेगी। जो कुछ रागद्वेष, मोहका साधन बनाया है उसका फल अवश्य भोगना होगा। अपने ज्ञानको सदा जागरूक बनाये रहें तो यह दुर्लभ मनुष्य जीवन पा लेना सफल है। सब कुछ करें, अपने विषयसाधन बनाएँ, अपने ज्ञानकी रक्षा न कर सकें, अपने आपके स्वभावकी आराधना न कर सकें तो यह मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ है। इसका सदुपयोग करलें। रहेगा तो यह है नहीं, और यह सब भवोंसे उत्कृष्ट भव है। ऐसे उत्कृष्ट समागमोंको पाकर हम अपना विवेक बनायें, धर्मसाधना करें, अपनेको उन्नति पथ पर ले जायें तो भली बात है, अन्यथा आंखें मिच जायेंगी, मरण हो जायेगा। फिर न जाने कहांके कहां पहुंच जायेंगे? इससे अपनी सावधानी बनायें।

उत्कर्षकी ओर–ये दुनियाके जितने मनुष्य दीखते हैं प्रायः करके मोहमें, विषयोंमें, रागद्वेषमें जुटे हुए हैं। उनकी क्रिया देखकर, उनकी चेष्टा निरखकर हमें अपने को पतनकी ओर नहीं ले जाना है। यह तो संसार है। अनन्त जीव कुमार्ग पर लगे हुए हैं। यहां बिरले ही मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं, अपने ज्ञानकी संभाल करते है, आत्मदयामें लगते हैं, ऐसे बिरले ही मिलेंगे। हमें अपने आपको पतनकी ओर नहीं ले जाना है। अपने उच्चविचार बनावें, उच्चभावनाएँ बनावें मुझे तो धर्ममें लगना है, ऐसी वाञ्छा बनायें। इस तपस्याके फलसे एक बड़ा उत्कृष्ट पुण्य फल मिलेगा। शरीर तो फूल की तरह झड़ जायेगा। मगर उस फूलमें फल लगनेके बाद फूल तो बड़े होंगे। इसी तरह इस तपस्याकी बेलसे यह देहका फूल तो झड़ जायेगा, मगर पुण्यका फल एक बड़ा मिलेगा। ऐसे ही त्याग, सन्यास, संयम, व्रतपालनकी अग्निमें तपकर यह आयु तो जलकी भांति सूख जायेगी, किन्तु यह धर्म दूध की भांति बना रहेगा।

विनश्वरसे अविनाशी तत्वके लाभका यत्न–ये आयु और शरीर दोनों विनाशीक है। विनाशीक चीज व्यय करके अगर अविनाशी चीज प्राप्त होती है तो इससे बड़ा लाभकारी व्यवसाय और क्या हो सकता है? चेतने की बात है। ये आयु और शरीर तो नष्ट होंगे ही। यदि इन्हें विषयोंके प्रेममें ही बिता दिया तो जन्म-मरण की परम्परा बराबर बनी रहेगी, जैसी कि अब तक चली आयी है। इस कारण हमें अपने ज्ञानकी सावधानी बनाने पर विशेष ध्यान देना है। हमें अपना जीवन धर्ममय रखना है। परिस्थिति में चाहे धनिककी स्थिति रहे, चाहे गरीबीकी स्थिति रहे, पर धर्मात्मा पुरुष किसी भी स्थितिमें धर्मको नहीं छोड़ सकता। ज्ञानी पुरुषको इन सांसारिक सुखोंका

प्रलोभन नहीं लगा है। उसे तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मतत्वके निरखनेकी धुन लगी हुई है। अपनेको काम वास्तवमें एक यही पड़ा हुआ है कि परद्रव्योंका उपयोग छोड़कर, संकल्प विकल्प छोड़कर ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निरखते रहें। केवल यही सारभूत काम पड़ा है। बाकी समस्त काम तो इस जीवके लिए विपत्ति रूप है। इतनी बात लक्ष्यमें तो होना चाहिए। करना कुछ पड़ रहा हो। अपनी गलती, गलतीके रूपसे विदित नहीं हो तो वह अवगुण फिर कैसे समाप्त हो सकता है?

वैराग्यकी पराकाष्ठा व ज्ञानका प्रतिरोध—इस ज्ञानी जीवको ऐसा उत्कृष्ट वैराग्य जगा है कि इस अपवित्र और दुःखदायी शरीरके संग वह क्षणमात्रको भी रहना नहीं चाहता। फिर भी इस दुष्ट शरीरके साथ फंसे हुए हैं तो इससे यों ही आसानीसे काम निकाला जा सकता है कि इस दुष्ट शरीरका कुछ काल मैं पालन करता रहूँ और इससे विरक्त रहूँ। इससे भिन्न अपने ज्ञानस्वरूपकी भावना बनाई जाती रहे तो निकट कालान्तरमें इस शरीरसे छुटकारा पाया जा सकता है। सच जानों हम आपके साथ जो यह शरीर लगा है यह विपदा है, कष्ट देने वाला है, हमारा बैरी है। इस शरीरको देखकर क्या खुश होना? इस शरीरमें कौन सा ऐसा तत्व पड़ा है जो खुश होने लायक है? समस्त अपवित्र चीजोंसे भरा हुआ है। खून, मांस, मज्जा, हड्डी, चर्बी आदि सभी अपवित्र चीजें इसमें भरी हुई हैं। इसमें कोई भी चीज सारभूत नहीं है। कदाचित् हाथीके दांत और गज मोती अथवा सीप शंखमुक्ता आदि कुछ चीजें लोगोंके कामकी भी हो सकती हैं, पर हम आप मनुष्योंके शरीर में तो कामकी चीज जरासी भी नहीं है। रोम, चाम, हड्डी, पीप, खून आदि ये किस काम आते हैं? यह शरीर प्रेम करनेके लायक नहीं है। आरामसे रहें, संयमसे रहें, खानेमें कमी न आये, मौजमें कमी न आये। अरे इसमें क्या रक्खा है? इस शरीरको दूसरोंके उपकारमें लगावो। इसे कष्ट न दो, ये बात थोथी है। इस शरीर को दूसरोंके उपकार में लगावो, परोपकारमें लगावों, तपस्या और संयममें लगावो उतना ही लाभ है। शरीर जो कि विनाशीक है, अपवित्र है, इससे यदि पवित्र और अविनाशी कोई कामकी चीज प्राप्त होती है तो ऐसे काममें प्रमाद मत करो। ये विरक्त पुरुष किस प्रकार से शरीर के साथ रहकर तपस्या करते हैं? इस बातको अगले छंदमें कह रहे हैं—

अभी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत्।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम्॥११६॥

ज्ञानी संतों का विवेक—जिन जीवोंके उत्कृष्ट वैराग्य पाया जाता है ऐसे जीव शरीरका पालन करके भी बहुत काल तक तपस्या करते हैं। यह सब ज्ञानका प्रभुत्व जानों। देखो लोकमें जो पुरुष जिस बातसे उदास रहते हैं उस बातका पालन नहीं कर सकते, परन्तु यह ज्ञानी जीव कितना सयाना है कि यह शरीरसे विरक्त रहता है, फिर भी अपना काम बनवानेके लायक इस शरीरका पालन करता है। जैसे अपना प्रयोजन सधे वैसे इसको पालता हैं। कहीं शरीरके अनुरागसे शरीरका अधिक पोषण नहीं करता। बड़े-बड़े मुनिराज शरीरसे उदास हो गए हैं, शरीरसे अत्यन्त विरक्त हो गए हैं, परन्तु उन मुनिराजके ऐसा ज्ञान रहता है। वे जानते हैं कि यह मनुष्य शरीर जब तक रहेगा तब

तक हम तपस्या करते रहेंगे। इस शरीरको तपस्या में जुटानेके लिए वे महामुनिराज इस शरीरके साथ एक सेकेण्डको भी रहना पसंद नहीं करते हैं। अरे कैसा यह अनन्तगुणसम्पन्न भगवान अरहंत जैसी सामर्थ्य वाला प्रभु और कैसा हाड-मांसके शरीर में फंसा हुआ है यह, तो विकट एक अनहोनी खोटी बात हो रही है। इस शरीरको देखकर मोही जीव खुश होता है। यह शरीर खुश होने लायक नहीं है। इससे तो विरक्त ही रहने में लाभ है।

साधुवंशको आहार प्रवृत्तिका कारण–ये महामुनिराज इस शरीरको आहार आदिक देकर इस शरीरके लिए अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए रख रहे हैं। इस शरीरके प्रेमसे आहार नहीं देते। ये ज्ञानी संत पुरुष एक धर्म और तपस्याकी सिद्धिके लिए इस शरीरको आहार देते हैं। कितना उनका सुन्दर लक्ष्य है? उन्हें खानेसे प्रेम है ही नहीं। वे तो अपने धर्म और तपस्याकी सिद्धिके लिए आहार देते हैं। ऐसे ये ज्ञानी मुनिराज शरीरको रखकर बहुत समय पर्यन्त तपस्या करते हैं। यह ज्ञानका ही माहात्म्य है। भैया! वैराग्य तो हो ऊँचा और ज्ञान साथ दे नहीं, तो वह अपने शरीरकी हत्या कर डालेगा। यह शरीर दुष्ट है, मुझे बरबाद करने वाला है ऐसा जानकर शरीरका विछोह कर दे, लेकिन यह ज्ञानी इस शरीरका यों विछोह नहीं कर देता।

ज्ञानियों की वृत्ति–ये ज्ञानी पुरुष इसे समझाते हैं कि भाई! इस मनुष्यभवको तपस्यामें लगावों। ज्ञान न हो तो बड़े उग्रपरिणमोके कारण यह शरीर का नाश कर देता तो होता क्या? मान लो कुछ पुण्यके कारण देवपर्याय पाता तो उस देवपर्यायमें संयमकी सिद्धि नहीं है तो असंयमी रहकर अपना जीवन पापों में व्यसनों में व्यतीत करता, पर ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं करते हैं। इस शरीर को रखनेसे तपस्या करते बन सके तो निकट कालमें ही निर्वाण प्राप्त हो जायेगा। इस कारण ज्ञानी पुरुष इस शरीरकी रक्षाके हेतु आहार देते हैं, पर शरीरके प्रेमसे नहीं। अहो! ज्ञानी पुरुषोंको अपने आत्मस्वभावके पालनेकी कितनी उत्कृष्ट धुनि लगी है? वे संसारमें अन्य कुछ नहीं चाहते। मेरे उपयोगमें मेरा ज्ञानस्वभाव निरन्तर बना रहे सिवाय इसके उनके और कोई चाह नहीं है। ऐसे ये ज्ञानी पुरुष अपने अंतस्तत्व की आराधना करते हैं।

जणार्द्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः।
यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः॥११७॥

साधुवोंका वैराग्य और विवेक–समस्त क्लेशोंका कारण यह शरीर है। साधुसंतजन इस बातसे बहुत परिचित हैं कि जितने भी क्लेश हैं, शारीरिक मानसिक अपमान आदिकके, ये सब क्लेश इस शरीरके कारण हैं। इस शरीरसे मुक्ति मिले तो क्लेशोंसे छुटकारा मिलेगा। केवल ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव किया जाय तो यह शरीर छूटेगा, सदाके लिए इससे मुक्ति मिल जायेगी और इसे परम आनन्द प्राप्त होगा। ऐसा जानकर साधुजन यही चाहते हैं कि यह शरीर जल्दी से जल्दी दूर होना चाहिए। और इस शरीरसे मुक्ति पानेके लिए वे कठिनसे कठिन तपस्याएँ भी करते हैं। साधु संतोंकी ऐसी कठिन तपस्या हो सकती है कि जिससे यह शरीर शीघ्र दूर हो

जाये। किन्तु एक यह विवेककी बात है। उन साधुवोंको मानो पहुंचा पकड़कर यह ज्ञान समझाता है कि तू इस शरीरको इतनी जल्दी बरबाद मत कर दे। यदि तू अचानक बीचमें ही मरण कर जायेगा तो मर कर देव बनेगा। तू इस शरीरको बड़ी कठिन तपस्या करके बीचमें ही मत सुखा दे, बीचमें ही अपनी मृत्यु न प्राप्त करले। इस शरीरको पाल पोष विरक्ति बुद्धिसे क्योंकि इस देहसे तपश्चरणके सहयोगका काम लेना है। यदि ज्ञान मानो हाथका पहुँचा पकड़कर रोकने वाला न होता तो ये मुनि आधा क्षणमात्र भी शरीरके साथ रहना पसंद न करते।

दृष्टान्तपूर्वक दुष्टसंगके त्यागकी पद्धतिका प्रकाशन—जैसे किसी पुरुषकी किसीसे मित्रता चली आयी हो और पीछे उसका दुष्टपना ज्ञानमें आ जाय, यह मित्र कपटी है, दुष्ट है, ऐसा ज्ञानमें आ जाय तो वह चाहता है कि मैं इससे लड़कर तत्काल संग छोड़ दूं। किन्तु कोई तीसरा पुरुष जो सयाना है, वह मानों उस पुरुषका हाथको पहुंचा पकड़कर समझाता है कि तू इस कुमित्रको बरबाद करनेकी जल्दी मत कर क्योंकि अचानक ही तू इस प्रकार लड़ बैठेगा तो यह आगामी काल में दुःख देने वाला बनेगा, सो कुछ दिन इसको संगमें रखकर फिर धीरे-धीरे जैसे इसका विनाश हो वैसा कार्य करना। इस ही प्रकार इस आत्माका इस शरीरसे प्रेम था और यह प्रेम अनादिकालसे चला आ रहा था। आज ज्ञानमें आया कि हमारे समस्त क्लेशोंका कारण यह शरीर है जो शरीर मिलता है। शरीरमें ममत्व बुद्धि करके यह जीव शरीरका मोह और अनुराग बढ़ाया करता है। जान लिया कि शरीर दुष्ट है, क्लेशोंका कारण है तो कोई साधु विरक्त ज्ञानी पुरुष बहुत उतावली करता है कि मैं इस शरीर को नष्ट कर दूं। सो वह शरीरके नाशका यत्न करता है। लेकिन ज्ञान इसे समझता है कि तू इस तरहका अविवेक मत कर। शरीरको तू यों ही जबरदस्ती असमयमें मत छोड़, क्योंकि इस प्रकार शरीरको छोड़नेसे अर्थात् मरण कर जाने से चूँकि कुछ शुभकार्य तूने किया है, पुण्यकर्म का बंध हुआ है, सो उसके उदयमें तुझे देवगति मिलेगी। देव बन गया तो तू वहां असंयममें रहेगा, क्या लाभ मिलेगा? तू उतावली मत कर। तू इस शरीरको धीरे-धीरे इसकी रक्षा करते हुए इसको निर्बल कर, इससे तू अपनी ममता हटा, अपनी ज्ञानभावनाको पुष्ट कर तो इस ज्ञानभावनाके प्रसादसे तुझे वह बल मिलेगा कि यह शरीर विधिपूर्वक सदाके लिए छूट सकेगा और लाभमें रहेगा। इस प्रकार यह ज्ञान इन साधु संत-जनोंको सम्बोधन करता है और शरीरमें रखे रहता है।

आहारका प्रयोजन—उक्त कथनका अर्थ यह लेना कि साधु लोग जो आहार ग्रहण करते हैं। वह आसक्ति, अनुराग, प्रेमके वश होकर नहीं करते, किन्तु वैराग्य तो उनमें इतना है कि वे चाहते हैं कि शरीर को अभी त्याग दें, क्योंकि उन्हें अपने निज ज्ञानस्वरूपसे ही अनुराग है, लेकिन ज्ञान समझाता है, ज्ञान आहार करवाता है, साधु आहार नहीं करते। इस शरीरको रख, इससे संयमकी रक्षा कर, अपने आध्यात्मिक तपश्चरणमें इसे लगा। इस प्रकार ज्ञान इस शरीरकी रक्षा करवाता है। ज्ञान रोनकहार न हो तो कौन मुनि इस शरीरको साथ रक्खे? जानकर भी प्रयोजनवश इस शरीरको साथ रखना पड़ रहा है। ये साधु संत जन जानते हैं कि यह शरीर क्लेशका कारण है, इसका सहवास बुरा है। यह अमूर्त

ज्ञानादिक गुणमय भगवान् आत्मा एक इस शरीरके सम्बन्धके कारण बन्धनबद्ध बना हुआ जगत्में डोल रहा है, जन्म मरण कर रहा है। इस शरीरसे इस जीवको क्लेश ही क्लेश हैं। वे चाहते हैं कि इस शरीरको छोड़ दें, पर ज्ञान उस शरीरको आहार करवाता है, कुछ काल तक उसको साथ रखता है। जितने काल तक यह शरीर साथ रह रहा है, उतने काल तक ये साधु अध्यात्मसिद्धि करते हैं।

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्।
तपस्यन्निर्मणिः क्षुधित इव दीनः परगृहान्॥
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोपि सुचिरम्।
न षोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः॥११८॥

आदिदेव—आज यह पंचमकाल चल रहा है, इसे कलियुग बोलते हैं। कलि मायने अशुभ अथवा पाप उसका युग कलियुग। जनताकी जिस ओर सहज प्रवृत्ति जगे, ऐसे युगका नाम है कलियुग। कुछ लोग आजके युग को मानते हैं कलयुग, मायने मशीनों का युग। इस कलियुगके पहिले चतुर्थकाल था। चतुर्थकाल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। उस चतुर्थकालके आदिमें अथवा उसके कुछ ही महीने पहिले आदिनाथ भगवान्का जन्म हुआ था। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे। उनकी महिमाका कौन वर्णन करे? आज ईश्वर सृष्टिकर्ता है, ऐसी मान्यताके बहुत लोग हैं। इस मान्यताके आधार भी श्री ऋषभदेव हैं, क्योंकि भोगभूमि के अन्तमें जब कि सभी लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे, भोगभूमिमें धर्मका भी प्रसार नहीं था और आजीविका का भी कोई साधन नहीं किया जाता था, क्योंकि कल्पवृक्षके कारण जो चीजें मिलना बन्द हो गया, और धर्मका तो प्रचार था ही नहीं। ऐसी परिस्थितिमें जब कि लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे, उस समय आदिनाथ भगवान् में असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा—इन षट्कर्मों का उपदेश देकर और देवपूजा, गुरूपास्ति आदि इन सब श्रावकोंके षट्कर्तव्योंका उपदेश दिया था, धर्म की रक्षा की थी, जनता की भलाई की थी। उस समय ऐसा ही मालूम होता था, जैसे मानों नवीन सृष्टिकी जा रही हो। जहां सब लोग भूखे प्यासे रह रहे हों, क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए, यह कुछ भी विदित न हो, उस समय इन सब विधियोंका उपदेश दिया तो समझ लो कि सभी लोग एक सृष्टिकर्ताके रूपमें समझेंगे। यों सृष्टिकर्ता के रूपमें लोग इस ईश्वरको मानते हैं वे मूलमें ये ही ऋषभदेव थे।

कैलाशपति आदिदेव—कैलाशपति के रूपमें जो बात धीरे-धीरे चल कर अन्य किसी रूपमें प्रसिद्ध हो गयी। वे कैलाशपति थे, मूल में आदिनाथ ऋषभदेव भगवान्। क्योंकि गृहस्थावस्थामें त्यागके बाद इनका जो समय बीता, अधिकतर कैलाशपर्वत पर बीता और कैलाशपर्वतसे ही निर्वाण पधारे। जिन ऋषभदेव की आज्ञा बड़े-बड़े राजा महाराजा महामंडलेश्वर मानते थे, उन्होंने समझ लिया और अनुभव कर लिया कि इस लोकमें सारभूत पदार्थ मेरे लिए कुछ नहीं है। ये बाहरी समस्त परपदार्थ अपना-अपना स्वरूप लिए हुए अपने-अपने परिणमनसे परिणमते जाते हैं, इन बाह्यपदार्थोंसे मेरा रंच भी सम्बन्ध नहीं है, न मेरा इनसे हित है, न सुख है, न इन पर मेरा अधिकार है। यह

समस्त बाह्यपदार्थोंका व्यामोह ही इस जीवको संसार रुलाता है, जन्म-मरणकी परम्परा बढ़ाता है, ऐसा जान कर इन्होंने समस्त साम्राज्यका परित्याग कर दिया था।

आदिदेवकी धर्मसाधनाके प्रसंगमें कष्टसहिष्णुता—आदिनाथ भगवान्‌के गृहस्थावस्थामें जो ऐश्वर्य था, साम्राज्य था, उसका कौन वर्णन कर सकता है? उस समस्त साम्राज्यको जीर्ण तृणकी नाईं असार समझकर परित्याग किया और ६ माह तक तो तपश्चरण करने की प्रतिज्ञा ली थी। निष्कम्प एक ही स्थानपर उन्होंने ६ माह तक मौनपूर्वक अनशन व्रत धारण करके तपस्या की। जब ६ महीने पूरे हो गए तब आहार करने के लिए रोज रोज जायें। कविकी कल्पनामें मानो वह भूखे आदिनाथ प्रभु कुछ आशा रखकर दूसरोंके घरके दरवाजे पर डोलते रहे। मगर ६ माह तक आहारका लाभ न हुआ। तो देखो ६ माह तक तो अनशन व्रत किए हुए हो गए थे और उसके बाद ६ माह तक आहार और नहीं मिला। इतने काल तक इतनी कठिन तपस्या की। ये सब दुःख उन्होंने क्यों भोगा? जहां चाहे खा लेते, उन्हें आहार कराने वाले बहुतसे लोग थे। क्यों इतने कठिन क्लेश उन्होंने सहे? उन कष्टोंके सहनेका कारण केवल एक यही था कि उनकी यह भावना थी कि इस शरीरसे, कर्मोंसे, इन समागमोंसे छूटकर मैं सदाके लिए छुटकारा पा जाऊँ। इस प्रकार मुक्तिकी परम अभिलाषामें मोक्षमार्गके कार्य के लिए इतने कठिन क्लेश उन्होंने सहे। ठीक है, जिसको जो कार्य रूच गया है उस कार्यके वास्ते वह क्यासे क्या उपसर्ग, उपद्रव, संकट सह नहीं सकता? भगवान् तो बड़े राज्यको तृणकी तरह जानकर उसको त्यागकर भोजनके अर्थ बहुत काल तक भोजन को पर-घर गये और पाया भी नहीं। सो देखो अपने आत्माकी निधिके विशुद्ध कार्यके प्रयोजन से इतने इतने बड़ेपरिसह सह लिए जाते हैं तो कोई दूसरा पुरुष यदि कुछ उपसर्ग करे तो क्या वह परिसह न सहना चाहिए?

आशयविशुद्धिकी आवश्यकता—मनुष्यको अपना आशय बहुत पवित्र रखना चाहिए। उन्हें बाहरी संभालकी अधिक चिन्ता न करनी चाहिए। उनमें अधिक न घुसना चाहिए। अपनी भीतरी संभाल बराबर बनाये रहें, चाहे दूसरे लोग कुछ भी प्रतिक्रिया करें। खुदका यदि विशुद्ध आशय है तो दूसरोंकी चेष्टासे, अपमानसे अथवा अन्य व्यवहारसे अपनेको अशान्ति नहीं हो सकती। खुद ही अगर न्यायमार्गसे चलित हो जायें तो स्वयंके ही अपराधके कारण हम स्वयं दुःखी होंगे। इससे प्रत्येक परिस्थितिमें अपना आशय विशुद्ध रखना चाहिए। आशयकी विशुद्धिके लिए मुख्यतया ६ बातों पर दृष्टि रखना है। हम मोह, काम, क्रोध, मान, माया लोभके वश न हो जायें।

मोहत्यागका प्रथम कर्तव्य—हमारा प्रथम कर्तव्य है कि किसी परवस्तुमें हमें व्यामोह न उत्पन्न हो। यह घर है सो भी मेरा है, परिजन है सो भी मेरे हैं यह मेरा वैभव है, इससे ही मेरा बड़प्पन है। मैं इतना वैभववान् हूँ, इतने परिजन वाला हूँ, मैं ऐसी इज्जत पोजीशन का हूँ, यों किसी भी प्रकारका लगाव रहा तो यह मोह इस जीवको जन्म जन्मान्तरमें दुःखी कर डालेगा। मोह न रहे, इसका सही उपाय जैनदर्शनमें बताया है। यद्यपि और लोग इस तरह विचार कर अपना मोह दूर किया करते हैं कि जगत्‌में जो कुछ भी ऐश्वर्य है, वैभव सम्पदा है यह सब सब ईश्वरका है। तू

इसमें राग मत कर, ईश्वर की चीज है, इसको तू अपना मत मान। इस तरह मोहको दूर करनेका उपाय बताते हैं। हम अपना लगाव मिटानेकी कोशिश करें और स्वयंको ईश्वरमें लगा दें। दूसरी बात यह है कि सबसे स्वरूपका यथार्थ प्रकाश बना रहे तो मोह न रहे। इस प्रकाशका ध्यानमें न आये। यह कैसे ईश्वरका है, कैसे इसे किया, कैसे उसकी चीज विश्वास नहीं हो सकता, सो यह मेरा है, यों मानकर वे मोहमें ही मस्त रहते बताया है। ये प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे तन्मय हैं। यह मैं भी अपने स्वरूपमें तन्मय हूँ। अणु-अणु सब अपने-अपने स्वरूप में तन्मय हैं। यह बात जब ज्ञात कर ली गयी तो वहां मोह ठहर नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र है, उसका सत्वमात्र उसमें ही है। तब मेरा साथी कोई अन्य हो ही नहीं सकता। यहां मोह टूट जाता है। मोहका दूर करना सबको आवश्यक है। गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, प्रत्येक होनहार जीवको निर्मोह होना ही चाहिए।

कामपरिहारका आवश्यक कर्तव्य–दूसरी बात है कामासक्ति न हो, कामवासनासे दुर्वासित न हो। ज्ञानी पुरुष यों समझता है-आत्मा स्वरूपसे स्वभावतः निर्विकार है, इसका तो मात्र ज्ञाता स्वरूप है, इसका कार्य समस्त पदार्थोंको जानते रहना मात्र है, इसमें विकार कहां? ज्ञानी पुरुष तो इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि इस ज्ञानस्वरूप पदार्थमें ये कामादिक भावोंकी तरंग कैसे आ जाती है? यह ज्ञानी अपनेको निर्विकार निष्काम निरखकर इन कामोंसे विरक्त रहता है। निष्काम रहना चाहिए अपने ज्ञानस्वभावकी साधनामें उपयोग लगाये रहें, यही निष्काम होनेका अमोध उपाय है। कल्याणार्थी पुरुषको इस कामबाधासे दूर रहना चाहिए।

क्रोधविजयका कर्तव्य–तीसरा कर्तव्य क्रोध पर विजय करनेका है। क्रोध तब विशेष उत्पन्न होता है जब शरीरमें आत्मबुद्धि रहती है। किसी पुरुषने कोई अपमान भरी बात कही तो अपमान तब महसूस कर पाते हैं जब इस विनश्वर शरीर को 'यह मैं हूँ' ऐसा माना करते हैं यदि हम अपनेको सबसे निराला ज्ञानमात्र अनुभव किया करें तो वहां क्रोध करनेकी कहां गुंजाइश है?

मानपरिहारका कर्तव्य चौथा कर्तव्य है इस जीवका घमंड न करनेका। मैं इन जीवोंमें श्रेष्ठ कहलाऊँ, मुझे लोग बड़ा मानें अथवा मैं बहुतसे मनुष्योंसे बड़ा हूँ, इस प्रकार चित्तमें बड़प्पन की भावना रखना इन सांसारिक समागमोंको करना यही तो मानकषाय है। इन मान कषाय को मेटें तभी हम अपनी शान्ति पानेके हकदार हो सकते हैं। कैसा व्यर्थका घमंड? जैसा मैं जीव हूँ, उससे भी भले जीव अनेक हैं। मुझसे भी बहुत बड़े जीव भावोंसे भी बड़े, पुण्यमें भी बड़े अनेक जीव हैं। किस बातका यहां मद होना? अपनेको निर्मान, विनम्र, अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर झुका हुआ बनायें।

मायाचार परित्यागका कर्तव्य–कल्याणके लिए यह भी आवश्यक है कि चित्तमें मायाचार और कपटका परिणाम भी न रक्खें। अरे जो-जो चीजें हैं वे मुझसे त्रिकाल तक छूट नहीं सकतीं। जो बात मुझमें नहीं है वह त्रिकाल मुझमें आ नहीं सकती। यह मैं आत्मा अपने गुणोंमें तन्मय हूँ। जो मुझमें हैवह मुझमें ही है। जो बात मुझमें नहीं है वह त्रिकाल मुझ में आ नहीं सकती। यह मैं

आत्मा अपने गुणोंमें तन्यमय हूँ। यहां किस वस्तुकी प्राप्तिके लिए मायाचार किया जाता है? इस लोकमें मेरे आत्म तत्वको छोड़कर मेरे लिए सार शरण अन्य कुछ भी नहीं है। फिर किसके लिए मैं मायाचार करूँ? माया कषायका परित्याग होना चाहिए।

लोभपरिहारकी आवश्यकता–अन्तिम बात है लोभत्याग की। तृष्णा परिणाम अपने आपके आत्मामें अपने आपकी कल्पनासे उत्पन्न होता है और अपना विस्तार बढ़ाता है। उस वस्तुमें यह जीव बैचेन बना रहता है। तृष्णा तीव्र तृषासे भी भयंकर बाधा देने वाली चीज है। इस तृष्णा पर विजय प्राप्त करो।

कष्टसहिष्णुता व धर्मसाधनाका कर्तव्य–हे भव्य जीव! तू कष्टोंको खुशी-खुशी प्रसन्न होकर भोग, किन्तु स्वभावोपलब्धिका कार्य अवश्य कर। इससे ही तेरेको कल्याण प्राप्त होगा। जो जिस कार्यका अर्थी है उसे थोड़ा बहुत कष्ट भी सहना पड़े तो उस कष्टको सहकर भी अपने कार्यकी सिद्धि वह अवश्य कर लेता है। उसीके उदाहरणमें यह कहा जा रहा है कि ऋषभदेव जैसे महापुरुष राज्यका त्याग कर भोजनके लिए ६ माह तक घर-घर फिरते रहे। जब महापुरुषोंने एक अपने धर्मकार्यकी सिद्धिके लिए ऐसा कार्य किया है तो हम आपको सत्कार्योंमें क्यों लज्जा आती है? कष्टकी बात तो दूर जाने दो। कई लड़के तो यों कहते हैं कि मुझे मंदिर जानेमें कोई कष्ट आ पड़े तो उस कष्टका सहना भी उचित है। ऋषभदेव जैसे महापुरुषोंने अपने कार्यकी सिद्धिके लिए कितने कितने कष्ट सहे? फिर हम आपको अपने इष्टकार्यकी सिद्धिके लिए क्यों लज्जा आती है? अपने इष्टकार्यकी सिद्धि अनेक कष्ट सहकर भी करें, यही अपने कल्याणके लिए उचित कार्य है।

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव।
स्वयं सृष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः॥
क्षुधित्वा षष्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती–
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः॥११९॥

सुखसाधन संचयका अनुत्तरदायित्व–इस छन्दमें कष्टोंके सहन करनेका परिणाम बनने को कहा गया है। इस जगत्में कोई यह चाहे कि हम अपने कोई साधन ऐसे बना लें कि कभी दुःख न हो और सुख सामग्री ही रहे, तो उसका यह सोचना गलत है। यहां कोई साधन ऐसा नहीं बन सकता कि जिससे यह जीव दुःख न पाए, सुखी ही रहे। जैसे कोई सोचे कि हम इतनी जायदाद न बना लें, फिर आरामसे जिन्दगी कटेगी, कोई क्लेश होगा तो यह भी कोई गारन्टीकी चीज नहीं है। धन हो जाने पर और है तो कहना पड़ता होगा, ऐसा कहा हो तो उसके फलमें ६ महीने तक भी अधिक क्लेश होगा। वास्तवमें क्लेश नाम तो मनकी कल्पनाका है। जब अज्ञान और मोह समाया हुआ है तो कुछ भी स्थिति हो जाये, कल्पना करेगा और दुःखी होगा। इस लोकमें कोई बाहरी साधन मिलाकर उससे अपनेको संतुष्ट माने तो वह उसका व्यामोहमात्र है। हम साधन ऐसे बना लें तो फिर दुःख न मिलेगा, ऐसा सोचनेके बजाय ऐसा सोचो कि हम कष्टसहिष्णु बनें। कष्ट सह लेनेकी हिम्मत हो तो फिर दुःख न रहेगा।

ज्ञानीके निर्धनता और मरणसे अक्षोभ–भैया! दो ही तो प्रधान माने गए कष्ट हैं। एक तो निर्धनता आना और दूसरा मरण आना। ज्ञानी पुरुष निर्धनता को कष्ट नहीं मानते हैं और ऐसा समझते हैं कि मेरा स्वरूप तो धनरहित है ही। मैं तो मात्र ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। मुझमें धन कहां है? कोई प्रसंग ऐसा आया हो जिस प्रसंगमें ऐसी शंका हो कि इसमें १० हजारका टोटा है तो मान ही लो कि इसमें १० हजारका नुकसान हो चुका, लो दुःख समाप्त हो गया। अरे बाह्यपदार्थ किसी भी रूप परिणमन करें, आखिर वे हैं तो पर ही पदार्थ। उन पर-पदार्थोंके परिणमनसे इस मुझ आत्मामें कोई सुधार बिगाड़ नहीं है। हिम्मत बनाओ और सुखी हो लो, कोई सांसारिक कष्ट आये। कर्मोंके विचित्र उदय होते हैं, उन उदयोंके अनुसार संयोग हो गया, कुछ भी परिस्थिति प्रतिकूल आ जाये, उसमें अपने विवेक को संभालें। सबसे निराले ज्ञानमात्र आत्मतत्वको देखो और सुखी हो लो।

कष्टसहिष्णुताका उत्साह–सुखी होने की धुनमें इन कल्पनावोंका विस्तार मत बनावो कि मैं ऐसा कर लूँगा, इतना कर लूँगा तो दुःख न आयेगा, ऐसा सोचनेसे होगा कुछ नहीं, बल्कि यह निर्णय रख लो कि मुझमें वह शक्ति है कि कितने ही कठिन क्लेश आयें, उन क्लेशोंको हम समता में सह सकते हैं। क्लेशोंको मिटायें कैसे? कदाचित् दो क्लेश मिटायें तो चार आते हैं। सब अपनी-अपनी बात अनुभवसे सोच लो। कोई कष्ट सामने आये उसको दूर करनेका यत्न किया और दूर हो भी गया तो दूसरा सामने आया, उसको दूर करने का यत्न किया और दूर हो भी गया तो तीसरा अन्य कष्ट तुरन्त सामने आता है। क्योंकि कष्ट किसी अन्य पदार्थसे नहीं आता, न कष्ट कोई बाहरी चीज है। अज्ञान और मोहसे जो अपने आपमें कल्पना जग जाती है उसीका नाम कष्ट है। ऐसा जब तक ज्ञान न जगे और कर्मोदयसे कोई प्रतिकूल घटना आ जाये तो उसको सहन कर सके ऐसा शील न बने तब तक यह जीव शान्ति नहीं पा सकता।

ज्ञानबलसे कष्टोंपर विजय–यह लोक कष्ट ही कष्टसे भरा हुआ है सभी मनुष्य जो यहां हैं हम आप सभी यही सोचा करते हैं कि हमारे जीवनमें कष्ट की कष्ट बने हुए हैं। कभी सुखके साधन मिलें तो तृष्णाके कारण उस सुखके साधनका उपयोग नहीं किया जा सकता और दुःखी दिखने लगते हैं। एक दुःख समाप्त नहीं हुआ कि दूसरा दुःख सिर पर आ पड़ता है। इस लोकमें कष्टसे रहित साधन बनाकर कोई चाहे कि हम सुखी हो जायें तो ऐसा न हो सकेगा। ज्ञान बनाकर बाह्यपदार्थोंकी परिणति को बाह्य परिणति मानकर किसी भी स्थितिमें अपनेको कष्ट न मानें तो इस जीवका गुजारा हो सकता है।

आत्मसिद्धिके प्रकरणमें कष्टसहिष्णुताका स्थान–एक घटना बहुत प्रसिद्ध है, पुराणोंकी है। भगवान् ऋषभदेव हुए हैं। गर्भसे ही वृतान्त सुनो। जब वे सर्वार्थसिद्धिसे चयकर गर्भमें आए थे। गर्भमें आनेसे ६ महीने पहिले से और जन्मकाल तक अर्थात् १५ महीने तक इन्द्रने व कुबेरने उनके महलमें रत्नवृष्टि की थी। गर्भमें आनेसे ६ महीने पहिले से ही पुण्य वैभव बढ़ने लगा था। जिनकी सेवामें इन्द्र हाथ जोड़े खड़ा रहता था दास की तरह। इन्द्रकी सदा यह इच्छा रहा करती

थी कि ये ऋषभदेव जो कुछ चाहते हों, जो इनकी इच्छा हो, झट मैं उसकी पूर्ति करूँ। ऐसे इन्द्र जिसकी सेवाको चाह रहे थे, उन ऋषभदेवकी कहानी बतला रहे हैं, कि साधु होनेके बाद ६ महीनोंतो मौन व्रत लेकर तपश्चरण किया ही था, पर उसके बाद आहारको निकले तो ६ महीने तक आहार का योग न मिला। ऐसे महापुरुष ऋषभदेव जिनको लौकिक जनोंने एक दशम अवतारके रूपमें माना गया है लोकमें, जो इस चतुर्थकालके आदिमें, तृतीय कालके अन्तमें हुए, तब प्रजा को सुखका मार्ग जिन्होंने बताया और इसी कारण वह सृष्टिकर्ता कहलाये। भरत चक्रवर्ती थे। भरतचक्रवर्ती उन दिनोंभी थे जिन दिनों ऋषभदेवको ६ महीने तक आहारके लिए निकलने पर भी आहार न मिला। इस घटना से हम शिक्षा लें, धर्मसाधना के लिए कष्टसहिष्णु बनें।

कष्टसहिष्णुताका उत्साह–कोई ऐसा बताते हैं कि इन्होंने ही कृषि के सम्बन्धमें उपदेश दिया था। फसल काटनेके बाद अन्न निकाला जाता है। उस पर बैलोंको खूब घुमावो और ये बैल अन्न न खा सकें, सो इनके मुँह से सीका लगावो। सभी प्रकारकी बातें जब गृहस्थोंके लिए उपदेशदी गई सो अन्तराय हुआ ऐसा कुछ लोग कहा करते हैं। तथ्य क्या है? यह प्रमाणित तथ्य सुविदित नहीं होता। तथ्य तो यह है कि इस प्रकार उनके कर्मोंका उदय आया जिसकी वजहसे ६ महीने तक भ्रमण करना पड़ा। तब हम आपकी कहानी क्या है? यह लोक कष्टोंसे भरा हुआ है। यह मोही जीव कभी कोई विषयसाधन पाकर अपने कष्टोंको भूल जाता है और सुखमें रम जाता है। वहां भी यह जीव आकुलित ही है, वस्तुतः केवल एक कल्पनासे सुख मान लिया है। यह लोक कष्टोंसे भरा हुआ है। इन कष्टोंको टालनेका प्रयत्न न करके कष्टोंके सहन करनेकी हिम्मत बने तो कष्ट भी टलेंगे और विशिष्ट पुण्यका बंध भी होगा। अपना जीवन कष्टसहिष्णु बनाएँ और धर्मकार्य करते हुए की स्थितिमें किसी प्रकारका कष्ट आ जाय तो उस कष्टसे विचलित न हूजियेगा।

परिस्थितियोंके ज्ञातृत्वका शिक्षण–कोई यह समझे कि मैं सुख सामग्री मिला मिलाकर सुखी हो जाऊँगा तो ऐसी संसारमें कोई परिस्थिति नहीं है कि प्रबल धर्मका उदय आने पर उस कष्टको दूर कर सकें। इसी बातको समझानेके लिए ऋषभदेवका उदाहरण दिया गया है। जिनके इन्द्र तो किंकर थे और जिन्होंने उस समय सब रचना रची, सो इस जगत्के पिता कहलाये, सृष्टिकर्ता कहलाये। सबकी आजीविका का साधन बताया। ऐसे-ऐसे बड़े पुरुषार्थ वाले थे वे ऋषभदेव और उनके पुत्र थे भरत चक्रवर्ती ऐसे महान् ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी अन्तरायका जब उदय आया तो ६ महीने पर्यन्त भोजनके अर्थ भ्रमण किया, तब अन्यकी बात ही क्या है? यह निर्णय बनावो कि मैं कष्टको कष्ट ही न मानूँगा और यों निरखूँगा कि यह परपदार्थोंका इस प्रकारका परिणमन है, परपदार्थ निकट आते हैं तो उनके भी ज्ञाता रहेंगे। परपदार्थ बिछुड़ते हैं तो बिछुड़े तो उनके भी ज्ञाता रहें। कष्ट कहां हैं?

कष्टसहिष्णुताके प्रयोगका उत्साह–जहां तक कोई शारीरिक कठिनाई व्याधि नहीं उत्पन्न हो, कमसे कम तहां तक तो बाहरी पदार्थोंकी परिणति निरखकर कष्ट न माननेका अभ्यास तो

बनावो। कोई बात शरीर पर बीत जाये, व्याधि हो, अन्य कोई आक्रमण करे, पीटे मारे—ऐसी स्थिति में चाहे हिम्मत न बन सके कि शरीर परपदार्थ है, शरीरका परिणमन शरीरमें हो रहा है होने दो। मैं स्वयं पृथक सत् हूँ, मेरा सत्व मुझमें ही है। यों शरीरसे भी भिन्न अपने आपको निरखनेका बल न प्रकट हो शारीरिक रागके कारण, तो कम-से-कम इन शारीरिक कष्टोंके अतिरिक्त अन्य समस्त स्थितियोंमें हिम्मत बांधें, साहस बनायें कि मैं कष्ट कुछ न मानूँगा। धन कम होता है तो होने दो, उसकी कुछ भी स्थिति हो उसके ज्ञाता रहो, फिर कष्ट कहां रहा? इस मायारूप देहसे अपनेको भिन्न मानों। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस मुझ आत्माका काम केवल जानना देखना है, इसमें रागद्वेष मोहका कोई संकट नहीं है—ऐसा केवल ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव किया जाय, वहां कष्टका क्या काम है?

ज्ञातृत्व व कष्टसहिष्णुताका पुरुषार्थ—कर्मोंके उदयसे थोड़ा बहुत कष्ट उत्पन्न हो तो उसको भी सहकर ऐसा चिन्तन करना कि यह तो होने को ही था, कौन इसे रोकता है? मुझपर यह बात बीतनी थी, बीती है। अब उस परिणतिको जानकर, बाहरी वेदना जानकर उसकी पीड़ा और कष्ट अनुभवमें न लायें, यह हिम्मत बने तो अपने आपको लाभ पैदा होगा। हम कायर बन जायें, परचेष्टाको अपनी परिणति मानलें तो उसमें क्लेश अपने आप ही मोल लिया, समझिये। ऐसा चिन्तन करो कि सांसारिक कार्योंमें कर्म बलवान हैं, उदया बलिष्ट है। जो कुछ बीतती है। उसका ज्ञाता द्रष्टा रहना अथवा कष्टोंके सहन करनेकी शक्ति बने, यही अपना कर्तव्य है।

संसरणके अभावमें आत्महित—समस्त संसार-अवस्थावोंका अभाव करना इसमें ही हित है। कर्मोंसे ही सारा संसार है, कर्मोंसे ही इतना बड़ा क्लेश है। इन क्लेशोंको दूर करनेमें ही अपना हित है। संसार-अवस्थाका अभाव तब ही सम्भव है, जब कि निर्विकार ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूप की श्रद्धा बने, यहां ही रमण करनेका भाव बने। इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा लेनी है कि बाहरी बातोंमें जो कुछ बीतती है, बीतने दो। हम कष्टसहिष्णु बनकर, यथार्थज्ञानी बनकर उन सब उपद्रवोंको दूर कर सकते हैं। ऐसा जानकर उन कष्टोंके बचावमें, उन कष्टोंके दूर करनेके साधनकी कल्पनामें अपना समय न व्यतीत करें, किन्तु कष्टसहिष्णु बनकर उन सब उपद्रवोंपर विजय परिणाम करें और अन्तरंगमें ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र आत्मतत्वकी दृष्टि रखकर अपने आपमें प्रसन्नता पावें। इस ही विधिसे हम संसारके संकटोंसे छूट सकते हैं।

शान्तिमें वस्तुस्वातन्त्र्यके परिज्ञानकी साधकता—शान्तिका उपाय पानेके लिए हमें वस्तुके स्वरूपका यथार्थ भान होना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, दूसरेके स्वरूपसे नहीं है। हम किसी पदार्थ का कुछ परिणमन नहीं करते, कोई पदार्थ मेरा कुछभी परिणमन नहीं करता। सब की आजादी निरखें, यहां कोई किसीका मालिक नहीं है, अधिकारी नहीं है। यहां सब मिल जुलकर रहें, क्योंकि सभीको सुख चाहिए और यहांका सुख है विषयोंके साधनमें। सो उन विषयसाधनोंमें रहनेके लिए एक दूसरेकी परतंत्रता को स्वयं स्वतंत्र होकर अंगीकार किया करते हैं। वस्तुतः कोई जीव किसी भी अणुका मालिक नहीं है, ऐसी यथार्थ बात अपनी श्रद्धा में ले आयें और फिर कोई कष्ट हो सकता

हो तो बतावो। निर्धनताको ही जब धनी मान लिया गया तो अब उसे कष्ट काहेका? कर्मोंका उदय अधिकसे अधिक इतना ही तो कर सकेगा, इतना ही होनेके लिए निमित्त बन जायेगा कि न रहे वैभव या नष्ट हो जाय वैभव, न रहे जीवन या हो जाये, मरण ज्ञानी पुरुष उसका भी मुकाबला समतापूर्वक कर लेता है। इसीसे उसे दुःख नहीं होता। कष्टसहिष्णु बनो धर्मपालनका अन्तरङ्गमें ध्यान रक्खो।

आन्तरिक उपचारसे ही शान्तिमें सफलता–गृहस्थावस्थामें तो अचानक अनेक संकट आ जाते हैं। किस-किस संकटको मिटावोगे? एककी रक्षा की, तो दूसरा बीमार हो गया, किसी पर कोई संकट छा गया। यों एक न एक बात सामने हाजिर रहती है और ऐसी बात जो विचारोंमें भी नहीं आ सकती, सामने घटित हो जाती है। हम कष्टसहिष्णु नहीं बन सकते तो जीवन नैया पार नहीं हो सकती। यदि हम कष्टसहिष्णु हैं तो जीवनमें कष्ट आयेगा ही नहीं। यहां तो सभी जीव एक समान हैं। उनमें मात्र पुण्य-पापके उदयका अन्तर है। जिसने जैसा सुकृत और दुष्कृत किया उसके अनुसार उसे फल मिलता है। इस प्रकरणमें मुख्यरूपसे यह शिक्षा दी है कि कोई कष्ट आये तो उससे घबड़ावो मत, उसे अनहोनी मत मानो, उसे बहुत बड़ी विपदा मत समझो। यह सब परपदार्थोंका परिणमन है। यों हो गया, यों निरखो और उन सब विडम्बनावोंसे विविक्त अपनेको ज्ञानानन्द रूप अनुभव करो। जो कष्ट आया है उसके प्रति यह ध्यानमें लावो, इससे भी कई गुणा कष्ट आ सकता है। इस पद्धतिसे जब विचार करोगे तो जो कष्ट आया है उसको समतासे सहन कर सकते हो। अन्य जीवोंको भी देख लो, कैसे-कैसे अचानक क्या-क्या कष्ट उमड़ आते हैं? सभी को ऐसे दृष्टान्त मालूम हैं। कष्ट दुनियामें कुछ नहीं है। अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि न जम पायी और बाह्यपदार्थोंके कारण अपना बड़प्पन माना तो इस पद्धतिसे फिर कष्ट ही कष्ट है।

तपश्चरणकी शक्यानुष्ठानता व उपादेयता–देखो तपस्यामें कोई कष्ट नहीं है। जो और कष्ट आ रहे हैं इन कष्टोंके सामने अपनी इच्छापूर्वक ज्ञानसहित वैराग्य-भावसे कुछ तपश्चरण किया जाय तो वह कौन सा कष्ट है? और इष्टसंयोग, अनिष्टवियोग ऐसे जो सुखके साधन हैं, इन्हें आप कब तक बना सकते हैं? एक ही निर्णय रक्खो, हम कष्टोंके सहिष्णु हैं, जो बात बीतेगी उसका हम मुकाबला कर सकते हैं, हमारा काम केवल धर्मपालनका है, हम अपनी धर्मसाधनामें लगें और कुछ उपद्रव आयें तो उनको सहनेकी हममें हिम्मत रहे, ये सब बातें ज्ञानबलसे सुगमसाध्य हैं। तपस्यामें प्रीति बनावो, तपस्यासे कष्ट मत मानों। कष्ट तो ये विषय-कषाय हैं, संकल्प विकल्प हैं। उनके सामने व्रत पालनका, संयम साधनका कौनसा बड़ा कष्ट है? यह तो उत्तरकालमें आत्मलाभका कारण है, ऐसा जान कर तपस्यामें कष्ट मत मानों, कर्मोदयसे कोई कष्ट आये तो उसके सहिष्णु बनो और ज्ञानस्वभाव अंतस्तत्वकी आराधनामें अपने आपको लगाये रहो, यही दुःखोंसे छूटने का एक उपाय है। कष्टोंके सहनशील बनो और धर्ममें अपनी प्रवृत्ति रक्खो।

॥ इति आत्मानुशासन प्रवचन चतुर्थ भाग सम्पूर्ण ॥

आत्मानुशासन प्रवचन
पंचम भाग

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम्॥ १२०॥

संयमीको प्रकाशप्रधान होनेकी अनिवार्यता—संयमी पुरुष पहिले प्रदीप की तरह प्रकाशप्रधान हुआ करता है, पीछे ताप और प्रकाशमें सूर्य की तरह देदीप्यमान होता है। शान्तिके लिए जिसने अपना भावात्मक कदम रक्खा है, संयम, तप, व्रत आचरणमें जिसने अपनी परिणति की है वह पुरुष ज्ञानप्रधान होता है। पहिले उसे वस्तुस्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान करके स्वयंमें शुद्ध प्रकाश वाला बन जाना चाहिए, तब संयम ठीक कहलाता है। जब तक अपने लक्ष्यकी पकड़ नहीं हो पाती है तब तक कुछ भी क्रिया करे उन क्रियावोंसे उस लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

लक्ष्यके बिना क्रियाओंकी विडम्बना—जैसे नाव खेने वाला कोई लक्ष्य न बनाये हो कि हमें उस घाट पहुंचना है तो वह कभी नाव पूर्वको खेवेगा कभी पश्चिमको, कभी उत्तर और कभी दक्षिणको। इस तरह वह कभी ठिकाने नहीं पहुंच सकता। अपना लक्ष्य बना लेना यह धर्मपालनमें प्रथम आवश्यक है। क्या बनना है हमें, यह लक्ष्यमें न आये, तो हम कैसे अपना कदम बढ़ा सकते हैं? अंधेरेकी तरह रहे कोई पुरुष। किसलिए हम प्रभुभक्ति करें, किसलिए जाप, तप, ध्यान करें, इसका कुछ भी भान न हो सही तो क्या कर रहा है, क्यों कर रहा है, देखा देखी कर रहा है उसका अर्थ इतना ही निकलेगा। लोग करते हैं इसने भी किया। जैसे मां मंदिर जाती है तो बच्चा भी साथ हो लेता है। मां ने ढोंक दिया तो बच्चा भी ढोंक देने लगता है। और कभी कभी तो वह बच्चा प्रभुमूर्तिकी तरफ पीठ करके उल्टी तरफ मुँह करके ढोंक देने लगता है। उसे कुछ पता ही नहीं है कि क्या करना है हमें? ऐसे ही जब किसी व्रती पुरुषको अपने भीतरी लक्ष्यका सही पता ही नहीं है कि मुझे क्या बनना है तो उसके देहकी क्रियाएँ, शोधकी क्रियाएँ और तपस्याकी क्रियाएँ ये किसलिए हो रही हैं, वह अंधेरेमें है।

यथार्थ निर्णायककी ही तपस्यासे सिद्धि—भले ही क्रियावान् पुरुषको इस तपस्यासे जोकि ज्ञानशून्यतामें हो रही है, कुछ पुण्यबंध तो इस तरह का है जैसे कि किसी थोड़ेसे भूखे पुरुषको खिला देने से भी बंध हो सकता है। कोई उस तपस्यासे विशिष्ट पुण्यका बंध न होगा। मुमुक्षुको सबसे पहिले अपना लक्ष्य निश्चित करना चाहिए। लक्ष्य यही है कि मैं एक ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ। सब द्रव्योंसे न्यारा हूँ, स्वयंके ही स्वभाव-रूप हूँ, मैं सहज ही आनन्दममय हूँ, मेरा स्वरूप ही

आनन्द से रचा है। ज्ञानपुंज मात्र ही तो मैं हूँ, यह जैसे स्वरूप वाला है तैसा रह जाय, यही मेरी कामना है, यही मेरा लक्ष्य है। यह निर्णय जिसके हुआ है वह विधिपूर्वक तपश्चरण करता है।

मुमुक्षुका प्रताप और प्रकाश–यह मुमुक्षु पुरुष पहिले तो दीपककी तरह प्रकाशमान् हुआ है। जैसे दीपक तैल आदि सामग्री पाकर प्रकाशित होता है, घट पट आदिक बाह्यपदार्थोंको प्रकाशित करता है ऐसे ही ये संत शास्त्र ज्ञानका बल पाकर शास्त्रज्ञानकी सामग्रीसे इस समस्त विश्वको जीवादिक पदार्थोंको प्रयोजनभूत जान लेता है। सो पहिले यह कल्याणार्थी दीपक की तरह अपनी साधना बनाकर स्वपर प्रकाशक होता है, इसके बाद फिर सूर्य की तरह प्रतापवान होता है। जैसे सूर्य स्वभावसे ही अनेक पदार्थोंका प्रकाश करने वाला है ओर प्रतापका भी करने वाला है ऐसे ही यह आत्मा स्वभावसे ही नाना पदार्थोंका जाननहारा है और प्रताप, तपश्चरण, प्रतपन, प्रतापका भी करनहारा है। यों व्रती पुरुषको यह प्रथम चाहिए कि वह अपना ज्ञान सही और पुष्ट बनाये।

वस्तुस्वातंत्र्यके अवगमसे आध्यात्मिक अपूर्व साहस–मैं जीव हूं। अजीव से न्यारा हूं। मेरा जो कुछ है वह मुझमें ही है, मुझसे बाहर किसी अन्य में मेरा परिणमन अथवा गुण नहीं पहुंच सकता है। परकी गुण पर्याय उस परपदार्थमें ही है। परकी कोई बात मुझमें नहीं आ सकती, ऐसा मैं पूर्ण स्वतंत्र हूं। ये समस्त पदार्थ भी पूर्ण स्वतंत्र हैं। किसीका किसी दूसरे पर अधिकार नहीं है, ऐसी स्वतंत्रताका जब ज्ञान होता है तब इसमें यह साहस बनता है कि मैं समस्त परपदार्थों की उपेक्षा करके केवल अपने आपके स्वरूपमें रत होकर कर्मोंका विध्वंस करूँगा। शरीरसे छुटकारा पाऊँगा, केवल ज्ञान मात्र रहकर शाश्वत आनन्दमय होऊँगा।

ज्ञानीका लक्ष्य–लक्ष्य बन गया है ज्ञानीका कि मुझे जीकर करना क्या है? बीचमें चाहे घर गृहस्थी के कारण अनेक काम करने पडें, फिर भी मेरा मूल लक्ष्य कभी विचलित न हो। मुझे बनना है केवल। मैं स्वयं स्वभावतः अपने सत्त्वसे जैसा हूं, मात्र वैसा ही मुझे बनना है। यह लक्ष्य बना है ज्ञानी पुरुषका। इस लक्ष्यके अनुसार यह पुरुष अब ऐसी वृत्ति बनायेगा जिससे इस लक्ष्यकी साधना हो। वह त्यागकी ओर बढ़ेगा। ऐसे जो हो चुके हैं उनकी आराधना करेगा, जो अशरीरी बनने के यत्न में लगे हुए हैं उनके सत्संगम में रहेगा। अपने आपको जैसे आत्मानुभवकी पात्रता रहे उस प्रकार बनायेगा। यों यह संयमी पुरुष पहिले दीपककी तरह प्रकाशित होता है और फिर इसी साधनाके बलपर सूर्यकी तरह विपुल प्रकाश और प्रताप करके युक्त होता है। ज्ञानकी आराधना करना प्रत्येक कल्याणार्थी का कर्त्तव्य है।

निजसमृद्धिके यत्नका अनुरोध–जो बात सुगम है, स्वाधीन है, हमारे भावोंके आधीन है वह चीज तो आज संसारी प्राणियोंको दुर्गम लग रही है और जिस बात पर अपना अधिकार नहीं है जैसे घर बनाना, आरम्भ करना, परिग्रह जोड़ना, धनसंचय करना–ये सारी परपदार्थों की परिणति की बातें अपने आधीन नहीं हैं वे इस जीवको बहुत सुगम लग रही हैं। इसका पुण्योदयसे सम्बंध है, सो पूर्वकृत पुण्यके प्रतापसे यह वैभव आ रहा है, किन्तु इसमें जो अपना कर्त्तव्य माने कि मैं

धन कमाता हूं तब आता है, मैं इतना प्रयत्न करता हूँ तब आता हैं, ऐसी कोई भ्रमबुद्धि करे तो वह पाप कमाता है। भ्रमसे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है? आगे भी यह सम्पदा पाते रहनेका हकदार रहे और उस सम्पदासे भी मुक्त होकर अलौकिक अनुपम सिद्ध सम्पदा प्राप्त कर ले, ऐसा यत्न रखना चाहिए। जो कुछ धर्म सम्पदा पहिले कमायी है उसे भी बरबाद कर दे और अपनेको पापरूप बना ले, यह कर्त्तव्य नहीं है।

लोकस्थिति निरखकर श्रद्धानसे चलित न होनेका अनुरोध–आजके कलियुगमें लोग विचित्र कई बातें देखकर हैरान हो जाते हैं। जैसे कोई लोग बहुत खोटा व्यापार करते हैं। कषायी खाना खुलवा लेते हैं। मांस आदिकी दुकान करते हैं अथवा किसी बड़ी मिलेट्रीके लिए या अन्य विभागों के लिए मांस आदिका ठेका भी ले लेते हैं, इतने इतने कठिन कार्य करके भी वे मौजमें और धन सम्पन्न देखे जाते हैं। लोकमें उनकी इज्जत भी होने लगती है। धन बढ़नेके कारण सभा में, समाज में, गोष्ठी में उन्हें प्रथम स्थान दिया जाता है, ऐसी बातको देखकर श्रद्धानसे चलित होनेका एक अवसर आता है। जो ऐसे कार्य करते हैं वे ही फलीभूत होते हैं यह बात मन में आनेको होती है और कितने ही पुरुष ऐसे देखे जाते हैं कि धर्मकार्यों में तो लगे हुए हैं और संकट विडम्बना विपत्तियां नई नई आती हैं। ऐसे दृश्योंको भी निरखकर श्रद्धानसे चलित होने का अवसर मिलता है। लेकिन हैरान होनेकी बात नहीं, गोरखधंधा इसीको कहते हैं। भला लगे, मीठा लगे, कठिन लगे, कड़वा लगे, किसी स्थिति में भी चलित न होना चाहिए। और इस सम्बंध में विशेष अन्य क्या विचार करें ? सीधा यही विचार करके देख लो कि जब हम किसी परपदार्थकी ओर अपना चित्त देते हैं, मोह करते हैं, तृष्णा बढ़ाते हैं तब की परिणति देख लो और परपदार्थोंसे उपेक्षा करके जब हम केवल ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्त्वका चिन्तन करते हैं तबकी स्थिति देख लो। यहाँ शान्ति है और उस संचय आदिक बुद्धिमें अशान्ति है। अतः दुनियाकी प्रवृत्तिको निरखकर हमें श्रद्धानसे विचलित न होना चाहिए।

आनन्दका उपाय–धर्मका फल शान्ति है और शाश्वत शान्ति है। नियम से शान्ति ही फल है धर्मका। धन मिलकर आनन्द मिला तो क्या, धन न मिलकर आनन्द मिला तो क्या। तुम्हें धनी कहलवाने की इच्छा है या आनन्दमग्न रहने की इच्छा है ? पहिले यही निर्णय करलो। धनी होने की इच्छा तृष्णा के मूलसे उत्पन्न हुई है और इसी कारण उस प्रसंगमें नियमसे अशान्ति ही भोगनी पड़ती है, किन्तु ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप धर्म पालनसे इस जीवको नियम से शान्ति मिलती है, आज यह पुरुष धन संचयकी होड़ में लग रहा है, पर यह तो जो लखपति करोड़पति भी हैं वे क्या खाते हैं, वे कैसे अपना पेट भरते हैं, और जो उनमें हजारपति ही हों वे भी और क्या करते हैं ? काम तो जीवन के लिए इतना ही है कि क्षुधा शान्त हो जाय, प्यास शान्त रहे। जीवनके लिए इतना ही आवश्यक है, फिर अन्य और विडम्बनाओंके लिए क्यों बढ़ा जाय ? यों कहो कि वे ही दो रोटियां हैं। साधारण स्थितिमें रहकर खाया तो, बड़ी स्थितिमें रहकर खाया तो।

परिग्रहका क्षोभ–भैया! यह सब बड़ा गोरखधंधा है। ये सब दृश्यमान दृश्य इनके प्रति लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि ये सब न हो तो जीवन कैसे चलेगा ? महत्व देना चाहिए था शान्ति को, आत्महितको, पर महत्त्व दे रक्खा है परिग्रहको। परिग्रहके सम्पर्कमें अशान्ति ही भोगनी पड़ती है। एक तो परिग्रही पुरुषको चार डाकुवोंका भय सताता रहता है। जब चित्तमें एक शंका समा गयी तो अब सुख कहाँ से हो ? खैर ये बाहरी उपद्रव भी न हों तो भी सरकार के कानून टैक्स आदिकसे इसे विपन्न रहना पड़ता है। खैर इसका भी कष्ट न हो तो इस कष्टको तो कोई मिटा नहीं सकता कि बाहरी पदार्थों के प्रति इसका जो उपयोग लगा, उसकी दृष्टि लगी, उस दृष्टिके कारण जो क्षोम होनेको है वह होता है स्वयं। इसे कौन मेटेगा?

शान्तिके यत्नमें शान्तिकी नियतता–शान्तिको कोई चाहे और शान्ति मिले नहीं, यह हो नहीं सकता। शान्तिका नाम तो रक्खो कि मुझे शान्ति चाहिए, पर चित्तमें वह अशान्तिका रूपक ही बसा हुआ है, मुझे ऐसा करना है, ऐसा होना है, इसमें शान्ति मिलेगी, तो अशान्ति ही चाही उसने, शान्ति को नहीं चाही। अशान्ति चाही तो अशान्ति ही मिलेगी। हमारा ज्ञान अति स्पष्ट रहना चाहिए। मुझे क्या बनना है ? मुझे कुछ बनना नहीं है, बनना अच्छी बात नहीं है। मै जैसा हूँ तैसा ही मुझे होना है। मैं अकेला केवल अपने आपके स्वरूप से कैसा हूँ, इस पर दृष्टि तो डालो। ऐसे शरीर वाला नहीं। ऐसे रागादिक कषायों वाला नहीं, किन्तु एक मात्र ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ। मुझे केवल ज्ञाता दृष्टा रहना है। उपयोग में रागकी तरंग, मोहकी वासना, कषायोंकी ज्वालायें सब इसके लिए विपदा हैं, विडम्बना हैं। मुझे ये सब कुछ न चाहिए, ऐसी लगन बने, बाहरी पदार्थोसे उपेक्षा जगे तो इसमें शान्ति अवश्य प्रकट हो सकती है।

मोहमत्तकी भ्रमणा–सबसे पहिले इस कल्याणर्थी पुरुषको सम्यग्ज्ञानी बनना चाहिए। कोई पागल मुँह उठाये और चल दे। उसका कुछ लक्ष्य ही नहीं, मुझे कहाँ जाना, क्या करना, क्या पाना, उसकी कुछ दृष्टि में ही नहीं है, तो जैसे वह पागल भटकता रहता है, ऐसे ही यह मोहका पागल पुरुष जिसने सही लक्ष्य ही नहीं बना पाया कि उस मनुष्यभवसे जीकर मुझे क्या करना चाहिए ? यह निर्णय जिसके नहीं हो सका वह पागलकी नाई मुँह उठाकर कभी इस विषयकी ओर लगेगा, कभी उस विषयकी ओर लगेगा, कभी मनकी कल्पनामें बढ़ेगा। यों अनेक विडम्बनाएँ भोगते हैं पागल पुरुषकी नाई, किन्तु ये अपने आपके सही धामको नहीं प्राप्त कर सकते।

संसारके व्यामोहमय व्यवहारसे निवृत्त होने का सन्देश–सर्व प्रथम हमें शुद्ध ज्ञानी होना चाहिए। यहाँ संसार के व्यवहारमें क्या रुचि करना ? किसीने प्रशंसाके शब्द कह दिये, कुछ बड़ाई कर दी तो क्या है यह ? मैं भला मानूँ तो मैं भी अज्ञानी। और जो प्रशंसा कर रहा है, भला कह रहा है वह भी प्रायः मोहवश कह रहा है। तो यहाँ इस प्रकार का परस्पर का बर्ताव हो जाता। जैसे कि ऊँटोंके ब्याह में गधे गीत गायें। गधे तो गा रहे हैं धन्य हो ऊँट राज, तुम बड़े सुन्दर हो, बड़े सुडौल हो। अब बताओ सुडौल उन में क्या है ? सारे अंग तो उनके टेढ़े मेढ़े होते हैं, पर गधे गीत

गाते हैं, तो ऊँट भी प्रशंसा कर डालते है, धन्य है गंधर्वराज। तुम्हारा स्वर, तुम्हारी ध्वनि बड़ी सुन्दर है। ऐसा ही यहाँ का परस्परका व्यवहार है, इसमें कहां संतोष किया जाय? हमारी जिम्मेदारी हम ही पर है। दूसरे पुरुष चाहे कितने ही प्रेमी हों, कितना ही मुझे चाहते हों, पर मेरे भविष्यकी जिम्मेदारी दूसरे पर नहीं हो सकती, मुझ पर ही होगी। विषय कषाय व्यवहार मित्रता प्रेम, इन सब बातोंमें पड़कर अपने आपके इस शुद्ध लक्ष्यको न छोड़ें। अगर अपनी इस शान्ति के लक्ष्य से चलित हो गए तो कुछ भी चेष्टा करें, वे सब चेष्टाएँ पागल पुरुषोंकी तरह अट्टसट्ट ही रहेंगी। उनसे कोई सिद्धि न हो सकेगी।

ज्ञानी गृहस्थका ज्ञानबल–एक गृहस्थ जिसने अपना लक्ष्य पा लिया है एक मात्र झलकमें, जैसा यह आत्मा स्वयं है तैसा ही ज्ञान में आ गया है, तो यह ज्ञानी पुरुष गृहस्थ महानुभाव घरके बीच रहता हुआ भी रात दिनमें बराबर उस ज्ञानान्दस्वरूप आत्माका स्मरण करके यह अपने को आनन्दमग्न बनाये रहता है। कुछ गड़बड़ी हो जाय, धन नष्ट हो जाय तो यह चिन्ता न करेगा। जैसा होता है होने दो, वह परपरिणति है। उसपर मेरा अधिकार नहीं, अथवा ऐसा हो गया तो इससे भी कुछ मेरा बिगाड़ नहीं। ज्ञानियोंके साहस रहता है। यह ज्ञानका ही तो बल है।

आत्मबल विकासका कर्त्तव्य–भैया ! बाह्य पदार्थों से आत्मा में बल नहीं आया करता हैं। अपने आपके विशुद्ध ज्ञानसे अपने में बल प्रकट हुआ करता है। अपनी जिम्मेदारी समझकर हमें यथार्थ ज्ञानी बनना चाहिए। यथार्थ ज्ञान होने पर फिर क्षोभ नहीं आता, कुछ भी गुजरे। यों संयमी पुरुष तो ज्ञान प्रधान हुआ करता है। पश्चात् फिर तपश्चरण करके प्रतापवान् होता है। हमें सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनी चाहिए। तत्त्वचर्चा करके, उपदेश सुनकर, अध्ययन करके हर एक सम्भव उपायोंसे हमें अपने आपका और विश्वका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। फिर परसे उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूप में मग्न होना चाहिए।

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्धमन् कर्मकज्जलम्॥१२१॥

ज्ञानीकी वृत्ति और निवृत्तिकी दो कलायें–जैसे दीपक दैदीप्यमान होता हुआ कज्जलको उगलकर स्व और परका प्रकाश करता है इस ही प्रकार यह ज्ञान और चारित्र दैदीप्यमान होता हुआ ज्ञानी कर्मोंको उगलता हुआ स्व और परका प्रकाश करने वाला होता है। यहाँ अलंकार में यह बताया है कि दीपकमें दो गुण हैं–एक तो वह स्व परका प्रकाश करता है और दूसरे कज्जलको अलग फेंकता है। ऐसे ही ज्ञानी जीवमें दो कलाएँ हैं एक तो वह स्व परका प्रकाशक रहता है और दूसरे कर्मोंको अलग फेंक देता है।

कर्मका कज्जल–कर्म दो प्रकार के होते हैं–एक भावकर्म दूसरा द्रव्यकर्म। इसमें कर्म नाम असल में भावकर्मका है। द्रव्यकर्ममें कर्म नाम उपचारसे किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि द्रव्यकर्ममें वह नहीं है, जैसा कि शास्त्रोंमें वर्णन किया है। द्रव्यकर्म उस प्रकृतिको रखता है स्थिति,

प्रदेश, अनुभाग सब कुछ हैं, किन्तु कर्मशब्दका जो वास्तवमें अर्थ है उस अर्थ पर दृष्टि दें तो कर्म नाम तो भावकर्म का साक्षात् है। कर्म का अर्थ है क्रियते इति कर्म। जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। जीव के द्वारा जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। जीव के द्वारा शुभ अशुभ भाव किए जाते हैं। ज्ञानावरणादिक पौद्गलिक कर्मोंको यह जीव नहीं करता है, क्योंकि वे भिन्न पदार्थ हैं, आत्मा भिन्न पदार्थ है। आत्मा तो अपने भावोंको करता है। इस व्याख्यासे कर्म नाम रागद्वेष सुख दुःख शुभ भाव, अशुभ भाव इनका हुआ। अब इन शुभ अशुभ भावोंका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणावोंमें प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभागका रूप परिणमन होनेके परिणमन से परिणत कार्माणस्कंधोका कर्मनाम उपचारसे किया गया है। कर्म नाम जो रक्खा गया है उसकी बात कही जा रही है।

यह जीव अपने ज्ञान और चारित्रसे भास्वर होता है अर्थात् आत्मा का जो सहजस्वभाव है उस स्वभावका बोध करना और उस स्वभावमें रत होना। जब ऐसी परिणतिसे परिणमता है तो वह ज्ञानी आत्मा इन रागद्वेषादिक कर्मोंका वमन करता हुआ स्वपरका प्रकाशक होता है। जगत् के जीव हम आप व्यर्थमें हैरान हो रहे हैं। हैरानीका कोई ऐसा जबरदस्त किसीके द्वारा कारण नहीं थोपा जा रहा है। यह मैं आत्मा तो स्वयं केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे ऐसे स्वभावको रखता है। केवल जानन देखन में इस जीवका कोई बिगाड़ नहीं है, पर इस स्वभावको जब हम नहीं मानते, हम अपने आपके सहजस्वरूपका विश्वास नहीं रखते तो व्यग्रताएँ होना, आकुलताएँ होना यह सब होता ही है। यों अपनी भूल से बड़ा ही धोखा खाकर जगजाल में रुलते चले आ रहे हैं। किसी भी क्षण ऐसा साहस करलें कि जब मेरा लोक में परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है तो मैं अणुमात्रको भी अपने उपयोग में क्यों स्थान दूं ? ऐसा केवल सहजस्वभाव रूप अपने को निरखा जाय तो वह सब कला, जिसके कारण ये राग-द्वेषादिक कर्म ध्वस्त हो जाते हैं, प्रकट हो जायेगी। जो आँखों से दीखा इसे ही सारभूत मान लिया। जो दीखा वे सब परवस्तु हैं, अपने से भिन्न हैं, उनका मेरे इस आत्मामें ग्रहण भी नहीं होता। केवल एक कल्पना करके यह राजी हो रहा है। पर इसे वहाँ सार सुख हित कुछ नहीं मिलता। यों स्वयं ही अपने आपको भूलकर हम दुःखी होते है।

भ्रममें पराधीनता व ज्ञानमें स्वतन्त्रता—जैसे बन्दर एक घड़े में भरे हुए लड्डुवोंको ग्रहण करने के भाव से घड़े में हाथ डालकर लड्डुवोंको पकड़ ले तो पहिले तो खाली मुट्ठी ही बाँधें तब भी इस हाथका विस्तार बढ़ जाता है और लड्डूको पकड़ ले तो और अधिक विस्तार हो जाता है। लड्डू पकड़कर हाथ को निकालना चाहता है और उन लड्डुवोंको खाना चाहता है, मगर हाथ नहीं निकलते। तब बंदरको यहां कुज्ञान जगता है कि मेरे हाथों को इस घड़े ने पकड़ लिया है, बस वह दौड़ता है, चिल्लाता है पर छूटता नहीं है इस घड़ेसे। ऐसे ही संसारी प्राणी अपने उपयोग रूपी हाथसे इन पञ्चेन्द्रियके विषयरूप लड्डुवोंको पकड़ लेते हैं ग्रहण कर लेना चाहते हैं, पराधीन हो गये ना अब? किसी परजीवसे स्नेह लगाया तो आधीनता आती ही है। अब पराधीन हो गये और इस पराधीनताके कारण इसे अनेक कष्ट सहने पड़ रहे हैं, पर यह जीव नहीं जान रहा है यह कि मैं

स्वयं ही स्वतंत्रतासे विचार बनाकर परके आधीन होकर दुःखी हो रहा हूं, जैसे वह बंदर यथार्थ रहस्य जान जाय और उन लड्डुवोंसे तृष्णा त्याग दे, मुट्ठी खोल दे, खाली हाथ निकाल ले तो अब भी स्वतंत्र है, छूटा हूआ है, ऐसे ही यह जीव पर वस्तुवों का ग्रहण करना छोड़ दे। सबसे निराले अकिंचन इस ज्ञानस्वरूप को निरखकर समस्त परसे अपने उपयोगको हटा ले तो यह अब भी आनन्दमय है, दुःख कहाँ है?

मोही मानवों में दुःखोंकी होड़–जैसे एक मनुष्य दूसरों को देख रहा है कि ये सब लोग अपने शरीरको लिए हुए अपने मनको लिए हुए बैठे हैं इनको कोई तकलीफ नहीं है। दूसरे की शकल मुद्राको निरखकर हम ऐसा जानते हैं कि यह बड़ा सुखी है, इसे कोई दुःख ही नहीं है। कोई पीट भी नहीं रहा, कोई चीज आकर इसमें प्रवेश नहीं कर रही। यह तो अच्छा है, ऐसा दिखता है, लेकिन प्रायः सभी जीव अपने ही मनमें अपने ही मनसे कुछ न कुछ गुन्तारा लगाकर दुःखी हो रहे हैं। एक कुटेव पड़ गयी है ना। कितना ही उसे आराम हो, कितने ही साधन मिलें, पर यह उनमें सन्तुष्ट ही नहीं रहना चाहता। बहुत आराम होने पर भी योग्य साधन होने पर भी चित्तमें एक कल्पना भीतर ही तो जगती है कि मुझे यह सब कम है, मुझे तो और और भी साधन चाहिए। अरे मेरा अमुक यह साधन मिट रहा है कुछ ऐसी कल्पना जगी कि यह दुःखी होने लगा।

आकिञ्चन्यभावनासे परके आकर्षणका अभाव–अहो, इस प्राणीको उस दिनकी याद नहीं आती, उस भविष्यके दिनकी कि किसी दिन यहाँ से सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। लोग इस बचे खुचे शरीरको ले जाकर शीघ्र जला देंगे। यह मैं अकेला का ही अकेला अछूता सीधा चल दूंगा, न भाई मुझे रोक सकेंगे, न माता पिता आदि कोई मुझे रोक सकेंगे। सब को छोड़कर यह मैं आत्मा यहाँसे चला जाऊँगा। उस दिनकी याद यह अभीसे ही करले तो इस पद्धतिके ज्ञानसे भी इसे शान्तिका मार्ग मिल सकता है। वास्तविक सन्तोष तो अपने को अकिञ्चन माने बिना नहीं आ सकता है। मैं क्या हूं, कितना हूं, यह दृष्टिमें रहे तो इसे संतोष होगा। मैं ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं समस्त परपदार्थो से निराला त्रिकाल भिन्न हूं–ऐसा भान हुए बिना सब परपदार्थोंकी ओर से आकर्षण मिट नहीं सकता।

निजभावके रमणमें सन्तोष–एक बच्चा दूसरे बच्चेके हाथमें खिलौना देखकर रोने लगता है। रोने वाले बच्चेकी मां उसे डाटती, अबे रोना बंद नहीं करता। तुझे मैं पीट दूंगी। कुछ पीट भी देती है, पर वह बच्चा रोना बंद नहीं करता। उसे तो अपना चित्त रमानेके लिए खिलौना चाहिए और यह मां पीटकर उसका रोना बंद कराना चाहती है। तो क्या दूसरे बच्चेका खिलौना छुड़ा कर दे दे? उसमें तो और बड़ी विडम्बना बनेगी, फिर तो बड़ों बड़ों में लड़ाई हो जायेगी। उपाय उसका यह है कि उस ही बच्चेका खिलौना जहाँ हो या नया लेकर उस बच्चेका खिलौना उसे सौंप दे, ले यह है तेरा खिलौना, दूसरेके खिलौनेको देख तक मत रो, बस उसे चाहिए क्या था? अपना चित्त रमाने के लिए अपने अधिकारका खिलौना। मिल गया खिलौना शान्त हो गया । ऐसे ही हम आप

बालक अज्ञानी जगतके दूसरे प्राणीके खिलौनों को देखकर, उनका वैभव, उनकी इज्जत, उनका प्रताप निरखकर रोते हैं। इस रोनेको कौन मिटाये? क्या यह वशकी बात है कि दूसरे का खिलौना जड़ पौद्गलिक मेरे साथ लग जाय। उस समय केवल एक यही उपाय है तू अपना स्वाधीन खिलौना पा ले। यहाँ परकीय खिलौने पर तो अधिकार ही नहीं है। तेरा खिलौना है उस निर्विकार विशुद्ध सहज ज्ञानज्योतिका अनुभव। इस खिलौने में यह चित्त रम जायेगा, यह उपयोग रम जायेगा और इसका यह सारा रोना परवस्तुवों को निरखकर उनकी तृष्णाका यह रोना गाना सब दूर हो जायेगा।

कर्मकज्जलका प्रोद्वमन–यह ज्ञानी पुरूष इन रागद्वेष आदिक कर्मोंका वमन करता हुआ दीपककी तरह स्वपरप्रकाशक बन रहा है। जैसे वमन की हुई चीज फिर ग्रहण नहीं की जाती। किसी को कै हो जाय तो कै होने के बाद पेट खाली हो जायेगा, थोड़ी देरमें भूख लगने लगती है। तो उस ही कै को कौन खा लेता है? उस ओर तो कोई दृष्टि भी नहीं देता। उस कै को तो राखसे ढक दिया जाता है। जैसे वमनकी हुई चीज फिरसे ग्रहण नहीं की जाती, ऐसे ही ज्ञान द्वारा रागद्वेष सुख दुःख आदिक वैभवों का वमन कर दिया, यह मेरा नहीं है, मेरे से भिन्न है, विभाव है, औपाधिक भाव है, मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा ज्ञान करके अपने स्वरूपमें से निकाल दिया, वमन कर दिया तो अब यह ज्ञानी फिर उन रागद्वेष आदिक विभावों को यह मेरा स्वरूप है, इस रूपसे ग्रहण नहीं करता है।

ज्ञानीकी भास्वरता–यह ज्ञान आराधनाका प्रकरण है। आचार्यदेव इस ज्ञानस्वरूप निजस्वभावकी आराधनाके लिए उपदेश दे रहे हैं। देखो जैसे दीपक दीप्ति सहित भास्वर होता है; प्रकाशमान होता है और कज्जल का वमन कर देता है, ऐसा होता है तब वह घट पट आदिक पदार्थो को प्रकाशित करता है। ऐसे ही यह ज्ञानी पुरूष ज्ञान और चारित्र से सहित होकर देदीप्यमान होता है और रागद्वेष आदिक भावकर्मोंका वमन कर देता है और उसके ही प्रतापसे द्रव्यकर्मका भी परिहार कर देता है। ऐसा होकर यह ज्ञानी अपने को और परपदार्थोको यथावत् जो जैसा है उस प्रकार जानता है।

यह जीव इस ज्ञान आराधनाके फलसे जिसे शास्त्रज्ञान होता है, विवेक जागृत होता है उससे वह ज्ञानी पुरूष अब क्या करता है, इस विषय को अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसन्ध्यस्य तमसो न समुद्गमः॥ १२२॥

शुद्धोपयोगकी सिद्धिका क्रम–यह जीव आगमके ज्ञान से निर्णय कर लेता है कि ये सभी परिणाम त्यागने योग्य हैं और फिर जो अशुभपरिणामों को त्यागता है वह जीव शुभ परिणामोंमें आ रहा है और पश्चात् यह शुभ परिणामोंको त्याग कर शुद्ध परिणामरूप हो जायेगा। किसी भी जीवको शुभ परिणामके बाद शुद्ध परिणाम नहीं होता है। अशुभोपयोगके बाद ही, अनन्तर शुद्धोपयोग अब तक भी किसीके प्रकट नहीं हुआ। विधि ही यह है अशुभोपयोगका परित्याग हो, शुभोपयोग में आ जाय और फिर उस शुद्ध स्वरूपकी भावनाके प्रतापसे यह शुभ परिणमन भी दूर हो जाय, केवल

ज्ञाता दृष्टा रहने रूप शुद्ध परिणमन हो। यों अशुभोपयोगके बाद शुभोपयोग आता है, पर शुभोपयोगमें जो न रमे उसे ही शुद्धोपयोग मिलेगा। जो शुभोपयोगमें रम गया उसे शुद्धोपयोग कैसे प्रकट हो? जैसे सूर्यके आगे अंधकार नहीं ठहरता, इसी तरह ज्ञान उत्पन्न होने पर यह जीव शुभ अशुभ भावों को त्यागकर शुद्धोपयोग की दशाको प्राप्त होता है। अर्थात् इसमें अज्ञान अब उत्पन्न नहीं हो रहा है। अशुभोपयोग का त्याग करना, शुभोपयोग का आलम्बन लेना, शुद्धोपयोगका लक्ष्य रखना और शुभोपयोगसे भी निवृत्त होना यह सब आत्महितकी सिद्धि करने की सामर्थ्य इस ज्ञानकलावान पुरूषमें प्रकट हो जाती है। हम सबका एक ज्ञान ही रक्षक है।

ज्ञानगुणकी गम्भीरता–देखिये–इस ज्ञानगुणकी विशेषता, यह ज्ञान कितना गम्भीर और उदार है? इस ज्ञानगुणके किसी भी परिणमनके कारण जीवके कर्मबंध नही होता। थोड़ा ज्ञान जिसे है, बहुतसा ज्ञान जिसका ढक गया है: एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जिस जीवके जितना ज्ञान प्रकट हुआ है वह सब ज्ञान सब जीवों का बंध नही करता। ज्ञानकी किसी भी प्रकार की अवस्था संसार में नहीं रूलाती, किन्तु श्रद्धा और चारित्र इनका जो विकार है, मिथ्यात्व हो गया यह श्रद्धाका विकार है। कषायें हो गयीं यह चारित्रका विकार है। इस श्रद्धा और चारित्रके विकार संसारमें जीवको रूलाते हैं। ज्ञान कितना भी प्रकट हो, कितना भी ढका हो, ज्ञान की कोई स्थिति इस जीवको बंध नहीं कराती। जब कभी ज्ञानकी कमीकी हालत में या कुज्ञानकी स्थितिमें जीवका कर्मबन्ध होता है वह मिथ्यात्वके कारण कर्मबंध हो रहा है, ज्ञान के कारण नहीं हो रहा है। ज्ञान तो स्वभावसे ही ज्ञानरूप है। वह न सम्यक् होता और न मिथ्या होता। पर मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान भी मिथ्यात्व कहलाता है और सम्यक्त्वके प्रकट होने से ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है।

ज्ञानालम्बनका कर्त्तव्य–भैया! जो ज्ञान इतना गम्भीर है उस ज्ञानका आलम्बन ले कोई, तो उसे सच्ची शरण मिलती है। ज्ञानकी शरण कभी धोखा नहीं दे सकती। हम आप सुखी होनेके लिए बाहरी वैभवका शरण पाना चाहते हैं, ढूँढ़ना चाहते हैं, पर इन बाह्यपदार्थों की शरण हमें अनाकुल नहीं कर सकती। हम अपने ही इस शुद्ध सहज ज्ञानका शरण लें वस्तुस्वरूपको जानकर इसही परम स्वभावरूप अपनी प्रतीति करें और इन विभावोंसे दूर होकर शाश्वत आनन्द पायें, अपनी शरण लें, अपने ज्ञानकी ओर झुकें। इसमें ही हमारा सर्व अभ्युदय है।

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः॥ १२३॥

शुभराग का अभ्युदयमें सहयोग–जिस जीवका अज्ञान अंधकार दूर हो गया है उस जीवका कभी कुछ काल तक राग उठता है तो तपस्या में, ज्ञान में संयम में इन शुभकार्योंमें राग होता है। सो उस ज्ञानी पुरूष का यह राग उसके उत्थान के लिए है। जैसे कि सुबहके समयमें जो प्रभातकालीन लालिमा होती है, सूर्योदयसे पहिले जो पूर्व दिशा लाल हो जाती है वह लालिमा जैसे

सूर्यके उदय के लिए होती है, उत्थान के लिए होती है इसी तरह ज्ञानी पुरूष की लालिमारूपी राग उसके उत्थानके लिए होता है।

मोहीका स्पर्शराग–जिस जीवके मोह बसा हुआ है उसमें राग होगा तो विषय के साधनों से होगा। तप, नियम, संयम ये तो इष्ट ही नहीं होते। इन्द्रियां ५ प्रकारकी हैं और उनके विषय जुदे-जुदे हैं, अतएव विषय भी ५ होते हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है और स्पर्श ८ प्रकार का होता है–रूखा, चिकना, ठंडा, गरम, कड़ा, नरम, हल्का, भारी। स्पर्शन इन्द्रिय इन ८ प्रकार के स्पर्शो में रमती है।

मोहीका रसराग–रसना इन्द्रिय खट्टा, मीठा, चराफरा, कडुवा, कषायला व तीखा इन ६ रसोंमें रमती है। कभी, खट्टा रस पसंद आता है। नींबू कितना खट्टा होता है, पर नींबूका रस इसे स्वादिष्ट लगता है और नींबूसे भी कम खट्टी दाल वगैरह कोई चीज हो जाय तो वह नहीं सुहाती है। जैसे करेला कितना कडुवा होता है, मैथी कड़वी होती है, वह सब सुहा जाती है, उस ओर संकल्प है और कदाचित् कोई तुरई जरा सी भी कड़वी निकल जाये तो वह नहीं सुहाती है। पहिले से सोच लिया ना कि करेला तो कड़वा होता ही है और उसका साग इस प्रकार लाभ देता है, ऐसा सुन रखा है तो उसे करेला पसंद हो जाता है, पर उससे भी कम कड़वी अन्य चीज नहीं पसंद होती है। यह सब संकल्प पर आधारित है। किसी को मीठी वस्तुस्वादिष्ट लगती है तो किसी को मीठी वस्तु नहीं रूचती है। चरपरी वस्तु भी खानेमें दुःखद होती है। सी-सी आवाज भी करते हैं, आंखोंसे आंसू भी गिरते जाते हैं, पर लालमिर्च मांगते जाते हैं कि मुझे और लावो लालमिर्च। तो सुहानेकी बात देखो जीवोंकी। मोहमें किस-किस तरहके शौक और राग हुआ करते हैं। आंवला कितना कषायला होता है पर जानते हैं इसकी तो कषैलकी प्रकृति ही है, यह लाभकर है, वह सुहा जाता है, अभी पीतल के बर्तन में कोई चीज रखी हो और वह कषैली बन जाय तो वह नहीं सुहाती है। यों मोही जीवको इन इन्द्रियके विषयों में विचित्र राग पड़ा हुआ है।

मोहीका गन्धराग–घ्राण इन्द्रियका विषय है सुगंध, दुर्गंध लेना। इसे सुगंध सुहाती है और दुर्गंध नहीं। पर कोई जीव ऐसे हैं कि उन्हें दुर्गन्ध सुहाती है और सुगन्ध नहीं सुहाती है। आप लोग सोचते होंगे कि ऐसे कौन से जीव होते हैं जिन्हें दुर्गन्ध सुहाती है और सुगन्ध नहीं सुहाती है। भले ही पशु पक्षी ऐसे हो जायें पर मनुष्योंको तो सुगन्ध सुहाती है दुर्गन्ध नहीं सुहाती है अरे ढीमर ढीमरनी मछली पकड़ने वाले लोग जो कि मछलीकी वासमें ही रहते हैं उनकी ऐसी प्रकृति है कि उन्हें मछलियों की बास सुहाती है और सुगन्धित पुष्पों की महक नहीं सुहाती है। अगर उन्हें कभी सुगन्धित पुष्पों वाले बाग में सोना पड़े तो नींद नहीं आती। कितनी विचित्रता है जीवोंकी, कोई सुगन्धमें मस्त है, कोई दुर्गन्ध में।

मोहीका रूपराग–चक्षु इन्द्रियका विषय है रूप। अब बतलावो दूर रहने वाली किसी चीजका रूप दिखनेमें आ गया, वह रूप पकड़ने की चीज तो है नहीं कि हाथोंसे पकड़कर रूपको रख लें

या रूपको कहीं ले जावें, ऐसा तो कुछ है नहीं, वह तो एक बाहरसे दिखने भर की वस्तु है। रूप और किसी काम नहीं आता। न रूपमें स्वाद है, न गंध, सुगन्ध है, न रूप पकड़ में आता है, केवल बाहरमें निरखते जावों। पर यह जीव ऐसा व्यामोही है कि जिस कामसे कोई लाभ भी नहीं निकलता, व्यर्थ का समय खोना है वह काम इसे सुहावना लगता है। तो चक्षु इन्द्रियका विषय है रूप।

मोहीका शब्दराग–कर्ण इन्द्रिय का विषय है शब्द। कोई बहुत सुन्दर राग रागनीका शब्द सुनने में आये तो यहाँ क्या लाभ हो गया? कोई शरीरको स्वस्थ बनाये या धर्ममें बढ़ाये, ऐसा कुछ भी तो नहीं होता। बल्कि उन गीत संगीतों में धनकी हानि है, समय की हानि है, उपयोगकी हानि है और वहां कोई बुरी शिक्षा ग्रहण करले तो भविष्य भी खतरे में है। लेकिन इस जीवको वह सुहाता है। मजदूरी करने वाले भी व्यक्ति दिन में १० रू० कमा पाये। खाने में भी कमी करके और नहीं तो तीन रुपयेका टिकट ही सही, लेकर सिनेमा देखेने जायेंगे। सिनेमाघर में जितनी संख्या गरीबोंकी मिलेगी उतनी अमीरोंकी नहीं। क्या करें वह विषय है, उनसे नहीं रहा जाता। उनमें ही वे अपना दुःखसे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें उस दुःखको दूर करनेका वही एक साधन जँचा है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी रूचि–इन्द्रियोंके विषय आत्माको कोई लाभ नहीं देते, किन्तु यह जीव उन ही विषयोंके आधीन हो रहा है। जो पुरूष विषयोंके आधीन है उन्हें विषयोंके साधन ही सुहायेंगे। जो लोग विषय साधन जुटा दें, ऐसे पुरूषोंमें ही उनका चित्त लगेगा। उनका चित्त धन वैभव में लगेगा। यों जीवन असंयममें बीतेगा। किन्तु जिसने सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको परखा है और अपने आत्माके अनुभव का आनन्द लिया है उनका राग विषयों में न जायेगा। वे तो उनसे छूटकर ऊपर उठे हुए हैं। ज्ञानी पुरूषोंका राग सत्संगमें होगा। तपस्यामें ज्ञान के अर्जनमें होगा। ज्ञानी पुरूषोंको ज्ञानभावसे अत्यन्त अधिक प्रीति होती है। वे अपने जीवन में सबसे अधिक महत्व ज्ञानको देते हैं। जबकि मोही अज्ञानी प्राणी विषयभोगोंके साधनोंको अधिक महत्व देते हैं, उनकी ही वृद्धि करते हैं, उनसे ही अपना बड़प्पन मानते हैं। लोगोंके बीचमें बड़ी ठसकके साथ अपना मान दिखाते हैं। ये सब बातें एक अज्ञान अवस्थामें होती है। जिनके अज्ञान अंधकार दूर हो गया है उन पुरूषोंका राग तपस्यामें और ज्ञानमें होता है। यह राग उस जीवका उत्थान कराने का कारण है।

अपने आपकी संभालमें राग–इस जीव की सम्पदा एकमात्र ज्ञान है। ये बाहरी चीजें बाहर ही पड़ी हैं। कुछ लोकव्यवस्थामें उनपर अपना अधिकार समझा जाता है। वस्तुतः किसी भी परद्रव्य पर अपना अधिकार नहीं है। अपना अधिकार अपने आपकी संभालमें है। अपने आप को संभाल लो, विवाद समाप्त होगा। जैसे घरका और पड़ौसीका बच्चा लड़ जाय तो कोई बुद्धिमती मां उस लड़ाईके प्रसंग में दूसरेके बच्चे को नहीं मारती कि तूने मेरे बच्चेको क्यों पीटा, किन्तु अपने बच्चे को मारती है, वहाँ खेलने क्यों जाता है? जो बुद्धिमती मां है वह अपने बच्चे को डाटेगी, दूसरेके बच्चेको न मारेगी। वह जानती है कि दूसरे के बच्चे पर मेरा क्या अधिकार? यदि उस दूसरे बच्चेको डाटेगी, पीटेगी, मारेगी तो उससे लड़ाई बढ़ेगी। उसमें खुदकी बरबादी ही होगी।

अनधिकारकी घटना–भैया ! एक ऐसी घटना हुई भी थी कि कोई एक गरीब पड़ौसिन थी और पासमें ही एक सेठकी हवेली थी। सेठके लड़केमें और उस पड़ौसिनके लड़केमें परस्परमें झगड़ा हो गया तो सेठानीके लड़केने उस पड़ौसिनके लडकेको डांटा, पीटा, मारा। इस बात को देखकर उस पड़ौसिनके मनमें आया कि जब तक इस सेठानीके लड़के को मार न डालूंगी तब तक मुझे चैन नहीं है। इस घटनामें उसने दो दिन नहीं खाया। भोजन उसके मुँहमें न जाय। अब क्या उपाय रचे वह सो उसने कुछ मिठाई खिलानेका लोभ दिया सेठानी के लड़केको। वह सेठानीका लड़का उस पड़ौसिनके घर आ गया। उसने मिठाई खिलायी और उस लड़केका गला घोटकर उसे मार डाला और कहाँले जाय उसे, तो अपने ही घरके आंगनमें गड्ढा खोदकर उसे गाड़ दिया। अब ढुंडवा पड़ा सेठके लड़केका। खुफिया पुलिस आयी। होते-होते आखिर पता पड़ गया कि इस पड़ौसिनने मारा है। गिरफ्तार किया गया। जब बयान हुआ तो उस पड़ौसिनने साफ-साफ बयान दिया कि सेठानीके लड़के ने मेरे लड़केको मारा, सो मुझे इतनी बेचैनी हो गयी कि दो दिन तो मैंने खाना नहीं खाया। अखिर उस बेचैनी को दूर करने का एक ही उपाय सूझा। तब उस लड़केको मारकर ही मैंने चैन पाया।

मनःसंयमनकी शिक्षा–तो जैसे व्यवहारमें पड़ौसीके बच्चेमें और अपने बच्चेमें लड़ाई होने पर अपने ही बच्चे को डाटा जाता है, दूसरे के बच्चे को नहीं, तू वहां क्यों खेलने गया, अनेक प्रकारकी डाट दिखायी जाती है, ऐसी ही जितनी विपदाएँ आ रही हैं उन सब विपदाओंका आधार, उन कष्टोंके पानेका अपराध इस जीव पर खुदका है। इसे अपने मनको डाटना चाहिए न कि मनके साधनोंका निग्रह अनुग्रह करनेकी होड़ मचाना। संयमके विकास करनेकी धुन बनानी है। अपने मनको डाटो। यह मन बड़ा स्वच्छन्द है। स्वच्छन्दतासे यह विषयोंमें मग्न होता फिरता है। पंचेन्द्रियके विषयोंसे अपनेको सुखी मानता है सो विषयों में दौड़ लगा रहा है। इन विषयों से अपनेको सुखी मानता हैं सो विषयोंमें दौड़ लगा रहा है। इन विषयोंके सेवाका फल अत्यन्त कठिन होगा, दुर्गति होगी। प्रथम तो इस ही भवमें वह अशान्त रहेगा, दूसरोंके द्वारा विपदा पायेगा। अनेक कष्ट होंगे और परभवमें भी दुर्गति होगी। इन विषयोंसे प्रीति न लगानी चाहिए।

ज्ञानीका विवेक कमलवत् निर्लिप्तता–बुद्धिमान् पुरूष वही है जो पुण्यफलमें हर्ष नहीं मानता। जो भी समागम मिला है वह नियमसे कष्ट देगा, बिछुड़ेगा, इस तथ्य को कभी न मिटाया जा सकेगा। यदि इन समागमोको पाकर कोई हर्ष माने, फूला न समाये तो उनके वियोग के समय नियमसे दुःखी होना पड़ेगा। बुद्धिमानी यह है कि उन समागमोंके समय में भी हर्ष विभोर न हो, जलसे भिन्न कमल है ऐसी वृत्ति रहे। ज्ञानी पुरूषोंकी ऐसी उत्कृष्ट वृत्ति होती है। घर में रहते हैं फिर भी ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ है कि उन्हें अपने आत्माका प्रतिबोध होता है। सबसे निराले केवल ज्ञानमात्र आत्माका अनुभव होता है, इस कारण इस परिस्थितिवश घरमें रहकर भी गृहजालसे ज्ञानी पुरूष अलग है, मोह-ममतामें नहीं फंसा हुआ है। जैसे जलसे ही उत्पन्न हुआ कमल जलमें ही रह

रहा है, जलके ही कारण हरा भरा है फिर भी यह कमल जल से बहुत ऊँचे पड़ा हुआ है, जलमें नहीं रहता है। कमल डंडीसे कितना ऊँचे फूला करता है। जैसे जल में रहकर भी कमल अलिप्त है ऐसे ही ज्ञानी पुरूष घर में रहकर भी घर से अलिप्त रहा करता है।

ज्ञानी की विभक्तरूपता–अथवा जैसे वेश्याका प्रेम दिखावटी है, आंतरिक नहीं है, ऐसे ही ज्ञानीका प्रेम परवस्तुओंके विषयमें बनावटी दिखावटी होता है। परिस्थितिवश सब कुछ करना पड़ता है, किया जा रहा है, पर अन्तरंगमें परपदार्थोसे प्रीति नहीं है। कैसे प्रीति हो? ज्ञानी के चित्तमें तो यह समाया है कि ये बाह्य पदार्थ है, विनश्वर है, इनकी प्रीतिसे कोई हित नहीं है, ऐसा विश्वास बना है। यह ज्ञानी पुरूष किसी भी विषयके साधनमें उलझता नहीं है। जैसे कीचड़में स्वर्ण पड़ा है, उस पर जंग नहीं चढ़ती है, पर लोहे पर जंग चढ़ जाती है। लोहा चाहे कीचड़में रक्खा हो, चाहे घर में कहीं रक्खा हो तो भी कुछ रजकण उसे प्राप्त होते हैं और वह अपने ऊपर जंग चढ़ा लेता है। ऐसे ही अज्ञानी पुरूष अपने ज्ञानस्वरूप पर जंग चढ़ा लेता है, किन्तु ज्ञानी पुरूष कीचड़में पड़ा हुआ सोनेकी भांति अलिप्त रहा करता है। भैया ! अपने अपने मन को समझाना है। संसारकी विभूतिको पाकर इसमें बेहोश नहीं होना है। ये तो सब अस्थिर पर चीजें है। उदय पुण्यका है, मिल गया समागम ठीक है। पर ये समागम हर्ष बढ़ाने के लिए नहीं है। प्रत्येक परिस्थितिमें अपने आपको सावधान रखने की आवश्यकता है।

अज्ञानीकी क्या स्थिति होती है? इस बातको अब इस छंद में कह रहे हैं।

विहाय व्याप्तमालोक पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रवि विद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति॥ १२४॥

अज्ञानीके रागका पतनमें सहयोग–ज्ञानी का राग तो सुबह की ललाई की तरह है, जैसे सुबह सूर्योदयसे आधा घंटा पहिले पूर्व दिशामें जो लालिमा होती है वह उत्थान के लिए होती है, किन्तु अज्ञानीका राग है सन्ध्याकालकी ललाईकी तरह है। संध्याकालकी जो ललाई है उसमें कितने ऐब होते हैं, प्रकाश को समाप्त कर देती है, अंधकार आगे छा जाता है और इस सूर्यको पातालमें भेज देती है। सूर्यके अस्त होनेका नाम पाताल में भेजना बताया है। किसी पुरूषके किसी प्रकार की हानि हुई है और वह उसी बात पर अड़ जाय तो लोग कहते हैं कि भाई हम बहुत समझाते हैं, नहीं समझते हो तो जावो गिरो कुएं में। उसका अर्थ यह नहीं है कि कहीं पानी वाले कुवेंमें गिर पड़ो। उसका मतलब यह है कि हानि भोगो, बरबाद हो। तो यों ही सूर्य पातालतलको प्राप्त होता है, इसका अर्थ है कि यह सूर्य अस्तको प्राप्त होता है। उस संध्याकी ललाईमें इतने ऐब हैं कि प्रकाश को मिटाकर अंधकार आगे ला दे और सूर्यको भी रसातल भेज दे। ऐसे ही अज्ञानीका राग ज्ञानको मेटता है, अज्ञानको बढ़ाता है व जीवको बरबाद कर देता है।

रागका दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति–दोनों दृष्टान्तों से यह शिक्षा लेनी है कि ज्ञानी पुरूषका राग तो प्रभात कालकी लालिमाकी तरह, उठने के लिए है, लोग इस सूर्यको हाथ जोड़ेंगे, वे आदर से देखेंगे,

ऐसे ही ज्ञानीका यह राग जो तपस्या और ज्ञानमें पहुंच रहा है, वह इसके उत्थानके लिए है। और अज्ञानीका राग ज्ञानको तो पीछे करेगा, क्रोधादिक मोह अंधकार को आगे लायेगा और नीचे दुर्गतिमें नरक आदिकमें पहुचायेगा। अज्ञानीके रागमें ये तीन ऐब हैं, ज्ञानको पीछे करना, अज्ञान अंधकारको आगे ला देना और मालिकको बरबाद कर देना। अज्ञानीके रागमें इतने ऐब बसे हुए हैं।

मोहका संकट–अहो कैसा मोह नाच रहा है जगत्के जीवोंपर कि मोहसे ही तो दुःखी होते जा रहे हैं और उस दुःख मेटनेके उपायको मोह करना ही समझ रहे हैं। सो जिससे दुःख होता है उसी कामको करने से दुःख मिटेगा कैसे? बढ़ेगा। ऐसा साहस ज्ञानी ही करता है। ज्ञानी क्या, यह सब हम आपकी चर्चा है। जरा ज्ञानतत्त्वको संभाल लो, फिर वहाँ कोई वेदना, कोई भय, कोई शंका नहीं हो सकती है। जीवनमें शान्ति रहेगी। यहां बहकाने वाले बहुत हैं। लोगोंके आराम देखकर लोगोंके विषयसाधन निरख कर, लोगोंकी बात सुनकर यह भी अपने होशको गायब कर देता है। उन्हीं भोगविषयों में रमनेकी इसकी बुद्धि होती है। हाय जितना वैभव इनके है उतना मेरे पास क्यों नहीं है? इतना वैभव हो जाय तो हमें शान्ति मिलेगी ऐसी उनके चित्तमें गलत धारणा बनी है।

कर्तव्यशिक्षण–भैया ! एक ही मात्र निर्णय मान लो कि जो अशान्त होता है वह अपने अपराधसे ही होता है। हमें अशान्ति दूर करना है, शान्ति चाहना है तो यह कर्तव्य होगा कि वस्तुका सही स्वरूप जानें। अपना ज्ञान बढ़ायें, परसे भिन्न अपने को निरखें, मोहका परित्याग करें तो अपने आपमें इसे शान्ति का अनुभव होगा। यहाँ दो श्लोकोंमें ज्ञानीके राग और अज्ञानीके रागकी चर्चा की गई है। अपना राग बनावें संयममें, तपश्चरणमें, ज्ञानके अर्जनमें। यहां क्या कष्ट है? कष्टका तो यहां कोई नाम ही नहीं है। व्रत, तप, संयम इनमें तो अनुराग करें और जो ज्ञानदृष्टि है उसकी रूचि बनाएँ, जितना हम अपने को अकेला अनुभव करेंगे उतना ही हम ज्ञानमें बढेंगे, उतनी ही शान्ति होगी।

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संवलम्।
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ॥
पन्थाश्च प्रगुण शमाम्बुबहुलश्छाया दया भावना।
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥ १२५ ॥

साधुजन एक शान्तिके धाम निर्वाण-पदको प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी यात्रा निर्वाण यात्रा है। वे अपनी निर्वाण यात्रामें बिना विघ्नके कैसे निर्वाण सदनको प्राप्त करते हैं, उसकी विधि पद्धति इस छंद में बतायी गयी है।

यात्रा के साधन–जैसे कोई पुरूष किसी इष्ट स्थानको जाना चाहता है कोई राजा या कोई धनिक या अधिकारी ऐसा कोई महापुरूष जब अपनी यात्रा करता है तो उसके आगे कई लोग जाया करते हैं। उन्हें पुरस्सर कहते हैं। कोई महान पुरूष चलता है तो उसके आगे आगे खबर पहुंचाने वाले या व्यवस्था करने वाले चलते हैं अथवा मार्ग दिखाते हुए चलते हैं, ऐसे कुछ साथ चलने वाले

होते है। यात्रामें यात्रीके साथ कुछ सहचर व सहचरी होते हैं जो प्रत्येक चर्यामें यात्रीके प्रोग्राम के सहायक होते हैं। साथमें भोजन सामान भी रहता है ताकि कोई व्याकुलता न है। चौथी बात—उनकी शिविका पालकी वगैरह जिसमें चलते हैं अथवा थक जायें तो बैठ सकें इसके लिए शिविका रहती है। ५वीं बात उनकी उस यात्रा के बीचमें ठहरनेके बहुतसे स्थान पड़ाव नियत और सज्जित हो जाते हैं। छठवीं बात उनके रक्षक लोग उनके साथ आगे पीछे रहा करते हैं। ७वीं बात रास्ता भी बड़ा साफ सरल है और जिस रास्तेके बीचमें जगह जगह पानीका प्रबंध होता है ऐसा पंथ होता है और उस रास्तेमें छायाका काफी प्रबंध रहता है। ८वीं बात उनकी सवारियोंका भी अच्छा प्रबंध होता है। ऐसे साधनोंके साथ जो यात्रा करता है वह अपने इष्ट स्थानको निर्विघ्न बिना क्लेश, बिना उपद्रव के पहुंच जाता है।

अध्यात्मयात्रामें ज्ञानकी पुरःसरता—उक्त दृष्टान्तको दृष्टिमें रखकर गुणभद्र आचार्यने साधुजनोंकी निर्वाण यात्राका वर्णन किया है। इन साधुवोंके आगे आगे चलने वाला ज्ञान है। यह ज्ञान साधुवोंको मार्ग दिखाता हुआ रहता है। यह ज्ञान आगे आगेका समस्त प्रबंध करता हुआ रहता है। इन साधुजनोंका पुरस्सर है ज्ञान। जैसे किसी बड़े आदमी की यात्रामें आगे-आगे चलने वाले नियत रहा करते हैं। निर्वाण यात्राका अर्थ कोई ऐसा न लगाना कि किसी खास स्थान पर पहुंचने की यात्रा। यह तो एक भावोंकी यात्रा है। किसी परपदार्थकी ओर अभिमुख होना, परपदार्थ में अपनी नजर बनायी, उसमें रति की, यह है संसार की यात्रा और परपदार्थ से उपेक्षा करके एक निस्वभावमें अपनी रूचि बनायी और इस ज्ञानस्वभाव की ही उपासना की तो यह है निर्वाणयात्रा। यह यात्रा भाव रूप है, इसी कारण इसमें सब बातें भी भावरूप ली गयी हैं। साधुसंत पुरूषोंकी इस महान् यात्रामें आगे आगे ज्ञान चलता है। यह ज्ञान मार्ग दिखाता हुआ चलता है। यदि ज्ञान न हो तो मोक्षके पथमें ये साधु संत जन कैसे चलें? यह ज्ञान ही तो उपाय बताता रहता है। कैसे संयम करना, कैसे ध्यान करना, यह सब ज्ञान बिना नहीं हो सकता। तो इन साधुवोंका पुरस्सर ज्ञान है।

ज्ञानकी मार्गप्रकाशकता—भैया! ज्ञान को ज्योतिकी उपमा दी है। दीपक और सूर्य की उपमा दी है। जैसे ये प्रकाशमान पदार्थ मार्ग दिखा देते हैं ऐसे ही यह ज्ञान मार्ग दिखा देता है। ज्ञान सबमें किसी न किसी रूपमें बना ही रहता है। कोई पुरूष खोटा काम करे, पापका काम करे तो कर्मों के उदय की प्रेरणासे भले ही उस खोटे काममें लगता हो, लेकिन ज्ञान तो तथ्य बता ही देता है कि तुम्हारा यह कदम खोटा है। कषायकी तीव्रता होती है तो उस ज्ञानकी बात कोई मानता नहीं है। परिस्थिति है, फिर भी यह ज्ञान सूर्यकी भांति मार्ग तो बता देता है पर उस पर चलना यह चारित्र गुणकी बात है। जैसे प्रातःकाल हुआ कि सूर्यका प्रकाश फैला। लोग जग जाते हैं, मार्ग दिख गया, पर सूर्य चलाता नहीं है, वह तो एक मार्गका प्रकाशक है, इसी तरह ज्ञान मार्गका प्रकाशक है। अब कोई चले उस मार्ग पर तो कुछ लाभ भी पाये, न चले तो ज्योंका त्यों संसार में रूले ! साधुजनोंके आगे-आगे ज्ञान चलता है।

धर्मयात्रीकी सहचरी–निर्वाणपथिक संतोकी सहचरी है लज्जा। लोक लज्जाकी कृपासे अनेक व्यसन और पापोंसे बचे रहा करते हैं। कभी किसी जीवके मनुष्यके कोई असाता कर्मका और पापभावका उदय आये, विकार भी मनमें आये तब भी लज्जाकी इतनी कृपा है कि उसके कारण वह पापोंसे बचे रहा करता है। धर्मात्माजनोंके लिए इस प्रकारकी लज्जा एक शृंगारका काम देती है। इन साधुसंतोकी सहचरी लज्जा है। अर्थात् अधर्म कार्यको रोक देना, धर्मकार्यसे चलित न होने देना, ऐसी जो प्रेरणा है अथवा लोकलाज है, कोई मुझे क्या कहेगा, इस प्रकार की लाजके कारण भी बहुतसे लोग पापोंसे बच रहा करते हैं। इन साधु संतोंकी इस निर्वाण यात्रामें सहचरी लज्जा है।

धर्मयात्रामें संबल–इतनी बड़ी यात्रामें साथमें कलेवा भी रहना चाहिए। भोजन नास्ताका प्रबंध भी रहना चाहिए। सो उसकी इस निर्वाण यात्रामें तपश्चरण सम्बल है। जैसे लोग अपनी यात्रामें भोजन आदिक नाश्ताका कुछ प्रबंध स्वयं रखते हुए जायें तो उन्हें यात्रामें खेद और बाधाएँ नहीं आती हैं। लोग करते भी ऐसा हैं। कोई पुरूष जो अशुद्ध और जैसा मिला तैसा ही खाने वाला हो तो साथमें कहीं नहीं ले जाते, पर पैसा तो रखते ही हैं। पैसोंसे चीज खरीदी और खा ली। तो पैसा भी एक कलेवाकाही रूप है। यदि सम्बल न हो तो खेद खिन्न होकर यह यात्री कहो बीच में ही प्राण गँवा दे। इन साधु संतोंका यह सम्बल है तपश्चरण। इनकी यात्रा है शुद्ध भावोंकी। शुद्ध भाव रखनेका इनमें बल बना रहे इस बल के प्रकट करने के लिए तपश्चरण कलेवा जैसा काम देता है। यात्री थक जाय, मुसाफिर शिथिल हो जाय चलते चलते तो जहाँ इसने भोजनपान किया कि एक नई स्फूर्ति आ जाती है। फिर वह आगे कदम बढ़ा लेता है। ऐसे ही साधु बहुत-बहुत असत्संगके कदाचित् वातावरण पानेसे कुछ विकार भावमें आयें तो तपश्चरण जहाँ किया वहाँ यह शिथिलता दूर हो जाती है। तपस्याका मुख्य सहयोग विषय कषायोंकी बाधावोंसे बचानेका है। जीवमें कायरता विषयवासनाके कारण होती है। यही इस जीवकी शिथिलता है। अपनी यात्रामें यह पुरूष शिथिलताको मिटानेके लिए तपश्चरण करता है।

धर्मयात्रामें शिविका–यह साधु किस शिविकामें बैठकर यात्रा कर रहा है? वह शिविका है चारित्रकी। चारित्रकी पालकीमें बैठकर निर्वाण की यात्रा कर रहा है। जहाँ शुद्ध चारित्र प्रकट होता है वहां खेद नहीं रहता। आरामसे पालकीमें चले जा रहे हैं। वहां खेदका क्या काम है? जिनके सम्यक्चारित्र प्रकट नहीं है खेद उनको लगा है। चारित्र तो खेद का विनाश करने वाली शक्ति है। चरित्र नाम है आत्माके सहज स्वभाव में उपयोगको स्थिर करना। जिनकी सहजस्वभावमें उपयोगकी स्थिरता है उनको खेद है क्या? खेद तो विषयकषायोंकी वृत्तिसे हुआ करता है। कभी क्रोध कषाय जग जाय तो उसमें खेद उत्पन्न होता है, थकान उत्पन्न होती है, व्याकुलता हुआ करती है। कभी मान कषाय जग जाय तो अन्य लोगोंसे अपनेको उच्च जाहिर करनेके लिए यह नाना विकल्पात्मक श्रम करता है, वहां इसे खेद होता है, किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए मायाचार रूचता है। उस

मायाचारकी वृत्तिमें इसे खेद होता है। लोभ कषाय हो इसमें भी भावात्मक खेद चलता है। इन सब खेदों से परे चारित्रकी अवस्था होती है। जो पुरूष सम्यक्चारित्रका आधार लेते हैं उन पुरूषोंको खेदसे काम नहीं है। ये निर्वाण पथके पथिक साधु संत पुरूष ऐसी निर्वाण यात्रा करते हुए आगे बढ़ते चले जा रहे हैं।

निर्वाण यात्रा में निवेशनधाम–निर्वाण पथिक साधु संतोंको रास्तेमें ठहरनेके साधन क्या-क्या मिलते हैं? स्वर्ग अथवा उत्कृष्ट मनुष्य विभूति का धाम इन साधु संतोंको मिलता है। जैसे बड़े पुरूष कहींके लिए प्रयाण करें तो रास्तेमें उनके स्थान सुसज्जित रहा करते हैं। ये साधु पुरूष अपनी भावात्मक यात्रा करते हैं निर्वाण जानेके लिए। तो जब तक उन्हें निर्वाण नहीं प्राप्त होता अर्थात् जब तक वे मुक्त नहीं हो जाते तब तक स्वर्गोंमें उत्पन्न हों, श्रेष्ठ मनुष्यभवमें उत्पन्न हों, ऐसे ही उनके रास्तेके ठहरनेके स्थान होते हैं।

धर्म यात्राके रक्षक–इन साधु संतोंके रक्षक गुण है। जैसे किसी महापुरूषके साथ रक्षक अर्थात बाडी-गार्डस रहा करते हैं, ऐसे ही इन साधुवों की रक्षा करने वाले गुण हैं–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और और भी अनेक धर्म सम्बंधित व्यावाहारिक गुण इनकी रक्षा किया करते हैं। इनकी अहिंसामयी मुद्रा रहती है और ये इस अहिंसा गुणके प्रतापसे बड़े-बड़े दुश्मनों पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं, केवल एक अहिंसा भावसे। इनका गुण इनका रक्षक है।

निर्वाण पथ–इन साधुवोंका मार्ग, मोक्ष जानेका बड़ा सीधा है। अपने ही विषयमें घटावों। अपने को क्लेशोंसे छुटकारा पाना हो तो अपना मार्ग भी बिल्कुल सरल है। यह मैं खुद जो कुछ हूं, जिसमें 'मैं-मैं' की धुन होती है, अहं प्रत्यय होता है। वह चैतन्य तत्त्व कुछ तो है। उस मुझ चैतन्यको कष्टोंसे मुक्त होना है तो यहां कष्ट व विश्रामकी विधि पर ध्यान दो। पहिली बात तो यह है कि कष्ट होते किस विधि से हैं? समस्त जीवों को जिनको कष्ट है उनकी विधि एक ही प्रकारकी है। भले ही कल्पना में कष्ट नाना हैं और उनकी विधि भी नाना है, पर वह सब विधि मूलमें एक है। क्या? अपने का अकिंचन ज्ञान स्वभावमात्र न मानकर किसी परपदार्थ से सुख हित मानना। इतनी बात सब प्राणियों के साथ लगी हुई है। चाहे कोई किसी प्रकारका दुःख मानता हो, चाहे वह साधु हो अथवा गृहस्थ हो, किसी प्रकारका क्लेश जो मानता हो उसकी एक ही पद्धति है। अपनेमें संतोष न करके बाहरी पदार्थों की आशा लगाना। सबका दुःख एक ही किस्मका है। जिन्हें यह दुःख मिटाना हो उनका कर्तव्य है कि ऐसा ज्ञान बनाएँ अपनेमें कि जिससे अन्तरंगमें परवस्तुकी आशाका भाव न रहे।

अशान्ति और शान्तिकी पद्धति–भला थोड़ा विचार तो करो। जो लोग धन वैभवके बढ़ानेकी होड़में लगे हुए हैं मान लो कदाचित धन बढ़ जाए, बहुत सा धन पासमें रहे तो केवल एक मोह नींद में स्वपन का एक मौज लेते हों तो भले ही लें। शायद कुछ लोग प्रशंसाके शब्द भी बोल देंगे, भले ही कुछ एक काल्पनिक मौज मान लें, लेकिन इससे लाभ कुछ नहीं होनेका है। इस

वैभवसे आत्माको कोई शान्ति न मिल जायगी। शान्तिका उपाय सबका एक ही है। भले ही कोई दुःखी रहकर भी अपने को शान्त मान ले तो यह उनकी एक कल्पना है, पर जिनको भी शान्ति चाहिए है उन्हें शान्ति एक ही पद्धतिसे होती है। परपदार्थोका राग मिटाये, मोह हटाये अपने आपके सहज ज्ञानस्वभावकी ओर अपना चित्त लगाये तब यह अपने स्वभावमें मग्न हो जायगा। फिर इसे नियमसे शान्ति प्राप्त होगी। बाह्यकी ओर झुकना सो अशान्तिका उपाय है। अपने अन्तः स्वरूपकी ओर झुकना सो आनन्दका उपाय है। सबको यही करना पड़ेगा बड़े-बड़े तीर्थंकर जैसे महापुरूषोंने भी सर्वपरिग्रहोंका परित्याग करके निज अंतस्तत्त्वकी ओर झुकनेका मार्ग अपनाया था। और इस परम पुरूषार्थके प्रतापसे उन्होंने वह सहज शान्ति भी प्राप्त की थी। अपने को भी यही करना होगा तब शाश्वत शान्तिके अधिकारी बनेंगे।

वास्तविक प्रभुपूजा–हम जिस प्रभुको पूजते हैं उस प्रभु ने जो किया है उस कर्तव्यमें हमारा अनुराग न जगे तो वह प्रभुपूजा न कहलायेगी। जैसे कोई पुरूष अपने वृद्ध पिताका भोजनका तो ख्याल रखता है, समय पर भोजन पहुंचा दे, पर न पिताकी कोई बात मानता है, न पितासे कोई विनयपूर्वक बोलता है बल्कि पिता चाहता कुछ है और यह प्रतिकूल परिणमता है तो यह पिताकी उपासना नहीं कहलायी। लेकिन लोकलाज आदि अनेक कारणों से अपने वृद्ध बुजुर्ग पुरूषके भोजन आदिककी सुविधा बनाये रहे यह हो सकता है। यों ही कोई प्रभुकी मूर्तिके समक्ष पुज्ज चढ़ा कर अथवा झांझ मंजीरा ठोककर बड़े राग सुरीले स्वरोंकी तान छेड़कर उनकी पूजा करे, भक्ति करे, लेकिन प्रभुने जो कार्य किया है, जिस कर्तव्यसे वे प्रभु बने हैं उस कर्तव्यमें आदर न हो, उसको ही करने योग्य न मानता हो तो वह प्रभुपूजा नहीं कहला सकती है। प्रभुता पानेका बहुत सुगम उपाय है, परद्रव्योंसे मोह हटाकर निज सहज ज्ञानस्वभावमें उपयोगको रमाना।

धर्मपथकी विशेषता और धर्मयान–ये साधु संत जिस रास्तेसे चल रहे हैं वह बहुत सीधा है और उस स्वाधीन भावात्मक पथमें समताका बहुत जल प्रदेश मिलता रहता है। उनके इस मार्गमें दया ही एक छाया है। उन्हें अपने और पर प्राणियों की दया बराबर बनी रहती है। यही दया छायाका काम करती है। उन प्रभुकी सवारी, यान, वाहन भावना है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक धर्म और बोधि दुर्लभ–इन बारह भावनावोंका स्वरूप ज्ञानमें आना यही उनकी एक विलक्षण सवारी है, जिससे वे आगे अपनी यात्रामें बढ़ते जाते हैं। यों यह सब साधन मुनियों को निर्वाणपद पर पहुंचा देते हैं बिना उपद्रव और बिना विप्लवके।

कर्तव्यनिर्देशन–इस छंदसे यह बात जाननी है कि हमारा ज्ञान आगे आगे चले, लज्जा अपने साथ रहे जिससे पापकार्य न कर सकें, तपश्चरण किसी न किसी रूपमें बनाये रहें और ऊंचा सर्वोत्कृष्ट चारित्रका पालन करें तो अपने भी इस मार्गसे चलकर कर्मोंका विध्वंस करके शाश्वत सहज आनन्द प्राप्त कर लेंगे। ये सब गुण साधु संतोंमें को निर्वाण पद पर पहुंचा देते हैं। सदाचारसे प्रेम बढ़ावों, पापाचारसे चित्त हटावो। हमारा ज्ञान, हमारी शुद्ध वृत्ति हमें बल प्रदान करेगी। और

इस स्वात्मबलसे हम संकटोंका विनाश कर सकेंगे। बिना उपद्रवके एक परमशान्तिके महलमें पहुंचना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका आश्रय लो, इससे ही हम आप निर्वाणके निकट पहुंच जायेंगे।

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो लोके तदा सुस्फुटम्,
यासामर्ध विलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्वतः।
तारत्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्रान्यन्ति बद्धक्तधः,
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमस्तद् गोचरं मास्म गाः ॥ १२६ ॥

धर्मपथमें संभावित उपद्रवकी जिज्ञासा–पूर्व छंदमें यह कहा गया था कि जो साधु अपने इष्ट निर्वाणके पथ में निर्विघ्न विहार करके मोक्षस्थान को पहुंच जाते हैं। उस निर्वाणकी यात्रा करने वाले साधुके आगे आगे ज्ञान जाता है और व्यवस्था बनाता है व मार्ग दिखाता है। इनके साथ चलने वाली लज्जा रहती है, अर्थात् पाप और व्यसनोंसे जिस लोकलज्जा से लोग बचे रहा करते हैं वह लज्जा उनके साथ है। जो पाप करने में लाज रखते हैं, प्रायः लोक लाज के कारण वे लोग पापों से बचे रहा करते हैं। वह लज्जा उनके साथ है। रास्तेमें तपश्चरणका कलेवा भी उनके साथ है। चरित्रकी पालकी में विराजमान होकर वे जाते हैं। रास्तेके पड़ाव उनके स्वर्ग हैं। जैसे कोई यात्री यात्रा करता है तो बीचमें पड़ाव करना पड़ता है। उन मुनियोंके बीचके पड़ाव स्वर्ग हैं, उनके रक्षक गुण हैं, रास्ता बिल्कुल सीधा है। रास्तेमें दयाकी छाया है, भावनाकी सवारी है, इतने साधन मिले हैं जिससे वे निर्वाणसदनको बिना उपद्रवके पहुंच जाते हैं। ऐसा पूर्वछंदमें वर्णन करनेके बाद एक जिज्ञासा होती है कि उनके मुक्ति पथमें बाधा देने वाले उपद्रव कौन-कौन हुआ करते हैं? उसके उत्तरमें छंद कहा गया है।

साधु सम्बोधन–यह ग्रन्थ मुनियों को चेतावने के लिए बनाया गया है। मुनियोंको सम्बोधन किया है। सो इस प्रसंगमें मोक्षके कार्योंमें बाधक स्त्री प्रेमको बताया है। इस कारण स्त्रीके सम्बंधमें इस प्रकार वर्णन आयगा जिससे साधुजनोंको वैराग्य बना रहे। जो बात स्त्रियोंके सम्बंध में कही जा रही है वही बात स्त्रियाँ पुरुषोंके सम्बंध में लगा लें। बात दोनोंकी दोनों तरफ है। किन्तु यहाँ प्रकरणवश साधुवोंके सम्बोधन के लिए कहा जा रहा है।

दृष्टि विष–लोग सर्पको दृष्टिविष बताया करते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि कुछ सर्प ऐसे हुआ करते हैं कि उनके देखने भरसे ही विष चढ़ जाया करता है। कहीं ऐसे सर्प देखे गए हैं कि जो दृष्टिविष हो। लोग कहते हैं कि दृष्टिविष सर्प होते हैं, पर यह बात मिथ्या है। दृष्टिविष सर्प नहीं हैं, किन्तु दृष्टिविष स्त्री होती है। एक साधुको सम्बोधन किया गया है। ये स्त्रीजन आधा भी देख लें अर्थात आधी आंखसे भी देख लें तो जगत का प्राणी विह्वल होकर सर्वांग कामवासनामें जलकर बरबाद हो जाता है। तब दृष्टिविष सांप नहीं हुआ बल्कि स्त्री हुई। यह साधुवोंको सम्बोधनेके लिए है, किसीको बुरा माननेकी बात नहीं है। स्त्रीजन पुरूषोंके लिए भी उतनी बात लगाती जायँ। कैसा

समझाया गया है कि किसी तरह ये मुनि कामभावसे अत्यन्त विरक्त हो जायें, प्रयोजन मात्र इतना है। हे साधु! तूने तो स्त्रीका सर्वथा त्याग किया है। महाब्रह्मचर्यव्रत धारण किया है। अब तू अपने त्यागके विरोधी जो स्त्रीजन हैं उनकी प्रीति करके व्यर्थ क्यों भटक रहा है, अपनी कल्पनामें भ्रम रहा है? तू जिनमें रतिकी कल्पना करता है वे ही तेरी बैरीरूप हैं, विषरूप हैं। तू उनके सन्बंधमें अपनी कल्पना मत जगा।

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजंगा दंष्ट्रैवैव काले क्वचित्।
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः॥
हन्युः स्त्रीभुजंगाः पुरेह च मुदुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा।
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषादृष्टाश्च दृष्टवापि च॥ १२७ ॥

निर्वाणपथमें वाधक स्त्रीभुजंग–देखो सर्प तभी दूसरेके प्राण हरते हैं जब वे क्रुद्ध हो जायें। सर्पपर पैर पड़ जाय, उन्हें क्रोध आजाय तो वे डस लेंगे। तो क्रुद्ध होकर सर्प प्राणों के हरने वाले होते हैं–एक बात। दूसरी बात–ये सर्प कभी ही प्राण हरते हैं। इनका रोजका व्यवसाय नहीं है कि मनुष्योंको ढूँढें और पैरोंमें लिपट कर डस लें। कदाचित कभी ये सर्प डसते हैं। तीसरी बात–ये सर्प डस भी लें तो भी उनकी औषधियां बहुत हैं, जो औषधियां तत्काल भी विषका विच्छेद कर दें। यों सर्पसे बच भी सकते हैं किन्तु यहां स्त्री प्रसंगमें तो सभी बातें उल्टी नजर आती हैं। सर्प क्रुद्ध हो तब प्राण हरे किन्तु स्त्रीजन प्रसन्न हों तब भी प्राण हरें। ये भुजंग किसी ही समय कभी भी डसते हैं किन्तु ये स्त्रीजन तो योगीन्द्रों तक को भी जैसे कि पुराणों में बहुतसी कथाएँ आयी हैं। ये उनको भी उनके शीलसे, संयमसे विचलित कर देती हैं और स्त्रीजन याने तद्विषयक प्रेम निरौषधिविष है। इसकी औषधि कोई जड़ी बूटी नहीं है, मात्र ज्ञान है।

शीलविघातकी निन्द्यता–यही साधुजनोंको सम्बोधा जा रहा है, अतः स्त्रीनिन्दाका प्रतिपादन चल रहा हैं अन्यथा वैसे वर्तमान पद्धतिमें निरखा जाय तो शीलविघातमें अधिक अपराध पुरूष जनोंका हुआ करता है। स्त्री के लज्जा नामका एक ऐसा अद्भुत गुण है जिस लज्जा भावके कारण अपने शीलकी रक्षा करनेमें वे समर्थ हैं। पुरूषोंमें लज्जा नामका वह गुण नहीं होता। तब जितनी घटनाएँ पुरूषोंकी ओर से अनुचित होती हैं उतनी स्त्रीजनोंकी ओरसे नहीं होतीं। जैसे कि अखबारोंमें बहुतसे समाचार रंगे भी आते हैं। क्या कभी ऐसा सुना है कि किसी स्त्रीने किसी पुरूषको हरा हो, उस पुरूष पर आक्रमण किया हो? ऐसा तो कहीं नहीं देखा होगा अखबारोंमें। जितने भी इस प्रकार के समाचार आते हैं उनमें पुरूषोंका ही अपराध मुद्रित देखा होगा। तो यों अपराधों की दृष्टिसे तो पुरूषों का नम्बर कम नहीं है।

साधुताके प्रयोजनमें–यहां यह देखो कि ये साधुजन अपने व्रतकी रक्षाके लिए और निर्वाणपथ में निर्विघ्न अपना कदम बढ़ानेके लिए कैसे विचार रक्खा करते हैं? इस कामविनाशके लिए, इस दृष्टि से यहां सुनना है। मुक्तिके पथमें प्रवेश करने वाले साधुजनों को कोई मुख्यविघ्न

है, उपद्रव है तो वह स्त्रीविषयक प्रेम है। वे समस्त उपद्रव जो तिर्यञ्चोंके द्वारा मनुष्योंके द्वारा अथवा शारीरिक वेदनावोंसे सहे जा सकते हैं। वे उपद्रव उतने विघ्नरूप नहीं हो पाते जितने कि स्त्रीजन हैं।

काम विडम्बना–कोई कथानक तो यह बतलाते जो लोग उन्हें मानते हैं कि कोई ऋषि थे। उनकी चार पांच हजार वर्षकी बड़ी ऊँची तपस्या थी। उनकी कठिन तपस्या से इन्द्रका आसन डोल गया। तब इन्द्रने एक अप्सरा भेजी उसे डिगानेके लिए। यह उन मानने वालोंके मुताबिक बात कही जा रही है। उस स्त्रीने ऋषिके पास जाकर बड़े हावभाव दिखाकर नृत्य किया, लीलाएँ कीं। वह ऋषि अपने ध्यानसे चलित होकर उसकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। वह स्त्री दक्षिण दिशाकी ओर आयी तो उस ऋषिने सोचा कि दक्षिणकी ओर मुख घुमानेका कष्ट क्यों करें, सो एक मुख उधर को भी बना लिया। फिर वह स्त्री पश्चिमकी ओर नृत्य करने लगी तो एक मुख पश्चिमकी ओर बना लिया, वह स्त्री उत्तरकी ओर नृत्य करने लगी तो एक मुख उत्तरकी ओर बना लिया। यों चारों दिशावों में मुख बन गये। फिर वह ऊपर नृत्य करने लगी तो ऊपर भी यदि मनुष्य का मुख बनायें तो उससे ऊपर तो नहीं दिखेगा तब गधाका मुख बनाया। उसकी आंखे तो ऊपरको ही रहेंगी। तो यों चतुर्मुख पंचमुख बन गए, ऐसी प्रसिद्धि है। तो इस पंथमें एक विशेष बाधा वाली कोई बात आती है तो वह है कामविषयक वासना।

साधुवोंको स्त्रीसंगकी नितान्त त्याज्यता–स्त्रीरति साधुजनोंको विशेष बाधा करने वाली होती है। अब इस तरह जान जाइए कि कोई एक मुनिहो और संगमें केवल एक स्त्री चाहे ब्रह्मचारिणी बना दी हो और चाहे क्षुल्लिका बना दी हो, एक ही मुनि हो और साथ में एक स्त्री चले तो आप उसे शास्त्रके विरूद्ध मानेंगे या न मानेंगे? वह तो शास्त्रके विरूद्ध बात है। जहां यह बताया गया कि साधुजनोंसे इतनी दूर रहकर नमस्कार करे साधु से ७ हाथ दूर, आचार्य से ५ हाथ दूर रहकर नमस्कारका विधान है। फिर एक ही एक को साथ लेकर रहे यह तो बिल्कुल अयोग्य ही आचरण है। ऐसी अन्य भी कोई बात हो तो श्रावकजनों को इस ओर अपनी दृष्टि बनानी चाहिए कि जो धर्मके अत्यन्त विपरीत बात है और फिर भी उसकी भक्ति में अंध होकर अपने आपको अज्ञानी बनाए रहे तो इससे बंध कौन करेगा? साधुसंघमें अधिकांश क्षुल्लिकाएँ रहा करती हैं, पर उन समस्त क्षुल्लिकाओं, ब्रह्मचारिणियों आदि पर शासन एक आर्यिकाका रहेगा, और वे सब उन मुनिजनोंसे दूर रह रहकर चलेंगी और उनसे दूर स्थानपर श्राविकावोंके संगमें ठहरेंगी। वे उन मुनियोंके संगमें न रहने की तरह है।

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरू वर्जयान्यवनिता वार्तामपि प्रस्फुटम,
तस्यामेव रतिं तनुस्ब नितरां प्रायेणसेर्ष्याः स्त्रियः ॥ १२८ ॥

मुक्तिरमणी के ही आदर का अनुरोध–हे साधु! देख, तुझे यदि मुक्तिरूपी स्त्री की कामना है तो तू यहां मनुष्य स्त्री से प्रीति छोड़ दे, अलंकारमें कहा जा रहा है कि क्योंकि स्त्रीजन प्रायः

करके ईर्ष्या रक्खा करती हैं। जैसे कहते हैं ना सौत। एक पुरुषके दो स्त्री हों तो उन दो स्त्रियोंमें परस्पर ईर्ष्या रहा करती है। तो देख साधु, तेरे सम्मुख दो स्त्री हैं—एक तो मुक्ति रूपी स्त्री और एक यह मनुष्यगतिकी स्त्री। तू यदि मनुष्यगतिकी स्त्रीसे प्रीति करेगा तो तुझे मुक्तिरूपी स्त्रीका लाभ न मिलेगा और तुझे मुक्ति रूपी स्त्री का लाभ चाहिये तो मनुष्यगतिकी स्त्रीकी प्रीति तजना होगा। यह मुक्तिश्री ललना एक उत्तम नायिका है। इसको साधारण जन छोड़ देते हैं। साधारणजन इस मुक्ति ललनाके गुणोंको भी नहीं जानते, फिर भी यह जगतमें श्रेष्ठ और प्रेय है। यह मुक्ति श्री गुणी पुरूषोंसे ही अपनी प्रीति करती है। इस मुक्तिललनाको पाने की यदि तेरी इच्छा हो तो तू उसका ही श्रृंगार बना। मुक्ति स्त्रीका ही श्रृंगार बना अर्थात जिस ज्ञान और वैराग्य द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सके उस ज्ञान और वैराग्यको तू संभाल, अन्य बनितावोंकी वार्ता तक भी मत कर, क्योंकि स्त्रीजनोंका स्वभाव परस्पर ईर्ष्या रक्खे रहने का है। तू मनुष्यगतिकी स्त्रीमें प्रीति रक्खेगा तो मुक्तिस्त्री तुझे न मिल सकेगी और मुक्तिस्त्री की यदि वाञ्छा है तो अन्य वनितावोंका वार्ता समाचार भी मत कर। लौकिक जन ही मुक्तिस्त्रीको तजकर मनुष्यगतिकी वनिताका आदर करते हैं, किन्तु साधुजन एक उस मुक्तिकी ही इच्छा करते हैं।

आत्माकी अलिङ्गता—भैया ! कल्याणकी बात सबको चाहिए। यह आत्मा न पुरूष है और न स्त्री है। आत्माके स्वरूप को देखो—यह तो एक सच्चिदानन्दस्वरूप पदार्थ है। ये पुरूष और स्त्री सब पर्यायोंकी चीजें हैं। आत्माके स्वरूपमें न पुरूषपना है और न स्त्रीपना है। यदि कोई जीव मैं स्त्री हूं, मैं स्त्री हूं ऐसा अपना विश्वास बनाए तो वह मिथ्यादृष्टि जीव है। ऐसे ही कोई पुरूष अपना ऐसा विश्वास बनाये कि मैं पुरूष हूं, मर्द हूं तो यह भी उसके मिथ्यादृष्टिपनकी बात है। विश्वास तो यथार्थ पूर्ण होना चाहिए। यह तो कल्याणके प्रसंगमें पुरूषोंको समझाने के लिए स्त्रीकी एक निन्द्यवार्ता कही गयी है। स्त्री स्वयं यों निन्द्य नहीं है, किन्तु पुरूष को अपनी कल्पना में स्त्रीके सम्बन्ध में ऐसा सोचना चाहिए जिससे विरक्त रह सकें, यों ही स्त्रीजन भी अपनी उन्नतिके लिए पुरूषोंके सम्बन्धमें भी ऐसा सोच सकती हैं जिससे उनका शील, उनका संयम पूर्णतया रह सके। किसी भी प्रकार हो, इस जीव का कर्तव्य है कि अपने उपयोगमें विकारभाव न लायें और अपनेको निर्विकार रक्खें।

निर्विकार परिणतिका उपाय—निर्विकार परिणति बनाने का यह भी एक उपाय है कि अपने निविकार स्वभावकी बारबार भावना भायें। मैं शुद्ध हूं, चैतन्यमात्र हूं। एक बार रूड़की में ६ दिन तक प्रवचन सुनने के बाद एक अजैन महिला सुबहके समय मंदिरमें आकर हमसे पूछती है कि महाराज हमें एक शंका है जिससे हमें बड़ा दुःख रहा करता है, वह क्या शंका है कि मुझे यह विश्वास बना है कि मैं स्त्री हूं, कायर हूं मैं व्रत तप नहीं कर सकती, मुक्ति नहीं पा सकती, इसकी मुझे बहुत वेदना बनी रहती है। ठीक है। कुछ थोड़ी देर बाद उससे कहा कि पहिले तो यह विचारो कि तुम एक चैतन्यपदार्थ हो या मांस मज्जाका पिंड रूप यह शरीर हो, पुद्गल हो? पहिले तो इसी

बातका निर्णय करलो। तुम चेतन होना जानन देखनहार एक आत्मा हो ना? शरीर तो नहीं हो, जड़ तो नहीं हो अब उस आत्मामें यह निरखो कि उस आत्मामें क्या कोई भिन्न-भिन्न आकार हैं, क्या अंग उपांग हैं, क्या कोई शरीर है, कोई चिन्ह है? आत्मा जो एक ज्ञानप्रकाशमात्र है। एक ऐसा विलक्षण पदार्थ है जो ज्ञानभाव से ही रचा हुआ है। उस ज्ञानानन्दघन अपने आत्माकी सुध लो और भीतर में यह धुन बनावो कि मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूं।

स्वभाव भावनामें प्रगति–इस ज्ञानानन्दमात्र तेरे आत्मामें न पुरूषपना है, न स्त्रीपना है। बजाय इस भावनाके कि मैं स्त्री हूं, यह भावना भावों कि मैं एक चित्स्वभावमात्र पदार्थ हूं, सच्चिदानन्दमय एक तत्त्व हूं। जो पुरूष भी अपने आपमें ऐसा विश्वास रखे हो कि मैं पुरूष हूं उसका भी उद्धार नहीं है। यों ही जो मैं स्त्री हूं ऐसा विश्वास रक्खे है उसका भी उद्धार नहीं है। यह तो एक पर्यायका सम्बंध है। आत्मा तो सच्चिदानन्दस्वरूप एक स्वभाव है। उस आत्मा की प्रगति करना है।

भावनानुसारिणी वर्तना–भैया ! अपनी प्रगति निर्विकार भावनासे ही हो सकती है। अपने को जिए रूपमें निरखो बराबर, अपना विकास उस रूपमें होगा। जो पुरूष मैं कायर हूं, दीन हूं ऐसा बारबार विचारेगा उसमें ये ही ऐब प्रकट हो जायेंगे। जो जीव अपने स्वभावका संभाल करेगा, मैं प्रभुवत् शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हूं, मुझमें अतुल बल है, मेरी अतुल महिमा है, ऐसी अपनी बारबार भावना करें तो उसमें पौरूष प्रकट होगा, ज्ञानबल बढ़ेगा। अपनेको निर्विकार भावो। मैं स्वतंत्र हूं, निश्चल हूं, निष्काम हूं ज्ञाताद्रष्टा हूं, यह है अपने आपकी अविकार भावना-ऐसा बारबार भावो तो यही बात प्रकट हो जायेगी। जैसे नाटक में कोई किसी का भेष रखकर नाटक करता है, वह नाटक करने वाला पुरूष इतना विभोर हो जाय कि अपना नाम अपना असली काम जैसा कि वह पुरूष है उसे भूल जाय और जिसका भेष रक्खा है केवल उस रूप ही मान ले तो यदि उसका पाठ किसीको मार डालनेका है तो वह मार डालेगा। यदि उसे थोड़ा यह बोध है कि मैं तो अमुकचंद हूं, यह तो मैं नाटक कर रहा हूं तो वह न मारेगा। जैसी भावना रखता है जीव, वैसी ही अपनी प्रवृत्ति करता है।

स्वरूपभावनामें संकटसमापन–अपने उत्थानके लिए अपने आपकी निर्विकार भावना बनाना चाहिए। मैं अपने स्वभावसे कभी चलित नहीं हो सकता ऐसा मैं निश्चल हूं। मेरे अस्तित्त्वमें, मेरे स्वरूपमें कर्म ही क्या, किसी भी कषायका, इच्छाका प्रवेश भी नहीं है। मैं ऐसा निष्काम हूं। जिस शरीरमें बस रहे हैं। जो शरीर मुझपर लदा है उस लादे हुए शरीरको भूल जावो। शरीरकी बात शरीरमें है, आत्माकी बात आत्मामें है। मैं आत्मस्वरूपसे अपना नाता जोडँ और जो आत्मामें बात बसी हुई है उसको मुख्यतासे देखूँ, ऐसा देखने पर न केवल शरीरका कष्ट मिटेगा, किन्तु जितनी चिन्ताएँ इस जीवको हो जाया करती हैं वे सब चिन्ताएँ एक साथ समाप्त हो जायेंगी।

आत्माकी संकटहारिणी सुगम श्रेष्ठ कला–इस पर्याय पर नजर रखकर बाहर देखा करते हैं तो विपदायें हम पर मंडराती हैं। हम अपने आपमें प्रवेश करके अपने अन्तःस्वरूपमें तकेंगे तो

समस्त विपदायें समाप्त हो जायेंगी। जैसे जमुना नदीके कछुवा पानीके ऊपर सिर निकालकर पानीमें तैरते जाते हैं तो पक्षी उन कछुवोंको चोंटनेके लिए चारों तरफसे आ जाते हैं। अरे कछुवे क्यों व्यग्र होते हो? तेरे व्यग्र होने की क्या जरूरत है? तुझमें एक ऐसी कला है जरा सा चार अंगुल पानीमें अपनी चोंच डुबा ले फिर सारे पक्षी तेरा क्या करेंगे? ऐसे ही यह पुरूष अपनी उपयोगकी चोंच अपने इस ज्ञानसमुद्रसे बाहर करके डोल रहा है तो उस पर अनेक संकट मंडरा रहे हैं। अरे घबड़ानेकी क्या जरूरत है? तेरे में एक कला है कि तू अपने उपयोगको अपनी ज्ञाननिधि में डुबो दे तो तेरे सारे संकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे। हम आपका शरण अपने स्वरूपका झुकाव है। हमें अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि बनाये रहना चाहिए।

वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसखोदरै–
र्वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेऽपि पिपासवो,
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः॥ १२९॥

साधुवोंको स्त्रियोंसे दूर रहने की चेतावनी–साधुजनोंको स्त्रियोंसे अति दूर रहनेकी चेतावनी देते हुए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जैसे सुन्दर सरोवरमें कोई प्यासा अपनी प्यास बुझाने जाय और तटपर पहुंचते ही उसे मगर आदिक कोई क्रूर जलचर जीव उसे गुप्त ले तो जैसे उसने चाहा तो था तृषा शान्त करके विश्रामका पाना, किन्तु हो गया प्राणघात। इसी प्रकार कोई निर्बुद्धि पुरूष बाह्यमें रमणीय स्त्रीके निकट जाता तो है वेदना मिटाने, सुख पाने, किन्तु वहां विषयवेदना में विह्वल होकर अपना होश खो देता है व पाप ग्राहसे गुप्त जाता है, इसके परिणाममें एकेन्द्रियादिक पर्यायोंमें उत्पन्न होकर चिरकाल तक दुःख सहता है।

स्त्रियोंको सरोवरीकी उपमाका भाव–यहां स्त्रियों को सुन्दर सोवरी की उपमा दी है। जैसे सरोवरी यानी तालाबमें सुखकारी लहरोंसे व्याप्त स्वच्छ जल पाया जाता है ऐसे ही वक्रोक्ति रागिनी आदि सुखकरी तरंगों से व्याप्त हास्यभाव से स्वच्छता मनःप्रियताको विस्तारनेवाला वचन जल स्त्रियोंमें पाया जाता है। जैसे सरोवरी बाह्यमें कमलों से रमणीय लगती है इसी प्रकार ये स्त्रीजन भी ब्राह्यामें साज श्रृंगारसे सज्जित मुखकमलसे रमणीय लगती है। लेकिन सरोवरीमें मगर अादि क्रूर जलचर जीव बसते हैं, उस सरोवरीके तटपर कोई प्यासा प्यास बुझाने जाता है तो मगर आदि जलचर जीव उसे लील जाते हैं यों वह तृषावान् मरणको प्राप्त होता है; इसी प्रकार स्त्रीजन बाह्यमें दूरसे ही रमणीय लगती हैं, ये शरीर से जैसे अन्तःमलिन हैं, यों ही विषय, मायाचार, कामीजनोंकी व्यथाकी कारण हैं, इनके निकट जो तृष्णावान् पुरूष सुख पानेकी आशासे जाता है वह क्लेश, संक्लेश, विकल्प, शल्य, तिरस्कार आदि पापभावोंका शिकार हो जाता है। इसके फलमें चिरकाल तक कुयोनियों में भटकना पड़ता है।

हे आत्मकल्याणार्थी भव्यजनो ! आत्मशान्ति के लिये तुम अपनी आत्मानुभूति निजरमणीमें ही विश्वास करो, प्रकट भिन्न अशुचिधाम स्त्री जनोंमें हितका व सुखका श्रद्धान मत करो। अपनी ओर रमकर अपने सहज आनन्द से तृप्त रहो।

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं,
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः।
हन्तैते शरणैषिणो जन मृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं,
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधियस्याकुलाः ॥ १३० ॥

घात स्थानका स्मरण–साधुजनोंको संबोधते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि हे भव्य पुरूषों! स्त्रीजन तो तुम्हारे घातका स्थान है, तुम जगत के चारों ओरके विषयोंकी वाञ्छाकी वह्निके आतापसे बचने के लिये अर्थात शान्ति पानेके लिये स्त्रीकी शरणमें जाना चाहते हो, वह तो तुम्हारा घात स्थान है। यहां रमकर कामविकार और कुचेष्टाओंसे पीड़ित होकर भ्रष्ट होओगे और आकुलताको ही प्राप्त होओगे।

घात स्थानका विवरण–जैसे किसी प्रधान शिकारीके किंकर शिकार करानेके लिये जंगलमें जिस जिस ओर हिरणादिक रहते हैं वहां वहां वनमें आग लगा देते हैं और एक स्थान शिकारका बना देते हैं। अब वे हिरणादिक पशु आगके भयसे उस उस स्थान को छोड़कर घातस्थान पर पहुंचते हैं यह सोचकर कि हमें इस स्थान पर शरण मिल जायगा, किन्तु उनका उसी स्थान पर घात हो जाता है। ऐसे ही प्रधान विकारी कामशिकारी के इन्द्रियरूपी किंकर जीवको मारनेके लिए याने भ्रष्ट करनेके लिए समस्य रूप रस गंध स्पर्श विषयोंमें राग कराने रूप आग लगा देते हैं। वहां यह जीव राग भावकी आकुलतासे पीड़ित होकर एक स्त्री पदार्थको शरण स्थान समझकर स्त्रीमें रमण करता है, किन्तु वह तो आत्माका घात स्थान है। यहां यह कामविकारी शिकारी कुचेष्टा कुभाव तृष्णा मूढता आदि वाणोंसे इस जीवको भ्रष्ट कर देता है।

साधुशिक्षण–हे मुमुक्षु जनो! अपनेके सुखके लिये स्त्रीको शरण स्थान मत मानो, वह तो तुम्हारा घातस्थान है। असार मायामय अशुचि चिधाम असमानजातीय द्रव्य पर्यायरूप स्त्रीशरीर रमणके योग्य नहीं है। स्त्रीसे विरक्त होकर सहज शुद्ध चिच्छक्ति में रूचि करो। आत्मीय सहज शक्तिके अवलम्बनसे अवश्य ही कल्याण होता है, सदाके लिये संकटों से मुक्ति मिल जाती है, अतः अपने को शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूप मात्र अनुभव कीजिए।

अपत्रप तपोग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं,
शरीरभिदमर्धदग्धशाववन्न किं पश्यसि।
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो,
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तदिह ताः स्फुटं विभ्यति ॥ १३१ ॥

व्यामोहकी विड्रूपता–दीक्षा धारण करके फिर मनकी संभाल न होनेसे कामविकार के

कारण स्त्रियोंमें अनुरागी होकर भ्रष्ट होनेके सम्मुख है, उसे यहाँ आचार्यदेव सम्बोध रहे हैं कि हे सुखार्थी पुरूष! कठिन-कठिन तपश्चरणोंसे तेरा तो यह शरीर अधजले मुर्दाकी तरह भय और घृणाका स्थान बन गया है, तेरे इस भयानक शरीरको देखकर स्त्रीजन तो डर मानते हैं और तू ऐसा निर्लज्ज हो गया है कि चित्तमें स्त्रियोंके प्रति अनुराग बसाता है। ऐसा व्यामोह करना तुझे बिल्कुल भी उचित नहीं है।

विकार में दयनीय स्थितिका चित्रण–हे मुने ! तेरे चित्तमें यदि कामविकार जगा है तो जरा अपनी दयनीय स्थिति पर विचार तो कर–तू अविवेकी बनकर स्त्रियोंके प्रति आकर्षित हो रहा है और स्त्रीजन जो प्रकृत्या चंचल हैं, कायर हैं ये तेरे अधजले मुर्दे जैसे शरीरको देखकर तेरा हास्य करती हैं और भूत जैसी डरावनी सकल देखकर दूर ही दूर भागती हैं। संसारतारक इस साधु पदवीको अङ्गीकार करके तुझको कामवश व परवश होने जैसी चेष्टा शोभा नहीं देती है, यह सब यत्न तो तेरे घात का ही है। सकल आरंभ परिग्रहको त्यागकर नैर्ग्रन्थ्य पद धारण किया है तो अब तुझको अपना भला ही करना योग्य है।

उत्तुङ्गसंगतकुलाचलदुर्गदूर, मारादवलित्रयसरिद्विषमावतारम्।
रोमावलीकुसृतमार्गमनङ्गमूढाः, कान्टाकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः॥१३२॥

विषय व्यामोहमें खिन्नता–जिस स्थानकके मार्गमें ऊँचे ऊँचे तो पर्वत मिलते होंय और जहाँ दुस्तर विषम त्रिवली होय, वृक्षोंकी सघनताके कारण जो स्थान दुर्गम होय, उस स्थान पर पहुंचनेमें तो महा खेद होता है। ऐसे स्थानोंसे भी अधिक भयंकर दुर्गम स्त्रीके योनिस्थानके प्रति कौन खेद खिन्न न होगा? इस कुचेष्टासे नियमसे अतीव आकुलता उत्पन्न होती है। इस छंदमें दृष्टान्तके अनुरूप स्त्री शरीरमें पर्वत, नदी, बनरागी, मार्ग की दुर्गमता आदि सब बताये गये है। तात्पर्य यह है कि यह अशोभन स्थान रमण के योग्य नहीं है। हे भव्य पुरूष! किसी दुष्प्रभावके कारण तू प्रत्यक्ष खेद की बातमें सुख मानता है। जैसे लौकिक दुखिया पुरूष किसी विसंवाद में अपना ही शिर फोड़नेमें सुख मानते हैं ऐसे ही तू कामसे पीड़ित हुआ खेदमयी विकारमें सुख मानता है। तू कामविकारको ही मूल नष्ट कर दे। फिर तेरा मंगल ही मंगल है।

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य, नाडीव्रणां विषम निर्वृतिपर्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमाहिरन्ध्र माहुर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः॥१३३॥

विषय स्थानकी अशोभनता–इस प्रकरण में आचार्यदेव साधुजनोंको पूर्ण निष्काम देखना चाहते हैं अतं उनको लक्ष्यमें रखकर जैसे भी वे कामविकारसे विरक्त हो सकें वैसे उन्हें समझा रहे हैं। देख, स्त्रीजनोंका यह जघन्य स्थान विषयीजनोंका विष्टागृह है, कामशस्त्रका यह घाव है, दुर्गममोक्षाचलका यह प्रच्छन्न गडढा है अथवा यह कामरूप सर्पका वास स्थान बिल है। यहाँ निकट पहुंचने पर कामसर्प डस लेता है और इस जीवको भ्रष्ट कर देता है। ऐसे अशोभन स्थान के लिये

तू रंच भी विकल्प न कर। कामविषयक चिन्तनको त्यागकर शुद्ध सुगम स्वाधीन चेतनका चिन्तन कर।

अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे,
व्याकृष्टाः विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा।
प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च या,
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरूदितैर्मन्ये जगद् वञ्चितम्॥१३४॥

संयम भ्रष्टताका उपाय–जैसे वनहस्ती को बन्धनमें करनेका भ्रष्ट करनेका उपाय गड्ढे के ऊपर बनाई हुई कपट की हथिनी है। वनका हाथी वनकी शोभा निवासकी उपेक्षा करके विषयसेवनके लोभसे अपनेको गड्ढे में पटक लेता है। ऐसे ही वनवासी तपस्वी जनोंका बन्धनमें आनेका भ्रष्ट होनेका साधन स्त्रीका जघन्य स्थान है। अशक्त साधु तपोवनको प्राप्त करके भी उस पदके शान्तिमय वातावरण की उपेक्षा करके विषय सेवनके लोभसे स्त्रीरमणमें आसक्त हो जाते हैं और इस लोक व परलोक दोनों जगह कष्ट सहते हैं।

विषय वैराग्यकी उक्ति–देखो भैया ! स्त्रियोंका योनिस्थान तो इस पुरूष की जननी व जन्मभूमि है। इससे यह माताका रूप है। किन्तु कुकवि जनोंने इसे अहित मिष्ट राग श्रृंगार भरे वचनोंसे ऐसा बहकाया है , अनेक युक्ति उपमा देकर स्त्री के अंङ्गों को रमणीक दिखाकर विकार में डाला है कि फिर यह कामी विवेकको तिलाञ्जलि देकर अपनी बरबादी कर डालता है। हे कल्याणार्थी पुरूषों! किसी भी कामी कुकविके बहकावे में आकर काम स्थानों में अनुरागी मत होओ।

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियोहि विषमं विषम्॥ १३५ ॥

विकारविजयकी प्रेरणा–रूद्रके कण्ठमें कालकूट विष बताया गया है। उस महाविषने भी रूद्रका कुछ अनर्थ न कर पाया, किन्तु स्त्रियोंके द्वारा वह भी कामाताप में जलता रहा। अहो स्त्रीजन विषम विष हैं। देखो कामी जनों की मूढ़ता, कामी जन, कुकविजन ऐसे विषम विषको भी अमृत बता डालते हैं, सुखकारी कहते हैं। हे आत्महितार्थी पुरूष! कामको, कामके साधनको अहितरूप जानकर उस अहित से दूर होओ। लोगों की देखादेखी से, कुकवियों से वचनों से स्त्रीजनमें रंच भी विकारभाव मत लाओ।

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे,
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।
ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी,
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः॥ १३६ ॥

उपमामें शिक्षारहस्य–कविजनोंने, अनुरागी पुरूषों ने स्त्री के शरीरको जो चन्द्रमा आदिकी

उपमा दी है और उस वर्णनको सुनकर सर्वदोषोंका स्थान होने पर भी यदि तेरी प्रीति स्त्री शरीरमें होती है तो सुन, जिसकी उपमा दी जाती है वह तो उपमेयसे उत्कृष्ट होता है तो इस वर्णनको सुन कर तू शुभ और पवित्र चन्द्रमा आदिसे प्रीति कर ले। इनसे ही प्रीति करना भला है। कामरूपी मदिराके मदसे बेहोश और अन्ध होनेमें तो कुछ भी भलाई नहीं है।

कामान्धताको दूर करनेका भाव–किसी ने स्त्रीके मुखको चन्द्रमाकी उपमा दी तो चन्द्रमा तो मणियोंसे रची गयी कान्तिमान् पवित्र चीज है। यह मुख तो हाड़ मांस रूधिर आदिसे बना हुआ है। मुखकी चन्द्रमासे क्या समानता है? यदि तेरी समझ चन्द्रकी उपमासे कुछ बनी है तो तू चन्द्र की प्रीति कर, स्त्रीके शरीर में प्रीति मत कर। अहो जैसे मलकीट मलमें आकर्षित होता है। कामान्ध पुरूष तो महान् अन्धा है। हे कल्याणार्थी पुरूष! कामान्धताको दूर कर, विवेकी होने में ही भला है। अब विषयरति तज कर आनन्दघन ज्ञानपिण्ड निज अन्तस्तत्त्वमें प्रीति करो।

प्रियामनुभवत् स्वयं भवति कातरं केवलं,
पुरेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः,
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥ १३७ ॥

मनकी नपुंसकता और हैरानी–मनकी प्रवृत्तियोंसे मनुष्य बड़े हैरान रहते हैं। कोई विवेकी पुरूष इसकी भी चिन्ता करने लगते हैं कि मन जब विकारी व स्वच्छन्द हो जाता है तब क्या किया जाय? उनकी चिन्ता दूर होनेका उपायभूत विज्ञानकी झलक इस छन्दमें मिल जाती है। देखो प्रिया को भोगता हुआ मन तो केवल कायर रहता है, भोग नहीं सकता, मन तो भोगनेवाली इन्द्रियोंके काममें ही हर्ष मानता रहता है। रूप रस गंध स्पर्श शब्द तो इन्द्रियोंके ही विषय हैं, इनके भोगनेमें मनकी कहां गति है? मन तो भोगते हुए इन्द्रियोंको निरख निरखकर ही खुश होता रहता है। यह मन नपुंसक है। नपुंसकोंकी ऐसी ही वृत्ति होती है।

मनकी नपुंसकताका विवरण–यह मन शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे भी नपुंसक है। मनस् शब्दके रूप नपुंसक लिङ्गमें चलते हैं, यथा मनः मनसि मनांसि आदि। सिद्धान्त शास्त्रमें यह भी बताया है कि नपुंसक वेद उसे कहते हैं जिसके उदयसे पुरूष व स्त्री दोनोंके साथ रमने के भाव हों। देखिये रमनेके भाव तो दोनोंके साथ होते हैं किन्तु नपुंसक किसीके साथ भी रम नहीं सकता। यही हालत मनकी है। मन तो स्त्री व पुरूष दोनोंके होता है। कोई मन पुरूषसे रमना चाहता है व कोई मन स्त्रीसे रमना चाहता है। नपुंसकके भी मन होता है। कोई मन दोनोंसे रमना चाहता है, किन्तु मन किसीके साथ भी भोग नहीं करता। यह तो पर-इन्द्रियोंकी चेष्टाको देखकर खुश होता रहता है। यों मन शब्दादि शास्त्रसे भी नपुंसक सिद्ध होता है।

आत्माके प्रमादसे मनका हामी हाना–यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि मन कायर नुपंसक होने पर भी सुधी पुरूष पर हामी रहता है। यह सुधी अर्थात् ज्ञानवान् आत्मा शब्दशास्त्र

से भी पुरूष लिङ्ग है और अर्थ से भी पुरुषलिंग है सुधी शब्द व्याकरणमें पुल्लिङ्ग है। सुधीका समासार्थ इस प्रकार है कि अच्छी है बुद्धि जिसके वह सुधी है। इसमें बुद्धिरूपी स्त्री का धनी पुरूष ही होता है। यों यह सुधी शब्दसे व अर्थसे दोनों प्रकार से पुरूष है, तिसपर भी इसपर मन हामी रहता है यह आश्चर्यकी बात है। अथवा इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है। यदि यह सुधी पुरूष अपने पुरूषार्थकों संभाले तो इसे रंच भी परेशान नहीं कर सकता।

मनोविकारके विलयका उपदेश–गत इन १२ छन्दोंमें पूर्ण निष्कामता प्राप्तिके ध्येयसे साधुजनोंको संबोधते हुए आचार्यदेवमें युवतियोंके शरीरकी अशुचिताके प्रतिपादनकी मुख्यतासे वैराग्यकी शिक्षा दी है। हे कल्याणार्थी साधु पुरूषों! मनको बलवान समझकर अपने पुरूषार्थसे च्युत न होओ, अपने स्वभावावलोकनरूपमहा पुरूषार्थको संभालकर मनके विकार का विनाश करो।

प्राकरणिक अन्तिम संदेश–हे मोक्षार्थी पुरूषों! मोक्षोपलब्धिके लिये जिस अनुभूतिकी आवश्यकता है वह अनुभूति मनके द्वारा प्राप्य नहीं है, फिर मनसे तुम हितकी आशा ही क्यों रखते हो? मन संकल्प विकल्पों का कारण बनकर तुम्हारी बरबादी ही करता है मनके विकल्पोंका का परभाव असार मायारूप जानो। अपने परमार्थ स्वरूपको निहारो। ऐसा चिन्तन करो कि यह मैं आत्या स्वभाव मात्र हूं, यह मैं चैतन्य स्वभाव परपदार्थोसे व परभावोंसे भिन्न हूं, परिपूर्ण हूं, अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे सत् हूं, आदि अन्त मध्यसे रहित हूं, एक अपनेमें अद्वैत हूं, इतना ही नहीं, इन सब संकल्प विकल्पोंसे मुक्त हूं। अपने सहजस्वरूपके परिचय व अनुभवमें ऐसी महती शक्ति है कि इस अनुभूतिके प्रतापसे यह आत्मा शाश्वत निराकुल व निःसंकट हो जाता है। हे आत्महितैषी भव्य पुरूष ! मनकी आधीनता त्यागकर सहज निज स्वरूपकी रूचि करो।

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रु तवदुरू तपः पुज्यमत्रापि यस्मात,
त्यक्त्वा राज्यं तपप्यन्नलघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यं।
राज्यात्तस्मात्प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं,
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभमहरं सत्तपः पापभीरुः ॥ १३८ ॥

राज्य और तपमें श्रेष्ठताका वर्णन–इस लोकमें मनुष्योंके लिए सबसे बड़ा वैभव लौकिक सौजन्ययुक्त राज्य माना गया है। बड़ी नीतिपूर्वक सुजनतासे सहित राजकाज होना इस लोकमें एक बड़ा वैभव माना गया है। लौकिक दृष्टिसे सभी लोग समझते हैं। जिसका राज्य हुआ, शासन हुआ ऐसा राजा सभी मनुष्योंके द्वारा उत्कृष्ट माना जाता है। सभी उसकी आज्ञामें रहते हैं और उसकी उत्कृष्टता मानते हैं। यह लौकिक दृष्टिसे कहा जा रहा है। तो एक ओर तो रख लो सुजनतासे सहित राज्य और दूसरी ओर रख लीजिए उत्कृष्ट श्रुतज्ञान सहित ज्ञानी पुरूषका उग्र तप। अब इन दोनोंमें अन्तर निरखिये। राज्य और तप इनमें पूज्य क्या है?

राज्यसे तपकी उच्चता–राजा लोग भी उग्र तपस्वीके चरणोंमें सिर नवाते हैं। इससे ही जाहिर है कि राज्यसे भी बढ़कर तप है, वह पूज्य है। राज्यको छोड़कर लोग तपश्चरण करते हैं।

ऐसा होनेमें लोग उत्कृष्टता समझते हैं। और कोई तपश्चरणको छोड़कर राज्य संभालले तो उसको लोग हीनतासे देखते हैं। जो लोकमें सबसे उत्कृष्ट वैभव माना जाता है ऐसे राज्यको छोड़कर तपश्चरण करे तो वह महान माना जाता है। और कोई तपश्चरण को छोड़कर राज्य संभाल ले तो वह अति लघु माना जाता है। शायद कोई ऐसा दृष्टान्त तो होगा नहीं कि कोई राजा राज्य छोड़कर तपस्या करने लगा हो, दीक्षा ले ली हो। ऐसा कोई पुराणोंमें दृष्टान्त सुना है क्या? ऐसा कहीं आमरूपसे नहीं होता है। और, कदाचित् बिरलोंको हुआ हो तो तुरन्तके तुरन्त दिनके दिन ऐसा कर लिया हो तो कर लिया हो। कोई वर्ष दो चार वर्ष तपस्या कर ले और फिर उसे कोई राज्य पर बैठाल ले या राज्य करने स्वयं जाय, ऐसा तो हुआ ही नहीं है। इससे तो यह जाहिर है कि लोक भी उसे अत्यन्त लघु समझता है जो तपश्चरणको त्यागकर राज्य करने जाय। प्रथम तो कोई राज्य करने ही न देगा। दूसरे उतने दिनोंमें कोई राजा तो हो ही जायगा। फिर वहाँ बनेगी नहीं। तो जो महान वैभव लोकमें माना जाता है उस महान वैभवको त्यागकर कोई दीक्षा ले तो फिर वह उलटकर नहीं जाता, इससे सिद्ध है कि तप उत्कृष्ट है, राज्य नहीं।

वैभवत्यागके बाद उच्चताकी प्रकृति—कुछ लोग ऐसे होते हैं कि दीक्षा तो ले ली और मुनि होकर उस भेषसे बहुत कुछ कमाकर परिवारका पोषण करें तो सच जानो कि उन्होंने त्यागा ही कुछ नहीं। उनके पास वैभव था ही नहीं। कोई किसी वैभवको त्यागकर साधु बने तो उसके इतना परिणाम फिर उलटने कठिन हैं। उसको तो इस ओर उत्साह होगा कि मैंने वैभव त्यागा, अथवा मैं इतना विद्वान था, प्रोफेसर था, पंडित था, इतनी मान्यता थी, और वहां भी बड़ी अच्छी आजीविका थी, उसको त्यागा। कुछ तो त्यागा। तो इतनी बड़ी चीज त्यागनेके बाद फिर उसको उलटकर कुछ विकल्प नहीं आता। जिसके पास कुछ है ही नहीं, रसोइया बनकर रोटी बना बनाकर जो हैरान हो गया, उपाय बना लिया दीक्षाका तो उसने कुछ त्यागा ही क्या? त्याग करके फिर उस ओर प्रवृत्ति नहीं हुआ करती है। इससे जानो कि तप उत्कृष्ट पूज्य होता है।

परमार्थमें आनन्दकी प्रेरणा—हे बुद्धिमान पुरूषों ! मनसे ऐसा चिन्तन करके अब संसार जन्म मरणकी परम्परा मिटाने वाले इस वास्तविक तपश्चरणको अंगीकार करो। वस्तुके स्वतंत्रस्वरूप को जानकर किसी परवस्तु में अपना रागद्वेष न करना, परकी अपेक्षा करके अपने आपके ज्ञानस्वरूप में अपने ज्ञानको मग्न करना, यही है परमार्थ तपश्चरण। जिसको बड़ा आनन्द प्राप्त हो जाता है वह छोटे मौजके लिए उत्सुक नहीं होता है। जैसे रसीले स्वादिष्ट भोजनका आनन्द पाकर फिर कोई सूखे कोदो समाकी रोटी खानेकी उत्सुकता नहीं रखता है। एक मामूली-सी मिसाल है। जिस पुरूषने समस्त परद्रव्योंसे उपेक्षा करके अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें अपने ज्ञानको लगाया, अपने ज्ञानको ज्ञानप्रकाशमें मग्न किया, उस उत्कृष्ट पूज्य अनुभूतिसे जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दको भोगकर फिर ज्ञानी पुरूष असार भ्रमपूर्ण आकुलता से भरे विषय सुखोंमें उत्सुक नहीं हो सकता है।

आत्मनिधिके अपरिचयका परिणाम—जो लोग अपने मनमें यह शिकायत रखते हैं, दूसरोंसे

पूछते हैं कि मैंने इतने तो साधन बनाये, पर मन धर्मकार्यमें नहीं लगता, उसका कारण ही यह है कि जो सत्य आनन्द है उस आनन्दकी अनुभूति न पायी। शान्तिके लिए लोग अनेक अनेक यत्न करते हैं। उन यत्नोंमें कोई लाभ तो मिल नहीं सका, बल्कि किसी किसी यत्नमें हम जितना बढ़ते जाते हैं उतने ही अशान्त होते जाते हैं। प्रायः करके प्रत्येक मनुष्य अपनी पिछली स्थितिको फिरसे चाहता होगा, अथवा न चाहता हो तो वर्तमान स्थितिमें पछतावा तो करता होगा। इससे अच्छा तो मैं पंद्रह साल पहिले था, २५ साल पहिले था। उस समय मैं अपनी उन्नतिकी दृष्टि करता तो मैं आज कहींका कहीं पहुंचा हुआ होता। ऐसा पछतावा प्रायः प्रत्येक बड़ी अवस्था वाले लोग करते होंगे क्योंकि जितना यत्न किया है उतना ही और फँसते गये।

फंसनेका यत्न–जैसे मक्खी कफमें बैठ जाय तो जितना वह छूटने के लिए परिश्रम करती है, हाथ पैर फैलाती है उतना ही कफमें और भिड़ जाने से फँस जाती है। ऐसे ही बाह्य पदार्थोकी दृष्टि करके हम जितना यत्न करते हैं उतना ही उस ओर फँसते चले जाते हैं। फँसना क्या ममता का बढ़ना है। कभी कुछ ज्ञान जगने पर लोग ऐसा सोचते हैं कि हम अपनी आर्थिक स्थिति ऐसी बना लें, इतनी बना लें फिर हम निवृत्त हो जायेंगे। प्रथम तो इतनी स्थिति बन जाय यह कुछ आधीन नहीं है। कहो और बिगड़कर उससे भी आधी रह जाय। यह भी परिस्थिति आ सकती है। और कदाचित मनचाही परिस्थिति बन जाय तो निवृत्त होनेके बजाय उल्टा फँसावा बढ़ जाता है। जब परका थोड़ा संसर्ग हुआ तो उसकी संभालमें थोड़ी चिन्ता होती है। जब सम्बंध परका अधिक होता है तो चिन्ताएँ भी अधिक होती जाती हैं। फल वह होता है कि फँसना ही पढ़ता है, निवृत्ति नहीं बनती है।

निवृत्तिका कर्तव्य–बुद्धिमान पुरूषको यह चाहिए कि वह अकिञ्चनता विरागता, निवृत्ति, अपेक्षकी ओर बढ़े। यह बात तभी तो बने जब मूलमें यह श्रद्धान तो रहे कि सब जीव एक समान हैं। जैसा मैं जीव हूं। वैसे ही कल्पनामें माने गये परिजन तथा अन्य जीव भी हैं। सबका स्वरूप समान है। न गैरोंसे मुझे कुछ हानि होती है और न परिजनोंसे कुछ लाभ होता है। बल्कि गैरोंके प्रति राग रोष नहीं हुआ अतएव हम लाभमें रहें और परिजनके प्रसंगमें रागद्वेष चिन्ता आकुलताएँ अनेक हुए इसलिए हानिमें रहे। भूलमें जब इतनी दृष्टि जगे तो परकी उपेक्षा हो। इसमें कल्याणका मार्ग मिलता है।

भविष्यकी सावधानी का स्मरण–भैया ! ज्ञानानुभूति ही एक सार और शरण है, अन्यथा करते जाइए जो मनमें बसा हो, स्वच्छन्दता बना लीजिए। क्योंकि कुछ पुण्य का उदय है, कुछ चला है, कुछ कला प्रकट है। बुद्धि अच्छी है, सो विषयकषायोंकी लीला बना लीजिए। होगा क्या अन्त में यह भव ही छूट जायगा समागम छूट जायगा। छल कपट करके अपना यश बनाया, नाम बनाया, चला बनाया तो ये कुछ काम न देंगे। पर भवके लिए तो सीधा न्याय होगा। जैसा यहाँ कर्मबध किया उसका उदय होनेसे वैसा ही परिणमन बनेगा। दो इन्द्रियमें जन्म लेने का बंध हुआ तो मरकर

एकदम यशविस्तार और एकदम कीट बन जाय। यदि इसी भवमें ऐसी अनहोनी बात बने तो आश्चर्य माना जायगा, पर इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है। न्याय हो रहा है।

पूर्व भावानुसार भविष्य–भैया ! स्वरूप परिणति पद्धतिसे देखो तो लोकमें अन्याय कहीं नहीं होता है। सर्वत्र न्याय हो रहा है। न्यायके मायने जिस निमित्तके प्रसंगमें जैसे उपादानमें जिस प्रकारका परिणमन होना चाहिए उस प्रकारका परिणाम जाना, इसका नाम है न्याय। हो तो मिथ्यात्वका उदय और हो जाय सग्यग्दर्शन तो इसे अन्याय कहेंगे। अन्याय कभी हुआ नहीं, अन्याय कभी होगा नहीं। यह तो हम आप लोग रागवश चाहते कुछ हैं और उस चाहके अनुकूल बात बनती नहीं है तब हम उसे अन्याय कहने लगते हैं। यह तो व्यक्तिगत बात है। अब सामूहिक दृष्टिसे देखो-सामूहिक रूपसे यह जनसमूह चाहता है कि कोई रिश्वत न ले, अनुचित ब्लेक न करे, यों पैसा न कमाये। इसे यों पैसा क्यों मिल जाता है, उसकी व्यवस्था बनाना चाहते हैं, और व्यवस्था वहाँ बन नहीं पाती तो यह समूह भी कह उठता है कि यह अन्याय है। देखिये लौकिक दृष्टिमें यद्यपि यह अन्याय है भ्रष्टाचार करना और पाप करना झूठ बोलना, चोरी करना, खोटी खोटी बातें करना, ठीक है अन्याय है और इस अन्यायसे उस व्यक्तिका पतन है, घात है, वह कुगतिमें जायगा इसलिए अन्याय है। किन्तु निमित्तैमित्तिक योगकी ओरसे देखो तो जैसा उदय है तैसा परिणमन है, तैसी बात है। यह व्यवस्था भी तो रहनी चाहिए ना, नहीं तो सब अव्यवस्थित हो जायगा। तब परिणमन पद्धति की ओर से यह न्याय कहलाया कि नहीं।

उत्थानके लिये महान् त्यागकी आवश्यकता–जो पुरूष अपने परिणाम मलिन रखना है, तृष्णाके आधीन है, यह अपना और कह गैर इसकी बड़ी तेज बुद्धि बना रक्खी है, ऐसे पुरूषों की जिन्दगी कोई हितकारक जिन्दगी नहीं है। ऐसी बात तो कूकर सूकर बनकर भी करते आये हैं। ममता होना, किसी को अपना और किसीको गैर समझना, अपने ही मतलबकी बात सोचते रहना ये सब बातें पशुपक्षीके जीवनमें भी हुआ करती हैं। बुद्धिमानी तो इसमें है कि ऐसा यत्न बने कि यह जन्म मरणका चक्र ही शान्त हो जाय। मैं आत्मा जैसा शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अमूर्त स्वतःसिद्ध हूं वैसा ही मैं रह जाऊँ, यही एक उत्कृष्ट वैभव है जीवका। ऐसा होने का यत्न करे कोई तो वह है पुरूषार्थ। अब समझ लीजिए कि हमको कितना अपने जीवनका बलिदान करना होगा। किन किन वैभवोंका हम पर बोझ ला है, हमें कितनी गंदगियोंको समाप्त करना है, सोच लीजिए।

कुपथके अनाकर्षणका संदेश–भैया ! गलत रास्ते पर निःशंक होकर बढ़ते चले जाने में कुछ भी लाभ नहीं है। नहीं छोड़ा जाता है कुपथ तो शंका सहित तो कुपथका चलना देखें, निःशंक होकर तो न चलें। यही एकद शुद्ध पथ है और सत्य आनन्दका उपाय है, ऐसा मानकर तो कुपथमें न चलें। मैं उल्टी गैल चल रहा हूं, इसमें मेरे को लाभ नहीं है, कुगति होगी, ऐसी शंका सहित उस कुपथको देखिये। कर्मोंका ऐसा उदय चल रहा है तो चले पर भीतर यह ज्ञान भी तो कुछ न कुछ अपना काम कर सकता है। यह तो जानते रहें कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह मेरा काम नहीं है। यह मेरे लाभकी

बात नहीं है। कुपथको छोड़ें और तपश्चरणका आदर करें। बड़े-बड़े पुरूषोंने भी तीर्थंकर चक्री जैसे महापुरूषोंने भी बड़े-बड़े वैभवों को आखिर त्यागा ही तो था। और जिन्होंने नहीं त्यागा उन्हें भी आखिर त्यागना ही पड़ा। पुराने बड़े-बड़े लोग नहीं रहे, जिनका कि पुराणोंमें वर्णन है। उनकी तो बात दूर जाने दो, जो आजके युगमें बड़े हुए थे, जिनको आपने आंखों देखा है, जिनका प्रभाव देश विदेशोंमें छाया रहा वे भी नहीं रहे। आपके देखते ही देखते वे नहीं रहे। यही हालत हम आप सब पर गुजरती है। फिर क्या रहा, अन्तरङ्ग शुद्धि हुए बिना हम आपका गुजारा नहीं है।

ज्ञानसहित तपश्चरणका कर्तव्य–अन्तरङ्ग शुद्धि होती है निर्मोहता से। निर्मोहता प्रकट होती है वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानसे। इस कारण ज्ञानमें बढ़ना और तपस्यामें बढ़ना अर्थात् ज्ञानसहित तपश्चरण करना यह है हम आप लोगोंका कर्तव्य। हम महिमा आंकें उस सम्यग्ज्ञान सहित तपश्चरणकी और उस परमार्थ तपश्चरणको आपके चित्तमें बसाये रहें। हम संयमसे न घबड़ायें, उसमें बढ़ें। अपनी शक्ति प्रमाण उस साधनामें चलें और ज्ञानदृष्टिकी भावना बनायें। बस ज्ञान और वैराग्य ये दो ही कदम हमारे भले के लिए हैं, शेष तो सब कदम बहकावा मात्रके हैं।

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात् पादोपि नास्प्राक्षीत किं न कुर्याद्गुणक्षतिः ॥ १३९ ॥

गुणकी आस्था–एक दृष्टान्तपूर्वक यह बात कह रहे हैं कि जब तक किसी व्यक्तिमें गुण विकसित रहते हैं तब तक वह लोकके द्वारा सिरसे धारण किया जाता है। गुणरहित हो जाय, पदभ्रष्ट हो जाय, श्रद्धा विहीन हो जाय, फिर उसे कोई नहीं पूछता है। जैसे जब सुगंध आदिक गुण होते हैं तब फूल सिर पर भी धारण किया जाता है, गलेमें भी धारण किया जाता है। जब उसके गुण नष्ट हो जाते हैं, फूल मुर्झा जाते हैं तब लोग फूलोंको चरणों तकसे भी नहीं छुवा करते हैं। गुणोंका जो नाश है वह क्या लघुता नहीं करता है? अर्थात करे ही करेगा। यह दृष्टान्तपूर्वक समर्थन पूर्व प्रसंगका है।

गुणविनाशमें लघुता–पहिले छंदमें कहा गया था कि जो राज्यको त्यागकर तपश्चरण धारण करके लोकमें पूज्य हुआ है और वह तपश्चरण धारण करने के पश्चात् फिर तपश्चरणको त्यागकर राज्यादिक आरम्भमें लगता है वह अत्यन्त छोटा हो जाता है, क्योंकि तपश्चरण एक महान गुण था। उस गुणके नाश होने पर फिर उसे लोग भी नहीं पूछते हैं, इस लोकमें जो महिमा है वह गुणोंके द्वारा ही महिमा है। और यह केवल एक धर्मात्मा व्रती जनोंमें ही नहीं तकें किन्तु घरमें भी परिजन किसी एकको पूछते हैं तो वह किसी गुणके कारण ही पूछते हैं। दृष्टान्त में कहा है कि फूलमें जब तक सुगंध आदिक गुण होते हैं तो महापुरूष भी उसे अपने मस्तकपर रखते हैं। उसही फूलके गुण नष्ट हो जायें तो कोई पैरों से भी उसे ठोकर नहीं देता है। ऐसे ही इस प्रकरणमें यह बात जानना कि ज्ञान-सहित तप होवे तो उसको मनुष्योंकी तो बात क्या, देव भी पूजते हैं, और वही पुरूष उस गुणसे भ्रष्ट हो जाय तो उसके पश्चात् उसका कोई संग भी नहीं करता है। सो गुणोंके नाश होनेसे लघुता होती ही होती है, इस कारण अपने गुणोंकी रक्षा अवश्य करना चाहिए।

निर्मोहताका गुण–गुणोंमें सिरताज गुण है निर्मोहता। जितने अन्याय लोकमें किए जाते हैं, वे सब मोहवश किए जाते हैं। अन्याय करने को कौन नहीं समझता है, सबका दिल जानता है। जब कभी कोई अन्याय करता है तो चाहे किसी तृष्णाके कारण उस अन्यायको छोड़ न सके, अन्याय रखना ही पड़े, लेकिन खटक अटक इस ज्ञानी जीवकों सब हो जाती है कि मैंने यह अन्याय किया है। निर्मोहता एक परम गुण है। निर्मोहताके होते सहते एक धर्मभावना ही सामने रहती है। ऐसा साहसी पुरूष, मोक्षमार्गी पुरूष धर्मके खातिर अवसर आने पर अपना सब कुछ समर्पण कर देता है परित्याग कर देता है। जिसने शान्तिका पथ, ज्ञान का प्रकाश जान लिया है ऐसे पुरूषकी दृष्टिमें महिमा ज्ञानकी होती है, जड़ वैभवकी महिमा नहीं होती है। एक ज्ञान गुणका जो प्रकाश है वह तो है महापद और जो ज्ञानगुणका घात है वह है अधर्मपद।

गुणोंसे महनीयता–जो पुरूष कुल या पदका अथवा भेष आदिकका सम्बन्ध करके बड़प्पना मानते हैं वह भ्रम है। कोई अच्छे कुलमें उत्पन्न हो गया तो इतने ही मात्रसे अपने को बड़ा मानना हो वह भ्रम है। बड़ा तो वह है जो शान्त रह सकता है। जो शान्त नहीं रह सकता है, उल्टा बन्धन और फंसाव में बढ़ता है और उस मोह राग के फंसावमें ही भ्रम वश अपने को शुद्धमार्गगामी समझता है, जिसकी श्रद्धा यों विपरीत है वह पुरूष महान नहीं है, वह गुणशाली नहीं है। एक ही जीव जो गुणके होने पर वंदनीय था, कोई गुण नष्ट हो जाने पर वह निंद्य हो जाता है। तो पूर्व में अन्य जीव गुणवान हुए थे उनकी नकल बाह्यमें तो की, किन्तु अन्तः आप भ्रष्ट हुए तब उनके गुणोंसे यह कैसे वंदनीय हो? पूर्वके महापुरूष इस पंथपर, व्रत पंथ पर चलकर महान बने थे, नकल तो एक बाहर की हो सकती है, अन्तरङ्गकी नकल कौन कर सकता है, बाहरी नकल करके उन पूर्वजों जैसा बनना चाहे तो यह बात नहीं सम्भव हो सकती है। यह अपने ही वर्तमान गुणोंसे वंदनीय हो सकता है।

निर्दोष होनेका अनुरोध–भैया! अपना यत्न और पुरूषार्थ ऐसा होना चाहिए कि दोष रंच भी न रह सकें। किसी भी समय तत्त्व श्रद्धासे चलित न हो। कहीं ऐसी दृष्टि न बन जाय कि यह जीव जड़ वैभव से अपना महत्व, अपना आनन्द अपना कल्याण समझलो। श्रद्धा यथार्थ रहे और वस्तुका स्वातंत्र्य बराबर विदित बना रहे और चाहे परिस्थितिवश कहीं खिचें जा रहे हों पर अन्तरङ्ग निज अन्तस्तत्त्वकी ओर ही खिंचा रहे, ऐसी दृष्टि जिनके हो सकती है उनका महत्व अवश्यंभावी है। दोष रंच भी हों तो वह दोष लाभकारी नहीं है। गुण अधिक हों, दोष कम हों किसी दृष्टिसे वह उत्तम है, पर कोई उसमें संतोष करके ही रह जाय तो उसकी श्रेष्ठताकी निशानी नहीं है। इस ही मर्मको एक अन्योक्ति अलंकार से आचार्यदेव कर रहे हैं।

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः॥ १४०॥

चन्द्रोक्तिसे साधुसंबोधन–हे चन्द्रमा! तू लांछन वाला क्यों हुआ ? अरे तू पूराका पूरा काला होता तो अच्छा था। राहु कृष्ण रंगका होता है, उसकी निन्दा करने वाले प्रायः नहीं देखे जाते हैं। चन्द्रमा स्वच्छ है, शीतल है, कान्तिमान है, गुणशाली है तो भी उसमें जो थोड़ा बहुत कृष्णपनेका लांछन लगा हुआ है। जैसे कोई लोग कहते हैं कि यह हिरणका चिन्ह है, हिरण गोदमें लिए हुए है यह चन्द्र, और कोई साधारणजन कहते हैं कि इसमें चर्खा चलाती हुई बुढ़िया बैठी है। तो कोई अपनेको इस युगका विद्वान समझने वाला कहता है कि इसमें ये पहाड़ और पेड़ नजर आ रहे हैं। यों अपनी अपनी कल्पनासे सब उसकी आलोचना करते हैं। हे चन्द्रमा! तू पूराका ही पूरा क्यों नहीं काला हो जाता। फिर तेरे सम्बंध में लोग कुछ भी अंगुली न उठाते। अत्यन्त अतिशयकर तेरे मलको बताने वाला ऐसा जो अविशेष रही ज्योतिसे क्या सिद्धि है ? जो स्वच्छता है, कान्ति है यही तो तेरे दोषको बता रही है। इस गुण से इस कान्ति से क्या सिद्धि है। यह विचार कर जो राहुकी तरह तू साराका सारा काला होता तो किसीके द्वारा लखने योग्य टोकने योग्य तो न होता।

साधुता के संरक्षणका आशय–इस छंद के अन्योक्ति अलंकारसे चन्द्रमाको उलाहना दिया है। प्रकृतमें तो कोई मुनि ऊँची पदवी रखकर उसमें दोष आये तो उसका उलाहना समझना। चन्द्रमाको क्या उलाहना देना ? जैसे चन्द्रमा उज्ज्वल पदवीका धारक है और कुछ कालिमा दीख रही है तो उस कालिमाके कारण उसको कलंकी कहकर सभी लोग टोकते हैं और जो राहु साराका सारा ऊपरनीचे काला ही काला है उसका ऐसा ही पद जानकर कोई टोकता तो नहीं है। है काला, एक बार कह दिया। ऐसा ही मिर्मल मुनि पदवीका जो धारक होता है और उसके कोई दोष लगा तो उसपर उसे कलंकी मान, सभी टोकते हैं और जो नीचे की श्रावक पदवी के धारक अनेक जो लोग तो सब कलंकयुक्त हैं, दोष करके परिपूर्ण हैं तो लोग श्रावकका गृहस्थका ऐसा पद जानकर उसे कोई टोकता नहीं है।

साधु शिक्षण–यहां चन्द्रमाके दृष्टान्तके बहाने तपस्वीजनोंको सीख दी है कि तू दोषों सहित क्यों भया? जो दोष सहित होना था तो सर्व ही दोषयुक्त क्यों न हो गया। ऊँची मुनि पदवी छोड़कर नीची गृहस्थ पदवी ही अंगीकार करना था तो तू कोई ऊँची मुनि पदवीके बाह्य विधानको साधे है तो इससे क्या सिद्धि है। अन्तरङ्ग तो गृहस्थ जैसा है अथवा गृहस्थ होना चाहता है, और बहिरङ्गमें वे सब व्रत तपस्याके कष्ट सहे जा रहे हैं तो इन थोथे गुणोंसे क्या सिद्धि होगी? यह ही तेरे दोषोंको प्रकट करता है। जो तू गृहस्थ होता तो अन्य गृहस्थोंकी नाई टोका तो न जाता। इसमें हमारी यह शिक्षा है जो ऊँची मुनि पदवीको धारे वह ऐसे दोषोंको कदापि न करे और दोषों को धारे है तो मुनि पदको न धरे। यह ग्रन्थ मुनियोंको शिक्षा देनेके लिए बनाया गया है इस कारण अल्प भी दोष मुनिमें नहीं रहने चाहिए। ऐसी यहां शिक्षा की गयी है। इससे यह स्वच्छन्दता नहीं लेना है कि हम तो गृहस्थ हैं। जैसा चाहे रहे आयें, हम तो धर्मका घात नहीं कर रहे। अरे उपासक, श्रावक अरे गृहस्थ कहते ही उन्हें हैं जो मुनि पदवी धारण करनेका इच्छुक हों। जिनके चित्तमें मुनि धर्मकी

श्रेष्ठता नहीं समायी है और अपने आपको मुनि बनानेका ख्याल नहीं है उन्हें उपासक नहीं कहा है, उन्हें श्रावक सद्गृहस्थ नहीं कहा है। चाहे वे कभी बन सकें इस भवमें या परभवमें, पर श्रद्धा यही एक पुष्ट रहती है। उद्धार होगा तो निर्ग्रन्थ अवस्थासे ही होगा। जब यह उपयोग समस्त परसे न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने आपका ध्यान रक्खेगा, ऐसा ही अपने को अनुभवेगा तो उसे सिद्धिका मार्ग मिल सकता है।

भवसंकट—भैया ! स्वच्छन्द पुरूषोंकी तो इस मार्गमें कोई कहानी ही नहीं है। कोई सोचे कि ऐसे व्रत संयम नियम तपस्यासे क्या लाभ है जिसमें संकट ही संकट आते हैं। उनसे भले तो लो ये हम हैं कि कोई एक संकट भी नहीं आता। काहेका संकट? बाजारमें नगरमें प्रदेशमें जहां हों, जहां भूख लगी वहां ही कुछ खरीदकर खालिया। जब प्यास लगी तब पानी पी लिया। अरे अपने आपके परमात्माको दुःखी करने से क्या लाभ? खूब मौजसे रह लो और जो संयम व्रतमें चलते हैं उनकी दशा देखो। पद-पद पर संकट है। तो उनसे भले तो हम ही हुए जिनको संकट का नाम ही नहीं है। लेकिन यह ख्याल नहीं है कि वास्तविक संकट क्या है और और आज मनुष्य हैं, मरकर कीड़ा मकौड़ा वनस्पति हो गये तो क्या तेरी निगाहमें यह कोई संकटकी बात नहीं है?

स्वरूपभानका प्रताप—भैया ! सच तो यह है कि अपने आपके सहज स्वरूप का भान हो जाने पर फिर जो कुछ किया जाने योग्य है वह सब अपने आपसे बन जाता है। शान्ति क्या है और उस शान्तिकी पूर्वभावी अवस्था क्या है, इस सम्बन्धमें जिसके कुछ भान ही न हो तो वह जैसे कैसे भी धर्म करो परन्तु इस धुनिमें जो कल्पना आयी उसे करते हुए अपने को धर्मात्मा मान लेता है। ऐसे ही जिन्हें शान्तिका स्वरूप विदित नहीं है, अनुभवपूर्वक विदित नहीं है ऐसे लोग कैसे ही आडम्बरमें कैसे ही कार्यमें लगें उन्हें शान्ति नहीं है। मुझे तो शान्ति है ऐसा कल्पनामें समझ कर अपने आपको भ्रान्तिमें डाले हुए हैं। शान्ति उसका नाम है जहाँ आकुलता नहीं है। आकुलता न हो यह तभी सम्भव है जब निर्मोहताका आदर हो। परिजन और कल्पित मित्रजनोंकी सम्मति पर ही जिनका कदम रहता है वे संसारसागरसे तिरनेमें समर्थ नहीं हैं और जिनकी वीतराग देव, शास्त्र, गुरुकी ओर रूचि होती है, उनके बताये हुए पंथमें जिनका चित्त लगता है अथवा चित्त लगाने की जिनके चाह रहती है, उनका संदेश जिनको उपादेय बना हुआ है ऐसे पुरूष ही संसारसागरसे तिर सकते हैं।

शिक्षाकी बढेंगी विधि—भैया ! क्या कर्तव्य है अपना, इस सम्बन्ध में कुछ निगाह तो डालें जैसी बात सुनते सुनाते आये, बसाते आये उसही बातमें बसते चले जायें तो कहाँ उद्धार है? क्या जैन शासनमें धर्मकी यह विधि बतायी है कि हम विषयकषायोंकी अहितताकी बात करते जायें और विषय कषाय भोगते जायें। कोई एक पटेल किसान था उसे हुक्का पीने का बड़ा शौक था। वह अपने बच्चेसे चिलम भरवाया करता था। पटेल जब हुक्का पिये तो अपने पास अपने उसी बेटे को बैठाकर समझाता जाए कि देखो बेटा हुक्का न पीना चाहिए। हुक्का पीनेसे बहुत नुकसान है। काम वही रहे रोज रोज, बेटे से चिलम भरवाये, हुक्का पिये और अपने पास उसी अपने बेटेको बैठाकर

रोज रोज समझाता जाय। वह पटेल तो मर गया। वह बेटा भी बड़ा हुआ। उसके भी लड़के हो गये। वह जवान बेटा क्या करे कि अपने बेटेसे चिलम भरवाये, हुक्का पिये और अपने बेटेको पासमें बैठाकर समझाता जाय कि बेटा हुक्का न पीना चाहिए, हुक्का पीने से बहुत नुकसान है। कोई समझदार पुरूष बोला कि तुम अपने बेटे से चिलम भरवाकर उसके सामने हुक्का पीते हो और उसे हुक्का पीनेके लिए मना करते जाते हो तो इससे वह बेटा हुक्का कैसे न पीयेगा? तो वह युवक किसान बोला कि यह तो मना करने की विधि है ऐसा ही तो हमारा बाप भी करता था। वह भी हमसे चिलम भरवाकर हमें पासमें बैठाकर हुक्का पीता था और समझाता जाता था कि हुक्का न पीना चाहिए, हुक्का पीनेसे बहुत नुकसान है। तो यह तो विधि है कि खुद पीते जावो और बेटेको पीने के लिए मना करते जावो। ऐसे ही हम विषयकषायों में लगते जायें और धर्मके नामपर मना की बात करते जाएँ, क्या धर्म करने की विधि इस प्रकार है?

गुणरक्षणका कर्तव्य–भैया ! हम अपने अन्तरङ्गमें कुछ तो पछतावा करें और इस आसक्ति पर कुछ अपना महसूस करके उसे मिटाने का यत्न करें। गुण होंगे तो हमारा कल्याण होगा। गुणोंका घात हो जायेगातो हम दुर्गतियोंमें भटकेंगे। इस कारण अनेकानेक पुरूषार्थ करके हमें अपने ज्ञानादिक गुणोंकी सुरक्षा बनाये रखना चाहिए।

साधुके दोषका परिणाम–आराधनीय अपराजित मंत्र णमोकारमंत्र माना है। णमोकारमंत्रमें किसी व्यक्तिको नमस्कार नहीं किया गया है, किन्तु आत्माके विकासको नमस्कार किया गया है। उन ५ विकासोंमें एक विकास है साधु परमेष्ठी। जो आराधनीय परमेष्ठी है उसका स्वरूप निर्दोष होना चाहिए। इसी कारण अनेक शास्त्रोंमें यह बताया गया है कि जो पुरूष यथाजातरूप धारण करके नग्नत्व दिगम्बर भेषको धारण करके तिलतुष मात्र भी परिग्रहको ग्रहण करता है थोड़ा बहुत अपनी शारीरिकादि साधनाके लिए अथवा जिससे ममत्व है ऐसे कुटुम्बीजनोंके लिए जो थोड़ा भी ग्रहण करता है वह निगोद जाता है।

साधुके निर्दोषताकी अनिवार्यता–लोग कह बैठते हैं कि हमसे तो ये तो अच्छे हैं, लेकिन यहाँ यह बताया गया है कि कोई गृहस्थ इतने परिग्रह में रहकर भी चूँकि वह उपासक है, मुनिधर्मकी भावना रखता है इस कारण उसकी सद्गति है, किन्तु जो साधु परमेष्ठीका भेष रखकर तिलतुषमात्र भी जो अपने शरीरसाधनाके लिए अथवा कुटुम्बी जनोंके पोषण के लिए ग्रहण करता है किसी भी प्रकार लेता हो उसे निगोद बताया गया है। निगोद चाहे सुननेमें उतना बुरा न लगता हो जिसने न सुना हो कि निगोद क्या है तो कुछ यों ही सुन लेते होंगे। परन्तु यह जानियेगा कि निगोद संसारकी सब अवस्थावोंमें निम्नतम अवस्था है। नारकी जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते हैं। भले ही उन्हें क्लेश है फिर भी विचारशक्ति मनकी शक्ति होनेके कारण उनके चित्तमें किमात्मक (किया हुआ) कुछ उजेला तो रहता है। पर निगोद जीव तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति-इन एकेन्द्रियों से निकृष्ट जीव हैं।

अवसरसे लाभ लेनेकी चेतावनी—भैया! किसी प्रकार निगोदसे निकल कर, विकलत्रयसे निकलकर, अन्य भी खोटी पञ्चेन्द्रियकी योनिसे निकल कर आज मनुष्य हुए, हैं कुछ दृष्टिपात करे तो बहुत कुछ हम उन्नति पर आये हैं लेकिन मोहवश कोई यहाँकी उत्कृष्टता का सदुपयोग न करे और अपनेको दीन हीन ही अनुभव करे, मेरे तो यह नहीं है मेरे तो वैभव अभी बहुत कम है तो होते हुए वैभव का, होते हुए समागमका भी वह सदुपयोग और आनन्द न लूट पाया। कितने निम्नदशावों से निकलकर आज हम आप मनुष्य हुए हैं? हमारा कर्तव्य तो यह है कि अब हम ऐसे पुरूषार्थ करें जिससे निम्न अवस्थावोंमें फिर पैदा न हों। यदि पैदा होनेकी करतूत की, पैदा हुए तो आजका यह समागम भव क्या उन्नतिमें माना जायगा? बड़े होकर गिर जाये तो वह बड़ा होना भी उन्नति में शामिल नहीं है। यह ग्रन्थ मुनिजनों के सम्बोधनके लिए है, तो भी अपने लिए इससे यह शिक्षा लें, कि परिग्रहमें महत्व करना कितनी यत्न वाली बात है।

उलाहनाके रूपमें धर्मस्नेह—इन साधु परमेष्ठियोंको परिग्रहके सम्बंध में यों समझाया गया है। इस छंदमें चन्द्रमासे कहते हुए मानो साधुवोंको ही सब कुछ कहा गया है। हे चन्द्रमा ! तू लांछन वाला क्यों हुआ? तू साराका सारा काला क्यों नहीं हो गया? काला होता तो निन्दा तो न होती। थोड़ा कालिमाका चिन्ह होनेसे लोग निन्दा करते हैं। कवीश्वर तो साहित्यिक ढंग से इस चंद्रकी बहुत-बहुत खबर ले डालते हैं। ऐसे ही हे परमेष्ठी तुम यदि थोड़ा बहुत कुछ दोष वाले बनते हो तो तुम लांछन वाले क्यों हुए? तुम पूरेके पूरे एकदम काले क्यों न हो गये? यदि पूरेके पूरे काले हो जाते तो धर्मकी निन्दा तो न होती। इस प्रकरणमें यह बताया गया है कि जीवकी गुणोंसे पूज्यता है अन्य वैभव, यश, बल, रूप, कुल आदि से पूज्यता नहीं है। और प्रजाजन जिनको महान् समझते हैं वैभवशाली को, राज्य वालेको ये राजा और सेठ लोग भी जिस निर्गन्ध साधुके चरणोंमें जमा करते हैं तो इससे अंदाज लगा लो कि राज्य पूज्य है या तपस्या पूज्य है।

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययम्।
सार्धं तैः सहसा प्रियेद्यदि गुरूः पश्चात्करोत्येष किम्॥
तस्मान्मे न गुरूर्गुरूर्गुरूतरान् कृत्वा लघूं श्चस्फुटम्।
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरूः ॥ १४१ ॥

लोभी गुरुकी विराधकता—कोई आचार्य अथवा गुरु अपना संघ बढ़ानेकी गरजसे मैं बहुत शिष्यों वाला हूं, ऐसा दिखानेके लोभसे शिष्योंके दोषोंको नहीं कहता है, क्योंकि कड़ाई करे, उनके दोषोंको बताये तो इतने शिष्योंका समूह मेरे पास कैसे रह सकेगा, यों इस लोभवश अथवा किसी प्रकारके आशयसे जो किन्हीं दोषोंको ढाका करे वह गुरु स्वयं मौजी और शिष्योंको मौजी बनाना चाहता है। कवि कहता है कि वह गुरु नहीं है, उससे भला तो वह दुष्ट है, चाहे वह अब्रती क्यों न हो और चाहे ईर्ष्यावश ही क्यों न दोष बखानता हो, जो शिष्यके दोषोंको कह देता है वह खल पुरूष भी उस गुरुसे भला है। वह दुष्ट कहीं गुरु न बन जायगा, पर कथनका प्रयोजन देखना

चाहिए। यहां यह प्रयोजन बताया है कि जो दोषोंको ढाककर या न कहकर शिष्योंको मौजसे रहनेके लिए एक वातावरण बनाता है ताकि शिष्यमंडली उसके निकट अधिक हो जाय तो उन शिष्योंका वह गुरु, गुरु नहीं है, शत्रु है।

सन् शिष्यका चिन्तन—कोई गुरु अपनी प्रवृत्ति रखनेके लिए जो शिष्य में दोष पाये जाते हैं उन्हें भी छिपा करके उसपर भी उन्हें प्रायश्चित न देकर प्रवृत्ति करते हैं वे शिष्यके गुरु नहीं हैं किन्तु शत्रु हैं। कदाचित् गुरु सोचे कि अभी नया शिष्य है, अभी चलने दो, १०-५ वर्ष बाद में समझायेंगे और इसे निर्दोष पथपर चलनेके लिए कहेंगे, और कदाचित् शिष्यकी अभी मृत्यु हो जाय तो उस शिष्यका तो कुमरण होगा, दुर्गति होगी। ऐसा कोई मेरा गुरु नहीं है, शिष्य यों चिन्तन कर रहा है। जो दोष देखने में प्रवीण है, जो निरन्तर उसके थोड़े भी दोषोंको बहुत बड़ा बना-बनाकर प्रकट करता है ऐसा दुर्जन हो कोई तो भी वह भला है उस गुरुकी अपेक्षा।

शिष्यकी हितैषितामें गुरुता—कोई कुतर्क करे कि बहुत-सी जगह यह बताया गया है कि मनुष्यको गुणग्राही होना चाहिए। इसीलिए आचार्यदेव उस शिष्यके दोषों को नहीं ग्रहण कर रहे ऐसा कोई एक प्रशंसा रूपमें इस समस्याको डाल दे उसका समाधान इस छंदमें है, यह व्यापक और साधारण नीति है कि मनुष्यको दोषग्राहीन होना चाहिए और सबके अपने कल्याणके लिए यह बात युक्तियुक्त है, किन्तु यहां तो गुरु शिष्यका प्रसंग है। यह बात सबकी नहीं है, साधारणजनोंकी नहीं है। शिष्यने गुरुको अपना सर्वस्व समर्पण किया है। यदि है कोई वास्तविक शिष्य तो उसकी बात है और ऐसा सर्वस्व समर्पण करने वाले शिष्यके गुरुभी अपने आपमें सावधान रहकर भी उस शिष्यके पूर्ण हितैषी और हितोद्यमी होते हैं।

गुरुकी हितैषिताकी एक कथा—कहीं एक कथा है—गुरु शिष्य बनमें थे, शिष्य सो रहा था, गुरु जाग रहा था। एक सर्प आया, वह सर्प बड़ी क्रुद्ध स्थितिमें था। गुरुने यह जान लिया कि यह सर्प इसका पूर्व भवका बैरी है, और कदाचित् जगाकर भी अभी इसे बचा दिया जाय तो यह सर्प कुछ ही समय बाद बदला लेगा। बदला लिए बिना मानने का नहीं है, ऐसा जानकर गुरुने शिष्यके दो दो हाथ चारों ओर एक लकीर खींच दिया याने सर्प को कील दिया ताकि वह सर्प उस सीमाके भीतर न आ सके। और गुरुने उस सोये हुए शिष्यकी छाती पर बैठकर किसी कांटेसे वक्षस्थलका माँस सा काटकर चार छः बूँद खूनके निकालकर उस सर्पको दे दिया। सर्प उस खूनको चाटकर चला गया। शिष्य उस प्रसंगमें जग ही गया और वह सब कुछ देख रहा था, किन्तु शिष्यके चित्तमें कोई भी विकल्प नहीं हुआ। ये मेरे गुरु हैं। ये जो कुछ करते हैं मेरे भले के लिए करते हैं, चाहे छाती पर चढ़ें, चाहे गले पर, उसे पूरा विश्वास है कि ये गुरु जो कुछ भी करेंगे वह सब मेरे हितके लिए करेंगे। उसे कुछ पता न था कि क्या मामला है? कुछ समय बाद घटना शिष्यको विदित हो ही गयी तो शिष्यकी गुरुके प्रति भक्ति अत्यन्त अधिक बढ़ी। यह शिष्य और गुरुका परस्परका मामला है। गुरु शिष्यके रंच भी दोषोंको न रहने दे यह कर्तव्य है। इसमें दोषग्राहिताकी बात नहीं है।

गुणग्राहिताकी ही बात है। शिष्यमें यों गुण प्रकट हो जायें यह तीव्र भावना है जिसके कारण रंच भी दोषों को प्रकट करके शिष्य को जताकर उस दोषको दूर करना चाहता है।

शुद्ध एक लक्ष्यमें विसंवादका अभाव–पहिले समयमें हजार-हजार शिष्योंका संघ चलता था। कोई सोच सकता होगा कि हजारों ऋषि संत जहां जा रहे हों तो झगड़े और अव्यवस्थाएँ बहुत हुआ करती होंगी, पर आप सोचिये कि जहां उन हजारों ही शिष्योंका भाव केवल एक आत्मकल्याणका है, सम्वेग वैराग्यसे सभीके सभी भरपूर हैं, वहां विवादका कहां अवसर है? वे सब शिष्य तो अपने भलेके लिए सदा गुरुकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। गुरु मुझे कोई आज्ञा दें। फिर वहां अव्यवस्था का कहां प्रसंग है? एक साधारण-सा भी आदमी जब नाईसे बाल बनवाता है और नाई छुरा फेरता फेरता जब गलेके भी बाल बनाता है, गले पर छुरा चल रहा है पर किसी पुरूषको नाई पर कभी अविश्वास हुआ क्या? नहीं हुआ। हालांकि नाईके हाथमें उस समय पूरी जान है, जरा भी मार दे थोड़ी जगह तो प्राण नष्ट हो सकते हैं, मगर आप लोगोंने या किसीने कभी गले पर छुरा रखने वाले नाई पर अविश्वास नहीं किया। नाईके प्रति भी श्रद्धा बराबर ठीक रही। यह तो मेरा साज श्रृंगार कर रहा है। जितनी श्रद्धा उस नाई पर जाती है कमसे कम इतनी श्रद्धा गुरुपर होनी तो चाहिए। ये सब सद्गुरु और सद्शिष्यकी बातें है। गुरु शिष्यका इतना हितैषी होता है कि शिष्य ऐसे हितैषी गुरु पाकर निश्चिंत रहता है। जो कर्तव्य गुरुने बताया है उसे करते जायें, मुझे क्या चिंता है? गुरुकी मुझ पर छत्रछाया है।

गुरु शिष्यत्वके हितसम्बन्धकी आज भी संभवता–भैया! साधारण रीतिरिवाजमें भी देख लो, कोई मास्टर ईमानदारीसे हितचिंतक बनकर शिष्यको पढ़ाता है अथवा यों कह लीजिए कि कोई शिष्य निष्कपट गुरुके प्रति भक्तिभाव करता है, जिस शिष्यके चित्तमें यह बात बसी हुई है मेरे मास्टर साहब मेरी जिन्दगीके रक्षक हैं। उसके प्रति गुरुका भी हितपूर्ण आकर्षण होता है। आजकल तो यह सुनने में अटपटा लग रहा होगा क्योंकि न इस तरहके मास्टर हैं आजकल और न शिष्य। उसका कारण क्या है आप इसे जान जाइये। वर्तमान रवैया कुछ अन्य होनेसे अटपटा लगता होगा, लेकिन फिर भी आजके अटपटे समयमें भी हो तो कोई शिष्य लड़का ऐसा जो गुरुको अपने माता पिता तुल्य समझता हो। मेरे ये पूर्ण रक्षक हैं। माता पिताने तो मानो उत्पन्न किया, पर यह गुरु मेरा जीवन बनाने वाले हैं और केवल इस लोकका ही जीवन नहीं किन्तु यह भविष्य का जीवन बनानेके भी कारण हैं, ऐसा समझकर यदि निश्छल भक्ति है शिष्यकी तो गुरुको उस भक्तके परवश होकर उस शिष्यकी हितचिन्तकता ग्रहण करनी पड़ेगी। विवश हो जायगा वह। निमित्तनैमित्तिक योगकी बात कर रहे हैं।

सत् शिष्यके प्रति गुरुकृत उपकार–भगवान वीतराग अरहंत सर्वज्ञ देव उनके मनमें यह कुछ नहीं है कि मुझे यहाँ जाना चाहिए, यहाँ न जाना चाहिए। लेकिन जहां कि भक्त जीवोंका भाग्योदय होता है वहां उनकी पहुंच बन जाती है जहां वीतरागता है वहां भी जब यह सम्बंध है

तो यहां अध्यापक जनोंमें तो राग है, वे अपनी बुद्धिमें उस शिष्यके प्रति कुछ सोच सकते हैं। क्यों न होगा उनमें हित चिन्तकताका भाव? इस छंदमें यह बताया जा रहा है कि गुरु स्वयं निर्दोष रहे और अपने शिष्यजनों को भी निर्दोष रखनेका यत्न करे। जो स्वयं दोषको धारण करता है और अपना महत्व रखना चाहता है उसको ही दूसरा जो कोई दोष प्रकट करता हो, मालूम पड़ेगा, किन्तु जो स्वयं धर्मात्मा पुरूष है और जो लोकमें अपनी वर्तमान अवस्थावोंके कारण ऊँचा पद भी नहीं चाहता है लोगों से कि लोक में मेरा महत्व जमे, ऐसे धर्मीमें कोई दोष हो तो वह उसे छोड़ना चाहेगा। फिर वह दोष प्रकट करनहारे को बुरा कैसे मानेगा?

निर्वाञ्छकतामें धर्माधिकारिता–यहां धर्मका अधिकारी वह है जो अपनेको लौकिक दृष्टिमें अभीसे मरा हुआ मान ले, लोगोंसे न यश चाहे, न महत्व चाहे, न पूजा चाहे, बल्कि ऐसा भाव हो कि मैं इनके लिए कुछ नहीं हूं, ये मेरे लिए कुछ नहीं है। केवल एक आत्महित की धुन बनाए हुए हो। ऐसा पुरूष दोष प्रकट करनहारेका बुरा भी नहीं मानता। और। फिर यहां तो गुरु शिष्य की बात है। गुरु शिष्यके दोषोंको लोकमें प्रकट नहीं करता, किन्तु शिष्यको बताता है कि तुझमें यह दोष है, जो आत्महितार्थी है वह इस बातका बुरा नहीं मान सकता है। इस प्रसंगमें धर्मात्मा पुरूष यों विचार करता है कि गुण और दोषों का ज्ञान तो गुरुके बतानेसे होता है। फिर जो गुरु अपनी ऐसी प्रवृत्ति रखता है, जैसे सम्प्रदाय बढ़े वैसी प्रवृत्ति करना चाहता है और उसके दोषोंको वह नहीं कहता है तो शिष्यको अपने दोषोंका निर्णय नहीं हो सकता। जब दोषोंका उसे निर्णय न होगा तो वह दोष करना बंद करेगा कैसे? दोष तो उसके बने ही रहेंगे।

हितकी उपेक्षामें हितका विघात–यदि कोई गुरु ऐसा विचार रखता हो कि अभी चलने दो–शिष्य नया है, कुछ रम जाने दो, अभीसे छेड़ा जायगा तो ठीक नहीं है, पीछे इसके दोष बता दिये जायेंगे। यदि वह शिष्य शीघ्र ही मरण कर जाय उन दोषोंके रहते हुए तो गुरु क्या करेगा? शिष्य तो मरण करके कुगतिमें जायगा। इस कारण जो गुरु शिष्यके दोष छिपावे वह गुरु नहीं है। साथ ही यह भी जानें कि जो शिष्यके दोषों को लोकमें प्रकट करे वह गुरु नहीं है। उस गुरुसे तो वे दुर्जन भले हैं जो अव्रती हैं। यहां कोई यह शंका कर सकता है कि किसीसे दोषोंको कह दिया तुरन्त तो उसके हृदयको बुरा लगेगा ना, मर्म छेद न हो जायगा। फिर हित कहां रहा? समाधान यह है कि कोई ईर्ष्यावश ऐसा करे तो पाप होगा। ये गुरुजन तो दयावंत होकर दोष छुड़ानेके लिए उसके दोषोंको कहते हैं इसलिए वहां तो गुरुके पुण्यका ही बंध है, पापका बंध नहीं है। यों इस प्रसंगमें साधुजनों को निर्दोष रहनेके लिए शिक्षा दी है।

विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः॥ १४२॥

कठोर गुरुक्तियोंकी हितसाधकता–जैसे सूर्यकी किरणें यहांसे बहुत कठोर हैं, तीक्ष्ण हैं, आताप उत्पन्न करने वाली हैं तो भी कमलोंको प्रफुल्लित कर देती हैं। इसी तरहसे गुरुजनोंके वचन,

शिष्योंको समझानेके प्रसंगमें किए गए उपदेश यद्यपि वे कठिन हैं, कहो न रूचें, कभी गुरुजन शिष्यको डाट डपटके साथ भी समझाते हैं। शिष्यके दोषोंको वे यों उगलवा लेते हैं जैसे सिंह के सामने स्याल डरके मारे मांस उगल देता है। इसी प्रकार आचार्यजनोंके समक्ष, आचार्य हितैषी है और निर्दोष है, उसके समक्ष शिष्यजन अपने अवगुण उगल दिया करते हैं, यद्यपि आचार्यदेव के वचन, आचार्यदेव की युक्तियां बहुत कठोर हैं तो भी भव्य जीवोंके मन को, भव्य जीवोंकी निर्मलताको वे विकसित कर देते हैं।

दोषवाद और निर्दोषीकरणमें अन्तर–इस प्रसंगमें यह चर्चा चल रही थी कि दूसरेके दोषोंको कह दे तो अवगुण बताया है, जैसे कि पूजामें भी बोलते हैं–'दोषवादे च मौनं', दूसरोंके दोष कहनेमें मौन रखना चाहिए अर्थात दूसरोंके दोष न कहना चाहिए। तो यहाँ आचार्य महाराज पर क्यों दबाव दिया गया कि वे शिष्य के दोषोंको कहें? उत्तर दे दिया गया था कि वह तो सामान्य नीति है, सर्वजनों को अपनाने की है कि किसीके दोषको बोलें नहीं, किन्तु जहां गुरु शिष्यत्वका नाता है वहां गुरु यदि शिष्यका दोष न बताये तो उस गुरुको गुरु नहीं कहा है। जानकर भी यह अमुक दोषमें लगा है और फिर भी उपेक्षा करता जाय उसे उस दोष में सावधान न करे तो गुरुत्व नहीं कहा है। इस ही के समर्थनमें इस छंदमें यह बता रहे हैं कि सूर्यकी किरणोंकी भांति आचार्यदेवके ये वचन कमलों की भाँति भव्य जीवोंके मनको प्रफुल्लित कर देते हैं।

सुयोग्य शिष्यपर गुरुक्तियोंका प्रभाव–श्री गुरु शिष्यके दोष दूर करने के लिए और शिष्यको गुण ग्रहण करानेके लिए कभी असुहावने कठोर वचन भी कह देते हैं वहां भव्य जीवों का मन उन वचनोंसे आनन्दित होता है। शिष्यको चिन्ता अथवा खेद नहीं होता है। दृष्टान्तमें जिस तरह बताया है कि सूर्यकी किरणें दूसरे पुरूषोंको आताप उत्पन्न करती हैं। आजकल के सूर्यकी किरणों को ही देख लो बरसात नहीं हो रही है, कड़ी गरमी हो रही है, इतने जोरका आताप उत्पन्न करती हैं। ये सूर्यकी किरणें, किन्तु कमलोंको रंच भी आताप नहीं देतीं उन्हें हरा भरा प्रफुल्लित कर देती हैं। ऐसे ही गुरुके वचन पापी पुरूषोंको आताप उत्पन्न करते हैं, क्योंकि कठोर हैं ना! यथार्थ साफ तो गुरुवोंके वचन पापी पुरूषोंको आताप उत्पन्न करने वाले हैं, कठोर हैं लेकिन अहितैषी स्वाभाविक निकट भव्य पुरूषों को वे वचन आनन्द उत्पन्न करने वाले हैं। रंच भी खेद उत्पन्न नहीं करते हैं। श्री गुरु दबाकर भी जोर देकर भी, डाटकर भी धर्मात्मा शिष्यको उपदेश देता है, आज्ञा करता है वहां शिष्य अपना सौभाग्य समझता है कि मुझपर गुरुकी बहुत कृपा है।

गुरुकी हिताशयता–प्रश्न–गुरुके कठोर उपदेशसे पापीजन तो दुःख पाते हैं, ऐसे वचन ही गुरु क्यों बोले जो किसी को अप्रिय लगें? ठीक है मगर गुरुजन किसीसे कठोर वचन नहीं बोलते हैं, वे वचन तो पापीजनों को कठोर लगते हैं। धार्मिकजन जानते हैं कि गुरुदेव हमें कठोर उपदेश नहीं देते हैं। उनकी मध्यस्थ भावना रहती है। जो विपरीत वृत्तिके पुरूष हैं उनमें आचार्यदेव न राग करते हैं, न द्वेष करते हैं, न हुक्म देते हैं और न उस प्रसंगमें कुछ व्यवहार करते हैं, माध्यस्थ्य भाव

रखते हैं। यहां तो एक विशिष्ट मोक्षमार्गका प्रसंग है। गुरुजन भला होनेके अर्थ कठोर वचन कह देते हैं।

गुरुकी हितैषितापर एक दृष्टान्त–कभी मां बच्चे को खतरनाक ऊधम करते देख लेती है, छतकी मेड़ पर चढ़ रहा है, खेलना चाहता है जहांसे गिर जाय तो प्राण न बचें, ऐसे ऊधमी बालकपर माँ कितना रोष दिखाती है। मर न गया, मर जा, कितनी ही बातें कह देती है, पर वह बालक क्या बुरा मानता है? माँके पास ही दौड़कर पहुंचता है। ये मर जा आदि गालीके शब्द औरोंको तीव्र आताप उत्पन्न करेंगे, कह तो दे कोई किसी गैरको इस तरहके वचन और वे ही वचन बच्चे को बुरे नहीं लग रहे हैं। वह तो थोड़ी ही देर में मां की शरण पहुंच जाता है। ऐसे ही आचार्यदेव शिष्यकी भलाईके वास्ते कठोर भी वचन कह दें लेकिन जो योग्य शिष्य हैं, विवेकी हैं, चतुर हैं वह उन कठोर वचनोंसे विषाद नहीं करता। गुरु महाराजको कुछ और ईर्ष्या वगैरह तो है नहीं, बल्कि वे अपना समय खर्च करके, अपने उपयोगमें कुछ कमी करके शिष्यको कुछ बोला करते हैं, नहीं तो क्या पड़ी है, चुपचाप रहें, इसमें तो शिष्य अपना सौभाग्य मानता है।

साधुके दोषसे स्वपरहानि–मूलमें ये प्रकरण था कि साधु परमेष्ठी को लांछन वाला न होना चाहिए, जिसकी चर्चा चन्द्रमाके दृष्टान्तसे जोड़ी गयी थी, चन्द्रमा उज्जवल है, जो कुछ थोड़े स्थानमें उसमें लांछन लगा है, काला चिन्ह है इससे समझदार लोग, कविजन उसकी निन्दा कर देते हैं। यदि समस्त चन्द्रमा काला होता तो जान लेते, है काला, परन्तु निन्दा की बात तो न आती। ऐसे ही साधु परमेष्ठी उज्जवल हैं, इनका बढ़िया वातारण है, अन्तरङ्ग उज्जवल है, बहुत-सी निर्मलताएँ हैं, अब इन साधुवों के कोई दोष हो जाय, स्वच्छन्दता आ जाए तो उस लांछनसे उनका भी बिगाड़ है और धर्मप्रभावना का भी बिगाड़ है। मिले तो कोई गुरु कठोर वचन बोलने वाला।

गुरुका कठोर शासन शिष्यकी प्रसन्नताका कारण–जैसे बड़े-बड़े बादशाह भी अपनी मांके द्वारा आधा नाम सुनकर बिगड़ा नाम सुनकर अपने में प्रसन्नता पाते हैं, कदाचित् मां गुजर जाय तो बादशाह भी हो उसे भी खेद होता है और वह खेद पवित्र आशय को लिए हुए है। स्त्रीके मरेका भी खेद होता है, किन्तु वह खेद उस पवित्र आशयको लिए हुए नहीं है। बड़े-बड़े राजा समझाते हैं, ऐ बादशाह ! तू तो हम सबका बादशाह है। मां गुजर गयी तो क्या हो गया ! हम हजारों राजा आपके चरणोंमें सदैव नतमस्तक रहा करते हैं। जो आप आज्ञा करें उसको बजाते हैं, क्यों आप अप्रसन्न हैं? आपकी प्रशंसा करने वाले हजारों पुरूष हैं। कौन-सी कमी आ गयी? बादशाहका उत्तर होता है और तो सब कुछ ठीक है पर मेरा आधा नाम लेकर पुकारने वाला कोई नहीं रहा। शिष्यजन भी गुरु के कठोर शब्दों को सुनकर प्रसन्न रहा करते हैं। कदाचित् गुरु महाराज बहुत अच्छे आदरसे बुलायें, आदरसे बैठायें तो ये समझते हैं कि गुरु हम पर नाराज हैं। हमें इस तरह नहीं बुलाते जिस तरह साधारणतया आधा-फादा नाम लेकर बुलाना चाहिए था। आज और साधारण जनोंकी भांति मुझे आप आप कहकर जी जी लगाकर पंडित-पंडित बोलकर या अन्य प्रकार

बड़े सम्मानके शब्दोंसे गुरु बुला रहे हैं तो मेरा कोई अपराध जरूर है, उस अपराध पर गुरु हमसे नाराज हैं, शिष्य तो यों सोचता है। यह शिष्य यों गुरुकी उस कठोर आज्ञामें प्रसन्न रहा करता है।

लोकद्वयहितं वक्तु श्रोतं च सुलभाः परे।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥ १४३ ॥

हितके वक्तावों व श्रोतावोंकी दुर्लभता—आजकल तो कहने वाले भी नहीं रहे, अब करने की बात तो दूर रही। पहिले समयमें अथवा यों कहो चतुर्थकालमें जब धर्मतीर्थ बड़े विस्तारके साथ चल रहा था। मोक्षका मार्ग जहां प्रकट था, ऐसे चतुर्थकालमें भी सत् पथ पर चलने वाले बिरले थे। पर कहने वाले सुनने वाले तो पाये जाते थे। आजके कालमें करने वाले बिरले और कहने वाले भी बिरल मिलते हैं, अथवा ज्ञानकी चर्चा करने वाले भी बिरले मिलते हैं।

हितकारी पुरूषोंकी विरलता एक दृष्टि—भैया ! भले ही कुछ लोग अपन बैठे हुए हैं और यहीं-यहीं निगाह है सो ऐसा लगता है कि कहाँ हैं बिरले। ये मास्टर साहब हैं, खूब समझाते हैं, और ये महाराज भी खूब समझाते हैं, अमुक महाराज भी खूब समझाते हैं। और हम आपमें भी ये बोलने वाले हैं। यह भी चर्चा करते हैं। बहुत आदमी हैं ज्ञानकी चर्चा करने वाले। कहाँ हैं बिरले? पर समस्त लोकपर दृष्टि डालकर बतावों आजकी मानी हुई दुनियामें अरबों लोग तो होंगे ही। उन अरबों पुरूषोंमें से कितने जन होंगे जो भावभीनी बुद्धिसे इस आत्मा के स्वरूपकी चर्चा करते हों? बिरले हैं। जैसे आजके युगमें शाकाहारी बिरले हैं, जैन समाज अपनी जगह बैठी है, रह रही है और उसे ये सब गैर दिख रहे हैं तो शंका होती है कि कहां हैं बिरले शाकाहारी? हमें तो ९९ प्रतिशत लोग शाकाहारी नजर आ रहे है। पर नहीं, जरा सारी दुनियापर दृष्टि लगाकर तो देखो तो लोग बतावेंगे कि शाकाहारी पुरूष शायद १ प्रतिशत भी न होंगे। अपनी गोष्ठीमें बैठे हैं इसलिए ऐसा लग रहा है कि वाह देखो बहुत हैं शाकाहरी। यों ही सब जीव लोक पर दृष्टि देकर निरखो व समझो कि उस आत्माका कथन करने वाले, चर्चा करने वाले, चर्चा करने वालों की बातें सुनने वाले भी दुर्लभ हैं। आज के समय में कहने वाले भी दुर्लभ हैं, और सुनने वाले भी दुर्लभ हैं, पर अतीत काल में कहने वाले और सुनने वाले तो थे पर करने वाले जरूर बिरले थे। जो धर्म इस लोकमें और परलोकमें जीवोंका कल्याण करता है ऐसे धर्मके कहने वाले और सुनने वाले चतुर्थ कालमें बहुत अधिक थे। अंगीकार करने वाले भी थे। ये थोड़े इससे जान जावो कि धर्मात्मा पुरूष थोड़े ही हुआ करते हैं।

कलियुग—भैया ! अब तो यह पंचमकाल है, इसे कलियुग बोलते हैं। कलिकाल। कलि मायने काला, काल अन्याय उसका यह काल है। ऐसी कहावत है कि कलिकाल लगने से एक दिन पहिले एक आदमीने मकान बेचा। खरीदने वाले ने उस मकानके नीचे खोदा तो भीतर से अशर्फियोंका एक हन्डा निकला, वह बेचने वाले के पास ले गयाः बोला भाई यह हन्डा तुम्हारा है अशर्फियोंका। बेचने वाला कहता है कि मेरा नहीं है यह तो तुम्हारा है। खरीदने वाला बोला कि यह अशर्फियां

तुम्हें लेनी पड़ेंगी तो वह बोला कि हम नहीं लेंगे, ये तो तुम्हारी हैं। राजाके पास झगड़ा पहुंच गया। राजाने दोनोंको समझाया कि भाई आपसमें सुलह करलो, कोई बात पर तो पहुंच जावो, क्यों लड़ते हो? बेचने वाला कहता है, नहीं साहब, यदि ये अशर्फी मेरी होतीं तो बेचने से पहिले मुझे क्यों न मिल गयी होतीं? खरीदने वाला बोला कि मैंने भीतरका धन तो नहीं खरीदा है, जमीन ही तो खरीदी है। राजाने कहा अच्छा परसों इसका न्याय करेंगे। अब कलिकालकी वह रात आयी, जिसके बाद कलिकाल लगना था। खरीदने वाला सोचता है मुझे इतना माल मिला और मैं खुद देने जा रहा था। बेचने वाला सोचता है—कि मैं बड़ा मूर्ख निकला, अशर्फी मुझे खुद देने आया तो मैंने क्यों न ले ली, ले लेना चाहिए थीं। राजा सोचता है कि मैं बड़ा मूर्ख निकला। जब दोनों झगड़ते थे उसका न्याय यह था कि न बेचने वाले को मिलना, न खरीदने वाले को—तो वह सारा धन राज्यका हो जाता है। खरीदने वाला सोचता है कि धन तो मैनें पाया है क्यों किसी को दूं। जब पेशी आयी, न्यायका दिन आया तो राजा बोला कि यह धन न खरीदने वाले को मिलेगा, न बेचने वाले को, यह तो साराका सारा राज्यका हो जायेगा। तो अब यह पंचमकाल है, कलिकाल ऐसा निकृष्ट काल है कि सांचे धर्मके कहने वाले और सुनने वाले भी थोड़े हैं।

जिन-शासनके एकाधिपतित्त्व न होनेका एक कारण—युक्त्यनुशासनमें समंत-भद्राचार्य भगवानकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! हम आपके गुण ज्यादा कुछ कह नहीं सकते, कुछ बोल भी नहीं सकते, पर हां मैं इतना जरूर कह सकता हूं कि जगतमें गुणकी, ज्ञान की सुखकी जो पराकाष्ठा है वह आप हैं। इस पर यह प्रश्न हुआ कि जब हम सर्वोत्कृष्ट हैं, हमारा शासन सर्वोत्कृष्ट है तो इस दुनियामें हमारा शासन सर्वत्र क्यों नहीं फैला है, हमारे मानने वाले क्यों बिल्कुल थोड़े हैं? उत्तरमें कहते हैं कि हे प्रभो! आपकी प्रभुता तो यही है, पर आपकी प्रभुता जो नहीं फैल रही, आपका शासन जो एकछत्र नहीं चल रहा है, उसके कारण तीन हैं—एक तो यह कलिकाल है, दूसरे सुनने वाले श्रोतावोंके आशय मलिन हैं, तीसरे बोलने वालोंको नयका परिज्ञान नहीं है, ये तीन ऐसे दोष हैं जिसके कारण हे प्रभो! आपका यह शासन लोकमें नहीं फैल सका है। कलिकालकी बात तो बतायी ही है। सुनने वालों का कैसा कलुष आशय है, इसे सुनिये।

जिन-शासनके अप्रसारका द्वितीय कारण—प्रायः श्रोता ये चाहते हैं कि मेरे मनके अनुकूल उपदेश हो। हम जो अपराध करते हैं या जिसमें हम मस्त रहा करते हैं उसमें दखल देने वाली बात पंडित जी न बोलें। अथवा पंडित जी साधारण रूपसे ही कह रहे हों और ये श्रोता ऐसा अपराध लिए हुए सुनते हैं तो सोचते हैं कि देखो पंडितजीने आज हम ही पर सारी बातें कह डाली हैं। एक बात क्या-अनेक प्रकार की कलुषताएँ हैं, कहीं इसलिए सुनते हों कि देखो तो सही इस वक्तामें कितना जौहर है, कोई भी स्खलित वचन मैं पालूँ फिर इनकी खबर ले लूँ। इस सारी सभामें मैं यदि कोई प्रश्न ऐसा छेड़ दूँ कि वक्ताको बताना मुश्किल पड़ जाय तो इसमें मेरी शान बढ़ेगी। इस ही प्रकारकी अन्य अनेक कलुषताएँ हुआ करती हैं। श्रोता जनोंके तो कलुष आशय है। यह दूसरा

कारण है इसलिए आपका शासन लोकमें नहीं फैल सका है। कल्याण विषयको सुनने वाले श्रोताजन जितने हैं उतने में फैल गया, आगे कहां गया?

जिन-शासनके अप्रसारका तृतीय कारण—तीसरा कारण बताया है कि वक्ताको वचनोंका ज्ञान नहीं, नयोंका ज्ञान नहीं। वे केवल बकता रह गये, बकने वाले रह गये। उपदेश देते हुए ऐसी संभाल बनाना कि न तो व्यवहारका उच्छेद हों जाय और न तत्त्वकी बात निकल जाय। दोनों का ध्यान रखकर बोलने वाले बिरले हैं अथवा उस तत्त्वको नयचक्रसे समझा दें, अमुक दृष्टिसे यह ठीक है, अमुक दृष्टिसे यह ठीक नहीं है। जैन शासन तो यह दम भरकर बताता है कि वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनके प्रकरण को लेकर जितने भी धर्म हैं वे जो जो कुछ कहते हैं वे सब बातें यथार्थ हैं और ऐसे भी अनेक धर्म हैं जो परस्परमें अत्यन्त विरोधी हैं, जैसे एक क्षणिकवाद एक अपरिणामीवाद। कितना विरूद्ध उनका मंतव्य है, लेकिन जैन शासन उन दोनोंको यथार्थ बता देता है। इसमें विवादका कहीं प्रसंग नहीं है। अब कदाचित् जैन जैनधर्म वाले ही परस्पर में विवाद कर बैठें तो उनके एकान्त हठवादका ही दोष है। जहां सब लोगोके मंतव्यका समन्वय किया जा सकता है वहां क्या अपने-अपनेके बीचमें एक दूसरेकी बातका समन्वय नहीं किया जा सकता? यह तो विषादकी बात है। तो वक्तावोंको नयोंका परिज्ञान नहीं अथवा स्याद्वादकी रूचि नहीं। जो अपनेमें बात समायी है हठ करके उस ही को सिद्ध करते जाने को मनमें आती है, और जो बात पहिले से छोड़ दी, लोकमें अपनी शान रखने के लिए अन्त तक उसे कहा जाता। जैसे कोई-कोई शंकाकार ऐसे होते हैं कि शंका की, कोई अच्छी तरह समाधान भी दे, लेकिन वह मुखसे यही नहीं कह सकता है कि मुझको समाधान मिल गया। उसमें शानमें बट्टा आता है। अन्त तक कहेगा कि हमको तो समाधान नहीं मिल सका है। कहा ही तो है उसने। तो ये सब हठों के आशय हैं। अपने विकल्पों का हठ छोड़ने के लिए राजी कोई नहीं हो रहा है। ये तीन ऐसे ऐब हैं जिससे भगवान का यह निर्मल शासन जगतमें विस्तृत नहीं हो पा रहा है। मिलें तो कोई कहने वाले। शिष्य सोच रहा है मिलें तो कोई गुरु, जो कठोर वचनोंसे मुझपर शासन करें। मतलब यह है कि अपना आचरण निर्दोष बीते, इसमें ही कल्याण है।

गुणागुविवेकिर्भिविहितमप्यलं दूषणं,
भवेत्सदुपदे शवन्मतिमतामतिप्रीतये।
कृतं किमपि धार्ष्टयतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥ १४४ ॥

दूषणकी व्यक्तिमें हितार्थीकी प्रसन्नता—गुण और दोष का जिन्हें विवेक है ऐसे पुरूष अपने दूषण दूसरोंके द्वारा प्रकट होने पर भी उस उपदेश में प्रीति रखते हैं। जैसे कि कोई भला उपदेश प्रीति उत्पन्न करता है, इसी प्रकार दूषण का प्रकट हो जाना भी धर्मात्मावोंकी प्रीतिके लिये होता है। किन्तु जो धर्मतीर्थकी सेवा नहीं करता है ऐसा जीव कदाचित् गुणानुवाद भी करे तो भी

विद्वान पुरूषोंके मनको वह गुणानुवाद संतोष उत्पन्न नहीं करता। प्रयोजन यह है कि जिसको जिस बात की चाह है उसकी जिस प्रकार की दृष्टि लगी हो वह उसमें राजी है, और उस सिद्धिमें किसीके द्वारा बाधा हो तो वह उसमें प्रसन्न है। जिसे एक आत्मस्वरूपकी धुन ही समायी है, कल्याणकी ही चाह है ऐसे पुरूषको जिस बर्तावमें कल्याणकी सहायता मिलती है, इसमें तो प्रीति होती है, और जिस बर्तावसे कल्याणमें बाधा होती है उसमें प्रीति न होगी। गुणानुवाद सुनकर यह विरक्त पुरूष उसको बाधक समझता है और दोषानुवाद सुनकर वह उसे साधक समझता है। दोषों को दूर करना और गुणोंको प्रकट करना, यही मात्र ज्ञानी पुरूषका लक्ष्य होता है जो पुरुष जिसका हित चाहता है वह उसके प्रति वैसा करता है—इस कारण उस जीवके बुरा होनेका जो कारण हो उसको छोड़नेके लिए सत्पुरूष दोष भी प्रकट करते हैं।

दोषनिवृत्तिमें प्रसन्नता—भैया ! अपने अनुभवमें भी यह बात निरख लो कि जितने क्षण अपने गुणोंमें रूचि होती है अथवा दोषोंकी निवृत्ति होती है तो दोषनिवृत्तिके क्षणमें कैसा अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है? विषयकषायोंके परिणाम रहते हों तो वह प्रसन्नता नहीं रहती जो प्रसन्नता निर्विषय और निश्कषाय होने में रहती है। वह तो भला ही मानता है यदि मेरा यह दोष प्रकट न किया जाता तो इस दोषको निवृत्त करनेका मुझे अवसर न मिलता। कितने ही दोष तो ऐसे होते हैं जो खुदकी समझ में भी नहीं आते और इसी बात पर एक अहाना भी चला है कि दूसरे के आँखकी फुली भी दिखती है, किन्तु अपनी आँखोंका टेंट नहीं दिखता है। दूसरे जीव उन दोषोंको बता दें तो विवेकी पुरूष उसमें हर्ष मानते हैं।

निर्दोषताका प्रोग्राम—एक ही प्रोग्राम है इस भव्य पुरूषका कि निर्दोष होना, फिर इतनी सम्पन्नता तो स्वयं आ जाती है। बल्कि उसकी इस पर दृष्टि नहीं आती कि मैं ऐसा गुण पैदा करूँ, किन्तु इस पर दृष्टि है कि मुझमें कोई दोष न रहें, विकार न रहे। निर्विकारता होने पर गुणसम्पन्नता अपने आप बन जाती है। तो जिसको यह रूचि रहती है उसकी यह दृष्टि नहीं रहती है कि लोग मुझे बुरा न कहें, भला कहें, लोक तो लोकमें है, उनकी परिणति उनमें है। शिष्य यदि बुरी प्रवृत्ति रखता है तो कोई जाने तो, न जाने तो, मैं अपने लिए अपना घात कर रहा हूं और मेरी प्रवृत्ति मेरा आशय मेरी दृष्टि शुद्ध है तो भ्रमवश अथवा किसी भी कारण से दूसरे लोग अपयश करें, निन्दा करें, सर्वत्र अपयश भी फैला दें, इतने पर भी मेरा बुरा नहीं होता है। जिसको अपने लिए एक अपना ही शरण दीखा है, आप ही गुरु समझमें आया है, आप ही रक्षक ध्यानमें आया है उस पुरूषकी लोकयश अपयश आदि पर दृष्टि नहीं होती है। उस विवेकी का एक ही प्रोग्राम होता है—मैं निर्दोष होऊँ, निर्विकार होऊँ।

गुण दोषके विवेकी आवश्यकता—भैया ! वास्तविक मित्र वही है जो निर्विकार होनेमें सहायता करे। वह मित्र नहीं है जो विषयोंमें, व्यसनों में लगाये। भले ही कषायवश ऐसे लोग मित्र मालूम पड़ते हों, पर वे तो वास्तवमें बिगाड़का कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यका ऐसा

संकल्प होना चाहिए और अपने आपमें ऐसा प्रकाश बनाने वाला रहना चाहिए जो यह दिखता रहे कि मेरा इसमें भला है और मेरा इसमें बुरा है, और लोकमें भी प्रायः ऐसी व्याप्ति है कि मैं भला करूँ तो लोकमें भी भला होगा, अन्यके प्रति भी भला व्यवहार होगा, दूसरे भी मुझे भला समझेंगे। मैं बुरा करूँ तो दूसरे भी मुझे बुरा समझेंगे। लेकिन दूसरोंके द्वारा भला और बुरा समझा जानेसे सुधार बिगाड़ नहीं है। वह तो एक व्याप्ति है, होता है ऐसा। पर सुधार बिगाड़ तो अपने भले और बुरे होनेसे है। अब दोष प्रकट होने पर दोषोंको दूर करना और गुण दिखने पर गुणोंका ग्रहण करना, यही एक अपना कर्तव्य है, यह बात अगले छंद में कह रहे हैं।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥ १४५॥

गुणग्रहणमें व दोषत्यागमें विद्वता—छूट गई है अन्य कारणकी अपेक्षा जिसमें तथा गुण दोषोंका ही कारण जहाँ पर है ऐसे गुणका ग्रहण और दोषका त्याग जिस जीवमें पाया जाता है सो ही ज्ञानियों में प्रधान जानना। दोषसे रहित और गुण सहित जो वृत्ति होती है वह शान्तिके लिए होती है। दोष स्वयं अशान्तिका स्वरूप रख रहा है। दोषोंसे अशान्ति होती है इतना भी क्यों कहें? दोषों में स्वयं अशान्तिका स्वरूप पड़ा है। राग करने से क्लेश होता है, इतना भी क्यों कहें? हम जैसे हैं वैसे ही अपने आपमें रहें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम अपना स्थान छोड़कर अपनी सीमासे बाहर जब जानेके उद्यमी होते हैं, परघर में अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, परवस्तुवोंमें अपना उपयोग बसाया करते हैं तो इस बाहरी वृत्तिमें क्लेश होना प्राकृतिक बात है। क्लेश और आनन्द इन दोनोंका इतना ही हल है कि यह उपयोग अपने आधारकी ओर मुख न करके जो निराधार है, जो मेरा आधार नहीं ऐसा बाह्य वस्तुवोंकी ओर यह उपयोग मुख करे तो उसमें क्लेश होता है। और अपने आधारभूत तत्त्वकी ओर मुख करे तो उसमें आनन्द रहता है। योगीश्वरोंने यही मर्म अपने चित्तमें उतारा और यही किया करते हैं। वे रात्रि दिवस कि मेरा उपयोग मेरी ओर मुख करता हुआ रहे, मैं अपने को जानूँ मानूँ और ऐसा अपने आपमें रमण करूँ तो वहां क्लेश नहीं रहता है।

जीवकी त्रिगुणमयता—जीवमें ये तीन गुण स्वभावतः हैं। श्रद्धा करना, ज्ञान करना और रमण करना, प्रत्येक जीव चाहे एकेन्द्रिय हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि हो। प्रभु भी हो सब जीवोंमें ये तीन परिणतियां पायी जाती हैं—विश्वासका रहना, ज्ञानका होना और लगा रहना। अज्ञानी जीव अज्ञानमयभावोंको आत्मारूपसे विश्वास करता है पर विश्वास किए बिना कोई रहता नहीं है। जिसके मन नहीं है ऐसे एकेन्द्रिय आदिक जीव भी जल, पृथ्वी, पेड़ ये जीव भी अपने आपमें विश्वास बनाये हैं। मन न होनेसे उसका विकल्प नहीं बन पाता है, लेकिन अपने आपका अन्य रूपमें प्रत्यय किए बिना कोई जीव दुःखी नहीं रह सकता। अपने आपका जो अन्यरूपमें प्रत्यय करे वही दुःखी होता है। किसी ओर विश्वास न हो और दुःख अथवा आनन्द मिल जाय, यह कभी नहीं होता। वह अपनी पर्यायोंके अनुकूल विश्वास बनाये हैं। जिस पर्यायको उन्होंने पाया है उस पर्यायरूप मैं हूं,

ऐसा उनमें बोलनेकी और स्पष्ट विकल्प करनेकी योग्यता नहीं है। फिर भी वे अपने ढंग से अपने आपमें कुछ-न-कुछ अनुभव किये हुये हैं, तभी उन्हें क्लेश होता है। विश्वासका माद्दा प्रत्येक जीवमें है, यों ही ज्ञानकी प्रकृति प्रत्येक जीवमें है, और कहीं न कहीं रमण करनेकी प्रकृति प्रत्येक जीव में है। अज्ञानीजन कहीं न कहीं लग ही रहे हैं। ज्ञानी पुरूष भी कहीं लग ही रहे हैं, और भगवान अरहंत सिद्ध भी कहीं लग रहे हैं। ये कहाँ लग रहे हैं? निजानन्दरस लीनमें। वे इस प्रकार लग रहे हैं। तो ये जीवमें तीन प्राकृतिक गुण हैं।

स्वपरविवेकमें आनन्द–कोई अपने आप में ही लगे उसे आनन्द है जो परकी ओर लगे उसे क्लेश है, इसका कारण यह है कि जिस परको हम अपनाना चाहते हैं वह परपदार्थ है, भिन्न है, उसपर मेरा अधिकार है नहीं और मान लिया है अपना तो मेरे मनके अनुकूल वह परपदार्थ रहा ही करे, ऐसा तो हो नहीं सकता। वह अपनी योग्यतासे परिणमेगा, हम अपने मनका विचार और कुछ बनायेंगे और उस समय हम कष्टका अनुभव करेंगे। जो जीव निजको निज परको पर जानते हैं उनको दुःख पाने का अब कोई कारण नहीं रहा। यथार्थ जान लिया, क्लेश समाप्त हो गया। जब हम स्वयंको अपराधमय रूपमें जाननेका हठ बनाया करते हैं तब ही आकुलताएं होती हैं। हम यथार्थ ज्ञाता द्रष्टा रहें तो वहां आकुलताका काम ही नही है। सबसे बड़ा पुरूषार्थ यही है करने का अपने आपको अपने यथार्थस्वरूपके रूपमें अनुभव करना, ऐसा ही मान बनाये रहना यह काम कितनी देर करना चाहिए? अरे यह तो रात दिवस प्रतिक्षण सदा काल करना चाहिए। जब यह दृष्टि छूट जाती है तब हम अनर्थमें विपत्तिमें ही तो पड़ जाते हैं। एक बार ऐसा विश्वास होने पर सदैव ऐसा विश्वास बना रहे यह सबका कर्तव्य है। अपना पता पा लेवे, अपना सही मूलमें सहारा पकड़ लेवे तो इसे समझिये कि इसकी आँखें खुली हैं।

दुःखका कारण अविवेक–भैया ! जिसको अपना मूलमें सहारा नहीं मिला वह अंधा है। वह यत्र तत्र दुःखी होगा। अज्ञानी जीव अपनी ही योग्यतासे दुःखी होता है, उसे कोई दूसरा दुःखी करने नहीं आता। एक साधारण सी कथा है–एक गाँवमें एक पति पत्नी रहते थे, पति का नाम था बेवकूफ और स्त्री का नाम था फजीहत। एक दिन फजीहत लड़कर घर से निकल गयी। वह बेवकूफ इधर उधर ढूँढ़ता फिरे। दसों लोगोंसे पूछा पर उसे फजीहतका पता न चला। एक बार किसी परदेशीसे भी पूछा कि तुमने क्या मेरी फजीहत देखी? वह उसका कुछ अर्थ ही न समझ सका। उसने पूछा तुम्हारा नाम क्या है? वह बोला मेरा नाम है बेवकूफ तो उसने कहा–अरे तुम बेवकूफ होकर फजीहत को कहां ढूँढ़ते फिरते हो? जहां ही किसीको उल्टी सीधी बात कह दिया वहां ही सैकड़ों लाठी घूँसे तैयार हैं। तो अविवेकीको तो जगह-जगह दुःख है। उसे दुःख कहीं से लाना नहीं है, अज्ञानके साथ ही दुःख लगा हुआ है।

सुखार्थ अन्तः प्रयत्नकी आवश्यकता–सुखके लिए हम लोग बड़े-बड़े प्रयत्न करके रात दिन उद्यम करते, धन कमाते, कारोबार करते, बहुत बहुत क्रियाएँ किया करते हैं, किन्तु शान्ति अब

तक नहीं पायी। शान्ति मिलेगी कहाँ से, शान्ति मिलने के ढंगका काम ही नहीं करते। वह काम है अपना प्रकाश पाना। सबसे भिन्न अपने स्वरूपमात्र ज्ञानानन्दपुञ्ज अपने आपका अवलोकन बनाए रहना, यही है शान्तिका उपाय। ऐसा करने की दृष्टि तो होनी ही चाहिए। मोह मोहमें अब तक अनेकबार पड़े, ऐसा फंसाव है यह मोहका कि यह कितना ही सोचता है कि हम इतने बिल्कुल निश्चिन्त हो जायेंगे, हमारा मार्ग बिल्कुल स्पष्ट साफ हो जायेगा। अरे ज्ञानभावना बनाये बिना कदाचित घर भी त्याग दे तो त्याग देने पर भी वह निश्चिन्तता प्रकट नहीं हो पाती है, और प्रथम तो घरका त्यागना भी कुछ कठिन हो जाता है। जितना भी क्लेश है वह सब मोहका क्लेश है। दूसरा कुछ क्लेश ही नहीं है। घर घरमें है, वैभव वैभव में है, दूसरे जीव वे अपने स्वरूपमें हैं। कौनसी आपत्ति है हम आप पर? जो जहां है, है। किसी जीवका कोई ठेका ले सकता है क्या? और ठेका ले क्यों रहे हो? किसी जीवका कोई कर्तृत्व सम्बन्ध है क्या? इसका यही जीव है सब कुछ-ऐसा कोई नाता नहीं। ठेका ही क्यों ले रहे हो? लिया भी नहीं जाता। सबके साथ अपने-अपने कर्म लगे हैं। पुत्र कुपूत है तो उसको धन संचित करके भी रख जाय तो भी वह लाभ नहीं ले सकता, पुत्र सपूत है तो उसे आप कुछ करके भी न जायें तो भी वह अपने पुण्य और युक्तिसे काम चला लेगा। सबके साथ उदय लगा है, किसकी चिन्ता करते हो?

निजप्रकाश—भैया ! बुद्धिमानी इसीमें है कि हम सबसे विविक्त केवल अपने चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपको दृष्टिमें लेते रहें। मैं तो वह हूं जिसे कोई कुछ नहीं कहता। दूसरा कोई मुझे पहिचानता भी नहीं। कोई यदि पहिचान जाय वास्तवमें तो वह स्वयं निर्विकल्प होता हुआ ही तो पहिचानेगा। फिर उसका मेरे साथ व्यवहार ही नहीं चल सकता। वह अपने प्रकाशमें लीन हो जायेगा। जो लोग ऊँच नीचका व्यवहार करते हैं उन्होंने उसे जाना नहीं है। वे मेरे साथ व्यवहार नहीं करते, किन्तु इस मूर्तिकको जो कुछ पर्याय उनको नजर आती है उसे ही सब कुछ जान कर व्यवहार करते हैं, किन्तु यह तो मैं नहीं हूं। अपने आपके यथार्थस्वरूपका भान रहे तो निराकुलता मिलेगी। अज्ञान अंधेरेमें हम भटक भटक कर शान्ति चाहें तो यह कभी नहीं हो सकता।

आत्मभावनाका अनुरोध—वीतराग सर्वज्ञदेवने स्वयं शान्तिके इस मार्ग पर चलकर लोगोंका मार्गका उपदेश दिया है। शान्तिका केवल एक ही यह पंथ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र। अपनी अपनी शक्तिप्रमाण हम आप सबको इस रत्नत्रयकी आराधनामें लगना चाहिए और वह सीधा थोड़ेसे शब्दोंमें सुगम समझमें इतना ही है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको मानूँ और ऐसा मानता रहूं बस इस ही में रत्नत्रयका प्रकाश है, ऐसी श्रद्धा बनाकर हम आकुलतावों से दूर हों, ऐसी अपनी भावना और कोशिश करें।

हितं हित्त्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशं।
विपर्यये तयोरोधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः ॥ १४६ ॥

हिताहितके अविवेक व विवेकका प्रभाव—हे आत्मन् ! तू हितको छोड़ता है और अहित

में ठहरता है, इसी कारण दुर्बुद्धि होकर तू नितान्त दुःखी ही होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप परिणाम करना, अपने सहज शुद्ध स्वरूपमात्र, चैतन्य स्वभावमात्र अपने आपकी प्रतीति करना और शुद्ध ज्ञानरूपमें ही अपनेको निरखना और ऐसे ही ज्ञानस्वरूपमें रमण करना यह तो है आत्माका हित और आत्मतत्त्वको त्यागकर अन्य जड़ वैभव परिजन आदिकमें दृष्टि लगाना, उन्हें अपनाना, उनमें ममता करना यह सब है अहित। अब जगतके प्राणियोंको देख लो, परख लो कि वे हितमें ठहरे हैं अथवा अहितमें ठहरे हैं। प्रायः यही दशा है हितको त्यागकर और अहितमें ठहर गये। इस प्रकार की प्रवृत्तिसे तो तू दुःखी ही होगा। यदि इससे उल्टा करे, अहितको त्यागे और हित में ठहरे तो सुधी होकर तू अभी भी सुखी हो जायेगा।

जगतके अशुद्ध वातावरण पर द्युतस्थानका दृष्टान्त—भैया ! इस मनुष्य के सामने एक समस्या वातावरणकी भी कठिन है, दूसरे अपनी आशक्ति है। वातावरण इसका क्या बिगाड़ करे यदि स्वयंकी आशक्ति न हो। जैसे ज्वारियोंके अड्डे पर कोई पहुंच जाय तो वह जुवेंमें हारता है तब भी उस अड्डे से हट नहीं पाता है और जब जीतता है तब भी उस अड्डे से हट नहीं पाता है। जीत करके वह हटना चाहे कि अब हमने जीत लिया, चलो अब घर ले चलें तो वे ज्वारी उसे यों कहते हैं कि बस मतलब का ही है, जीत लिया सो चल दिया, इतनी खुदगर्जी है, दसों बातें सुनाते हैं। फिर उसे उस खेलमें बैठना पड़ता है। हार जाय तो वह जीतनेकी आशासे और बैठा रहता है। कदाचित् हार हार कर थक गया अब दो एक दिनके खाने भरका ही बचा है, उसे ही अपनी गांठ में बचाकर चल दे तो भी वह लेकर नहीं जाने पाता है। ज्वारी लोग कहते हैं बस इतनी ही हिम्मत थी। उसे फिर बैठना पड़ता है।

जगतका अशुद्ध वातावरण—ऐसे ही यह संसार पुण्य पापके जुवेका अड्डा है, इस अड्डेमें हम आप बैठे हुए हैं। पुण्यका फल मिला उसमें जीत मान लिया, पापका फल मिला उसमें हार मान लिया। जुएमें और क्या बात होती है हार और जीत। यहाँ साक्षात् जीत और हार है। जैसे लोग कहते हैं कि सिनेमामें क्या जावें? जो कुछ जिसपर गुजर रही है यह सब साक्षात् सिनेमा ही तो है। जो सिनेमाके भीतरमें दिखाया जाता है वे ही बातें तो यहां होती हैं। यह सीधा सिनेमा ही तो है। ऐसे ही जानो कि यह जगत ज्वारियोंका अड्डा है। पुण्यके फलमें जीत मानने वाले और पापके फलमें हार मानने वाले ये यहांसे हट नहीं पाते हैं। न जीत मानने वाला हट पाता है और न हार मानने वाला हट पाता है। उन्हीं विभावोंमें रत रहकर कर्मबन्धन करता हुआ भवके जन्म मरण करता रहता है। यह कुटेव कि हितका त्यागना, अहितमें ठहरना। जब तक ये न छूटेगी तब तक हे प्राणी तू सुखी न हो सकेगा।

आत्मनिरीक्षण—भैया! जगतकी ओर क्या देखते हो, अपनी ओर निरखो। जब जितने भी समय घंटा आध घंटा धर्म करनेका संकल्पकर रहे हो, भक्ति सामायिक ध्यान जाप जब ही धर्ममें लग रहे हो तो इतने क्षणोंमें तो गृहस्थीके अन्य लोगोंसे तो अपना रंच भी नाता न रख। इतने समय

तो तू सबसे विविक्त निजस्वरूपमात्र अपने स्वभाव को निरख। इससे ही अपना प्रयोजन रखेगा तो तुझे निराकुलता मिल सकती है। अब हे आत्मन्! जितने भव, जितने क्लेश गुजरे सो गुजरे, गुजर ही चुके, बीती हुई बातके ख्यालसे क्या पूरा पड़ेगा? कौन-सी सिद्धि होगी? वे सब गुजर गये। अब आगेकी सुध लो। अब शेष जीवन ममतारहित होकर राग विरोधरहित होकर आत्मकल्याणकी दृष्टिमें पग कर व्यतीत होना चाहिए। हितमें ठहरो और अहितको त्यागो। अहंकार, ममकार, क्रोध, मान माया, लोभ इन सब अहित भावोंको त्यागो; ये परभाव हैं, अहितरूप हैं, दुःखस्वरूप हैं, मेरे तत्त्व नहीं है। मैं इनसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दमात्र हूं। ऐसी ज्ञान भावनाका बल बढ़ाकर इन समस्त विभावों को दूर कर दो और आत्मस्वरूपका श्रद्धान्, ज्ञान और आचरण रूप जो रत्नत्रय है उस रत्नत्रय परिणम में तू ठहर, इसही विधिसे सुखी हो सकेगा।

इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमितो,
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।
त्यजस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजनन्,
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः। सौख्ययशसोः ॥ १४७ ॥

गुण दोषके साधनोंका विवेकी–कौन पुरूष सुख और यशका पात्र होता है और अन्त में शुद्ध आनन्दको भोगता है? जो पुरूष पहिले तो यह निरख करता है कि यह गुण है और यह दोष है, ये गुण हितके कारण हैं और ये अमुक-अमुक उपायसे प्रकट होतें हैं, यह जो स्पष्ट जानता है और ये दोष अहित के कारण हैं। इन दोषोंकी उत्पत्ति इन इन पद्धतियोंसे होती है, ये त्यागने योग्य हैं—इस प्रकार जो गुण और दोषोंमें विवेक बनाता है और विवेकी बनकर गुणोंको ग्रहण करता है, दोषोंको त्याग देता है वह ही पुरूष सुख, यश और मुक्तिका पात्र होता है। वस्तुतः वही विद्वान है।

लोकवैभवसे महत्ताका अभाव–कोई पुरूष लौकिक धन बढ़ गया उस से समझता है कि हमने विवेक किया, बुद्धिमानी की, देखो इतना वैभव मेरे समीप आ गया। सब कल्पनाओंकी बात है यह तो अविवेक है। इसके निकट कुछ नहीं आया। यह तो अपने ज्ञानादिक गुणों स्वरूप है, यह तो जैसा है तैसा ही है, पर कल्पनामें मान लिया कि मेरे पास इतना वैभव है, लौकिक वैभवके कारण लोग अपनेको महान् समझते हैं, पर महत्ता तो वहां है जहां शान्ति रह सकती हो। शान्ति न मिले और इस मायामयी अंधेरी आत्मामें अपने आपको जो मौजी मान ले तो इतने से कोई सिद्धि न होगी।

परमार्थ विवेकी–विवेकी पुरूष वह है जो स्पष्ट जानता है कि यह तो गुण है और यह दोष है, यह तो हित रूप है और यह अहितरूप है। यह गुण इस उपायसे प्रकट होता है और यह दोष इस उपायसे प्रकट होता है। स्पष्ट जो जाने और दोषोंके उपायको त्याग दे, गुणोंके उपायको ग्रहण करे, बस वही पुरूष सुखका पात्र होता है। लौकिक कथनीमें ये सब एक साधारण बातें लगती हैं

लेकिन इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी बात समायी हुई हैं। यह गुण है, यह दोष है, इस प्रकारका जो निश्चय करता है वही तो सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान कहलाता है और फिर गुणोंको ग्रहण करना दोषोंको त्यागना यही सम्यक्चारित्र कहलाता है। वैसे सीधी पद्धतिमें एक साधारण सी बात बतायी कि दोषोंको दोष जानो और गुणों को गुण जानो। दोषों को त्यागकर गुणों को ग्रहण कर लो। ठीक है, इस प्रक्रियामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आ गये। रत्नत्रयको ही मोक्षका मार्ग कहा है। मोक्ष मायने छुटकारा। किससे छुटकारा? अशान्तिसे, विकारोंसे, उपाधियोंसे, मलिनतावोंसे छुटकारा होने का नाम मोक्ष है। मोक्ष कहो या शान्तिका परमधाम कहो, स्थान कहो, एक ही बात है। गुण और दोषोंको विवेक करके जो गुण को ग्रहण करे वह पुरूष सुखका भी पात्र है और यशका भी पात्र है।

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ,
जन्मान्तरार्जित शुभाशुभकर्मयोगात्।
धीमान् स यः सुमतिसाधनवृद्धिनाश –
स्तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥ १४८ ॥

लौकिक वृद्धिनाश की शुभाशुभकर्मानुसारिता–लौकिक वैभवकी वृद्धि होना अथवा लौकिक वैभवका नाश होना वह वर्तमान बुद्धिके आधीन नहीं है, किन्तु जन्मान्तरोंमें अर्जिज शुभ और शुभकर्मोंके योगसे ऐसा होता है–तभी तो कहो जिसने खूब पढ़ा लिखा, विद्याभ्यास किया, उसके निर्धनता बनी हुई हो, और ऐसे भी लोग देखनेमें आते हैं कि जिनका ज्ञान विवेक एक बच्चे बराबर भी नहीं है, अललटप्प सा रहता है, उठने बैठने चलेने खाने पीने आदिमें भी असभ्यता है। गरीबीमें होता तो लोग उसका तिरस्कार करते, बुद्धिहीन है लेकिन फिर भी कोई कोई बड़े धनिक हैं और इतना धन है कि कहीं रखनेका भी स्थान न हो, ऐसा देखा जाता है। तो सच समझो यह वैभव बुद्धिका फल नहीं है। यह तो पूर्वकृत सुकृतका फल है। इससे वृद्धि और हानिका लेखा न करना कि लौकिक वैभव बढ़ गया तो हम बड़े हो गये, लौकिक वैभव कम हो गया तो हम हीन हो गये। वृद्धि और हीनताका इस जड़ वैभवके समागमसे लेखा न लगायें। इससे बुद्धिका अंदाज नहीं होता। जो वैभवशाली है वह बुद्धिमान हो और जो वैभवरहित है वह बुद्धिहीन हो, ऐसी व्याप्ति नहीं है, और उससे हानि लाभका लेखा भी न लगायें। धन होनेसे लाभ हुआ। धन कम होनेसे हानि हुई, यह लेखा भी न लगाइये।

वृद्धि हानिका वास्तविक लेखा–वृद्धि और हानिका वास्तविक लेखा लगाना हो तो धर्मरूप परिणाम होने पर वृद्धि मानो धर्मरूप परिणाम न होने पर हानि मानो। बुद्धिके विकासमें लाभ और बुद्धिके आवरणमें हानि या नफा टोटाका लेखा लगाइयेगा। लौकिक वैभवसे नफे टोटेका लेखा न लगाइयेगा। उसमें कोई बुद्धिकी करामात नहीं है। हालांकि थोड़ी बहुत बुद्धि वहाँ लगती है पर वह इतनी साधारण भी हो सकती है जितनी अन्य निर्धन पुरूषों में भी सम्भव है। फिर लौकिक हिसाबमें

कुछ ऐसा भी लगता है कि धनिक पुरूषोंमें धनी होने पर कुछ बुद्धि आ जाती है उस योग्य कुछ सभ्यता सी जँचने लगती है। वस्तुतः कोई नियम नहीं है, पर लोककी दृष्टिमें धनी पुरूष बड़े माने जाते हैं तो उस धनिकके बड़प्पनके कारण वे जो कुछ करते हैं वह भी कुछ बड़ा सा लगता है। जो बड़ा माना जाता है उसकी चेष्टा कुछ बड़ी सी दिखने लगती है। लेकिन वस्तुतः वैभव होने न होने से आत्माको लाभ और हानि नहीं है। हमने कितना कषाय मंद किया है, पहिलेकी अपेक्षा मेरे कितना ममत्व दूर हुआ है! मैं किसी पर वस्तुमें अहंकार तो नहीं रखता, यह अपनेमें देखिये। यदि यहाँ कुछ विकास मालूम होता है—हां मैने क्रोधपर इतने अंश तो विजय पा लिया। पहिले तो मैं भुना ही करता था, अब अनेक बातोंके झेलनेकी भी सामर्थ्य आ गयी और उस दर्जेका क्रोध न रहा लो यह है लाभकी बात। इसी प्रकार मान, माया, लोभकीभी बात निरख लो। यदि इन कषायोंकी मंदता हुई है और परवस्तुवोंके उलझनसे हटकर सीधे सुगमतया अपने आपकी ओर आनेकी योग्यता हुई है तो वहाँ जमाकी कलम बढ़ी हुई समझना चाहिए।

कषायवृद्धिसे आत्महानिका निर्णय—यदि पहिलेकी अपेक्षा अब क्रोध ज्यादा आने लगा है और अवस्थाका भी कषायवृद्धिमें सहयोग मिला जो कि प्रायः ऐसा हो जाता है, वृद्धावस्था होती है, शारीरिक कमजोरी है तो वहां फिर जरा-जरा सी बातों में क्रोध आने लगता है। ऐसा ही यदि हुआ, पहिलेसे क्रोधकी मात्रा बढ़ गयी, पहिले इतना घमंड नहीं उठता था क्योंकि छोटी उमरका था। कुछ जगतके और डौलडाल देखे न थे, अथवा आर्थिक स्थिति कम थी या लोगोंसे इतना परिचय नथा, सब साधारण बात थी। इसमें घमंडका अवसर कम रहता था। लेकिन, आज दसों नगरोंमें मेरा नाम हो गया है, वैभव भी बढ़ गया है, और कलायें भी बढ़ी चढ़ी हो गयी हैं तो इससे अहंकार और भी बढ़ गया। यदि अभिमान बढ़ गया तो समझिये कि हम नुक्सानमें हैं। बच्चे लोग इतने मायाचारमें नहीं रहते हैं, पर जैसे-जैसे उमर बढ़ती जाती है मायाचार करनेकी योग्यता होती जाती है, क्योंकि विषयोंमें प्रीति बढ़ी उसके लिए साधन चाहियें। विषयों के साधन कमा लेना कुछ हाथ की बात नहीं है। मिलना है तो मिलता है, नहीं मिलता है तो नहीं मिलता है।

विकल्पोंकी अनर्थता—देखो भैया ! पराधीन विषयोंके साधन मुझे किसी प्रकार मिल जायें तो मिलनेका अर्थ है कि किसीके छूट जायें, क्योंकि जगतमें विषयोंके साधन तो इतने ही नियमित गिने चुने हैं। यदि हम विषयोंके साधन अधिक चाहते हैं तो इसका अर्थ यह है कि किसीके पाससे ये साधन हट जायें, हमें मिल जायें। यदि ऐसा करनेमें दूसरेका नुकसान पहुंचे, मुझे लाभ हो, दूसरेके नुक्सानकी परवाह न रखा करें, अपने लौकिक लाभकी दृष्टि रक्खें तो इस कठिन कामके करनेमें मायाचार करना पड़ता है। इस कामके करनेका अवसर बड़ी उमरमें ही आता है, छोटी उमरमें नहीं आता। तो हुआ क्या? हम और कषायोंमें चढ़ गये। मानते तो हम यह हैं कि हम धर्म कर रहे हैं, हमने उन्नतिकी है, किन्तु हो रहा है काम उल्टा तो यह हित पंथसे विपरीत बात हुई ना? इस लौकिक समागमसे हम लाभ टोटेका लेखा न लगायें। अपने आपको देखो। धन बढा लिया तो उसने

कौनसा बड़ा यज्ञ कर लिया, कौनसा बड़ा काम कर लिया जिन-जिन पुरूषोंके भोगमें उस धनको आना था वह उनके पुण्यके उदयसे आया, मैं बन गया निमित्त और ये सब चीजें प्राप्त हो गयीं। इससे हमारा कौनसा हित हो गया खूब सोच लो। भारी धन कमानेमें और उसकी रक्षा व अन्य-अन्य चिन्तावोंमें समय गुजरता है और लाभ क्या होता है खुदके आत्माको, इस पर दृष्टिपात करो।

ज्ञानयत्नकी युक्तता—ये वैराग्यकी बातें ऐसी लगती हैं जैसे लोगोंकी समझमें अनफिट हों, की जा रही हैं। जमाना कैसा है जमानेको देखकर हमें भी तो बढ़ना चाहिए, हमारे भी विषयोंके साधन ऊँचे होने चाहिएँ। हम भी लोगोंके बीच शानसे बैठ सकें, रह सकें इतनी बात तो होनी ही चाहिए। इसकी भी उपेक्षा करके केवल आत्मा आत्माकी बात सुनाई जा रही है। ये तो सब अनफिट बातें हैं। ठीक है। संसार-भ्रमणके प्रोग्राम की दृष्टिसे तो अनफिट है, पर कोई बिरले भव्य पुरूष इस प्रकारका आत्महितका लक्ष्य बनाकर अपने आपको सबसे ओझल रखकर अपने आपमें पुरूषार्थ किया करते हैं। इस ज्ञानयत्नमें हितोद्यम फिट हो जाता है। यह भी बात नहीं है कि कल्याण चाहने वाले पुरूषोंको लौकिक साधन यश और सुख ये न मिलते हों। उसे तो अन्य लोगोंसे भी अधिक मिलते हैं, पर जो इनकी ओर आकर्षित हो जाता है वह दोनों दृष्टियोंसे गया बीता हो जाता है। हमारी हर परिस्थितिमें यह कर्तव्य है कि हम धर्मकी दृष्टि रक्खें।

धर्मस्वरूप भगवान आत्मा—साक्षात् धर्मस्वरूप यह भगवान आत्मा है। जो कुछ हम चाहते हैं, लौकिक मनोरथ हम करते हैं उन सब मनोरथों की पूर्तिका स्थान यह भगवान आत्मा है। इसमें कहां कमी है, कहां अधूरापन है, कहां कौनसी चुटि है, सत् है। जो सत् है वह पूर्ण बना हुआ ही होता है। यह मैं परिपूर्ण हूं और सत् होनेके कारण सुरक्षित हूं। अपने इस सुरक्षित चित्स्वभावमात्र तत्त्वमें दृष्टि जाय तो वहां एक ऐसा अनुपम आनन्द प्रकट होता है जिस आनन्दमें चिरकाल तक वह रहेगा, सर्व प्रकारके कर्मबंधन, संकट समाप्त हो जायेंगे। हर परिस्थितिमें मूल लक्ष्य तो यही रखना चाहिए कि मैं अपने स्वरूपकी ओर झुकूँ और इसीमें रम करके अपनेको तृप्त कर लूँ। एक ही मात्र उपाय है शान्तिका। जब भी जो कर सकेगा शान्ति तो इसी उपायको करके ही शान्ति पा सकेगा।

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवतां।
नतानामाचार्या न हि नतरताः साधुचरिता –
स्तपस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥ १४९ ॥

राजावोंकी दंडमें व न्यायमें अशक्तता—इस कलिकालमें दंड ही नीति है। जैसे उपदेश द्वारा लोकको नीतिमें लगाया जाता था वैसे आजके समथ में उपदेश नीति नहीं है किन्तु दंड नीति है। राज्यका कोई नियम बन जाय और उसपर जोर रहे तो नीतिका पालन हो जायगा, पर उपदेश मात्रसे नीतिका पालन होनेका आजका समय नहीं है प्रायः करके। सो नीति तो इस कलिकालमें दंड है और

वह दंड राजावोंके द्वारा होता है। राजा ही दंड देनेके अधिकारी हैं, और ये राजा धनके लिए हैं। जिस मामलेमें धन मिले उस पर उनका ध्यान है, यह उनका नियम है। कोई गरीब आदमी आज के समयमें अपनी किसी बातका न्याय कराये जिसके पास पैसा नहीं है उसका कोई स्थान है क्या? फीस चाहिए, इनाम भी चाहिए। चपरासियोंका, क्लर्कोका खर्च चाहिए। न्यायका तो यह अर्थ है कि जज लोग चलकर गुप्त रहकर घटनाएँ तलाशें और उनका न्याय करें, पर इसकी गंध भी कहाँ है? जैसे बहुत पुराने पुरूष इतिहासोंमें सुने गये हैं कि अमुक राजा रात्रिको या दिनमें भेष छिपाकर नये भेषमें चल फिर कर प्रजाजनों का पाप पुण्य तकता रहता था और न्याय करता रहता था तो राजा लोग भी कुछ धनके अथ न्याय करते हैं। तो अब राजावों से न्यायकी सम्भावना तो रही नहीं।

आचार्योंकी दंडमें व न्यायमें अशक्तता—भैया ! साधुजनोंको कहा जा रहा है कि साधुजन अपने आचार से भ्रष्ट न हों। अपने आचारों में सावधान रहें, इसके लिए दो उपाय थे, एक तो राजाका उपाय। उसके शासनसे साधु भी सावधान रह सकते हैं। दूसरा उपाय है आचार्य महाराजका। आचार्यदेव संयम व्रत पालन कराये दोषीको दंड दे। दूसरा उपाय यह है। सो आचार्य हो गये शिष्योंके लोभी, हमारे शिष्य बढ़ने चाहिये। लोग कहेंगे उनके साथ चार पांच महाराज हैं, इतने क्षुल्लक हैं, इतनी अर्जिकायें हैं, पचासों कमंडल हैं, पिछी हैं, ऐसा लोग कहें तब तो हमारी बड़वारी है। तो जहाँ शिष्यसंग्रहका लोभ मनमें आ जाता है वहाँ फिर न्यायका व्यवहार नहीं आ सकता। आचार्य किस पर कढ़ाई करें? कोई शिष्य विनयपूर्वक नहीं चलता है, कड़ाई करेंगे तो कल भग जायेगा, फिर शिष्यों का संग्रह कहाँ रहेगा? दूसरी बात आचार्यजन नमस्कार करने वालों पर बड़ा विनय करने वालों पर खुश हैं अन्य शिष्य जो कि अविनययुक्त हैं उन पर आचार्य खुश नहीं होता है। जब आचार्य उन पर खुश नहीं है और नम्रीभूत शिष्यपर खुश है तो साधुवोंके धर्ममें और अपने व्रतसंयममें सावधानी रहे, इसका अब कोई साधन नहीं है और इसीका ही परिणाम है कि जिसके मनमें जो आये सो करे। जिस चाहे को आचार्य घोषित करदे और तो क्या अकेला भी मुनि हो तो भी आचार्य अब तो हो जाते हैं। ऐसे बहुतसे हैं भी तो जिसके मनमें जो बात आयी वही क्या धर्म है?

साधुकी निर्दोषताका आदर—अहो साधु जैसा पद जो अरहंतका लघु भ्राता कहा गया है, जैसे अरहंत-अरहंत अनन्त भी हों तो उन अरहंतों में कितनी एकस्वरूपता है? सब सर्वज्ञ सब वीतराग सब एकसे समृद्ध होते हैं, सबका परमौदारिक शरीर है। कोई उनकी क्रियामें, उनकी आन्तरिक परिणतिमें विविधता नहीं आती है। तो श्रेष्ठता तो इसीका नाम है कि उस श्रेष्ठ पदवीमें जितने जीव हों उन सबमें एकता बनी रहे। अरहंतके लघुभ्राता साधु परमेष्ठी होते हैं और उनमें अत्यन्त अधिक विविक्तता रहे कि कोई किसीको धर्म बताये, कोई किसी को बताये किसी भी क्रियामें तो यह क्या स्वच्छन्दता नहीं है। विशेष विवरणमें एक बात कही गयी है कि यह समय ऐसा नाजुक है कि यथार्थतः और धर्मसेवनकी सच्ची बातमें व्यवहारिक मार्ग भी बना रहना कठिन

है, ऐसी स्थितिमें भी जो साधु संत अपनी अध्यात्मपरिणति में रत हैं, ज्ञान ध्यान तपस्या ही जिनका एक लक्ष्य है ऐसे साधु परमेष्ठी धन्य हैं, आदर्शभूत हैं। साधु परमेष्ठियों की प्रशंसाके लिए ही यह बात बतायी गयी है कि ऐसा नाजुक समय है कि जहाँ न्यायकी आशा नहीं है। धर्मपंथपर एक ढंगसे कोई चला करे इसका कोई साधन नहीं है ऐसी स्थितिमें। जो साधुसंत आजकल भी अपने रत्नत्रय पर अडिग हैं वे धन्य हैं।

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै –
रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः।
संधतु विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः,
माब्राजीन्मरूदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥ १५० ॥

भ्रष्टसंगतिका निषेध–जो पुरूष वास्तवमें अपने मुनिपदमें नहीं हैं किन्तु मुनिभेष रखकर बाह्य क्रियाकाण्ड भी कुछ कुछ मुनिकी तरह निभा कर अपने को मुनि मानते हैं, किन्तु अन्तरङ्गमें इतनी आसक्ति है कि कान्ताके कटाक्षके अवलोकनसे बिंधकर विह्वल होकर वागविद्ध हिरणों की तरह यहां-वहां भटकते रहते हैं ऐसे साधुजन, ऐसे पुरूष भ्रष्टजन हैं, ऐसे पुरूषोंकी संगतिसे दूर रहने के लिए साधु पुरूषोंको इस छंदमें उपदेश किया गया है।

साधुवोंमें निर्विषयता व निष्परिग्रहताकी विशेषता–वस्तुतः मुनिपदमें इतनी विशेषताएं होती हैं कि मुनि पांचो इन्द्रिय छठा मन, इन छहोंके विषयोंकी आशासे दूर है, अतीत है, इनकी आशा नहीं करता, विषयोंमें महत्व नहीं समझता, विषयोंमें कल्याण नहीं जानता। विषयोंको साक्षात् अहितका रूप समझता है। पहली विशेषता तो निर्विषयताकी है, दूसरी विशेषता अपरिग्रहताकी है। जहां वस्त्रमात्र भी परिग्रह नहीं रहा और वहां कोई अपने कुटुम्बीका ख्याल रक्खे, अपने गांव वालोंका ख्याल रक्खे, कुछ कुटुम्बियोंको भिजा दे। कुछ गांवको भिजा दे, हमारे गांवमें मंदिर है, उसको रथ बनाना है तो उसमें भिज्वा दे। अपना गांव मानकर अपना कुटुम्बी मानकर उसके लिए परिग्रह करना ये सब परिग्रह ही हैं। निष्परिग्रहतामें उसका रूप नहीं आता है। दूसरी विशेषता मुनिजनोंकी अपरिग्रहता की है। परिग्रहके सम्बन्धमें शान्ति नहीं होती है, यह बात पूर्णतया निश्चित है। परिग्रहको शल्य कहा है।

परिग्रहकी शल्यहेतुता–भैया ! देख भी लो पासमें हजार दो हजार रूपये रखकर गृहस्थ भी चले तो उसे भी एक शल्य रहता है। गृहस्थको इतना शल्य न होगा क्योंकि गृहस्थको रूपये छिपानेके अनेक साधन हैं। ट्रङ्क है, बैंक है, कपड़ा है, थैला है, धोती है, जेब है, कोट पायजामा है, अच्छे-अच्छे साधन हैं, उसे उतना शल्य नहीं है जितना कि साधुजनोंके पास हो तो उनको शल्य होता है। वे कहाँ रक्खें रूपये? क्या कमंडलमें रक्खें? कोई लोग तो अपने सब साधन निकाल लेते हैं। बढ़िया साधन तो पुस्तक है। रूपये नोटोंमें आते हैं। सो पुस्तकके बीच रूपये रख लिये। पर चर्चा करेंगे तब उन्हें कहां धरेंगे, कैसे बचावेंगे, यह एक बहुत बड़ी शल्य रहती है। तो परिग्रहमें

बहुत शल्य हो जाते हैं। जिनका पद परिग्रह का है उन्हें परिग्रहमें शल्य न भी हो, जिनका पद परिग्रहका नहीं है और वे परिग्रह रक्खें तो उन्हें शल्य होता है। दूसरी विशेषता साधुकी अपरिग्रहताकी है।

साधनपरिग्रहमें विह्वलता—अपने आहारका और विहारका बढ़िया साधन बना रहे। जो लोग आहार विहारका जोग जुड़ाते हैं उनके कितनी अशान्ति है उसे वे ही समझ सकते हैं। विहार का जोग जुड़ानेमें मोटर आदि अच्छे साधन रखना। इनमें कितनी आकुलता है? आत्मानुभूतिका अवसर नहीं मिलता। यह बात खूब अनुभव करके देखी जा सकती है। खटपटें होती हैं गृहस्थ जानते हैं। ड्राइवरको मनाना, व्यर्थका खर्च रखना, खर्चकी पूर्ति करना, चलते-चलते मोटर कहीं बिगड़ जाय तो उसकी आकुलताका क्या ठिकाना है? यों ही आहारका साधन सोचकर कुछ ऐसा योग साथ रखना दो एक बाइयां इसीलिए साथ हैं, वे आहारकी व्यवस्था बनवा दें। कषाय तो सबके पास है। बाइयोंका जो मन चले, जैसी कषाय करें उसकी पूर्ति करनी पड़े, दसों खटपट हैं, ये सब आकुलता के साधन हैं। साधुकी वृत्ति निष्परिग्रहता की है।

साधुवोंमें निरारम्भता—तीसरी विशषता है निरारम्भपनेकी। साधु कोई आरम्भ नहीं रखते, कोई झौपड़ी नहीं बनाते, खेती नहीं कराते, कोई बाग नहीं लगाते, अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाते। और हमारे आहारकी अच्छी सुविधा रहे, इसके साधन नहीं बनाते। यही निरारम्भता है।

साधुवोंके परमार्थ कर्तव्य—साधुवोंको करने योग्य क्रियाकी विशेषता है कि वे ज्ञान ध्यान तपमें लीन रहें। ज्ञान ध्यान तपमें सबसे बड़ी चीज क्या है? इन तीनों में अपेक्षाकृत सबसे बड़ा है ज्ञान, उससे छोटा है ध्यान और उससे छोटा है तप। यहं ज्ञानका अर्थ पुस्तक पढ़ना नहीं, सीखना नहीं, स्वाध्याय करना नहीं, किन्तु ज्ञानका अर्थ है जाननहार रहना, ज्ञातामात्र रहना। यही है ज्ञान, और पढ़ना। स्वाध्याय करना यह तो तपमें शामिल है। १२ प्रकारके तपोंमें स्वाध्याय भी तो तप है। यहां ज्ञान शब्दका अर्थ है मात्र ज्ञाता रहना, जाननहार रहना, रागद्वेष रहित होकर वस्तुके ज्ञाता होना। यही है सबसे बड़ी विशेषता। ज्ञानमें न ठहर सके याने मात्र ज्ञाता न रह सके कुछ तरंग ही उठ जायगा। तो ऐसे यथार्थ पथ में लगना, विकल्प करके चित्तको उस सत्पथकी ओर लगाये रखना यह है ध्यान। जब ध्यानमें भी नहीं ठहर सकते तो तपस्यामें लगें। यों ज्ञान, ध्यान और तप ये ही जिनके प्रधान कार्य हैं वे ही साधु हैं।

कर्तव्यपरायणताकी प्रेरणा—यदि अपने कर्तव्यसे शिथिल होते हुए प्रमाद करते हैं तो किए जाने योग्य कर्तव्यमें एकमें भी प्रमाद करनेसे उस प्रमादके बढ़नेका अभ्यास बढ़ता जाता है, फिर दूसरेमें प्रमाद बढ़ता जाता है, और यों बढ़ते-बढ़ते स्वच्छन्द आचरण वाला भी बन जाता है। साधु अपने आंतरिक और व्यावहारिक कर्तव्यमें निरन्तर सावधान रहते हैं। जो साधु अपने आंतरिक और व्यावहारिक कर्तव्यमें निरन्तर सावधान रहते हैं। जो साधु काम विकारसे कथित हो, किन्हीं कषायोंसे

अनुरंजित हो और वह अयोग्य विचार वाला बने तो ऐसे विचार वाला भ्रष्ट मुनि है, उनके संगतिका साधुजनोंको निषेध किया गया है।

गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहायः,
संव्यानमिष्टमशन तपसोऽभिवृद्धिः।
प्राप्तागमार्थ! तव सन्ति गुणाः कलत्र-
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि याति वृथैव याञ्चाम्॥१५१॥

साधुवोंके याचनाका अनवसर–हे मुनि, तेरेको क्या कमी हो गयी जो तू किसी पदार्थसे याचना भाव रखता है। यदि तू किसी परकी आशा रखता है तो देख तो सही, याचना की जाने वाली परिस्थिति वह होती है जहां घर न हो, वस्त्र आदिक न हों, सवारी न हो, भोजन सुविधा न हो, स्त्री परिजन न हों, ऐसी स्थितिमें याचनाका अवसर होता है। मगर देख तो सही तेरे तो पारमार्थिक प्रयोजक सब कुछ है।

साधुवोंका घर और वस्त्र–तेरा घर हर जगह बना बनाया प्राकृतिक है। क्या? गुफायें, जहां चाहेकी झौंपड़ियां, तेरे जगह-जगह घर हैं। जहां जायगा वहीं तेरे लायक जिसमें तेरा गुजारा हो जाय सब जगह घर मिल जाते हैं, इसलिए घरकी समस्या तो यों हल हो गयी। वस्त्रकी बात यह है कि इन वस्त्रोंको रखकर जरा झंझटमें भी आ गये। ये धोती कुर्ता, चदरा आदि हम आप सभीके चलनेमें बाधक हैं, चलते समय इनकी संभाल करनी पड़ती है, पर हे मुनि ! तेरे पास ऐसे वस्त्र हैं कि तू निश्चिंत और सीधा प्रत्येक कृतिके लिए उद्यत रह सकता है। ऐसी तेरी ड्रेस है। वह क्या ड्रेस है तुम्हारी? चारों ओरकी जो दिशायें हैं ये ही तेरे वस्त्र हैं। कभी कभी लोग ऐसा कह देते हैं कि मुनि लोग बड़ी तेजीसे चलते हैं। ये गृस्थिजन उतना तेज नहीं चल पाते हैं, तो ठीक ही है। गृहस्थजन वस्त्रों से सजे सजाये हैं। उन्हें चलते समय वस्त्रोंकी संभाल करनी पड़ती है। मुनि तो निर्ग्रन्थ मुद्रामें है उसे चलनेमें किसी भी प्रकारकी रूकावट नहीं होती है। तो ये वस्त्र हैं चलनेमें बाधक। लोग कहते हैं कि चाल चलनेमें पुरूषोंकी अपेक्षा स्त्री धीरे चलती हैं, पुरूष तेज चलते हैं। तो और भी प्राकृतिक कारण होने पर एक कारण यह भी है कि स्त्रियोंके वस्त्रोंका पहनावा इस ढंगका है कि दोनों पैर खूब लिपटे रहते हैं। चाहे साड़ी हो, चाहे पेटीकोट वगैरह हो, ये सभी वस्त्र शरीरमें अच्छी तरहसे कूणित करते रहते हैं। फिर कैसे पुरूषोंके बराबर स्त्रियोंके चलने की होड़ लगे। यह तो बतानेकी बात है कि ये वस्त्र आदिक हमारी गतिमें बाधक हैं, हमारी फुर्तीमें बाधक हैं। वस्त्रोंसे तो वास्तवमें अन्य आन्तरिक भी बाधायें हैं। साधुवों के वस्त्र तो निर्वाध समस्त दिशायें हैं।

साधुवोंकी सवारी व भोजन–सवारी साधुवोंकी आकाश है। किसी भी समय यह समस्या नहीं आती कि हमारे पास सवारी ही नहीं है, कैसे चलें? अरे सब जगह सवारी तैयार है। कौन सी? आकाश। इसे कौन हटा लेगा। दृष्ट भोजन है साधुका आन्तरिक तपश्चरण। अन्तस्तप करके आत्मरूचि करके जो साधुको तपस्याका भोजन मिल रहा है उससे तो वह बड़ा तृप्त रहता है।

भोजनका काम क्या है? तृप्ति कर दे। भोजन से वह तृप्ति नहीं होती जो स्थायी रह सके या स्वाधीन हो, पर अपने चैतन्य स्वभावमें अपने आपके उपयोगमें तपानेके तपश्चरणमें जो संतोष और तृप्ति होती है वह उससे कई गुणा भी क्या, अदभुत् विलक्षण ही होती है। तो हे साधु! तेरा भोजन है तश्चरण। और देख—स्त्री पुत्र आदिक कुटुम्बीजन ये सब तेरे हैं गुण। जो तेरेमें गुण हैं क्षमा, सरलता, मार्दव आदिक जो तुझमें गुण हैं, ज्ञानदर्शनकी शुद्ध वृत्ति, ये सब तेरे स्त्री आदिक परिजन हैं।

साधुवोंको निर्वाञ्छ रहनेका उपदेश—हे साधो! अब विचार तुझे कौन सी कमी है जिससे तू किसी परकी वाञ्छा कर रहा है। तू अयाचीक वृत्ति से रह और अपने किसी साधनके लिए, विषयके लिए किसी परवस्तुकी आशा मत रख। यहां साधुजनोंकी नैराश्यमें रूचि प्रकट करनेके लिए सम्बोधा जा रहा है। नैराश्य मायने मोक्ष भी हैं और नैराश्यका अर्थ है जहां आशा नहीं रहती। ऐसे परिणामके लिए कहा जा रहा है। इस मुनिशिक्षणसे हमें भी यह शिक्षा लेनी है हम जितना परसे विविक्त निजस्त्ररूपमात्र शुद्ध ज्ञान भावमें ठहरनेका उद्यम कर सकेंगे व व्यवहार धर्म भी करके हम इसकी पात्रता बना सकेंगे तो उतना यह नर जीवन सफल है। यों आत्मस्वभावकी भावना पर ही हम अपनी सब धार्मिक क्रियाएँ घटायें।

परमाणोः परं नाल्पां नभसो न परं महत्।
इति ब्रु वन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ॥ १५२॥

अल्पतर और महत्तर—लोकमें सबसे बडी वस्तु क्या है? छोटेसे छोटा कौनसा पदार्थ है? लोगोंने बताया कि सबसे बड़ी वस्तु है आकाश और सबसे छोटा पदार्थ है परमाणु। आकाश असीम है, अन्नत है और परमाणुसे छोटी चीज अन्य कुछ नहीं है। तो क्या यह बात ठीक है? इस सम्बंधमें एक बार जरा और विचार लें। सबसे बड़ा है आकाश। यह तो कुछ ठीक सा जँच रहा है, और सबसे छोटा है परमाणु, एकप्रदेशी है, उससे कमका कोई परमाणु ही नहीं होता है, यह भी बात कुछ ठीक सी जँच रही है। ऐसा बोलने वाले और समझने वालेने मालूम होता है कि दीन पुरूष और अभिमानी अर्थात् गौरवशील व्यक्ति इन दोनोंको देखा नहीं है। अरे परमाणुसे भी छोटा है दीन पुरूष और आकाशसे भी बड़ा है अभिमानी अर्थात् गौवरशील व्यक्ति।

लघुता व महत्ता पर चर्चा समाधान—इस छंदमें दीनको सबसे लघु कहा है, उसका महत्व परमाणु बराबर भी नहीं रक्खा है और गौरवशील व्यक्ति अभिमानी पुरूषका महत्व आकाशसे भी अधिक बढ़ा दिया है। सारांश यह है कि दीनता हेय है और गौरव उपादेय है। यहां एक आशंका हो सकती है कि दीन तो धर्मात्मा है। उसके घमंड नहीं है, सदा नम्र रहता है, प्रिय बोलता है, सबका जयवाद करता है, आशीष देता है। देखा होगा भिखारी जनोंको कितना प्रिय बोलते हैं वे और उनमें अभिमान तो है ही नहीं। नम्रता अत्यन्त अधिक है। तो दीनको क्यों सबसे छोटा कह दिया? वह तो कुछ धर्मात्मा सा भी लगता है। और अभिमानी, घमंडी सबसे ऊँची निगाह रखने वाला जो है

उसे बड़ा बता दिया। समाधान यह है कि दीन पुरूषमें इतनी लोभ कषाय प्रबल है कि उस कषायकी प्रबलताके ही कारण मान आदिको भी तिलांजलिसी दे देता है, इसलिए दीन के कषाय कम नहीं हैं। लोभका रंग सब कषायोंसे तेज बताया गया है। अन्य कषायें तो ९ वें गुणस्थानमें नष्ट हो जाती हैं, पर लोभ कषाय १०वें गुणस्थानमें नष्ट होती हैं। लोग लोभके पीछे अपना सर्वस्व लुटा देते हैं। काहेका लोभ? यशका लोभ, कीर्तिका लोभ, लीडरीका लोभ। लोक में महान नेता जो समझे जाते हैं वे धनके तृष्णालु होकर नहीं बन पाते हैं, लोभका रंग तो सबसे अधिक बना हुआ है।

तृष्णामें दीनताका भाव–और, भैया ! यहाँ तो याने अवरित पुरूषों में ठीक है। पर त्यागमार्गमें देख लो, ज्यों-ज्यों त्याग बढ़ता जाय, प्रतिमा बढ़ती जाय त्यों-त्यों नम्रता बढ़ती जानी चाहिए। पर प्रायः होता क्या है? उल्टा। मान भी बढ़ता है और तृष्णा भी बढ़ती है। मान काहेका बढ़ता है? हम पूज्य हैं ये जो बेचारे काम करते, घरमें रहते वे पूजक हैं, ये छोटे हैं। हम बड़े हैं–ऐसी दृष्टि जग जाती है तो त्याग धर्म कहां रहा? उल्टा पतनमें ही गया। और, तृष्णा काहेकी बढ़ती? अपने यश की, नामकी अथवा आरामसे मिलता है ना सब, सो उन मिलने वाले पदार्थोकी भोजन आदिककी तृष्णा बढ़ सकती है। प्रयोजन यह है कि धर्म तो भीतरी चीज है। जिसमें सम्यक्त्व जगा उसके लिए सब सरल बात है। जिसे सम्यक्त्व नहीं जगा वहतो जैसे अन्य लोग अपनी वृत्ति रखते हैं ऐसे ही भेष बनाकर भी वृत्ति रक्खी जा सकती है। दीनता तृष्णामें और कषायमें होती है। दीनकी नम्रताको धर्म न समझना।

स्वाभिमानीकी गुरुता–अभिमानी की बात सुनिये, यहां अभिमानसे मतलब स्वाभिमानसे लेना, गौरवसे लेना। जो दीनता नहीं करता है, पर की आशा नहीं रखता है, अपने आत्माके विशुद्ध चमत्कारके अनुभवमें प्रसन्न है, गौरवशील है ऐसे पुरूषमें चाहे लोग कोई कमी कभी ऐब भी ढूँढें, देखो यह किसी से बोलते तक भी नहीं हैं, आदिक कुछ भी बातें लोग लगायें तब भी वह धर्मात्मा है।

दीनताके त्यागकी शिक्षा–इस छंदमें यह शिक्षा दी है कि हे कल्याणार्थी पुरूषों ! दीनता मत करो। दूसरोंसे अच्छा बोलना, प्रेमका व्यवहार रखना, दूसरोंको सम्मान देना, अपनेको नम्रता से रखना, अपनेको नीचे रूखसे रखना, दूसरेका ऊँचा रुख बनाना, इसमें दीनता नहीं होती है। दीनता तो जहाँ अज्ञान बसा है और विषयोंकी आशा लगा रक्खी है दीनता तो वहाँ है। दीनताको प्रायः लोग समझ जाते हैं पर किसी किसीकी दीनता समझमें भी नहीं आती, लेकिन वह विषयोंके आधीन है तो वह दीन ही है। दीन सबसे छोटा है, लघु है और जो अपनी गुण-शक्ति प्रभुता, चमत्कारमें ही तृप्त है, परकी आशा नहीं रखता, परसे अपना बड़प्पन नहीं मानता ऐसे गौरवशील व्यक्तिसे बढ़कर लोकमें कोई बड़ा नहीं है। यह बात दिखानेके लिए परमाणु और आकाशका दृष्टान्त देकर और उससे उस दृष्टान्तको भी अघटित जताकर इससे भी अधिक छोटा दीनको कहा और सबसे बड़ा गौरवशील व्यक्तिको कहा है।

याचितुर्गौरवं दातुर्मन्वे संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरूलघू तदा ॥ १५३ ॥

याचककी लघुता व दाताकी गुरुता—याचना करने वाला—इन इन दो व्यक्तियों के सम्बंधमें कुछ कहा जा रहा है। सीधे शब्दोंमें यों कह लो-लेने वाला और देने वाला, अथवा और सीधे शब्दोंमें कहो मांगने वाला और ये दोनों थे देने वाला। कवि की कल्पना है कि याचना करने वाला व्यक्ति और देने वाला व्यक्ति तो एक बराबर समान, पर याचनाकी क्रिया और देनेकी क्रिया होनेके कारण मालूम होता है कि याचक व्यक्तिका बड़प्पन याचकमेंसे निकलकर दातामें पहुंच गया है इसलिए उसका पलड़ा बड़ा हो गया है। यदि ऐसा न होता तो जो ये दो व्यक्ति पहिले समान थे, अब उनमें एक लघु बन गया और एक गुरु बन गया, बड़ा बन गया। यह अन्तर कहाँसे आ गया? मालूम होता है कि याचकका गौरव निकलकर दातामें आ गया।

साधुके अयाञ्चाभाव—इस प्रसंगमें एक शंका यह आ सकती है फिर तो साधुजन जो भिक्षावृत्तिसे आहार लेते हैं वे तो लघु बन जायेंगे और देने वाला दाता गुरु बन जायगा। ऐसा यदि मान लिया जाय तो हानि क्या है? पर ऐसा है नहीं क्योंकि साधुजन याचना नहीं करते। भले ही वे अपना संकेत लेकर चलते हैं, किन्तु कोई स्वाभाविक नवधा-भक्तिपूर्वक उनको निवेदन करे तो वे आहार ग्रहण करते हैं। वहां याचक और दाता जैसी बात नहीं होती। ऐसी स्थितिमें भी लेने वाला बड़ा और देने वाला छोटा होता है। आशय देखना चाहिए। याचक तो अपना विषय पोषण करनेके लिए, अपना शारीरिक मौज लूटनेके लिए याचना करता है और दाता भी उसे दयापात्र समझकर भोजन आदिक दे दिया करता है। किन्तु साधु और श्रावकके परस्पर व्यवहारमें बहुत विलक्षणता है।

नवधाभक्तिकी उपयोगिता—इस शंकाके समाधानके प्रसंगमें एक शंका और उठायी जा सकती है। तब तो वे साधुजन अभिमानी हुए, जब कोई नवधाभक्ति करे तब आहार करें। भक्तिमें कभी देखें तो आहार न करें। इसके समाधानमें दो बातें जाननी हैं कि साधु उस नवधाभक्तिके द्वारा दो बातोंकी परख करता है—एक तो यह कि यह श्रावक प्रसन्न होकर उमंग सहित देना चाहता है। कहीं किसीको जबरदस्तीसे राजा या गांवके मुखिया इनके दबावसे नहीं दे रहा है। यह परख नवधाभक्ति निरखकर ही हो पाती है। दूसरी बात यह नवधाभक्तिसे समझ जाते हैं कि श्रावक को सब विधि मालूम है। आहार निर्दोष होगा। आहारकी शुद्धि और दाताकी प्रसन्नता—इन दो बातोंके जाननेका साधन नवधाभक्ति है। भक्ति में कमी होने पर वे आहार नहीं लेते। उसमें अभिमान कारण नहीं है किन्तु भक्तिके अभावमें उन्हें यह शंका हो जाती है कि इनको आहार बनाने की विधि भी न मालूम होगी। शुद्धि भी न होगी और इनको प्रसन्नता भी नहीं है। किसीके दबावमें या किसी व्यवस्थामें जैसे कि मंदिरमें पूजाकी बारी लग जाती है ऐसी बारी लगाकर किया जा रहा हो यह समझमें आये तो साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते। वहां याचक और दाता जैसी बात नहीं है किन्तु

गुरु और शिष्य, उपास्य और उपासक जैसी बात है। साधुजन उपास्य हैं और श्रावक उपासक है। जो अपने विषयके लिए, मौजके लिए, आरामके लिए इन्द्रिय पोषणके लिए निकलता है वह चाहे भेष साधुका रखे हो पर तब भी वह भीतरमें याचक है, मांगने वाला है। वहां तो और भी लघु हो जाता है, पर जो साधु अपनी शुद्ध साधुचर्या से प्रवृत्ति करते हैं वे लघु नहीं हैं, गुरु हैं।

याचनाका रूप–एक छोटी सी घटना है–कोई साधु था, जो चार पांच छः घरोंसे मांग लाये और एक जगह बैठकर खाये, इस पद्धतिके साधु थे। वह अपनी पद्धतिसे चर्या करने गया। एक घरमें पहुंचा तो वहां स्त्रीने मना कर दिया। अभी तुम्हारी व्यवस्था नहीं है, आप दूसरी जगह जावो, साधुको इतनी बात सुनकर गुस्सा आ गया और वह गुस्सेमें बोला तू रत्नप्रभा जायगी। रत्नप्रभा पहिले नरकका नाम है। स्त्री बेचारी कुछ जानती न थी कि रत्नप्रभा नरकका नाम है, नाम तो बड़ा सुन्दर है–रत्नोंकी प्रभा। तो भक्तिवश बोली–महाराज रत्नप्रभा जानेके हमारे कहां भाग्य हैं, ये तो भाग्य आपके ही हो सकते हैं। जो विषयोंके वश है वह दीन है। दीनता की यही शुद्ध परिभाषा है।

विषयोंकी अवशतासे दीनताका त्याग–भैया! दीनताको त्यागो इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरोंको लट्ठ मारो, अट्टसट्ट बोलो, किन्तु अर्थ यह है कि अपने मनको, अपने उपयोगको विषयोंके आधीन मत कर लो। रसन के वश हो गये अथवा अन्य विषयोंके वश हो गये। इस वशतामें ही दीनता बसी हुई है। एक अपने शुद्ध सहजस्वरूपको ध्यान लो उससे अपना गौरव समझो। मैं परिपूर्ण हूं और मेरे करनेको बाहरमें कुछ नहीं पड़ा। मैं कृतार्थ हूं, अपने आपके स्वरूपावलोकनसे तृप्त होकर दीनताको त्यागें इसमें ही कल्याण है।

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्द्ध्वं जिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नमौ तुलान्तयोः ॥ १५४ ॥

अधोगति व ऊर्ध्वगतिके पात्र–जो ग्रहण करनेकी इच्छा रखने वाले पुरूष हैं, जो विभावोंको अपनाये रहनेकी धुनमें रहने वाले लोग हैं, जो संचय की बुद्धि वाले जन हैं वे नीची दशाको प्राप्त होते हैं, नीचे जाते हैं और जो संचय करनेकी धुनमें नहीं हैं, ग्रहण करनेके उत्सुक नहीं हैं, उदार चित्त हैं ऐसे पुरूष ऊपर जाते हैं। इस रहस्यको तराजूने खोलकर लोगों को बता दिया। जैसे तराजू दोनों पलड़ों पर जिस पलड़ेमें अधिक चीजें रखी हैं वह पलड़ा नीचे जाता है और जिस पलड़ेमें अधिक चीजें न हों वह पलड़ा ऊपर जाता है। तात्पर्य यहाँ यह लेना कि भिन्न असार परवस्तुवोंको अपने आपमें उपयोगमें बनाये रहना, ग्रहण किये रहना, संचय करना, त्याग न सकना ऐसी वृत्ति रहती है तो वह अधोगतिको प्राप्त होता है, दुर्गतिको प्राप्त होता है। वर्तमानमें भी वह क्लेश संक्लेश किए रहता है और परलोकमें भी उसे तुच्छ गति मिलती है।

परग्रहणका बोझ–भैया ! मालूम भी होता है कि जब चित्तमें बहुत सी परवस्तुयें बसी रहती हैं तो यह चित्त बोझसा मालूम होता है, जैसे बोझसे बहुत लदा हुआ हो तो ऐसा अनुभव होता है।

जो स्वयं दुःखी है उसे सब दुःखी ही नजर आते हैं और जो स्वयं शान्त बना हुआ है उसे दूसरे भी शान्त नजर आते हैं। कोई अशान्त हो तो भी शान्त पुरूषको ऐसा लगता है कि ये सब शान्त हैं। ये लोग तो बनावटी अशान्त हो रहे हैं। हैं सब खुश, हैं सब शान्त। उसको भीतरमें यों ही दिखा करता है, जैसे कोई दुःखी पुरूष दूसरेसे बातें करता हुआ ऊपरसे हँसता है, हँसकर बोलता है ताकि दूसरे न जान पायें कि यह दुःखी है पर दुःखी की हँसी और सुखीकी हँसी छिपी रहती है क्या? इस दुःखी पुरूषको ये सभी लोग दुःखी ही नजर आते हैं। परपदार्थोका अपने चित्तमें बोझ बना लेना यही तो दुःख की चीज है।

अकिञ्चन निजस्वरूपकी दृष्टिमें निर्भरता व निराकुलता—जो पुरूष अपनेको अकिञ्चन मान ले—यह मैं तो मात्र ज्ञान प्रकाश हूं, हममें और कुछ दूसरा लगा ही नहीं है, यह तो शाश्वत सदा सबसे न्यारा है। इसमें किसी दूसरेका सम्बंध ही नहीं है, यों अपने आपको अकिञ्चन ज्ञानमात्र निरखे तो उसके चित्तपर बोझ नहीं होता है और वह सुखी रहता है। जो परको ग्रहण करनेकी इच्छा रखता है वह बन्धनके कारण अधोलोकको प्राप्त होता है और जो परवस्तुवोंको ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रखता, अपनेको अकिञ्चन निज स्वरूपमात्र निरखता है वह ऊर्ध्वलोकको प्राप्त होता है। इससे हम यह शिक्षा लें कि हम अपने आपको निश्चिंत निर्भार निजस्वरूपमात्र प्रतीतिमें लें, इससे ही अशान्ति दूर होगी हम शान्त रह सकेंगे।

सस्वमाशासते सर्वं न स्वं तत् सर्वतर्पि यत्।
अर्थिवैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निःस्वता वरम् ॥ १५५ ॥

निःस्वताकी प्रशंसा—इस जीवको जैसी दृष्टि मिलती है उसके अनुसार उस पर सुख दुःख आदिका अनुभव चला करता है। कोई पुरूष निर्धन हो और लोग ऐसा वर्णन करें जिसमें यह झलके कि धन होना बुरी चीज है। धनी लोग बड़े दुःखी हैं, परेशान हैं, उनकी जिन्दगी बेकार है। रात को नींद नहीं आती, अनेक बातें कहीं जायें तो ऐसी दृष्टि मिलने पर उस दरिद्र धनहीनको भी बड़ा सुख उत्पन्न होता है और उसकी दृष्टिमें अपने आपकी परिस्थिति बड़ी सुखमय नजर आती है। धनिकके प्रति ऐसा वर्णन चलें, लोगोंकी चर्चायें चलें जिससे यह प्रकट हो कि दरिद्रताका जीवन काहेका जीवन, यश नहीं, पूछ नहीं, कलके खानेका भी बन्दोवस्त नहीं, काहेका जीवन रद्दी झोपड़ी है, रहने को मकान नहीं है ऐसा वर्णन चले तो धनी लोग सुख मानते हैं, और कदाचित् धनियोंको गोष्ठीमें ऐसा वर्णन चल जाय कि अब तो ऐसा कानून बनेगा कि लोग एक मकान रख सकेंगे, बाकी सब सरकार ले लेगी, और अब किसीके १० हजारकी कमायी हो तो ९ हजार टैक्स लगेगा। खूब डट-डटकर ऐसी बातें आयें और अब डाकू लोग निर्वाध हो गये हैं, जब चाहे पकड़ ले जायें। पुलिस भी उनसे मिल गयी है, ऐसी बातें की जायें कि धनिकोंकी दृष्टिमें एक भयानक वातारण आये तो वे दुःखी हो जाते हैं। तात्पर्य यह है इस जीवको जैसी दृष्टि मिले उसके अनुसार सुख दुःख गुजरता है। धन होने अथवा न होनेसे सुख दुःखकी बात नहीं है। यहाँ साधुवोंको सम्बोधन किया जा रहा है।

अकिञ्चन वृतिके लिये प्रेरणा–वह ग्रन्थ साधुवोंको संयम और चारित्रमें स्थिरता करानेके लिए रचा गया है। इस प्रकरण में यह कह रहे हैं कि धनवत्तासे निर्धनता ही श्रेष्ठ है और उसमें एक दृष्टि यह दे रहे हैं कि देखो जो धनवान् है उससे सभी आशा करते हैं, पर कोई धनवान ऐसानहीं है, किसीके पास ऐसा धन नहीं है कि जो सबको संतुष्ट कर सके। यदि ये धनी लोग जिनकी यह धनवत्ता अपूर्ण है। आशा करने वाले जो अर्थीजन हैं उनकी विमुखताको ये किया करते हैं। तो उस श्रीमक्तसे क्या लाभ? जो निर्धन हैं उनसे कोई विमुख होकर नहीं निर्धनसे निराश होकर कोई नहीं जाता। जो भी निराश होता है वह धनिकोंसे निराश होता है। इसका क्या मतलब? अरे निर्धनके पास कोई आशा लेकर ही नहीं आता, फिर निराश होकर कैसे जाय? जो भी निराश होकर जायगा वह धनिकोंसे निराश होकर जायगा। तो अर्थी अभिलाषी आशावान् पुरूषों की विमुखताको करने वाली यह सम्पदा है। इस सम्पदाके होनेसे तो निर्धनता ही श्रेष्ठ है। कमसेकम किसीके दुःखका कारण तो न बनेगा और ये धनी लोग हजारोंके दुःखके कारण बनते हैं। साधुवोंको यह समझाते हैं, उनकी दृष्टिमें यह बात बैठाते हैं कि धनका होना कोई अच्छी बात नहीं है ताकि इन साधुवोंको पुनः गृहस्थीमें भावना न जाय।

सुख दुःखमें दृष्टियोंका प्रभाव–कोई यदि यह समझता हो कि धनवान् होने पर ये धनी समस्त अर्थी पुरूपोंके मनोरथोंको पूर्ण कर देंगे इसलिए धनवान् होना भला है। ऐसा सोचना व्यर्थ है। ऐसी श्रीमत्ता किसीके भी होती न होगी जिससे ये पुरूष समस्त अर्थी जनोंके मनोरथोंको पूर्ण कर सकेंगे। कुछ ही सम्पदा तो रहती है, भरपूर तो नहीं, फिर आशा करने वाले सभी अर्थी होते हैं। तो सबकी आशा पूर्ण हो जाय ऐसा स्थल, ऐसा धाम कोई नहीं है तब वे अर्थीजन देखकर विमुख हो जाते हैं ऐसे धनवानपनासे तो निर्धन होना ही भला है। देहातोंमें जब गर्मीके दिन आते हैं उन दिनोंमें डाकुवोंका आतंक ज्यादा हो जाता है तो धनीजन अपना घर छोड़कर किसी गरीबके घर खाट बिछाकर सोया करते हैं। उन दिनों निर्धन लोग धनिकोंका यह खेल देखकर गरीब लोग बड़ी अनाकुलताकी सांस लेते हैं। तो दृष्टिकी ही तो बात है, हम पर कैसी स्थिति गुजर रही है उसका कुछ असर नहीं होता, पर हमारे अन्तरङ्गमें कैसी दृष्टि बन रही है उसका असर होता है।

दृष्टिका बलाबल–कोई करोड़पति पुरूष कहीं ५-७ लाखके घाटेमें पड़ जाय और वह उसे असह्य हो जाय, वही-वही बात उसकी दृष्टिमें रहा करे तो उसको बड़े रोग पैदा हो जाते हैं, दिलकी बीमारी बन जाती है। हुआ क्या? केवल एक दिल चल गया, एक ओर उसकी दृष्टि बन गयी। अब वह असाध्य बीमार बन जाता है। और कोई १०-२० लाखका टोटा पड़ जाने पर भी यह ख्याल बनाले शुरूसे क्या हुआ–ऐसे ही तो लोटा डोर लेकर आये थे। १०-२० वर्षोमें अपने ही हाथोंसे यह कमाया था। हमारे पास पहिले था क्या? गया तो गया। प्रारम्भसे ऐसी साहस भरी दृष्टि बना ले, तो उसका दिल थम जाता है और उसपर दुःखकी वेदना की बात नहीं गुजरती। तात्पर्य यह है कि हम लोगोंका रक्षक समीचीन दृष्टि है।

अधिक धनकी अनावश्यकता–एक नजरसे देखा जाय तो जिसको जितना धन मिला है सबको जरूरतसे कई गुणा अधिक मिला है, इतना न चाहिए था। इतनीकी क्या जरूरत थी? सबकी बात कह रहे हैं कोई एक व्यक्तिकी बात नहीं कह रहे हैं। कल्पना करो कि इतना धन न होता, इससे चौथाई ही होता तो क्या गुजारा न होता? औरोंको देख लो–करते हैं गुजारा या नहीं तो जरूरतसे सबको ज्यादा मिला है कि नहीं? लेकिन ऐसी दृष्टि नहीं बनती है। जो मिला है वह यों दिखता है कि जितनी जरूरत है उसका एक चौथाई हिस्सा भी नहीं है। यों सोचकर दुःखी हो जाते हैं। सब दृष्टिका खेल है।

वस्तुसे लाभालाभके हिसाबकी अयुक्तता–भैया! चीजमें हिसाब किताब मत देखो, क्या मेरे पास है, क्या नहीं है, अपनी दृष्टि समीचीन बनावो और विरक्तता चित्तमें रखकर उदारताका परिणाम रक्खो। एक अनुदारताका परिणाम होनेसे पुण्यरस क्षीण होता है, पापकी वृद्धि होती है और उदारताका भाव होनेसे पुण्यरस बढ़ता है, पापरस क्षीण होता है। एक बात, दूसरी बात–इस ज्ञानीको यह साहस होता है कि मेरा क्या है यहाँ पर। मैं तो केवल एक ज्ञान का पुञ्ज हूं, न्यारा हूं। कहींसे आया हूं, कुछ दिन यहाँ रहकर यहाँसे चल दूंगा। मैं तो वह हूं जिसे देहाती लोग हवा कह देते हैं। मैं एक सूक्ष्म अमूर्त चैतन्यतत्त्व हूं। मुझे इस जड़ सम्पदाका लगाव रखनेसे, इसमें ममता रखनेसे कौनसी सिद्धि हो जायगी? क्या यह मरने पर साथ जायगा? सब ठाठ पड़ा रह जायगा। इतनी बातें जानकर उदारताका परिणाम होना चाहिए।

दृष्टिकी निर्मलतासे परमार्थ लाभ–यह धन हो या न हो, यह कुछ वेदनाका कारण नहीं है। उदयानुसार सब स्थितियोंमें गुजारा होता है। हमारी दृष्टि अच्छी ओर लग जाय तो उसमें सुख और आनन्द प्राप्त होता है। हमारी दृष्टि अवगुण तृष्णा कषाय मोह भरी बन जाय तो उसमें वेदना उत्पन्न होती है। अपनेको सुखी करनेके लिए दृष्टि भर बनानेका यत्न करना होगा। सम्पदाके संचयका यत्न करनेसे सुख मिलेगा, यह भाव छोड़ दो किन्तु अपनी दृष्टिको निर्मल बनानेसे शान्ति मिलेगी यह ही निर्णय रक्खो, इसीलिये उस धनवत्तासे निर्धनता ही श्रेष्ठ है ऐसा इस छंदमें कहा है–

आशारवनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम्॥ १५६॥

आशारवनिकी अगाधता व पूर्ति–यह आशारूपी गड्ढा निधियोंके द्वारा तो और अगाध होता जा रहा है। ऐसा गड्ढा देखा है या सुना है क्या किसीने कि कूड़ा करकट भर जाय तो वह गड्ढा और अधिक गहरा होता जाय? इसका आशय यह है कि यह आशारूपी गड्ढा इसमें जितनी निधियां डाली जाती हैं यह और गहरा होता जाता है। इस गड्ढेको तो भर सकने वाला एक ज्ञानरूपी धन है। धन आदिककी चाह करना, इसी का तो नाम आशा है। आशाही एक बड़ी खान है। यह निधियोंसे भी अथाह है। निधियोमेंसे तो धन आदिक निकालो तो निधि टूटती नहीं है

लेकिन कदाचित उनकी भी थाह आ जाय पर आशामें जो धन आदिकी चाह पायी जाती है उसकी तो थाह ही नहीं है। निधि मिलनेसे यह आशा बढ़ती ही चली जाती है। इसको तो संतोषसे ही भरा जा सकता है। संतोष करना यही मान धन है। गौरव रख लेना, अपनेको कायर न बनाने देना यह सब स्वदर्शन भावसे साध्य है। यह आशारूपी गड्ढा एक संतोष धनसे समान किया जाता है। कहा भी है एक दोहामें कि कितना ही धन आ जाय, गौ धन, गज धन, बाजि धन, उससे दरिद्रता नहीं हटती, किन्तु जब एक संतोष धन है तो ये सब धन धूलके समान हो जाते हैं और उसे वास्तविक धन प्राप्त हो जाता है। एक संतोषसे ही यह आशाका गड्ढा भरा जा सकता है।

संतोषमें ही लाभ–अच्छा देखो भैया ! कोई न करे संतोष तो क्या हालत होगी। क्या हालत हो रही है? असंतोष कर करके एक अपनी वेदना बढ़ा रहे हैं दूसरोंके लिए उल्लू बन रहे हैं, मूढ़ बन रहे हैं। अपने को क्या लाभ है? असन्तोष रखने वाले पुरूष दूसरोंके लिए मूर्ख बन रहे हैं। जो स्थिति है ठीक है। हमारे अन्तरङ्गकी स्थितिमें बढ़वारी हो। शुद्ध ज्ञान दृष्टिका विकास हो इतनी बात हमको मिले। हम हमारी दृष्टिमें विशद नजर आ जायें। ये जड़ सम्पदा, धन दौलत इस आत्माका क्या काम देंगे?

दृष्टिका सुख दुःखमें सहयोग–अभी बताया था कि जैसी दृष्टि होती है तैसी चित्तपर गुजरती है। खूब अच्छी तरह रह रहे हो और कोई यह कहे कि तुम्हारी तो वह ऐसी निन्दा कर रहा था, तुम्हारी तो ऐसी बात उड़ रही थी। एकने कहा दूसरेने कहा, बस उसके दिलमें अब वही एक बात भरी है। चाहे उसकी प्रशंसा ही हो रही हो, निन्दाका नाम न हो पर दृष्टि तो उसकी उस ही बातपर रहती है। वह तो दुःखी हो जायगा। तो सबका कारण यह दृष्टि है।

बारबार भावनाका असर–एक पुरूष कोई अच्छी बकरी लिए जा चला रहा था। चार चोरोंने देख लिया। सोचा इस बकरीको कैसे छुड़ायें? सलाह कर ली, और वे आगेके रास्ते पर एक एक मील दूर खड़े हो गये। जब बकरी वाला गुजरा तो पहिला पुरूष कहता है–अरे तुम यह कुत्ता कहाँ लिए जा रहे हो? सुनकर उसने कुछ अनसुनी कर दी। कानमें तो आ ही गयी। आगे दूसरे मील पर दूसरा आदमी बोलता है–वाह! यह कुत्ता कहाँ से लाये हो? कुछ उसके चित्तमें आ गया कि शायद यह बकरी नहीं है। खूब निगाहसे देखा तो कुछ ऐसा लगा कि शायद यह बकरी हो। आगे तीसरे मीलपर तीसरा पुरूष बोला–यह कुत्ता किसलिये लिये जा रहे हो? अब तो उसे उसमें कुत्तेकी ही शकल दिखने लगी। जब चौथे मीलपर पहुचा तो चौथे पुरूषने कहा–वाह यह कुत्ता किसलिए महाराज साहब लिए लिए फिर रहे हैं। बस वहीं उस बकरीको छोड़कर चल दिया तो भैया ! जो बात बराबर सामने आती है वही बात उसको दिखने लगती है। चाहे गुणोंके बताने वाले उससे ५० गुणे हों लेकिन कोई दोषकी बात एक-दो भी कह दे तो उसके लिए तो सारीदुनिया कह रही है। यों दृष्टिमें आता है। तो यों ही यहांके समागमकी भी बात है कि जब जैसा मूढ़ बन गया वैसा ही अपनेको प्रर्वताने लगा।

ज्ञान धनसे आशारवनिकी पूर्ति–भैया ! लोगोंके कहनेमें अपने आपको कायर न बना सकें यह ज्ञानका ही काम है। मेरे लिए मेरा अपना स्वयंका आत्मा सदा समक्ष रहे, यह मैं हूं, यह स्वयं आनन्दमय है, ऐसा संतोष होना चाहिए। दुनिया सारी भी मिलकर मेरे विरूद्ध कुछ कहे तो भी मेरे पर क्या उनका असर है? लोग हैं, उनका चित्त है, उनका मुँह है, बोलते हैं। स्वयंमें यदि कुछ कमजोरी है तो आकुलित होंगे। स्वयंकी दृष्टिमें यदि स्वयंको समर्थ बना लें तो सब धन पा लिया, और एक अपने आत्माका बल न बना सके तो जड़ समागम पाने पर भी कुछ शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। यह आशारूपी गड्ढा मानधनसे ही, गौरवसे ही, सन्तोष से ही भरा जा सकता है।

आशारवनिरगाधेयमधः कृतजगत्त्रया।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥ १५७ ॥

आशारवनिके भावका उपाय–यह आशारूपी गड्ढा अथाह है, बड़ा गहरा है, और इस गड्ढेमें तीनों लोक जरासी जगहमें पड़े हुए हैं। अर्थात् आशामें ये तीनों लोक बस रहे हैं और वे भी आशाके गड्ढेके एक कोने में समा गये हैं। अभी यह आशाका गड्ढा और बाकी साराका सारा खाली पड़ा है इसको भर देनेके लिए जगतमें कुछ नहीं बचा। जिसमें तीनों लोकको नीचे कर दिया है ऐसा यह आशाका गड्ढा अथाह है। पर विवेकी पुरूषने इस आशाके गड्ढेसे चीजें निकाल-निकालकर इस गड्ढेको बराबर बना दिया है। कितने आश्चर्यकी यह बात है। कहीं देखा या सुना है ऐसा कि गड्ढेमें से खोद-खोदकर चीजोंको बाहर निकाल निकालकर फेंक दिया जाय और गड्ढा जमीनके बराबर हो जाय? ऐसा तो कहीं भी न देखा होगा, न सुना होगा। किन्तु यह आशाकी खान ऐसी ही है, इसमें जो जो चीजें भरी हैं, जो जो बातें समायी हुई हैं उन सबको निकालते जावो, बाहर फेंकते जावो, हटाते जावो तो यह आशाका गड्ढा बराबर हो जायगा, समान हो जायगा, फिर उसमें गहराई न रहेगी। ऐसा विवेक सहपुरूषने किया है।

पार्थिव खानिसे विलक्षण खानि–कोई पत्थरकी खान हो–मिट्टीकी खान हो उसमेंसे पत्थर निकालते जावो तो वह गड्ढा भूमिके बराबर न बनेगा, पर इस आशाके गड्ढेमेंसे चीजोंको निकालते जावो तो आशाका गड्ढा बराबर हो जायगा, ऐसा ज्ञानीजन अवश्य जानते हैं। इस आशा की खान जो कि अथाह है जिसमें तीन लोककी सम्पदा भी आशाके एक कोनेमें पड़ी है उस सम्पदाको काढ़ काढ़कर सद्पुरूषोंने गड्ढेको समान बना दिया है। मतलब यह है कि आशामें पदार्थोंकी चाह भरी है, सद्पुरूषोंने चाहको त्याग दिया है और यह आशा समाप्त हो गई है। फिर समान हो गया याने वीतराग भाव हो गया।

दृष्टिकी निर्मलतासे ही सर्वसिद्धि–भैया ! यह सब क्या है? एक ज्ञान की लीला है। सुखी हो लो दुःखी हो लो, सब कुछ उपाय एक अपने ज्ञान की लीलापर निर्भर है। ऐसा निर्णय करके ज्ञानको विशुद्ध बनानेका प्रयत्न करो, अन्य बातें तो सुयोगवश जिस प्रकार हो जानी हैं हो जायेंगी,

पर अपनी शान्ति अशान्ति तो अपने ज्ञानकी लीलापर निर्भर है, दृष्टिपर निर्भर है। इस कारण दृष्टिको निर्मल बनाने का यत्न करना चाहिए इससे ही हम शुद्ध और शान्त हो सकते हैं।

विहितविधिना देहस्थित्यै तपास्युपबृंहय -
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित् कियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः,
कथमयमहो गृहह्वात्यन्यान् परिग्रहदुर्गहान्॥ १५८॥

साधुकी निष्परिग्रहताका समर्थन—साधुके परिग्रहकी लवलेश मात्र भी बात बिल्कुल युक्त नहीं बैठती। देखो साधुजन जितनी कठिन विधिसे आहार लेते हैं और वे उस आहारके करनेमें भी लज्जा मानते हैं तो अन्य परिग्रह की बात ही क्या की जाये? उनका चिन्तन है यह कि आहार करना मेरा स्वभाव नहीं है, आहार करना मेरेको युक्त बात नहीं है, ऐसा चिन्तन करके वे आहारमें संकोच और लज्जा करते हैं। अब बतावो जिनको ऐसी शुद्ध विधिसे मिलते हुए आहारमें भी लज्जा आती है तो अन्य परिग्रहोंको कैसे ग्रहण करेंगे? मुनिजन बड़ी विधिपूर्वक आहार करते हैं। नवध ाभक्ति से श्रावकजन उन्हें आहार देते हैं और उनकी भक्ति में कमी रह जाये तो साधुजन आहार को छोड़कर चल देते हैं। यहां यह बतला रहे हैं कि कितनी पवित्र विधिसे बड़े आदर और शुद्ध भावोंसे आहार दिया जाता है, फिर भी वे मुनि उस आहारके लेनेमें लज्जा रखते हैं। क्या आहार करना यह आत्माका काम है? खानेमें भी लज्जा आती है। जो खानेमें भी लाज रखते हैं वे अन्य परिग्रह कैसे रख सकते हैं?

भोजनग्रहणकी लज्जाघामता—व्यवहारमें भी देख लो मनुष्योंमें जरूर करीब-करीब खानेमें ऐसी निर्लज्जता है कि जहां चाहे खड़े बैठे सबके बीचमें खा लें, पर महिलावों को आपने इधर-उधर चलते फिरते अथवा कभी खाते हुए न देखा होगा। अब चाहे यह बात न हो, पर पहिले जरूर यह बात थी कि उनके खाते समय कोई पुरुष आये तो वे अपना कपड़ा आगे कर लेती थी। उनका खाना कोई देख नहीं सकता था। तो मालूम होता है कि भोजन भी एक लज्जाकी चीज है। और जो बड़े पुरुष होते हैं, वे भी यत्र-तत्र भोजन नहीं कर लेते हैं। तो भोजन भी एक लज्जाकी चीज है। फिर तो जिसकी यह भावना रहती है कि मेरा स्वरूप तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दमय ज्ञानपुञ्ज है, मुझ आत्माको भोजनका विकल्प करना और ऐसी क्रिया करना, यह युक्त नहीं है।

साधुके आहार की कुछ विशेषतायें—साधुके आहारकी और विशेषताएँ देखो। विधिसे दिया हुआ आहार वे लेते हैं और वह भी शरीरकी स्थिति के लिए लेते हैं, संयम साधनके प्रयोजनके देहकी स्थिति वाञ्छनीय है। शरीर टिका रहे और व्रत संयम ज्ञान तपश्चरण आदि कर सकें, इसके लिए वे आहार लेते हैं। मौजके लिए नहीं, रौद्र ध्यान करते हुए नहीं। इतना तो उनका वैराग्यपूर्ण आहार है और फिर भी आहारके ग्रहण से साधुवोंको संकोच होता है। आहार वे इसलिए लेते हैं

कि यह शरीर तपस्यामें बढ़ाने के लिए सहायक रहे। जैसा रसीला स्वादिष्ट जो भी सामने आये खाते जावो ऐसी स्वच्छन्दता उनमें नहीं है। उनका भोजन ऐसा योग्य होता है जो तपस्या बढ़ानेमें सहायक हो और फिर वह आहार भी दूसरे श्रावक पुरूषोंके द्वारा भक्तिपूर्वक दिया हुआ होता है। यह भी नहीं कि वे साधु श्रम करके आहार बनाते हों फिर भोजन करते हों, इतनी आसक्ति उन्हें नहीं है। भक्तिपूर्वक श्रावकजनोंके द्वारा दिया हुआ आहार हो उसमें भी वे अल्प आहार लेते हैं। वह आहार भी किया जा रहा है शरीरकी स्थितिके लिए। शरीरकी स्थिति ठीक रहे और तपस्या खूब की जा सके, इतने मात्र प्रयोजनके लिए उनका आहार होता है।

पूर्णोहर भोजनका निषेध—यह तो लोगोंका भ्रम है कि बहुत भरपेट ठूसकर भोजन किया जाय तब उससे स्वस्थ होंगे। आयुर्वेदके शास्त्र भी बताते होंगे कि भरपेट भोजन स्वास्थ्यके लिए अहितकारी है उसका कुछ ही अंश उदरमें मांस आदिक रूप परिणम जाता है शेष मल रूपसे निकल जाता है। तो अधिक भोजन करना भी उचित नहीं है।

साधु कुसाधुमें महान् अन्तर—साधुजन अल्प आहार ग्रहण करते हैं, लेकिन उस आहारके ग्रहण करनमें भी वे संकोच मानते हैं, वह आहार भी लज्जाका हेतु होता है, फिर आप बतलावो अन्य परिग्रहोंकी तो कथा ही क्या है? साधुजन कैसे परिग्रहोंको ग्रहण कर सकते हैं। एक तो यह बात है, और फिर कोई साधु भेष बना लेनेको ही भोजनकी विधि मानता हो तो वह उसकी भ्रष्टता है। कहाँ तो कहते हैं कि ऐसी विधिसे ऐसी भक्तिसे दिये हुए आहारको वैराग्य सहित ग्रहण करनेमें भी संकोच अनुभव करते हैं और कोई इसीलिए मुनिभेष धारण कर ले कि खानेका पकाने का कामका कौन कष्ट करे, यह तो बड़ा सीधा सा मार्ग है, बन जायें, कर लें, भक्तिसे हाथ जोड़कर भोजन मिलता रहेगा। कोई ऐसा करे तो दोनों का अन्तर देख लीजिए। कितना महान् अन्तर है?

साधुवों और मोहियोंके आहारका अन्तर—अब यहाँ इस विशेषणको सुनते हुए यह भी अन्तर निरखलो कि साधुवोंके आहारकी पद्धति और मोही जीवोंके आहारकी पद्धतिमें कितना अन्तर है? ज्ञानी पुरूषोंके सर्व प्रकारकी वाञ्छावोंका अभाव है, केवल क्षुधाकी तीव्र वेदना होने पर जो कि प्राणोंके विघातका कारण हो सकता है ऐसी परिस्थितिमें केवल आहार मात्र चाहते हैं, और यहाँ ये मोहीजन आहार ही क्या सबप्रकारकी वाञ्छायें उनके साथ लगी हुई हैं। पञ्चेन्द्रियके विषय और मनका विषय इन सब विषयों की वासनाके साथ ही साथ उनके खानेकी समस्या रहती है। ये साधुजन एक देहको रखने मात्रके लिए आहार ग्रहण करते हैं और ये मोहीजन देहको रखनेके लिए नहीं, किन्तु खूब खानेके लिए खाया करते हैं। एक जीनेके लिए खाना और एक खानेके लिए जीना, इन दोनोंमें कितना अन्तर है? क्यों भैया! इस वाक्यमें केवल जरा शब्द पलट गये, पर वहाँ अन्तर बहुत हो गया। एक जीनेके लिए खा रहा है। जीवन चाहिए व्रत संयम तपके लिए सो अनासक्तिपूर्वक किंचित् ग्रहण करते हैं और मोही खाने के लिए ही जी रहे हैं। खूब खाया, कई बार खाया, शौकके लिए खाया, खाने के लिए ही जो जी रहे हैं एक उनका जीवन देख लो, कितना

अन्तर है? साधुजनोंके भोजनमें और मोहीजनोंके भोजनमें देख लो कितना अन्तर है?

शरीरस्थितिका प्रयोजन–ये साधु शरीरको क्यों रखना चाहते हैं? तपस्याके लिए, और मोहीजन शरीरको क्यों रखना चाहते होंगे? भोगों के लिए, मौजके लिए। जो कुछभी उनकी कल्पनामें आया है उन सब कल्पनावोंकी पूर्तिके लिए जीवनको रखना चाहते हैं। ये साधु तो ऐसा आहार करते हैं जो तपस्या के बढ़ाने में सहायक हो और मोहीजन सीधा आहार तो करना ही नहीं चाहते। जो चीज सीधी खाई जाती है उसको भी पकाकर साग बनाकर खाया जाता है, यह एक स्वादकी ही तो बात है। किशमिश छोहारे तो सीधे खानेकी चीजें हैं, पर उनका भी साग बनाकर, मिर्च नमक डालकर उनको भी व्यंजन करके लोग खाते हैं। क्या उन जीवों का तपस्याकी ओर भी कुछ ध्यान है? वे तो जिसमें खूब स्वाद आये वैसा ही भोजन रचते हैं। और ये साधुजन उन पर तो जिम्मेदारी है ना, अरे गरिष्ठ खालेंगे, अधिक खालेंगे तो फिर कष्ट सहेगा कौन? प्यास लगे या अफरा चढ़ लाय तो फिर दुःखी कौन होगा? ऐसी कई बातोंसे और सहज वैराग्यसे उनका भोजन सीधा सात्त्विक होता है। घी के तले, दूधके पके और खोया मिठाई रबड़ी मसाले इनसे रहित भोजन होता है।

अनासक्ति व आसक्तिका वातावरण–साधुजन तो विधिसहित आहार लेते हैं, और मोहीजन–उनकी विधि यह होती है कि बनावो और खावो कैसा ही बन जाय शुद्ध-अशुद्ध, हिंसा-अहिंसाका विचार नहीं। यदि विधि बिना आहार बना हो तो उसे साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। आसक्त होकर आहार वे नहीं ग्रहण करते, और मोहीजनोंको तो दोषका कुछ ख्याल ही नहीं है, कैसा ही हो, अन्तर देखते जाइये। साधुजन दूसरोंके द्वारा दिया हुआ आहार लेते हैं और गृहस्थ खूब आरम्भ करके साधन जुटा कर बनाकर आहार ग्रहण करते हैं। यह तो अपने पदकी बात है। किन्तु इसमें अन्तर इतना जानना कि जो स्वयं आरम्भ करके आहार करते हैं उनके आसक्ति अधिक होती है और जो जैसे मिले केवल एक देह रखने के लिए और वह देह भी संयमके लिए इस विचारपूर्वक जो परके द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करते हैं उनके आसक्तिकी सम्भावना नहीं। यों तो जिनका शुद्ध लक्ष्य नहीं है वे तो दूसरोंके द्वारा दिये गये आहारमें और अधिक आसक्ति कर सकते हैं। भाई मुफ्तका मिल रहा है खूब डटकर खावो ऐसा ही परिणाम कर सकते हैं, पर यह तो ज्ञानी विरक्तकी बात कही जा रही है। कितना अन्तर है? साधुजन तो भक्तिपूर्वक दिया हुआ आहार हो उसे ग्रहण करते हैं, पर मोहीजन तो लड़ भिड़कर भी जैसे बने तैसे लेकर आहार करते हैं। तो साधुजन कितनी भक्तिपूर्वक दिया हुआ आहार ग्रहण करते हैं और गृहस्थजन कितना लड़ भिड़कर, धन कमाकर, साधन जोड़कर गृहस्थजन आहार किया करते हैं।

निष्परिग्रहताका प्रकृतोपसंहार–साधुजन संकोच करते हुए आहार ग्रहण करते हैं। मेरे करने का तो है नहीं यह काम, करना पड़ रहा है। साधुजन तो यह चाहते हैं कि कोई क्षण ऐसे आयें कि सर्वप्रकारके आहार पानेका सदाके लिए छुटकारा हो जाय, ऐसी वाञ्छा रखने वाले साधुजन होते

हैं। उनके अन्य परिग्रहों की बात तो हो ही कैसे सकती है? इस प्रकरण में अन्य परिग्रहोंका साधुके अभाव बताया गया है, उसीके कथनमें यह बात कही गयी है।

दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदन्नाशनं,
गृहणान्तः स्वशरीरतोऽपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं।
रागद्वेषवशीभवंति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः ॥ १५९ ॥

कलिकी चक्रेश्वरता–इस मुनिधर्ममें इस आहारविधिमें देने वाले तो गृहस्थ हैं और दिया जा रहा है केवल भोजन मात्र और वह भी साधुजन ग्रहण करते हैं तो अपने और अन्य जीवोंके उपकारकी इच्छासे। ऐसे वैराग्य सहित भोजनको ग्रहण करते हुए भी अपने शरीरसे विरक्त रहा करते हैं, ऐसी शुद्ध क्रिया है। वह भी ज्ञानवान साधुसंतोंके लिए एक लाजकी बात है, वे इसमें लाज समझते हैं। पर कोई पुरूष एक भोजनके लिए ही मुनि भेष रख ले, त्याग भेष रख ले तो यह बड़े आश्चर्यकी बात है। वे अत्यन्त अधिक रागद्वेषके वशीभूत हुए हैं। यह सब एक कलियुग का प्रभाव है।

परमेष्ठीके अपरिर्वतनीय स्वरूपपर एक दृष्टाण्त–जहाँ ऐसे ही अनेक अनर्थ होते रहते हैं उस कालका नाम कलिकाल है। यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब कलिकाल ही है तो इस कलिकालमें जैसे साधु मिलें वैसे ही मान लो। जब हम भी वैसे ही, कलिकाल भी वैसा ही है तो जैसे साधु मिलें तैसे ही उन्हें मान लो। श्रावक लोग ही कहाँ निर्दोष हैं? गृहस्थोंमें तो और भी अधिक दोष फैल रहे हैं। कौन श्रावक अपनी जिम्मेदारी समझता है, किस श्रावकके नियम संयम है, किसका शुद्ध आहार है? होंगे गिने चुने बिरले, इनमें भी भले भले समय तक प्रायः। तो जब जैसे मुनि मिलें तैसे मान लो, ऐसी कोई बात रखता हो मनमें तो उसके प्रति ऐसा कहा जा रहा है कि देखो जैसे भले ही कलिकाल हो, पर कलिकालमें भी जो अन्यायकी बात हो उसे अन्याय ही माना जायगा या नहीं? भले ही अन्यायका खूब प्रचार हो, लेकिन कलिकालमें स्वरूप तो न बदल जायगा कि अन्याय न्याय कहलाने लगे। तो जैसे इस कलिकाल विषे जो अन्याय चल रहा हो उसका नाम अन्याय ही रहेगा, न्याय न बन जायगा। यद्यपि कालके दोष से अन्याय ही बढ़ रहा है, बढ़ो, पर वह अन्याय अन्याय ही कहलायेगा, न्याय न बन जायगा। ऐसे ही कलिकाल विषे साधुचर्या निभाना कठिन होनेके कारण भेष धारण कर भ्रष्ट मुनियोंका सद्भाव अधिक रहेगा, पर वे मुनि तो न कहलाने लगेंगे। यह जान लो कि इस प्रकारके स्वच्छन्द और भेषधारी साधु काल दोषसे अधिक हो रहे हैं, पर क्या वे साधु परमेष्ठी में शामिल हैं?

परमेष्ठीका अपरिवतनीय स्वरूप–अनादिनिधन णमोंकारमंत्रमें जिन परमेष्ठियोंको हम आप नमस्कार किया करते हैं। उन साधु परमेष्ठियोंका तो पद निर्दोष होना चाहिए। क्या कभी यह भी सोचा है कि यह पंचमकाल है, चलो अरहंत न सही, रागी द्वेषी मोही भैरव यक्ष आदि इनको

ही अरहंत मान लो, कलिकाल ही तो है ना, ऐसा तो कोई न सोचते होंगे। कैसा ही कलिकाल हो अरहंत वही है जिनमें अरहंतका स्वरूप पाया जाता है और निर्दोष हो। ऐसी ही बात पांचो परमेष्ठियोंमें लेनी है। भले ही कलिकाल हो, पर साधुका स्वरूप तो नहीं बदल जाता। सिद्ध वही हो सकता है जो अष्टकर्मोंसे मुक्त हो, शरीररहित हो, अत्यन्त पवित्र हो, यों ही आचार्य, उपाध्याय और साधुमें लगाना है। कलिकाल होने के कारण परमेष्ठियोंमें यह भेद न पड़ जायगा कि दो एक परमेष्ठियोंका स्वरूप ज्यों का त्यों मानो और दो एक परमेष्ठियोंका स्वरूप बदल कर मानो।

वैराग्यकी मूर्ति–इस प्रकरणमें यह बात कही जा रही है कि साधुजन इतने विरक्त होते हैं अपने देह तकसे भी कि कभी स्वप्नमें भी परपदार्थोंमें आत्मीयताको स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसे विरक्त ज्ञानी पुरूष आहार ग्रहण करनेमें भी संकोच अनुभव करते हैं। उनकी निष्परिग्रहता बतायी जा रही है कि साधु पुरूष कैसे निष्परिग्रही होते हैं, कैसे परम उपेक्षा संयममें बने रहते हैं। उपासक यह चाह कर रहा है कि मैं ऐसा शुद्ध स्वरूप प्राप्त करूँ, मेरा मात्र एक यही प्रोग्राम हो कि भविष्य में मैं सर्वसंकल्प विकल्पोंसे मुक्त होकर केवल शुद्ध निज ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टिसे अपनेको तृप्त बनाये रहूं। इस इच्छाकी पूर्तिके प्रयत्न में वे व्यवहार में ऐसे सतपुरूषोंकी संगति करते हैं जो सतपुरूष इसी लक्ष्यके हों और इस लक्ष्यमें आगे बढ़ते चले जा रहे हों ताकि उनकी उपासनासे हमको प्रेरणा मिले। वे उपास्य साधु परमेष्ठी हैं।

साहू सरणं पव्वज्जामि–जब तत्त्वसे भरपूर ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं और उनके बताये हुए तत्त्वमें अपूर्वमर्म दृष्ट होता है तो स्वाध्यायके बीच ही यह मनमें कह उठता है कि ऐसे ऋषि, ऐसे साधु धन्य हैं, कदाचित् उनके समयमें मैं होता तो उनके चरणोंमें ही बना रहता, उनके चरणोंकी धुल अपने मस्तक पर लगाकर अपना जीवन गद्गद होकर धन्य मानता। ऐसे ही आजकल भी कहीं साधु मिलें जिनका आचार ज्ञान सब एक मोक्ष मार्गमें ही जुट रहा हो तो उनके संगसे भी यही आवाज निकल सकती है कि इनका ही शरण वास्तविक शरण है। साधु परमेष्ठी अत्यन्त निष्परिग्रही होते हैं उनकी निष्परिग्रहताके लिए यह प्रसंग समर्थन कर रहा है कि निष्परिग्रही ही साधु होते हैं।

आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा,
सौख्यं चात्मसमद्भवं विनिहतं निर्मूलतः कर्मणा।
दैन्यात्तद्विहितै त्वनिन्द्रियसुखैः संतृप्यसे निस्त्रपः,
सत्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्वद्धस्थितिस्तुष्यसि ॥ १६० ॥

जीवकी दीनता–हे आत्मन! जिन कर्मोंके द्वारा तेरे स्वभावका, तीन लोकका ज्ञान करनेका स्वामित्व नष्ट कर दिया उन कर्मोंके कुछ उदयवश कदाचित् कोई इन्द्रिय सुख मिल रहा है तो तू उनमें तृप्त हो गया। जिन कर्मोंका निमित्त पाकर आत्मीय सुख भी नष्ट हो गया उन कर्मोंके उदयमें तू इतना लीन हो गया कि अपना सुख खो बैठा और बड़ी हानिकी ओर तेरी दृष्टि नहीं गयी। कर्मोंका तू आभार मानता है।

महती हानिका अविचार–जैसे किसी पर एक लाख रूपयेका कर्ज है, अब वह कर्जदार बिनती करता है, लोग भी उसकी ओरसे समर्थन करते हैं–भाई इससे सिर्फ १००रू० लेकर बाकी सब छोड़कर इसे छुट्टी दे दो। यह अब देने लायक नहीं है। तो वह साहूकार क्या एक लाखके एवजमें १००) लेनेमें तृप्त होता है? अरे वह तो यही कहेगा कि मुझे नहीं चाहिए ये १००) भी, मैं तो लिखे देता हूं कि मैंने सब कर्ज पाया। जो ६६६०० रू० छोड़ सकता है क्या वह १००) भी न छोड़ सकेगा? यों ही देखा कि आत्माकी अनन्त निधि आत्मीय अनन्त आनन्द इन कर्मोंके द्वारा हरा गया है। अब इन कर्मोंके उदयमें थोड़े ये खोटे इन्द्रिय सुख मिले हैं तो यह आत्मा जो ज्ञानी है, क्या उन इन्द्रिय सुखोंमें तृप्त होगा? ज्ञानी तो तृप्त होता नहीं।

तिरस्कृतकी मूढ़ता–दूसरी बात यह देखिये कि उपवास आदिक या आदिञ्चन्मय जैन दीक्षा लेकर, इनके कष्ट सहकर पीछे जो कुछ थोड़ा कोई भोजन मिलता है, आहार मिलता है तो कदाचित् वह इनमें सन्तुष्ट हो जाय कि मेरा तो बड़ा अच्छा ढंग चल रहा है। समयपर भोजन मिल जाता है। बड़ी अच्छी तरह मिलता है। यों मौज कर ले तो यह लज्जा की बात है। जैसे कोई बड़ा राजा किसी बैरी राजाके वशमें हो जाय, राज्यपाटसे भ्रष्ट हो जाय दूसरे राजाका कैदी बनकर दीन होकर उस राजाके द्वारा दिया हुआ भोजन पाकर यदि वह प्रसन्न हो तो लोग उसे निर्लज्ज कहेंगे। बड़ा राजपाट छूट गया, वह बड़ा वीर बहादुर था। आज दूसरे राजाके वशमें है, अब दूसरा राजा ऐसा ही नीरस अटपट भोजन करा दे और उस आहार करने में वह प्रसन्न हो, सुख माने तो उसको लोग निर्लज्ज कहेंगे। सब कुछ खो बैठा–इसे अपने महत्वकी याद नहीं है, ऐसे ही जब हमारे आत्मीय अनन्त आनन्दकी निधि ध्वस्त हो गयी इन कर्मोंके कारण समझिये जब आनन्द छिन गया, ज्ञानशक्ति लुप्त हो गयी समझिये, तब इन पुण्य कर्मोंके उदयमें जो कुछ थोड़े विषय साधन मिले हैं इन विषयसाधनोंमें ही तृप्त होवे तो वह उस भ्रष्ट राजासे भी अधिक निर्लज्ज है, सब लाज खो दिया है, अपने कुलका महत्व सब खो दिया। प्रभु समान असीम बलका धारी यह आत्मा इन्द्रियजन्य सुखोंमें उत्सुक होता है तो यह इसकी शोभाकी बात नहीं है, लाजकी बात है और फिर कोई मुनि होकर दैगम्बरी दीक्षा धारण करके समय समय पर उपवास आदिक कष्ट करके उसके एवज में लोग बड़ी भक्तिसे कुछ आहार देते हैं, वह पर घरका नो आहार है, जैसा मिला तैसा ही उस आहार को खाकर बड़ा संतोष मानता है, मैं बहुत ढंगमें हूं अभी। यह लाजकी ही बात है। साधुजन तो विरक्त और निष्परिग्रही होते हैं। वे विषयोंकी आशासे दूर रहते हैं। इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि साधुजन आहारके प्रति रच भी वाञ्छा नहीं रखते। अतः श्रद्धासे अन्य परिग्रहोंको वे ग्रहण ही क्या करेंगे?

मलीमस जीवकी विचिकित्स्यता–हे जीव तू अनन्त गुण और अनन्त सुखका स्वामी एक महान् पदार्थ है। तेरे ऐसे अनन्त ज्ञान और अनन्त सुखका नाश करके कर्म बैरियोंने तुझको भ्रष्ट कर दिया है, तू ठीक ठिकाने नहीं रह पाता, स्थिर नहीं रह पाता। तू दीन होकर उन कर्मों से उपजे

कुछ विषय सुख पाकर संतुष्ट हो जाता तो तू निर्लज्ज है। तू तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ज्ञानानन्द मात्र है, यदि इस आत्मामें विकारोंकी रूचि जगे तो इससे बढ़कर अपवित्रता और क्या कही जाय? लोकमें तो सड़े गले पीप मांस खून आदि घृणाके योग्य माने जाते हैं किन्तु यह तो बतावो कि इन पुद्गलोंका उसमें क्या अपराध है? क्यों ये घृणाके योग्य हैं? अरे इन मांस खून पीप आदि घृणित पदार्थोंको बनाया कैसे जाता है? क्या जिन वर्गणावोंसे ये मांस खून पीप आदि बने हैं ये पहिलेसे ही ऐसे गंदे थे? इस जीवने जब तक इन वर्गणावोंको शरीररूपसे ग्रहण न किया था तब तक क्या ये वर्गणायें ऐसे मांस लोहू आदिके रूपमें थीं? नहीं। वे तो विशुद्ध वर्गणायें थीं। उनमें गंदगी कुछ न थी। लेकिन इस जीवने जब उन्हें ग्रहण किया अर्थात उन वर्गणावोंपर यह जीव आया, इस जीवका सम्पर्क हुआ तो इन वर्गणावोंकी स्थिति बिगड़ने लगी। जिसे लौकिक दृष्टिमें कहा जाता है गंदे हो गये, मांस, खून पीप बन गये। तब गंदा हुआ असलमें यह जीव। जिस जीवके सम्बंधके कारण ये विशुद्ध नोकर्म वर्गणायें खून आदि रूपमें बन गयीं।

मोहभावकी घृणास्पदता–अब इस जीवमें भी देखो। यह जीव पदार्थ घृणाके योग्य नहीं है। यह तो एक शुद्ध सहज ज्ञायकस्वरूप मात्र है। इस जीवमें जो मिथ्यात्व मोहका भाव बना है वह मोह भाव गंदा है। इस लोकमें सबसे अधिक निंदनीय, घृणाके योग्य गंदा क्या है? मोह। यह नाली नहीं, यह बदबू जहांसे आती है वह कूड़ा कचरा गंदा नहीं है। गंदा है मोहभाव, जिसके फलमें ये कूड़ा कचरा नाली आदि सब पदार्थ दुर्गन्धित हो गये। विकारोंमें रूचि जगे यही सबसे अधिक मलिनता है। हे साधु, हे कल्याणार्थी पुरूषः जब इन कर्मोंके कारण तेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख नष्ट हो गया। ये असार, अहितरूप, धाखेसे भरे हुए इन्द्रिय सुख मिले हैं तो तू इनमें तृप्त हो रहा है। तुझे अब लाज भी नहीं आती। इनसे मुख मोड़ो और अपने शुद्ध ज्ञानान्द स्वभावकी दृष्टि करो।

कर्मविजयमें साम दाम दंड भेदका उपाय–हे आत्मन् ! तुझमें तो इतना माहात्म्य है कि इन कर्मोंको सूचना देकर इन्हें दूर कर सकता है। हे कर्म ! तुम सब मेरा साथ छोड़ दो। देखो तुम मेरी जातिके नहीं हो। और तुम्हारे सम्बंधके कारण मुझे व तुम्हें कुछ नफा भी नहीं है। तुम भी पहिले विशुद्ध कार्माणवर्गण थे और जब सम्पर्क हुआ तो कर्मरूप बन गये। प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभांग तुममें हो गये। तुम भी बिगड़ गये। देखो मेरा कहना मान लो, मेरा साथ छोड़ दो। यों समतासे समझाइये, सामसे समझाये और साममें यदि ये न मानें तो इन्हें दामसे समझाइये रे पुण्य तेरे उदयसे जो मुझे मिला है तू इस सब वैभवको पाई पाईसे संभाल ले, पर तू उद्दण्ड मत हो। यों इन कर्मोंका मन दामसे भर दो, और इतने पर भी कहना नहीं मानते तब तू अपना शौर्य संभाल, अन्तःपुरूषार्थ सहित आ। एक उत्साह ही तो जगाना है एक अन्तर्दृष्टि हीतो बनाना है। तू इन्हें दंड देकर निकाल। और भेद विज्ञान करके इनका ऐसा भेदन करकि ये समूल नष्ट हो जायें तुझमें अपार सामर्थ्य है।

पदभ्रष्टतापर खेदप्रकाशन–जैसे उस राज्यभ्रष्ट महान् राजाको बैरी का दिया हुआ और बड़े कष्टसे दिया हुआ और रद्दी दिया हुआ भोजन खाकर वह राजा खुश हो, बड़ा मौज मान छककर खाये तो यह निर्लज्जता की ही बात है ऐसे ही भ्रष्ट साधु! देख तेरे कर्मोंने तेरी निधि हर ली तो ये तेरे बैरी ही तो हुए। अब यह कर्म बैरीका दिया हुआ थोड़ा सा जो कोई भोजन आदिकके साधन हैं, (और तो साधुको मिलेगा क्या,) तू उस इन्द्रिय सुखमें लीन हो रहा है तो तुझे लाज नहीं आती। उपवास आदिके तू बड़े-बड़े कष्ट सह रहा है, जब जो गृहस्थके घर जैसा तैसा कुछ आहार मिलता है तू उसे ही समझता है कि मेरी तो बँधी हुई आजीविका है, उसमें सन्तुष्ट होता है तो तू निन्द्य है। जैसे उस भ्रष्ट राजाको करना तो यह चाहिए कि फिर वह उपाय बनाये, हिम्मत करे कि उस राजा पर विजय करे, ऐसे ही तुझे करना तो यह चाहिए था कि अपना पुरूषार्थ संभाले और कर्मोंका नाश करे। पर करने क्या लगा विषयोंकी आसक्ति। इन इन्द्रिय सुखोंसे मुख मोड़कर अपने ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि कर और इसमें ही तृप्त हो।

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पार्कंकिं पीत्वा पेयं भुक्ति विनाशयेः ॥ १६१ ॥

अभीष्टप्राप्तिमें धैर्यके प्रयोगका सन्देश–हे आत्मन् ! तुझे यदि इन्द्रिय सुखोंकी ही चाह है, विषय भोगोंकी ही चाह है तो देख उसका भी बहुत बढ़िया उपाय बता रहे हैं। खूब विषय सुख मिले, खूब इन्द्रिय सुख मिले, देख तू जरा धैर्य धर। तुझे विषयोंकी चाह हुई है तो इस चाहकी वेदना को सह ले, इसमें तू मनमाना न बन, धैर्य धर। देख तेरी इस धीरताके प्रतापसे तुझे सागरों पर्यन्त स्वर्गोंके भोग मिलेंगे। जैसे कोई पुरूष सामने बहुत सुपच अभीष्ट मिष्ट भोजन भी देख रहा है, मुझे यह मिल रहा है पर उसके मिलनेमें जरा सी देर है। जैसे मान लो दो तीन कड़ाही चढ़ी हैं, हलुवा पूड़ीकी तथा अन्य मिठाइयोंकी, उसके मिलनेमें १०-५ मिनटकी देर है, मानो रसोई घरमें वह थाली लिए बैठा है उसे धैर्य नहीं है यों समझिये, जरासी गुस्सा आ गयी हो या यों समझिये सहशीलता नहीं है। अरे ठहर जा १०-५ मिनट, यह अभी उतरती है अभी खा लेना, लेकिन इसे धैर्य नहीं है तो लोटाभर पानी पीकर पेट भरकर उस मिष्ट भोजनके खानेका अवसर खो बैठे, पेट तो भर लिया है एक लोटा पानी पीकर। अब यह पानी कहाँ समायेगा। ऐसे ही हे मनुष्य तू चाहता है मनमाने इन्द्रिय सुख भोगविषय, सो देख, सब तैयार हो रहे हैं। तुझे सागरों पर्यन्त स्वर्गों के सुख मिलने हैं। जरा कुछ देर है। तू इतनी देर धैर्य नहीं रख पाता और इन विषय सुखके साधनोंमें बेहताश होकर इनमें ही लग जाता है तो तूने चिरकाल पर्यन्त तक जो सुख मिलना था उसे नष्ट कर दिया, खो दिया।

अधीरतामें हानि–जैसे मिष्ट सुपच भोजनको सामने देखकर भी, जरासा विलम्ब है इतना भी तू धैर्य नहीं करता, याने इन दस पाँच मिनट की भी तू भूख नहीं सह सकता और जल आदि पीकर अपना पेट भरता तो तूने भोजनका नाश किया, ऐसे ही हे विषयोंके अभिलाषी मूर्ख पुरूष! अरे

धर्मसाधनाके प्रतापसे थोड़े ही कालमें तुझे स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होगी, वहाँ विशेष विषयसाधन मिलेंगे, उसे तू विचार और यहाँ भोगोंसे विराम ले, धैर्य धर। यदि यहांके भोगोंमें ही लीन हो गया तो भविष्यके सुख न मिलेंगे। अरे जब तक यह मनुष्य आयु पूर्ण होकर स्वर्ग मिले इतने काल तो तू धैर्य नहीं धरता, इन विषयोंकी चाह और वेदनाको नहीं सह सकता और कुछ सदोष भोजन करके या अन्य प्रकार विकार करके तू स्वर्गके सुखोंका नाश करता है। तू ऐसा कार्य मत कर। जो मुझे संसार के सुखोंकी ही वाञ्छा है तो थोड़े काल धैर्य धर। इसके प्रतापसे तुझे चिरकाल तक सुख मिलेगा।

यथायोग्य संबोधन–यह ऐसे साधुवोंको समझाया है, जो कि भोगों की वाञ्छासे ग्रस्त होनेको हैं। कहीं यह पूर्ण परमार्थ उपदेश नहीं है कि देख स्वर्गके सुख मिलेंगे उनके लिए तू धैर्य धारण कर। यद्यपि विषयों की अभिलाषा कुछ भी योग्य नहीं है लेकिन जो यह भ्रष्ट हो रहा था उस जीवको लाभ दिखाकर थामा गया है। अपने दृष्टियोंसे यह बात पूर्ण सिद्ध प्रसिद्ध है कि इन इन्द्रिय सुखोंको भोगकर लाभ कुछ न मिलेगा। भोगाभिलाषी अपने ज्ञान सम्पत्तिको बरबाद करता है, अनेक शल्य चिन्तावोंका पात्र बनता है। अपने भविष्यको बिगाड़ता है। कुछ विवेक करे यह जीव तो यह अपने मनपर विजय कर सकता है। एक ही कर्तव्य है। जैसे बने तैसे ज्ञानदृष्टि सही हो हमारा बारबार उपयोग इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें लगे जो कि सहज अविकारी है, स्वतःसिद्ध है। जो भी स्वरूप हो उसकी रूचि जगे तो इसे सर्वसिद्धि है। यह ही धर्मका पात्र है, समझ, विवेक कर। अपनेको अपनी ओर ले जा, आत्मस्वरूपमें दृष्टि खचित करके शुद्ध आनन्दसे तृप्त हो ले, क्यों असार अहित इन्द्रजालवत् इन्द्रियज विषय सुखोंकी ओर दृष्टि देता है। अरे इन सुखोंको दुःख मानना चाहिए और इनमें पछतावा होना चाहिए कि मेरी कुबुद्धि क्यों हो रही है कि मैं आत्मस्वरूपके दर्शन छोड़कर इन विषयसुखोंमें लग रहा हूं यही परम उपेक्षा संयम है। विकारोंकी उपेक्षा करके स्वभावका ही अवलोकन कर उसमें ही तृप्त रहना चाहिए। हे ! साधु तुझे यही करने योग्य है।

निर्धनात्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्॥ १६२॥

कष्टका हेतु–जीव तो स्वयं आनन्दमय है, इसके स्वरूपमें क्लेश का नाम नहीं है। इसका स्वरूप एक शुद्ध प्रतिभासात्मक है। प्रतिभास किया जाय इस काममें कहां कष्ट है? लेकिन कर्म उपाधिका सम्पर्क पाकर इस जीवमें अनेक कष्ट उत्पन्न हुए हैं। तब यों कहना चाहिए कि ये कर्म जीवोंको नाना प्रकारके कष्ट देते हैं। यद्यपि घटना यह है कि कर्मोंके उदय तो निमित्त मात्र हैं, और उस कालमें यह जीव अपनी कल्पनावोंसे अपनेको दुःखी बनाया करता है। इस ही मर्ममें सीधे शब्दोंमें व्यवहारमें यों कहा जाता है कि कर्म जीवको कष्ट देते हैं।

निर्धनता ज्ञानीको कष्टका असाधन व अज्ञानीको कष्टका साधन–अब यहां पर यह वर्णन करते हैं, देखिये कि कर्म किस प्रकारका कष्ट दिया करते हैं? जितने भी कष्ट हैं वे सब

संक्षेपमें कहे जायें तो दो भागों में रख लो—एक तो निर्धनता और एक मरण। जीव भी इन दोनों बातों से बहुत घबड़ाते हैं। न कोई निर्धनता पसंद करता है और न कोई मरण पसंद करता है, किन्तु जिन पुरूषोंने निर्धनताको ही धन मान लिया हो। निर्धनताका ही आदर हो और मृत्युको ही जीवन मान लिया हो ऐसे ज्ञानचक्षु वाले ज्ञानी संतोंका अब कर्म क्या करेंगे? जो मोह न करते हों, ज्ञान नेत्रसे पदार्थोंका यथार्थस्वरूप निरखतें हों उनके लिए धन क्या चीज है? निर्धनता ही धन है, ऐसा जानकर वे ज्ञानी धनका त्याग कर देते हैं। केवल एक तन है। धन वैभवसे वे रहित है, यही तो निर्धनताका रूप है। जिनके आशा लगी है वे निर्धनतामें दुःखी होते हैं और निर्धनताको हेयदृष्टिमें वे देखते हैं, किन्तु जिन्होंने ज्ञानप्रकाश पाया है ऐसे ज्ञानी संतजन निर्धनताका आदर करते हैं। जिन्होंने निर्धनताको ही धन बना लिया ऐसे ज्ञानी मुनि संतजनोंका अब कर्म क्या करेंगे?

मरण ज्ञानीको कष्टका असाधन व ज्ञानीको कष्टका साधन—जैसे बहुत से जीव धनके होनेसे अपने को सुखी मानते हैं ऐसे ही ये ज्ञानी संत निर्ग्रन्थपना होनेमें, निर्धन होनेमें अपने को सुखी मानते हैं। यही बात मरणके सम्बंधमें है। जैसे संसारी प्राणी बहिरात्माजन प्राणोंके धारण करनेसे अपनेको सुखी मानते हैं ऐसे ही ये मुनि इन्द्रिय आदिक प्राणोंके छूटनेसे अपनेको सुखी मानते हैं। मुनिजनोंका प्रोग्राम ही एक यही है कि मेरे प्राण सदाके लिए छूट जायें, मुझे न चाहिये ये प्राण। मेरा जीवन सदा के लिए छूट जाय। मुझे न चाहिए जीवन, मुझे न चाहिए जन्म। तो जिन्होंने मृत्युकोही जीवन मान लिया उनका अब कर्म क्या करेंगे? कर्मों का दुष्प्रभाव प्रधानतया इन दो बातों पर है—निर्धनता हो जाना और मरण हो जाना, पर जो निर्धनतामें ही सुख मानते हैं और जीवन न रहने में ही शान्ति मानते हैं कर्म उनका क्या करेंगे?

दृष्टिपरिवर्तन—यों इस श्लोकमें यह शिक्षा दी है कि दुःखोंसे छूटना चाहते हो तो अपनी दृष्टि बदल लो। अब तक धन धनको सर्वस्व मानने का परिणाम रहा था तो अब अकिञ्चन्य पर विविक्त शुद्ध स्वरूपमें तू अपना हित मान ले। अब तक प्राणोंमें प्रेम करके प्राणोंके धारणसे अपने को सुखी मानता था तो अब इन इन्द्रिय आदिक प्राणोंको अपना विघातक जानकर इन प्राणोंसे सदाके लिए छूट जायें ऐसी स्थितिमें अपनेको सुखी मान।

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥ १६३ ॥

आशावान् व आशापरिहारीमें अन्तर—जिनके जीनेकी आशा है और धनकी आशा लगी है उनके लिए ही विधि विधि है, कर्म कर्म है, किन्तु जिनकी आशा नष्ट हो गयी है उनका कर्म क्या करेंगे? कुछ नहीं कर सकते हैं। विधि नाम है कर्मका। अज्ञानी जिस पर्यायको पाकर जीना कहते हैं और धन चाहते हैं उनके लिए तो कर्म कष्टका निमित्त बन जाने में समर्थ हैं, यह ही जीव कर्मोंसे भय खाता है। कहीं हमारा मरण न हो जाय, हमारी गरीबी न आ जाय, ऐसी आशा रखनेसे कर्म उनको दुःखी करते हैं, किन्तु जिनको केवल एक निराशताकी ही आशा लगी है अर्थात् मेरे आशा

न जगे ऐसी जो आशा नष्ट हो गयी है वे प्राप्त हुए धन वैभव को भी त्यागकर निर्धनतामें प्रसन्न रहते हैं अर्थात् उस दैगम्बरी दीक्षा को धारण करके आत्मविश्रामसे तृप्त रहा करते हैं ये ज्ञानी संत कर्मोंसे डरते नहीं हैं। मरण तो हो जाय, पर्याय छूटती है तो छूटे, निर्धनता आती है तो वह तो निराकुलताका कारण है, निर्धनता बुरी चीज नहीं हैं पर अन्दरसे इच्छा धनकी लगा रक्खी हो और निर्धनता तो तब दुःख है। सो अर्थ यह निकला कि आशा ही दुःख है। जो आशाका परित्याग करके शुद्ध निजस्वरूपको ध्यातें हैं, जिनका मोह नष्ट हो गया है अब उनको कौन दुःखी करनेमें समर्थ है?

वास्तविक वैभव–भैया! अपने सहज स्वरूपका लगाव ही वास्तविक वैभव है। यह जगत इन्द्रजाल है, मायारूप है, विनश्वर है, इसमें जो प्रीति करेगा उसे धोखा ही धोखा मिलेगा, निराकुलता नहीं मिल सकती इस कारण अपने जीवनमें यह प्रोग्राम रक्खें कि मुझे आशाका परित्याग करके अपने सहजस्वरूपका अनुभव करना है। प्रश्न उठे कि बतावो अब तुम्हें क्या करना है? तो आन्तरिक उत्तर यह आये कि मुझे सबसे अलग होकर केवल ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव करना है।

गृहस्थके तर्पक विचार–बहुत आरम्भ बढ़ानेसे कितने ही कामकाज खोल लेने से, कितनी ही व्यवस्थायें बनानेसे धन आता है यह बात नहीं है। उदय अनुकूल है, पुण्यका उदय है तो आप कोई एक भी काम करें उसमें भी वही प्राप्ति होगी और आप पचासों काम फैलायें तो भी उतनी ही प्राप्ति होगी जितनी कि उदयमें है। पचासों जगह चित्त है, व्यवस्थायें बना रहे हैं, कहीं धन हर गया, कहीं कोई लूट ले गया, अनेक तरहकी बातें होती हैं। कहाँ कहाँकी संभाल करें, चित्त व्यग्र रहता है। और मिलनेका उदय ही है, जितना उदयमें है उतना मिलेगा। कहीं हाथ पैर पसारनेसे और भारी चित्तमें विकल्प मचानेसे वैभव संचित नहीं हो जाता अथवा इन विकल्पोंसे क्या प्रयोजन? ज्ञानी गृहस्थका तो एक ही निर्णय होता है कि जो कुछ मिला है, ठीक है, जितना उदयमें है आया है ठीक है, हममें तो वह कला है कि उस आयमें विभाग बनाकर कुछ धर्ममें खर्च करके कुछ अपने कुटुम्बके पोषणमें खर्च करके उतनेमें ही तृप्त हो लेंगे।

शान्तिका साधक गृहस्थ–अब आप बतलावो कौनसा कष्ट है? एक तो ऐसा व्यक्ति है कि पड़ौसियोंकी बात देख देखकर अपने चित्तमें और अधिक आवश्यकताएँ बढ़ा बढ़ाकर और उनकी पूर्तिमें व्यग्र रहे और एक ऐसा व्यक्ति है कि जो कुछ उदयानुसार मिलता है उसमें ही विभाग बनाकर जो पालन पोषणके लिए मिला है उतनेमें ही निपटारा कर ले और अपनी जिन्दगी धर्मके लिए मानकर स्वाध्यायमें, प्रभुभक्तिमें, इन धार्मिक कार्योंमें अपने आपको लगा ले, ऐसे इन दो व्यक्तियोंमें आप बतलावो कौनसा व्यक्ति निराकुल और विवेकी माना जायगा? पड़ौसियोंको देखकर अपनी आवश्यकतायें बढ़ाये और उनकी पूर्तिके लिये यथा तथा उद्यम करे। यदि इसमें शान्ति नहीं है। होगा क्या? जो होना है वह होगा। जो उदयाधीन है वही होता है। कितनाभी कुछ करो, नहीं

रहना है, कुछ करो, नहीं रहना है कुछ तो अचानक ही ऐसी घटना घट जायगी कि लो यों ही १० हजार चले गये। क्यों किसी परतत्त्व की चिन्ता करते हो?

आत्मविवेक–कैसे यह वैभव चला जाता है, इसे कोई नहीं जानता। और जब आना होता है उदयमें तो कहाँसे आता है उसे भी सही-सही कोई नहीं जानता। फिर चिन्ता काहे की? तब एक बात साफ हो गयी कि धन वैभव आता है उदयानुकूल। और जीवनमें काम पड़ा है यह कि किसी भी प्रकार इस जीवनका निर्वाह कर लो और जीवनको धर्मके लिए ही लगावो। अब चिन्ता किस बातकी रही? जो मिल गया उस ही में सब निपटारा कर लो। गुजारा करना यह गृहस्थका धर्म है, इसे निभाइये। अत्यन्त गरीबीसे मामूली रहनसहनमें यदि जीवन गुजर रहा है तो कौन सा इसमें नुक्सान हो गया? प्राण तो रह रहे हैं। बड़े-बड़े धनी भी बहुत ठाठसे रहते हैं तो उन्होंने कौनसा लाभ लूट लिया। जैसे प्राण उनके भी रह रहे हैं वैसे ही प्राण इस गरीबके भी रह रहे हैं। कौनसी गरीबीमें हानि हो गयी? हाँ हानि यहां है कि आत्माकी सुध न लें, कोई अपने स्वरूपमें झुकनेका यत्न न करे, कोई सम्यक्त्व न पा सके तो वह हानिमें है। निर्धनतासे हानि लाभका लेखा न लगेगा।

परसे भला कहलवानेका व्यामोह छोड़नेका अनुरोध–भैया यदि इस बातका संकोच हो कि दूसरे लोग क्या कहेंगे कि इनकी स्थिति बड़ी दयनीय है, बड़ी गरीबीकी है। अच्छा तो लोग मुझे भला ही भला कहें इसके लिए भी कुछ उद्यम करके देख लो। हो सकेगा क्या ऐसा कि लोग मुझे भला ही भला कहें? क्या करेंगे आप? आप मौनसे बैठ जायेंगे तो लोग यह कहेंगे कि यह बड़ा अभिमानी है, किसीसे बोलता ही नहीं है। आप कुछ ज्यादा बोलेंगे तो लोग यह कहेंगे कि यह बड़ा बकवाद करने वाला है। अब और बतावो क्या करें। आप खूब खर्च करेंगे तो लोग कहेंगे कि इसे मुफ्तका तो मिला है, जैसा चाहे खर्च करता है, विवेकसे खर्च करें, सात्त्विक रहनसहनसे आप रहें तो लोग यह कहेंगे कि देखो यह बड़ा कंजूस है। प्रत्येक स्थिति में कुछ लोग भला कह सकेंगे तो कुछ लोग बुरा भी कह सकेंगे। और तो जाने दो–भगवानको भी सभी लोग भला नहीं कह सके। हम आप इन मोही, अज्ञानी, पापी जन्म मरणकी परम्परामें डूबे हुए कुछ प्राणियोंसे अपनेको अच्छा कहलवाना चाहें, इतनी बातके लिए एक संकोच बसा रक्खें और हम अपने सुनिश्चित मार्ग में निःशंक होकर नहीं लगें, यह कौनसी बुद्धिमानी है? आत्माको ये कर्म दुःखका कारण तभी तक है जब तक इसके परपदार्थविषयक आशा लगी रहती है। जिनके आशा नहीं रही उनको विधि सतां नहीं सकती।

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥१६४॥

स्तुत्य और निन्द्य–लोकमें स्तुति भी किन्हींकी हुआ करती है और निन्दा भी किन्हींकी हुआ करती है। सबसे उत्कृष्ट स्तुति किए जानेके योग्य पुरूष कौन है और सबसे अधिक निन्दा किए जानेके योग्य पुरूष कौन है? ये दो बातें सामने रक्खी गयी हैं। उत्तरयह है कि जो तपश्चरण के

लिए अपने साम्राज्यको चक्रवतित्त्वको भी छोड़ देता है वह तो स्तुतिके योग्य है और जो विषयोंकी आशासे तपस्याको छोड़ देता है वह अधिकाधिक निन्दाके योग्य है।

निन्दा और निर्दोषताके उद्यममें अन्तर—कोई कहे कि निन्दा तो किसी की करनी ही न चाहिए। तुम तो बड़ी अधिक निन्दाकी बात बता रहे हो। अरे भाई, ईर्ष्यासे, द्वेषसे, दूसरेके बिगाड़ करनेके भावसे, अपमानित करने की दृष्टिसे जनतामें दोष प्रकट करना यह तो योग्य नहीं है। इसे तो निन्दा समझिये, जो कि त्यागनेके योग्य है, किन्तु जो अच्छे आचरणमें लानेके लिए, सुधार करनेके लिए दोष प्रकट किए जाते हैं वह तो प्रवृत्ति निन्दाके योग्य नहीं। ईर्ष्या द्वेषसे निन्दा करे तो वह निन्दाके योग्य है। वह तो पापमें शामिल है। अपने भाव पवित्र रखकर कोई अपने बच्चेको मार भी दे तो वह बच्चा बुरा नहीं मानता बल्कि खुश होता है, और कोई बुरा आशय रखकर, द्वेषका अभिप्राय रखकर एक आंखे ही तानकर देख ले तो वह बालक बुरा मानेगां। ऐसे ही समझिये कि सुधार करनेका आशय रखकर उसके दोष बताये जायें किसी भी प्रकारसे, नाम लेकर नहीं, किसी भी ढंगसे अथवा केवल उस ही को बताया जाय उसमें बुराई नहीं है और द्वेषवश होकर उसकी प्रतिष्ठा गिरानेके लिए अपना महत्व स्थापित करानेके लिए जो निन्दा की जाती है वह निन्दा करने योग्य नहीं है।

सत्य और निन्द्यके बोधसे आत्मशिक्षण—इस श्लोकमें यह बताया है कि सर्वोत्कृष्ट स्तुतिके योग्य तो वह पुरूष है जो तपश्चरणके लिए साम्राज्य को छोड़ देता है और अधिकाधिक निन्दाके योग्य वह है जो एक बार साम्राज्य छोड़ कर तपश्चरण को अङ्गीकार कर चुका, अब विषयोंकी आशा के वश होकर फिर तपश्चरणको छोड़ रहा है, निन्दाके योग्य वह है। हम अपने स्वरूपको निहारें और उस स्वरूपमें मग्न होनेका यत्न करें। हमारे लिए हम ही शरण हैं ऐसा दृढ़ निर्णय बनायें।

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतत्तपसः फलं,
सुखमनुपमं स्वोत्थुं नित्यं ततो न तदद्भुतम्।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं,
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तु जहाति महत्तपः ॥ १६५ ॥

अनद्भुत और अद्भुत कार्य—चक्रवर्ती आदिक महापुरूष तपश्चरण के वास्ते यदि साम्राज्य और चक्रवर्तित्व को छोड़ता है तो छोड़े, क्योंकि तप के फलमें अनुपम आत्मीय शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है। यह तो योग्य ही बात है, उन्नतिकी ही बात है। इसमें अचरजकी कोई बात नहीं है। बड़े-बड़े महापुरूष राजा महाराजा बड़े वैभवको त्यागकर तपश्चरण करते हैं, इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह कार्य आश्चर्य करने वाला नहीं, विधि विधानका है, योग्य है, किन्तु आश्चर्यकी बात केवल एक यह ही है कि पहिले तो सुबुद्धि होकर भी विषयविष भोगनेके अर्थ तपश्चरणको भी त्यागता है, यह है आश्चर्यकी बात।

लोकनीतिविरूद्धता—इन लौकिक पुरूषोंमें भी ऐसा देखा जाता है कि बड़े सुखकी प्राप्तिके लिए लोग छोटे सुखको छोड़ देते हैं। बड़ी निधि केलिए छोटे नफा वाली चीजको छोड़ देते हैं, इसमें किसीको आश्चर्य लगा क्या? नहीं लगा। किन्तु देखिये—जो सर्वप्रकार दुःखमयी है ऐसे इस विषको त्यागकर अर्थात् हलाहलको त्यागकर फिर उस ही विषको खानेके लिए उद्यम करे, बड़े मिष्ट पदार्थोंको छोड़ दे तो इसमें आप आश्चर्य करेंगे ना। ऐसे ही मुक्ति के वैराग्यके सुख के लिए किसीने साम्राज्य और चक्रवर्तित्वका वैभव छोड़ दिया तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो इस बातमें है कि जो सर्वप्रकार दुःख देने वाले हैं ऐसे विषयोंको पहिले तो छोड़ दिया, विवेकी हुआ फिर उनके ही सेवनके अर्थ त्रिलोक पूज्य जो मुनिपद तपश्चरण है उसे भी छोड़ दे तो यह आश्चर्य की बात है।

शय्यातलादपि तु कोऽपि भयं प्रपातात्,
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडां।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्,
धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्विभेति॥ १६६॥

व्यामोहमें तुङ्गस्थानसे भी पतनमें निर्लज्जता—कोई झूला हो, पालना हो या बहुत ऊँचा पलंग हो उसपर बालक पड़ा हो, लेटा हो, खेलता हो, वह बालक उस पालनेके किनारे तक तो आ जाता है, उस पलंगकी पाट तक आ तो जाता है मगर उस परसे नीचे गिरनेको डरता है। वह उतने ऊँचेसे गिरना नहीं चाहता। उस नासमझ बालकको यह समझ है कि यदि मैं गिरा तो उसकी पीड़ा मुझे ही भोगनी पड़ेगी। वह बेचारा नन्हा बालक भी उतने ऊँचे स्थानसे गिरनेके लिए डरता है, पर यह बड़ा आश्चर्य है कि बुद्धिमान् पुरूष तीनों लोकमें श्रेष्ठ उत्कृष्ट मुनिपद धारण करके भी नीचे गिर पड़नेमें उन्हें लाज नहीं आती। यद्यपि बालक विचाररहित है फिर भी ज्ञान उसके भी है। थोड़ीसी ऊँची शैयासे गिरनेमें वह भय खाता है, इतना विचार उस बालकके भी हैं, जो इतने ऊपरसे गिरेंगे तो उसकी पीड़ा हमको ही भोगनी पड़ेगी। लेकिन यह साधु लिङ्गका धारी, वह तो बड़ा विचारवान है ना, विवेकी है और तपश्चरण एक ऊँची पदवी पर विराजमान है, जो तीनों लोकके शिखरके सामान ऊँचा माना जाता है और तीनों लोकके जीव जिसे पूज्य मानते हैं, इतने ऊँचे पदसे भ्रष्ट होता हुआ साधु भय नहीं करता है। इतना भी नहीं सोचता कि भ्रष्ट होने पर मुझे इस लोकमें हास्यादिककी पीड़ा होगी और परलोकमें बहुतकाल पर्यन्त नरक निगोद आदिक दुःख सहने पड़ेंगे। यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

रोनेका साधन क्यों लगाना—एक साधु महाराज थे जंगलमें, वहाँसे एक राजा निकला। गर्मीके दिन थे। साधुकी परेशानीको देखकर राजा बोला—महाराज हमें इजाजत दो तो हम आपके जूते बनवा दें। बड़ी गर्मी के दिन हैं, आपके पैर जलते होंगे। तो साधु बोला—अच्छा बनवा देना जूते। पर एक बात तो बतावो कि पैरोंकी गर्मीका तो इलाज हो गया, अब ऊपरकी गर्मीका क्या

करेंगे?... महाराज बढ़िया छतरी दे देंगे। ... और, लपटोंका क्या इलाज करेंगे?... महाराज कपड़े बनवा देंगे। ... फिर हमें कोई तिष्ट तिष्ट तो न कहेगा, भोजनका क्या हाल होगा?... महाराज ५ गांव लगा देंगे। ... रोटी कौन बनावेगा?... महाराज शादी करा देंगे। फिर तुम आरामसे रहना। ... फिर बच्चे बच्ची भी होंगे, उनका खर्च कैसे चलेगा?... महाराज ५ गांव और लगा देंगे। ... बच्चा बच्चीकी शादीमें बहुत खर्च भी तो होगा?... उसके लिए एक जागीर और लगा देंगे। और उनमेंसे कोई लड़का या लड़की मरेगा तो रोना भी तो पड़ेगा?... तो राजा बोला-महाराज, रोना तो तुमको ही पड़ेगा, हम तो रोने न आ सकेंगे। जिसको मोह होगा, जिसको सम्बंध होगा, रोवेगा तो वह ही। तो साधु बोला हमें ऐसे जूते न चाहिएँ जिनके लगारके बाद हमें रोने तककी नौबत आ जाय।

लोकनिन्द्यता–तो यह साधु इतने ऊँचे पदपर पहुंचकर फिर विषय बाधावोंके कारण पदभ्रष्ट होता है, उसे अपनी दुर्गतिका भय नहीं है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। देखो लोकमें ऊँचा पद होनेके बाद किसी कारण परवश नीचा पद हो जाय तो इतनी लज्जा हो जाती है कि वह अपना आत्मघात भी करना विचार लेता है। किन्तु यह इतना भ्रष्ट हुआ है कि मुनिपद जैसा उच्चपद पाकर स्वच्छन्दतासे नीचा हो रहा है। लोकमें तो किसी पराधीनतासे भी नीचा कार्य करना पड़े तो उसको लाज आती है। और यह अपने ही मनसे स्वच्छन्द होकर भ्रष्ट हो, ऐसा स्वयं कार्य करे तो भी उसे लाज नहीं आती। इस छंदमें साधुजनोंको ग्रन्थरचयिताने यों समझाया है कि भ्रष्ट होनेसे तू लोक रीतिका लोपकर निन्दाका स्थान बन जायगा, इसलिए भी तू अपने विवेकसे अपने आनन्दका काम कर।

विशुद्धयति दुराचारः सर्वोऽपि तपसाधुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोऽपरः ॥ १६७ ॥

अधमता–देखो तपस्या द्वारा तो किया हुआ सारा दुराचार भी दूर कर दिया जाता है। जिस तपस्याके द्वारा समस्त पाप नष्ट किये जा सकते हैं उस तपश्चरणको भी कोई मलिन कर देता है, तपको भी मैला कर देता है तो यह खेदकी बात है। जैसे जलके द्वारा मल धोया जाता है। किसी भी प्रकार मल लग जाए तो उसे जलसे ही तो धोते हैं। कोई पुरूष उस जलमें ही मल मिला दे जिस जलसे मल दूर किया जाता है तो उसे आप कितना अधम कहेंगे? लोग तो बात-बातमें जलमल कह देते हैं। कहो साहब जलमल लायें पीनेके लिए? अरे भाई जल तो ठीक है पर मल लानेके लिए क्यों कह रहे हो? बोलीमें ही लोग जलमें मल मिला देते हैं। तो जलमें यदि मल मिल गया तो वह जलमल धोनेका साधन फिर कहाँ रहा? इस प्रकार तपस्याके द्वारा पाप दूर हुआ करते हैं। कोई पुरूष पापी बनकर उस तपस्याको भी मलिन कर दे तब उसका यह अति अधम कार्य है।

वज्रलेप–जो पाप करे वह तो नीच है ही इसे तो सब जग कहता है, पर जो पापको नष्ट करने वाली तपस्याको भी मलिन कर दे वह अधिक नीच है। लोग कहते भी हैं अन्य स्थानोंमें किए हुए पाप धर्मधाममें नष्ट हो जाते हैं और कोई धर्मधाममें ही पाप करे तो उसके नाशका फिर उपाय क्या रहा? वह पाप तो वज्रलेप हो जायगा। गृहस्थावस्थामें जो पाप बनते हैं उन पापोंको मुनिपद

धारण करके दूर किया जाता है। अब मुनिपदमें ही कोई कुशील, झूट आदि विकारोंसे पाप करे तो वह वज्रलेप होगा। इस कारण हे साधुजनों, साधुलिङ्गमें दोष लगाना योग्य नहीं है।

लोकयुग–यह चर्चा साधुवोंके लिए है। और साधुवोंको समझाया जा रहा है उसमें हम अपने लिए भी शिक्षा लें। यद्यपि बात बहुत टेढ़ी पड़ेगी आजकल, पर जहाँ न्यायकी प्रवृत्ति नहीं है। अन्यायका परित्याग नहीं है, चित्तमें यहाँ वहाँकी बुरी बातोंका विचार है, बहुतसे झूठे लेख ब्लेक और-और बातें भी की जाती हैं। ऐसे निरन्नर चित्त चलते रहने वाले वातावरणमें आत्मानुभवकी पात्रता कैसे बने? यह एक समस्या है। अथवा समस्या है ही नहीं। आत्मानुभव करती हो दुनिया तब तो समस्या होगी। एक बालक पढ़नेमें होशियार नहीं था। स्कूलसे आया और अपने पिताजीसे बोला–पिताजी आज हमारे सिर्फ दो सवाल गलत निकले। ...बेटा शाबास सवाल कितने बोले गये थे?... १० सवाल बोले गये थे। तो क्या तुम्हारे बाकी ८ सवाल सही निकले?... पिताजी ८ सवाल तो मैंने लगाये ही न थे। तो जब इस मनुष्यसमूहका धर्म की बात करनेमें मन है ही नहीं, एक व्यापक दृष्टिसे देखो सार जनसमूहको दृष्टिमें लेकर तो अब वहाँ आत्मानुभवकी चर्चा ही कहां है? लेकिन बिरले ही पुरूष कोई, जिन्हें भी आत्महितकी मनमें आयी हो उन्हें इस जमानेमें गरीबी कास्वागत करनेका साहस कर लेना चाहिए। और फिर न्यायवृत्तिसे रहने पर भी जो कुछ समागम यदि आता भी है, विशेष लाभ होता भी हैं तो उससे कुछ नुकसान नहीं है। आने दो, पर जिसका चित्त चारों ओर किन्हीं बातोंमें उल्झा हुआ हो तो उसे ज्ञानानुभूतिकी पात्रता कैसी होगी?

अपना ध्यान–हम आप सबको भी इस सम्बंधमें कुछ विचारना चाहिए। जो आत्मानुभूतिका क्षण बीते वह काम तो समझिये कि मैने अपने लिए कुछ किया और बाकी धन बढ़ाना, कुटुम्बको सुखी रखना, देशका उपकार करना, परपदार्थोकी ओर उपयोग लगाकर जितने जो कुछ भी कार्य होते हैं उन्हें यों समझिये कि परके लिए किया। और जो आत्मानुभूतिका कार्य बने, निर्विकल्प ज्ञानस्वभावकी दृष्टिका काम बने तो समझिये कि जीवनमें अपने लिए भी कुछ किया। परिजनको धन वैभव आदिको महत्व देते रहना और चित्तमें अहंकार बसाये रहना, मैं इतना शक्तिशाली हूं आदिक विकल्प बसाये रहना इससे सिद्धि कुछ नहीं है, बरबादी ही है और अपने इस अकिञ्चन ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखों और यह दृढ़ निर्णय बना लो कि मेरे आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। मैं शाश्वत ज्ञानान्दस्वरूप हूं ऐसा निर्णय बनाकर अपने आपमें विश्राम करें तो वहाँ हमने अपने लिए कुछ किया।

सन्त्येव कौतुककशतानि जगत्सु किन्तु,
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।
पीत्वामृतं यदि वमंति विसृष्टपुण्याः,
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजंति॥ १६८॥

विस्मापक दो कार्य–इस जगतमें सैकड़ों कौतुक हुआ करते हैं परन्तु आश्चर्य करने वाले

कौतुक यहाँ ऐसे विकट दो ही हैं। कौतुक उनको कहते हैं जिनको देखने समझनेकी उत्सुकता जगे। कौतुक किसे प्रिय नहीं होता? इष्ट हो उसे भी देखते अनिष्ट हो उसे भी देखते। सैकड़ों कौतुकोंमें ये दो कौतुक ही विस्मय करने वाले बड़े विकट हैं। वे कौनसे हैं? एक तो यह कि कोई अमृतको पीकर फिर कोई औषधि खाकर उसका वमन कर डाले, अमृतको अपने उदरमें न रखना चाहे। उस अमृतका वमन कर दे तो उसे आश्चर्य मानते हैं कि नहीं? लौकिक दृष्टान्त है यह। तो एक तो यह विस्मयकी चीज है दूसरा विस्मय यह है कि संयम निधिको प्राप्त करके फिर उसका वमन कर दे, उस निधिको छोड़ दे, इसमें आश्चर्य लगता है कि नहीं? ये दो कौतुक महान् आश्चर्य करने वाले हैं।

अद्भुत कौतुक–जहाँ असम्भवसा कार्य भी कुछ होता सा भासे उसका ही नाम आश्चर्य है, और ऐसे ही कौतुक आश्चर्यको उत्पन्न करते हैं। सड़कपर, रास्तेमें शहरमें किसी जगह कोई डुगडुगी बजाकर, बांसुरी बजाकर कुछ अनोखे खेल दिखाना चाहता हो, जिन खेलोंमें लोगोंको आश्चर्य हुआ करता है, जैसे रूपया गायब कर देना, एकके दो रूपये बना देना। किसीको बेहोश कर देना, किसीकी कपड़ेके भीतर गर्दन ऐसी मुड़ी हुई बता देना जिससे मालूम पड़े कि अब इसका कंधेसे कुछ सम्बंध ही नहीं रहा, इस प्रकारकी आश्चर्यजनक बातें जब लोग देखते हैं तो ऐसे अनेक कौतुकोंको देखकर बड़े-बड़े लोग भी १०-५ मिनटको ठहर ही जाते हैं। आश्चर्य करने वाले कौतुक हैं। पर सबसे अधिक कौतुक तो इन बातोंमें है। कोई बड़े भाग्यसे ऐसा अमृतत्याग कर ले जिसमें बुढ़ापा भी न आ सके ऐसे अमृतको पीकर फिर उसका वमन कर दे तो इसमें आश्चर्य है ना। इसी तरह कुछ काललब्धि आयी है सो ऐसा संयम धारण करनेको मिला। जिससे जन्म मरण आदिके दुःखका नाश हो जाता है। ऐसी संयमनिधिको पाकर भी उसे छोड़ दे तो एक यह आश्चर्य है।

साधुशिक्षण–इस छंदमें कहीं दो आश्चर्योको नहीं बताना है। एक ही आश्चर्य बताना है इसलिए अमृत वाली बात तो दृष्टान्तमें मान लो और कही जाने वाली बात यह एक संयम निधिकी है तो ऐसा कार्य तो विवेकी पुरूष नहीं किया करते हैं। हे साधु महाराज, भाग्यसे तुमने यह ज्ञानसम्यक्त्व और संयमनिधान पाया है, इसे प्राप्त करके इसका निर्वाह करो। उद्योतन, उद्यवन, आराधन, साधन और निर्वहण-इन ५ प्रकारके आराधनोंको ग्रहण किए हुए चारित्रकी संभाल करो। संयमकी संभालमें सम्यक्त्वकी संभाल तो गर्भित ही है, अर्थ यह लेना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी संभाल करें। इस रत्नत्रयकी संभालमें ही अपना उद्धार है।

इह विनिहितवद्वारम्भबाह्योरूशत्रो –
रूपचितनिजशक्तेर्नापरः कोऽप्ययायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः,
कुरू तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥ १६९ ॥

साधु धर्मकेनिर्दोषपालनका अनुरोध–मुनिव्रतमें बाह्य अपराध लगने का तो कोई साधन नहीं है, क्योंकि आरम्भ आदि पापकर्मोका इस मुनिने त्याग किया है, परिग्रहका भी त्याग किया है।

इससे हे मुनि! बाह्यमें तो तुझे अपराध लगनेका कोई अवसर नहीं है। हे साधो! मुझे जो अपराध लग सकते हैं वे भोजन करने सोने, चलने, ठहरने आदि कार्योंमें प्रमाद अथवा राग विकार करनेके अपराध हो सकते हैं। सो उन क्रियावोंमें सावधान होकर तू अपनी रक्षा करले फिर कल्याण अवश्यभावी है।

साधुभेषमें परिस्थिति ऐसी है कि जहाँ किसी प्रकारके अन्याय अथवा पाप नहीं किये जा सकते। कैसे करे? दैगम्बरी दीक्षामें आरम्भ और परिग्रहका सम्पर्क नहीं है सो अन्य पापका कोई अवसर नहीं है। यहाँ तो खुदकी पीड़ाके लिए खुदके पतनके लिए, खुदके जो भोजन आदिक कार्य हैं उनमें दोष लगानेका काम रह गया है, पर दूसरे जीवोंको यह साधु पीड़ा उत्पन्न कर सके, ऐसा कोई साधन नहीं रहा है। साधुके मात्र तीन उपकरण कहे गये हैं शास्त्र, पिछी और कमण्डल। अब बतलावो क्या इन उपकरणोंके द्वारा दूसरेको वे पीड़ा कर सकेंगे? नहीं कर सकते । उनकी मुद्रा ही ऐसी है कि लोग देखकर अभयको प्राप्त होते हैं। कोई त्रिशूल लिए हुए हो, चिमटा लिए हुए तो लोग उससे डरें। कहीं इसे गुस्सा आ जाय और चिमटा ही मार दे, त्रिशूल भी मार दे। ये तो साधन उस साधुके पास रहे नहीं, साथ ही कोई विडरूप भी उनके नहीं। जैसे बड़ी गटरमाला पहिन लें, भस्म लगा लें, जटायें रख लें। कुछ भयानकसा रूप बन जाय यह भी दशा नहीं है। इस कारण भी मनुष्योंको उनसे भय नहीं लगता। सो बाह्य में कोई अनर्थ कर नहीं सकते ये साधु। अपने पतनके लिए अपने आपमें भोजनकी वृद्धि करें। सोने, उठने, बैठनेमें सावधानी न करें, अन्य मनके विकार करें आदिक अनेक बातें हो सकती हैं। सो हे साधो! अब इस अपनी असावधानी का दोष और मिटा ले, फिर तू अन्तः और बाह्य दोनों प्रकारसे पवित्र है।

साधुपदमें निर्दोषताका अवसर—यहाँ कोई यह शंका करने लगे कि बाह्य मेंदूसरोंको कैसे पीड़ा न होगी। जब दो एक मोटर भी साथमें रखे, इंतजाम करें ड्राइवर वगैरहको डाटना भी पड़े, ठीक समय पर व्यवस्था बनाना है। कुछ गड़बड़ हो गयी तो वहां भी उनकी व्यवस्था करनी है। ऐसा करते हुएमें दूसरों पर कैसे न आघात पहुंचेगा? ऐसी शंका न कीजिए क्योंकि वह तो साधुधर्म ही नहीं है। साधुधर्म हो निष्परिग्रहतामें और निरारम्भपनेमें हैं, सो वहां दूसरे जीवोंको बाधाका अवसर नहीं है। तो इतना बड़ा तो त्याग कर दिया साधुने, जो सबसे नहीं किया जा सकता। इतनी उदारता, इतना परित्याग करनेके बाद अब केवल अपने मनकी बात जो केवल अपने मनसे, विचारसे ही अपराध लग जाया करता है जिसमें किसी दूसरेकी आधीनता नहीं है कि क्या करें? हम परवश हैं इसलिए दोष लगाना पड़ता है, ऐसी कोई पराधीनता भी नहीं है। उन अपराधोंका और त्याग कर दें फिर तो साधु निर्दोष शान्ति पथपर विहार करेगा। साधु को भी जो दोष लग सकते हैं वे केवल अपने ही चिन्तनके दोषसे लगे हैं, अरे भोजन करते हुएमें आसक्ति नहीं करें, जैसा मिला तैसा ही अपनी उदरपूर्तिके अर्थ, जीवन चलानेके अर्थ जो कि संयमसाधनमें सहायक है कर लिया, अब वहाँ सोचे कि ठीक मिले, ऐसा मिले आदिक, यह सब अपनी स्वच्छन्दताका ही तो दोष है कि

पराधीनताका दोष है? अब उस स्वच्छन्दताका ही तो दोष है कि पराधीनताका दोष है? अब उस स्वच्छन्दताके दोषोंको हे साधो! तू दूर कर।

साधुधर्मके अन्तरङ्ग और बहिरंग शत्रुपर राजाका दृष्टान्त–जैसे राजावों के शत्रु दो प्रकारके होते हैं–एक बहिरङ्ग शत्रु और एक अन्तरङ्ग शत्रु। जो दूसरे राजा लोग हैं वे बहिरङ्ग शत्रु हो सकते हैं। कोई राजा चढ़ाई कर दे अथवा प्रायः बनती ही नहीं है एक राजाकी दूसरेसे वह बहिरङ्ग शत्रु है, किन्तु अन्तरङ्ग शत्रु वे हैं जो अपनी गृहव्यवस्थाके साधक सेवकजन हैं, रसोइया है, या चपरासी है, रातका पहरा देने वाला है, द्वारपाल है, ये राजाके अन्तरङ्ग शत्रु बन सकते हैं। कदाचित् रसोइया भोजनमें विष मिला दे और उस भोजनको परोस दे तो राजाका प्राणांत हो जायगा ना? तो ये सेवक जन उनके अन्तरङ्ग शत्रु हैं। जितना खतरा राजाको बहिरङ्ग शत्रुसे नहीं, जितना खतरा अन्तरङ्ग शत्रुसे हैं। बहिरङ्ग शत्रुकी तोस्पष्ट थोड़ी बात है, जब सामने आये, आक्रमण करे तो उसका मुकाबलाकरे। वह तो एक आमने सामने की बात है, पर ये धोखा देनेकी बातें जो कि अन्तरङ्ग शत्रुके द्वारा की जा सकती हैं इनका तो पता भी नहीं पड़ता। बहिरङ्ग शत्रुका तो राजा विनाश करता है उसके राज्य भ्रष्ट होने का कारण तो अब नहीं रहा, पर भोजन आदिक क्रियावोंमें सावधान रहे तो अन्तरङ्ग शत्रुसे भी मृत्यु न पायगा, इस कारण अन्तरङ्ग शत्रुसे भी जैसे रक्षा हो, याने खानपान आदिक क्रियावोंमें सावधानीसे रहना राजा को योग्य है। कुछ समयसे पहले यह प्रथा थी कि कुछ लोग थालमें भोजन परोसने के बाद पासमें एक जलते कोयले पर थोड़ा थोड़ा भोजन डाल देते थे, जिसे कहीं कहीं एक धर्मका रूप मान लिया है कि भोजनसे पहिले कुछ होमसा कर लेते हैं। चीजोंको जलते अंगारेपर डालनेसे यह निर्विष भोजन है या विष मिला हुआ भोजन है, ऐसा मालूम हो जाता है। विषैले भोजनसे लपट उठती हैं। यों बड़े पुरूष भोजनका परिचय अग्निमें थोड़ी थोड़ी चीजें डालकर कर लेते थे। यह अन्तरङ्ग शत्रुसे सावधानी रखनेका उपाय था। प्रयोजन यह है कि जैसे राजाको बहिरङ्ग शत्रुसे अपनी रक्षा करनी योग्य है ऐसे ही अन्तरङ्ग शत्रुसे भी अपनी रक्षा करनी चाहिए।

साधुधर्मके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रु–इस दृष्टान्तके अनुसार प्रकृतमें भी बात देखिये, मुनियोंके शत्रु दो प्रकारके हैं-एक तो बहिरङ्ग शत्रु और एक अन्तरङ्गशत्रु। जो हिंसाका प्रकट रूप दिखता है ऐसा आरम्भ करना यह तो मुनिलिङ्गमें बाह्य शत्रु है। यहाँ शत्रुसे मतलब किसी अन्य मनुष्यकी बात नहीं कही जा रही है। मुनि आरम्भ करे, खेती करे अथवा कुछ व्यापार करे, कोई प्रकारका बंध करे तो यह साधुका बहिरङ्ग शत्रु है और खानपान आदिक क्रियावोंमें रागभाव रक्खे अथवा उठने बैठने आदिक क्रियायोंमें प्रमाद रक्खे तो यह मुनिका अन्तरङ्ग शत्रु है। सो देखिये कि साधुने बहिरङ्ग आरम्भ आदिका तो त्याग कर दिया है इसलिए बाह्य शत्रुका भय नहीं है, किन्तु खानान आदिक क्रियावोंमें प्रमादी बनकर उनमें सावधानी न बर्तें तो अन्तरङ्ग रागादिक भाव जगते हैं, उससे उसका विनाश होता है। यह अन्तरङ्ग शत्रु ही तो हुआ। साधु जब बहिरङ्ग शत्रु का विनाश

कर देता, अब जो केवल अपने विचारों मात्र पर आधारित है ऐसे अन्तरङ्ग शत्रुका क्यों न विनाश करें? मतलब यह है कि किसी भी कार्यमें रागादिक भाव करना साधुको योग्य नहीं है।

साधुसन्देशसे गृहस्थको शिक्षण–इस प्रकरणसे हम भी यह शिक्षा लें कि गृहस्थ जनोंको जिससे कुछ प्रयोजन ही नहीं तो न कोई आजीविका का काम निकलता और न कोई सुविधा या धर्मसाधनका काम निकलता फिर भी राग किया जाय, विरोध किया जाय, यह कार्य उचित नहीं है। हाँ आपकी आजीविकामें कोई विशेष बाधा डाले तो गृहस्थके विरोध भाव जगना एक प्राकृतिक बात है। और उस पदमें ऐसा होता ही है, अथवा किसी धर्ममार्ग में कोई रोड़ा अटकाये तो उस धर्मप्रेमी को उसमें भी रोष आ सकता है, लेकिन जिन बातोंका न अपनी आजीविकासे सम्बंध है और न कुछ धर्मपालनसे भी सम्बंध है, व्यर्थ ही बहुत रोष किया जाय, व्यर्थकी बातोंमें विरोध करना, कलह करना, राग करना यह प्रमाद है। असावधानी है, कषाय प्रकृति है। अपने मनको ऐसा सावधान बनायें कि जितना अपने हितसे प्रयोजन हैं उतना तो हमारा जब विकल्प चल रहा है, विकल्प चला करे, किन्तु अप्रयोजक हमारे विकल्प न उठें, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए।

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते,
वचःपर्णाकीर्णे विपुलमयशाखाशतयुते।
समुत्तङ्गे, समयकृततमतिमूले प्रति दिनं,
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम्॥ १७०॥

मनमर्कटकोयोग्य पदमें रमानेका अनुरोध–यह मन बंदर चंचल है। साहित्यमें मनको बन्दर की उपमा दी जाती है। जैसे बन्दर एक दो मिनट भी शान्ति और धीरतासे बैठ नहीं सकता। कदाचित् वह हाथ पैर भी न हिलाये तो आंखोंका मटकाना और मुँहका थोड़ा सा फड़काना यह तो मिटता नहीं है और हाथसे खुजाना, यहाँ वहाँ हिलाना यह तो होता ही रहता है। और प्रायः करके वह एक जगह बैठ भी नही पाता। यहाँ वहां उचकना, चलना, फिरना अनेक चंचलतायें बन्दरमें होती हैं। ऐसे ही इस मनमें अनेक प्रकार की चंचलतायें हैं। किसी एक जगह टिककर नहीं रहता। किसी एक बातका विचार करे तो चलो उस ही विचारमें रहे, अन्य कुछ न सोचे ऐसा होता ही नहीं है। मनकी प्राकृतिकता ही ऐसी है। खोटे कामोंमें भी यह मन एकदम लगा ही रहे सो नहीं होता। उस खोटे कामको भी बदल-बदलकर अब और कुछ, अब और कुछ इस मनको चाहिए। तो ऐसा यह चंचल मन है। हे साधु, हे कल्याणार्थी पुरूष! तू इसको किसी जगह रमा दे।

दृष्टान्तपूर्वक मनको श्रुतवृक्षमें रमानेका वर्णन–जैसे कोई बालक अपने काममें बाधा डालता है तो उसे कोई खिलौना देकर रमा दिया जाता है। जैसे मां के साथ बच्चा आता है मंदिरमें दर्शन करने। अब मां जाप देने बैठी, बच्चा परेशान कर रहा है तो साथमें कोई लकड़ी आदिका बना खिलौना हो वही देकर उसमें रमा देती है और अपनी माला की गुड़िया फेर लेती हैं तो जैसे कभी कोई बालक बाधा दे तो उसको किसी बातमें रमा देते और अपना काम निकाल लेते ऐसा किया

जाता है ना, इसी तरह हे कल्याणार्थी पुरूष! इस मनको श्रुतवृक्षमें रमा दे और अपनी अनुभूति लेनेके काममें जुट जा।

श्रुतवृक्षकी विशेषतायें–श्रुत वृक्ष मायने शास्त्र-परिज्ञान, ज्ञान वृक्ष। जैसे बन्दर वृक्षमें ही रमा करता है ना, तो मनको भी इस श्रुतवृक्ष में रमा दो। इस श्रुतज्ञानको वृक्षकी उपमा दी है। जैसे वृक्षमें फूल फल बहुत होते हैं, फलोंके भारसे वृक्ष नम्रीभूत रहता है ऐसा ही यह श्रुतवृक्ष है, इसमें अनेकान्त स्वरूप जो अर्थ हैं वह ही फल है। यथार्थ अनेकान्त प्रदर्शक अर्थोंसे यह श्रुत स्कंध, यह श्रुतवृक्ष लदा हुआ है। वृक्षमें जैसे बहुतसे पत्ते होते हैं तो इस श्रुतवृक्षमें बहुतसे जो शब्द हैं वे ही पत्र हैं। शब्दपत्र हुए, फल हुए, यों पत्र और फलोंसे यह श्रुतवृक्ष हरा भरा और फला फूला है। जैसे वृक्षमें अनेक शाखायें बनती है। यों ही इस श्रुतवृक्षमें नाना प्रकारके नयोंकी शाखायें हैं जो कि सैकड़ों और हजारों हैं। नय दो एक नहीं होते। जितने वक्ताके आशय हैं उतने नये हुआ करते हैं। सब नयोंका स्वरूप कौन बता सकता है, पर संक्षेप करके वे भेद, भिन्न अनेक नय किसी एक भूल आशयमें सम्मिलित हो सकते हैं, ऐसी दृष्टि रखकर २ नय, ७ नय, ६ नय आदिक बताये गये हैं। तो यह श्रुतवृक्ष नाना नयों की सैकड़ों शाखावोंसे युक्त है।

समुतुङ्ग श्रुतमें मनको रमानेका दृष्टान्त–जैसे वृक्ष बहुत ऊँचा होता है ऐसे ही यह श्रुतवृक्ष बहुत ऊँचा है। सर्वोत्कृष्ट विकास आत्माका केवलज्ञान है। उस केवलज्ञानसे उपमा दी गयी है श्रुतज्ञानकी। समस्त लोक और समस्त कालको यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। इस समस्त लोकालोक और कालको यह श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे जानता है। समस्त पदार्थ कितने हैं? उन एकत्स्वरूपको लिए हुए सब पदार्थोंको केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है तो श्रुतज्ञानने यों सबको जान लिया कि जितने भी पदार्थ होते हैं वे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावको लिए हुए हैं। सब त्रिगुणात्मक हैं, लेकिन इस बुद्धिमें सब पदार्थ आ गये कि नहीं ज्ञानमें? यह मैं एक आत्मा हूं और इसके सिवाय सभी अनन्त पुद्गल अनन्त जीव ये सब परपदार्थ हैं। लो इस स्वपर बोधमें सबको जान लिया कि नहीं? कोई शंका करे कि वाह यह तो कहने मात्र की बात है। सब कहाँ जान गये? अरे सब जान लिया मैंने। मुझे आत्माका जानना प्रयोजन था उस प्रयोजन पूर्तिकी सीमामें उसके लिए वह सब ज्ञान हैं। श्रुतवृक्ष बहुत उत्तुंग है। और जैसे वृक्षके चारों और बहुत विस्तार होता है, बड़ा फैलाव होता है, शाखा, टहनी फूल फल और पत्तोंका, इसी तरह श्रुतवृक्ष भी सम्यग्ज्ञान, मतिज्ञान आदिक नय प्रमाण निक्षेप आदिक अनेक प्रकारके ज्ञानविस्तार फैला है। हे कल्याणार्थी पुरूष! ऐसे इस मनबन्दरको रमा दे।

मन लगनेकी कठिनताकी आशंकाका निवारण–कोई यह शंका रखता हो मनमें कि मन तो बंदरके समान चंचल है। कितनी भी सावधानी रक्खें तो भी रागादिक भाव परिणमते हैं, तब क्या करना चाहिए? उसे यह शिक्षा दी है कि देखो मनुष्य बिगाड़ कब करता है? जब वह बेकार ठलुआ बैठा हो। जैसे बन्दर ठलुवा रहे तो वह कुछ बिगाड़ करेगा ही। बंदरको वृक्षमें रमा दो तो

वह बिगाड़ न करेगा और यह बन्दर भी प्रसन्न रहेगा। ऐसे ही यह मन बेकार है, निरालम्ब है तो इसमें रागादिक अनेक कुभाव प्रवर्तेंगे। तब आप इस मनको शास्त्राभ्यासमें लगा दीजिए तो यह मन रागादिक रूप भी पवर्तेंगे, उद्दण्ड न होगा और मन भी प्रसन्न रहेगा, और आत्माकी भी रक्षा रहती है। शास्त्रका पाठ करना, शास्त्रके अनुसार स्वरूपका ध्यान करना यह सब शास्त्राभ्यास ही है। ये ही सब श्रुतवृक्ष हैं। जब तक केवलज्ञान नहीं होता तब तक शास्त्रमें ही मन लगाना चाहिए। इससे रागादिकका विलय होगा।

शास्त्रमें चित्त लगानेकी परिस्थितियां—शास्त्र पढ़ना यह भी शास्त्रमें मन लगाने की बात है, और शास्त्रमें जो स्वरूप आया है पदार्थका उस स्वरूपका चिन्तन करना, वैसा ही ध्यान बनाना यह भी शास्त्रमें मन लगाना है। और जहाँ शुक्लध्यान होता है श्रेणियोंमें वहाँ भी यह मनजो कर रहा है, जिस ओर लग रहा है वह भी शास्त्रसे विरूद्ध बात नहीं है। वहाँ भी शास्त्रमें मन किया है। शास्त्रका अर्थ है ज्ञान। सो इस मन बन्दरको इस श्रुतवृक्षमें, ज्ञानमें रमा दो तो यह भी प्रसन्न रहेगा और यह आत्मा भी रागादि भावोंसे दूर रहेगा, सुरक्षित रहेगा। एक यही उपाय है इस मनको अधिकाधिक शास्त्राभ्यासमें लगायें, फिर जो कुछ उपादेय हैं, हेय है, कर्तव्य है वह सब आसानीसे स्वयं हो सकेगा।

तदेव तदतद् प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा ॥ १७१ ॥

ज्ञानीका चिन्तन—इन सभी पदार्थोंके सम्बंधमें इस प्रकारका चिन्तन चलना चाहिए कि ये सब वही का वही अथवा अन्य-अन्य रूपको प्राप्त हो कर भी नष्ट न होंगे और विराम न पावेंगे। इस चिन्तनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी झांकी है। यह जीव नये नये रूपोंमें जो कि न था ऐसे अतद्रूप को प्राप्त होनेका भी विरोध नहीं हो रहा अर्थात् निरन्तर उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे सहित ये प्रत्येक पदार्थ हैं। ऐसा सबको जानने वाला ज्ञानी पुरूष इस अनादि अनन्त विश्वका चिन्तन करे।

शास्त्राभ्यासमें वस्तु स्वरूपका सम्पर्क—शास्त्राभ्यास करने वाला ज्ञानी केवल शब्द अलंकार आदि एक साहित्यिक दृष्टिमात्रसे ही मनको नहीं रमाता है, किन्तु वहाँ भी वस्तुस्वरूपका चिन्तन करता है। साहित्यमें तत्त्वस्वरूप जब तक नहीं होता तब तक जान नहीं आती है, और तत्त्व स्वरूपके प्रकरणको लेकर आप सब साहित्य खोज डालें, विद्वानोंका यह मत है कि समस्त साहित्योंमें से यदि जैन साहित्य निकाल दिया जाय तो साहित्य निष्प्राण हो जायगा। इसका कारण यह है कि यह जैन साहित्य जरा-जरा सी बातोंमें तत्त्वको प्रकट करता रहता है। बच्चोंको जो भजन सिखाये जाते हैं—भावना, पद्य, स्तुति आदि उनमें ही तत्त्व बसा हुआ है। और बड़े-बड़े ग्रन्थोंको देख लो जो तत्त्वरचनासे भरपूर हैं। शब्दशास्त्री केवल शब्दोंके अलंकारके ही रसको नहीं लेते किन्तु तत्त्वका चिन्तन भी करते हैं। जीव आदिक कुछ भी वस्तु होये सब नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं, अनेक भी हैं; सत्ता रूप भी हैं, असत्तारूप भी हैं; एक भी हैं, अनेक भी है, आदिक अनेकरूप हैं। ऐसा

होकर भी ऐसा नहीं भी है। ऐसे नानाभावोंको प्राप्त होते हुए ये जीव आदिक पदार्थ ऐसा होनेसे विरामको प्राप्त नहीं होते। ये सदैव अपने स्वभावरूप रहा करते हैं।

निर्मोहकताकी शिक्षा—भैया जिस ! वर्णनसे हम आपको शान्तिके योग्य शिक्षा न मिले तो उस वर्णनका श्रम करना व्यर्थ सा है। पदार्थका यह त्रिगुणात्मक स्वरूप हमें निर्मोहक होने का शिक्षण देता है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपनी नई व्यवस्थाको उत्पन्न करते हुए बराबर संततिमें चलते रहते हैं, विराम भी नहीं लेते हैं। जब सब पदार्थोकी ऐसी ही स्वतंत्र स्थिति है तो किसके हम और हमारा कौन? समस्त पृथक पृथक वस्तु हैं इस संसारी जीवपर बहुतसे संकट हैं और, संकट ऐसे अनोखे हैं कि बताये नहीं जा सकते। कहाँसे संकट आते हैं? महलसे, धनसे बाह्य पदार्थोसे संयोग वियोग आदि कहींसे भी संकट नहीं आते हैं। ये तो परपदार्थोंके परिणमन हैं। जैसे हैं, हैं, उनसे संकटकी कौन सी बात आती है? रंच भी उनसे संकट नहीं है। यदि इन बाह्य वस्तुवोंके किसी परिणमनसे संकट आता हो तब जितने, सामने बैठे हों सबको दुःखी हो जाना चाहिए। कभी तेज बरसातमें किसीका घर गिर जाय और दबकर एक दो व्यक्ति गुजर जायें तो कितना हाहाकार मचता है, और उसको देखने वाले दर्शक लोग देखते हैं। उनके दुःखकी चर्चा करते हैं, पर जो संकट उन बचे हुए घरके लोगोंने माना है वह संकट ये दर्शक लोग मानते हैं क्या? घरके बिगड़नेसे गिरनेसे संकट नहीं आता है। कहाँसे संकट आता है? यह बहुत विलक्षण समस्या है। बीत तो खुदपर रही है के उसका विश्लेषण क्या किया जाय?

व्यर्थकी विपदा—जैसे बिना कामके मुफ्त लड़ाई हो बैठे किसीसे तो लोग उसका नाम धरते हैं। सूत न कपास जुलाहेसे लट्ठमलट्ठा। और, यहाँ क्या गुजर रही है? मेरा किसीसे कोई मतलब नहीं, कुछ सम्बंध नहीं, पदार्थ सब भिन्न-भिन्न हैं। मैं सबसे न्यारा हूं। कुछ सम्बंध नहीं, कुछ वास्ता नहीं और इतना संकट बना लिया है। एक बार दो मित्र कहीं जा रहे थे-एक था जुलाहा और एक था ग्वाला। मार्गमें एक बड़ा मैदान मिला तो जुलाहा बोला-यदि हमें यह मैदान मिल जाय तो हम इसमें कपास बोवेंगे। ग्वाला बोला—हम इस मैदानमें भैंसे चरावेंगे। कपासमें अंकुर होंगे ना तो उनको भैंसें अच्छी तरहसे खाती है। तो जुलाहा बोला—तू इसमें भैंसें कैसे चरायेगा? ग्वाला बोला—तू इसमें कपास कैसे बोवेगा। भला देखें तू कपास कैसे इस मैदानमें बोता है। जुलाहा बोला—भला देखें तू इस मैदान में भैंसे कैसे चराता है तो जुलाहेने कुछ हाथ आगे पीछे मटका कर कहा—लो यह हल चल गया, लो यह बरबर चल गया, और कुछ छोटे कंकड़ उठाकर फेंककर बोला—यह कपास बोदिया और ऊँचे हाथ करके बोला—लो यह कपास हो गयी। तो उस ग्वालेने कुछ बड़े कंकड़ उठाकर फेंककर कहा लो यह एक भैंस चरने गयी, लो यह दूसरी और यह तीसरी भैंस चरने गयी। दोनोंमें लट्ठमलट्ठा। होने लगा। तो क्या बात हुई? सूत न कपास जुलाहेसे लट्ठमलट्ठा। ऐसी ही बात सबके निज घरकी है। ईंटके घरकी नहीं कह रहे। सबका जो घर है, आत्मा है सबके जीवकी यही दशा है कुछ सम्बंध नहीं, वास्ता नहीं दुःखी हो रहे हैं। यह पदार्थका स्वरूप हमको यह शिक्षा देता

है कि प्रत्येक स्वतंत्र है तुम किसीमें ममकार मत करो। जैसे स्वप्नमें देखी हुई घटना सच मालूम होता है, ऐसे ही मोहकी नींदमें, कल्पनावोंमें यह सारा वैभव समागम सच मालूम होती है, और इस मायारूप झूठे समागमके बीच परस्परमें कलह विवाद उत्पन्न हो जाते हैं।

वस्तुस्वरूप–प्रत्येक पदार्थ वहीका वही रहता है। रंच भी किसी दूसरेका रूप नहीं बनता, और प्रति समय अपनेमें नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न करके अपनी संतति बनाये रहता है और इन कामोंसे विराम नहीं लेता। नित्य नाम किसका है? सदा रहनेका नाम नित्य है क्या? नहीं। सदा बने रहनेका नाम नित्य है। सूत्र जीमें भी कहा है। तद् भावव्यय नित्यं। पदार्थके होनेका कभी व्यय नहीं होना सो नित्य है। पदार्थ निरन्तर होते रहना इसका नाम नित्य है। कोई पदार्थ ऐसा नित्य नहीं है जो बनता नहीं है और है। ये प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपनी नवीन अवस्थाको धारण करते हुए कभी भी विराम नहीं लेते हैं। अपनेमें अपनी पर्यायको ही धारण करते हैं। किसी पदार्थमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह किसी अन्य पदार्थको उत्पन्न कर दे। यों देखता हुआ यह ज्ञानी पुरूष अपने आपकी ओर अपनेको स्वतंत्र देखता हुआ शान्त रहता है।

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकम्।
अवाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥ १७२ ॥

पदार्थकी प्रतिक्षण त्रिगुणात्मकता–प्रत्येक पदार्थ वहीका वही एक है, एक ही समयमें ध्रौव्य उत्पाद व्यय स्वरूप है पहिली पर्याय नष्ट हुई तब नवीन पर्याय बनी, ऐसा नहीं होता, किन्तु उसी समयमें नवीन पर्याय हुई है और पुरानी पर्याय विलीन हुई है। अंगुली सीधी है। जरा टेढ़ी कर दो तो वहाँ ऐसा नहीं होता कि पहिले सीध मिटी हो और बाद में टेढ़ी हुई हो। टेढ़ी होनेका ही नाम सीधका मिटना है। एक ही समयमें उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वरूप प्रत्येक पदार्थ रहते हैं, और यह कैसे जाना जाय? प्रत्येक पदार्थमें दो प्रकारका प्रत्यय बना रहता है। यह वही है, यह वही नहीं रहा, दोनोंकी दोनों बातें प्रत्येक पदार्थमें विदित होती हैं। कोई पुरूष बालक था, अब युवक हो गया तो बतावो यह वही रहा या दूसरा हो गया? दोनों उत्तर हैं। यह वही है यह भी ठीक है और यह दूसरा हो गया यह भी ठीक है। बचपनका ढाल चाल बोल बर्ताव सब कुछ जो था अब उसकी गंध भी नहीं रही। अब नवीन नवीन बोल ढाल चाल बर्ताब हो रहे हैं, तब दूसरा हो गया ना? अरे वही तो है, कोई दूसरा जीव नहीं है। यों एक ही समय वही है, अन्य है, ये दोनों प्रत्यय उस एक ही पदार्थमें हो जानेके कारण विदित होता है कि प्रति समय पदार्थ ध्रुव है और बदलता रहता है।

अन्यप्रत्यय और तत्प्रत्यय–पदार्थमें जो परस्पर विरूद्ध अनन्तधर्मसमूह सिद्ध किया जाता है यह अन्य अपेक्षावोंसे किया जाता है। जैसे कोई युवक पिता भी है और पुत्र भी है। तो एक ही व्यक्तिकी अपेक्षा पिता हो और उस ही व्यक्तिकी अपेक्षा पुत्र हो, ऐसा नहीं है। किसीका पिता है और किसी का पुत्र है, ऐसे ही वस्तुको नित्य कहा तो द्रव्यदृष्टिसे कहा। चूँकि वह चीज नहीं मिटती इस कारण नित्य है और अनित्य कहा तो पर्याय दृष्टिसे। चूँकि पर्याय बदलती रहती है इस दृष्टिसे

अनित्य है। जैसे कोई पुरूष पहिले रंक था, अब राजा बन गया। जैसे सत्यंधरके राज्यमें काष्टाङ्गार था। काठ बेचकर अपना गुजारा करता था। उसे बना दिया राजा। तो जो रंक था वह राजा हुआ तो अवस्था बदलने की दृष्टिसे तो दूसरा हो गया, अब वह कहाँ रहा, और वही तो व्यक्ति है, कोई दूसरा तो नहीं है, इसलिए वही है, एक है।

रंक, राजामें अन्यप्रत्यय व तत्प्रत्यय–भैया ! कहीं किसी गरीबको लोगोंने मिलकर जबरदस्ती राजा बना दिया। राजा रहा न था सो एक गरीब घसियारेको जो बड़ा बोझ लेकर चला करता था उसे बना दिया राजा। अब १०-२० दिनमें ही अपने सहारे अब वह उठ न सके। दो आदमी चाहिएँ उसे उठानेके लिए। तो एक व्यक्तिने पूछा कि क्यों साहब! यह क्या बात है कि पहिले तो तुम बड़ा बोझ लेकर चलते थे और अब उठा तक नहीं जाता? तो उसे अलंकारमें यों ढाल दिया कि भाई तब तो थोड़ा ही बोझ था अब तो हमपर पूरे राज्यका बोझ है इससे अब उठा नहीं जाता। तो अन्य हो गया ना, बोझ ढोने वाला और था, अब यह राजा बनने वाला और है किन्तु व्यक्ति वही है।

जीव व भवोंमें अन्यप्रत्यय व तत्प्रत्यय–जैसे जीव आज मनुष्य भवमें है और मरकर देव बन गया तो बतावो वह अन्य हो गया या वही है? भव बदला, अवस्था पल्टी, इस अपेक्षासे तो अन्य है और जीव वही है, भोगने वाला भी वही है इस कारण वह एक है। यहाँ मरण हो जानेसे कुछ जल्दी समझमें आ जाता है–हाँ दूसरा हो गया और एक ही भवमें शरीर में रहता हुआ अवस्था पलटने पर भी तो अन्य कहा जाता है वह जरा देरमें समझमें आता है, पर पर्याय बदलनेकी अपेक्षासे ही तो अन्य अन्य कहा जाता, सो यहाँ भी वही बात और मरण होने पर भी वही बात। यों इस जीवमें नित्यपना अनित्यपना ये सब एक साथ रहते हैं।

ज्ञानीका धैर्य–भैया जिसको वस्तुस्वरूपका ज्ञान न हो तो उसके विकट अंधेरा होता है, जिसमें कुछ नहीं सूझता। अन्तर्ज्ञान स्पष्ट नहीं रहता। किंकर्तव्य विमूढ़ होता है, उसे साफ यह प्रतीत नहीं रहता कि मैं यह हूं और मुझे यों चलना है यों करना है और जिसके सम्यग्ज्ञान है उसके अन्तरङ्गमें स्पष्ट निर्णय है इस कारण वह किसी भी प्रकार की परिस्थिति आ जाय समस्त परिस्थितियोंमें वह अन्तःप्रसन्न रहता है। कहीं शास्त्रसभा रोज हुआ करती थी। पंडित जी वक्ता योग्य थे। श्रोता लोग शास्त्र बड़ी रूचिसे सुना करते थे। जो नियमित आने वाले श्रोता थे उनमें से एक श्रोता एक दिन आध घंटा लेट आया तो वक्ताने पूछा भाई तुम आज आध घंटा लेट कैसे आये? तुम तो कभी भी किसी भी परिस्थितिमें जल्दी आनेमें चूकते न थे। तो वह बोला महाराज आज हम एक महिमान को विदा करके आये, इसलिए देर हो गयी। सब लोग जान गये उसका कोई इकलौता पुत्र था, वही गुजर गया था, उसकी मरघटमें क्रिया करने गया था उसमें आध घंटेकी देर हो गयी थी तो कुछ ऐसे भी निर्मोह गृहस्थ होते हैं।

कर्तव्यविवेक–आनन्द तो निर्मोहतामें है, कभी भी अनुभव कर लो। यहाँ जितनी चतुराई माना करते हैं ममता करके, मोह बढ़ाकर, संचय करके, व्यवस्था बनाकर, कृपणता करके, अनुदारता करके, संचय करके जो बुद्धिमानी मानी जाती है, परमार्थ दृष्टिसे देखो तो वह बुद्धिमानी नहीं है, वह तो अपने आपकी बरबादी करनेकी करामात है। यह प्रभुवत् शुद्ध ज्ञानस्वरूप वाला अपना आत्मदेव अपनी दृष्टिमें न रहे तो यह सब संसारका भटकना चला करता है। वस्तुस्वरूपको जानें, अपने स्वरूपको पहिचानें और सबसे न्यारा अपनेको निरख कर अन्तः प्रसन्न रहें, इस ही में हम आपका कल्याण है।

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं,
नाभावमप्रति हतप्रतिभासरोधात्।
तत्वं प्रतिक्षणाभवत्तदतत्स्वरूप –
माद्यन्तहीनमाखिलं च तथा यथैकम्॥ १७३॥

आलम्ब्य तत्त्वकी जिज्ञासाका समाधान–वह तत्त्व क्या है जिस तत्त्वका आलम्बन करके इस जीवका उद्धार होता है। यह प्राणी मोह अंधकारमें नाना विपत्तियोंमें गड्ढोंमें भटकता फिरता दुःख पा रहा है। यह अपनी शान्तिके लिए बाहरमें कभी किसीका, कभी किसीका आलम्बन तकता है। जो चित्तमें आया, जिसके प्रति ममता जगी उसे ही अपना सर्वस्व समर्पण किया। कैसा यह अनन्त ज्ञानकी शक्ति वाला जीव है और अत्यन्त भिन्न अहित असार पदार्थोका आलम्बन करके यह दुःखी हुआ है। अब दुखहारी उस तत्त्वका वर्णन कर रहे हैं जिस तत्त्वकी दृष्टि इस जीवने अब तक नहीं पायी अथवा सम्यक्त्व नहीं हुआ। वह तत्त्व क्या है? हमारे लिए सारभूत तत्त्व हमसे बाहर न होगा। हम हीमें होगा। क्योंकि यदि मेरे लिए सारभूत तत्त्व यदि बाहर कहीं हो तो उसके आलम्बन से कभी कल्याया हो ही न सकेगा। क्योंकि वह पर है। परका और अपना एकरस हो जाना, यह असम्भव बात है, और जब तक भेद रहेगा तब तक इस जीवका उद्धार नहीं है। वह तत्त्व कौन है, उसके बारेमें इस छंदमें संकेत दिया है।

आलम्ब्य तत्त्व चित्स्वभाव–स्वहितार्थ आलम्बनके योग्य तत्त्व क्या है? सीधा कह दो चित्स्वभावमात्र है। अपने आपमें जो तरंग उठती है ये विभाव है, दुःखरूप है उसका आलम्बन हितरूप नहीं है। अपने आपमें जो विचार परसम्बंधमें चलता है वह विचार धोखेसे पूर्ण है, सही रास्ते का नहीं है। यदि सही रास्तेका विचार बने तो वह विचार अपने आपको नष्ट करके निर्विचार ज्ञानप्रकाशका कारण बन जायगा। ये समस्त तरंगें ये समस्त रंग ये जीवके हितरूप नहीं हैं। मेरा हितरूप मेरा सहज स्वतः शुद्धस्वभाव है। वह तत्त्व न तो सर्वथा अपरिणामी है और न क्षण-क्षणमें नष्ट होता हे, वह न बोध मात्र है, न भावस्वरूप है, न अभावस्वरूप है। उसमें जितनी दृष्टियां लगावो उतना ही उसका चमत्कार दिखता है, और अंततोगत्वा सर्वविकल्पोंसे शून्य एक चित्स्वभावपर इसका रूकना होता है।

निर्णय व निश्चयका उपाय अनेकान्त–अनेकान्त दृष्टिसे वस्तुका निर्णय होता है। अनेकान्तसे वस्तुके ज्ञानका प्रारम्भ होता है और अनेकान्त उस ही वस्तुका ज्ञान करके जो कुछ विकास बनता है वह विकासका अन्तिमरूप बनता है। अनेकान्तका अर्थ है अनेक धर्मोंको समझना अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध है। पहिले अनेक धर्मोंसे परीक्षा करके वस्तुके स्वरूप उपवनमें विहार किया और अन्तमें अनेकान्तका यह अर्थ बना–जहाँ एक भी तरंग, विकल्प अंश न रहे उसे अनेकान्त कहते हैं। अब ज्ञानकी परिपूर्णता होती है तब ऐसा ही अनेकान्त वहाँ विराजता है। यह आत्मतत्त्व द्रव्यदृष्टिसे सदा रहने वाला है और पर्याय दृष्टिसे यह क्षण क्षणमें परिणमन करने वाला है, अभूतपूर्व पर्यायको प्रकट करता है और पुरानी पर्यायको विलीन करता है।

आत्मतत्त्वकी झांकीका प्रयास–यह आत्मतत्त्व क्या नित्य है? हाँ समझमें आया कि नित्य है, पर दूसरी समझ फिर आयी कि अनित्य है। यह आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र है, किन्तु कोई पुरूष सर्वथा व अद्वैत ज्ञानमात्र मान बैठे कि इस जगतमें केवल एक तत्त्व है और वह ज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्रके अतिरिक्त अन्य कुछ लोकमें नहीं है। किन्तु ऐसा तो नहीं है। तब ज्ञानमात्र भी नहीं है व ज्ञानमात्र भी है। क्या यह आत्मा सत् रूप है? हां सत्रूप तो है ही लेकिन सत्मात्र ही हो तो आत्माके असाधारण आत्माका स्वभाव न रहनेसे आत्माका अभाव होगा। सत् तो सधारणतया सब हैं। हां हां सत्मात्र भी नहीं है। इस आत्मतत्त्वमें हम कुछ खूबियां निरखते हैं और वे ही खूबियां कुछ समय बाद गलत बन जाती हैं।

तत्त्वोपप्लव व शून्वाद–अनेकान्तपद्धतिसे मानो कहीं वनमें अनेक साधुवोंके बीच ऐसा ही वर्णन चल रहा हो वहां समझदार भी अनेक साधुजन बैठे हों। सुनते थे बारबार कि यह आत्मतत्त्व नित्य भी है, अनित्य भी है। यह आत्मतत्त्व एक है? नहीं। अनुभव दृष्टिसे अनेक है। हैं तो सभी बातें। और, उन सभी धर्मोंको जानकर फिर उनकी उपेक्षा करके एक चैतन्य प्रकाशका अनुभव करना था, किन्तु कुछ लोग इन सब बातोंको सुनकर इस निर्णय पर पहुंचने लगे -ओह ! तत्त्व कुछ नहीं है, बस इतना ही तत्त्व है। अब हमने जाना आत्माके बारेमें कि कुछ नहीं है। बस यही सारतत्त्व है। जब कोई समझदार किसी एक बातपर टिक नहीं सका और यह अनेकान्त एक बातपर टिकने भी नहीं देता तो उस समय यही ध्यान में आया कि कुछ नहीं है, यही तत्त्व है तो शून्य ही तत्त्व कहलाया। तत्त्व का बिल्कुल अभाव तो नहीं हुआ। शून्य ही तत्त्व सही। और शून्यको तो इतना महान् बताया है कि शून्यके सम्बंधमें बहुत घंटो बताया जा सकता है। और उससे फिर शिक्षा भी ली जा सकती है। लो अब यह साधु शून्य तक आया। कहीं कुछ चूक हो जानेसे जो कि अपनेको कुछ विदित भी नहीं होता। कहाँसे कहां दिमाग पहुंचता है?

सन्मात्र व ज्ञानमात्र–अनेकान्त पद्धतिसे वस्तुस्वरूपका वर्णन सुनते-सुनते कोई अब शून्य पर आया लेकिन थोड़े ही समय बाद उसे ही यह सद्बुद्धि उत्पन्न होती है कि शून्य हो, अभाव मात्र हो तब तो फिर यह जगत है क्या? शून्य तो नहीं है। यह सतरूप है, भले ही उसका असली रूप

नहीं आ पाता, सब स्वप्नवत् है पर मूलमें सत्तो है। लो यह सत् तक आया। इसके बाद फिर चिन्तन हुआ। मात्र सत् क्या चीज है। जिसमें यह सब समझ बनी रहे, ज्ञान व्यवहार चलता रहे, और तो क्या, ज्ञानको छोड़कर है भी क्या तत्त्व दुनियामें। कोई कहे कि यह भींत है। अरे भींतका ज्ञान है तो भींत है, ज्ञान न हो तो भींत क्या? कुछ भी है। ज्ञानमें आया तब है। न ज्ञानमें आया तो कुछ भी नहीं है। तो यह भी सबकुछ वास्तविक नहीं है। सब ज्ञानमात्र है। लो अब यह संत समझदार अब ज्ञानमात्र तक आया। लेकिन किसी एक जगह टिकना हो कैसे? टिकना होता है निर्विकल्प तत्त्वका। जहांसे फिर हटा नहीं जाता। और कदाचित् रागवश हट ले तो श्रद्धासे नहीं हटता। और उसको पूर्ण प्रमाणरूप अनुभव कर लेता है अब पदार्थके सम्बंधमें आंशिक बातों पर दृष्टि लगी रहे तो टिके कहां?

ब्रह्माद्वैत व चित्राद्वैत—थोड़ी ही देर बाद उस ऋषिको यह समझमें आया कि ज्ञानमात्र ही क्या? जब तक ज्ञेय न हो कुछ, तो ज्ञानका स्वरूप ही क्या बना? ज्ञानने क्या किया जानना? जानना किसका कहें? कुछ ज्ञेय हो तो ज्ञेय जानना होता है। तब यह ज्ञेयमात्रपर आया। अब वे ज्ञेय और ज्ञान दोनों होना भी चाहें और अलग भी न रहना चाहें तब वहां ब्रह्माद्वैत आया। अब यहाँ अद्वैतवाद रहा। सब कुछका तत्त्व कुछ नहीं है यहाँसे लेकर अब तक चित्तमें अद्वैत ही आया। और जब द्वैतकी ओर बुद्धि जाने लगी—बिना दूसरेके, अद्वैत क्या? द्वेत नहीं है तो लो अब द्वैत कल्पनामें आ गया फिर उसका अभाव है। तो यह समग्रद्वैत जो ज्ञानमें आता है, द्वैत मानकर भी अद्वैत ही रहा, ऐसी बुद्धि जगे उसका नाम चित्राद्वैत हुआ।

भौतिकवाद—अब जब वह चित्राद्वैत उपयोगमें आया तो अद्वैत कब तक टिक सकता है, अब सब यह दृष्ट होने लगा। और चार्वाक् के रूपमें सिद्धान्त आ गया। अजी साहब कुछ तो है। ये विषय साधन भोजन, परिजन, स्त्री, पुत्र सभी कुछ तो हैं। अब यह ऐसे भेदमें, अद्वैत में आया कि आत्मकल्याण और आत्माकी दृष्टि भी खो बैठा। जो कुछ ये भौतिक समागम हैं ये ही सब कुछ हैं। यह चर्चा ऐसे स्थलकी की जा रही है कि जंगलमें बहुतसे साधुजन ऋषिजन बैठे हों और कोई प्रधान वक्ता आचार्य अनेकान्त पद्धतिसे वस्तुस्वरूपका विवरण कर रहे हों, उस प्रसंगमें उस वर्णनको सुनकर कोई ऋषि किस-किस उपयोगमें पहुंचता है। अब असार अस्थिर बातों पर भी बुद्धि गई ऊब जाती है, तब दृष्टिमें आया कि केवल यही भौतिक ही नहीं किन्तु दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरूष। फिर अब भेद चला तो धीरे-धीरे दृष्टि बनती गई—कर्मयोग भक्तियोग आदि आदि। सब कुछ चलकर अन्तमें एक वैशेषिकवाद आ गया।

ज्ञानमूर्तिका चित्रण—लोकमें गणेशकी मूर्ति यों बनायी जाती है कि जिसकी सवारी तो है चूहा और कंधे पर हाथीको सूँढ़ फिट बैठी है, उस चित्रमें विलक्षण बातें दो हैं, हाथीका शिर मनुष्यके शरीरसे एकरस हो गया और वाहन चूहा है जो अचरज करने वाली बात दिखती है। क्या कभी कोई ऐसा व्यक्ति हुआ होगा जो चूहे पर चढ़कर सवारी करता हो? और क्या कोई ऐसा भी आदमी हुआ

होगा जो हाथीकी सूँढ़ वाला हो? ये कुछ मनमें वृत्तियां जग सकती हैं। इसमें विचार यहाँ थमता है कि वह एक ज्ञानकी पद्धति बतानेका चित्रण है, लोग भी गणेश को ज्ञानकी मूर्ति बताते हैं। जब विद्या प्रारम्भ की जाती है तो लोग श्रीगणेशाय नमः बोला करते हैं। और गणेश हुए भी वास्तवमें ज्ञानी पुरूष। यदि अरहंत भगवानके बाद नीचे किसी दूसरेको बताया जाय कि और कौन है ऐसा महान् पूज्य जिसकी एक-एक बात पूर्ण प्रामाणिक हो, तो आप ही कहेंगे कि प्रभुके बाद नीचेका कोई नम्बर है तो वह गणेशजी का है, गणधर जी का है। गणोंमें जो ईश हो सो गणेश। साधुवोंके समूहका जो मुख्य प्रधान हो उसका नाम गणधर है, यों लोक प्रसिद्धि हो गयी कि गणेश ज्ञानकी मूर्ति होते हैं।

ज्ञानमूर्तिमें ज्ञानपद्धतिका विकास–अब ज्ञानपद्धति देखिये–ज्ञान की पद्धति दो होती हैं–एक निश्चयनय और एक व्यवहारनय। निश्चयनयका काम है केवल एकको दिखाना। अद्वैत निर्विकल्प विषय होता है निश्चयका। और व्यवहारनयका काम है बड़ी सूक्ष्मतासे भेद कर करके उस वस्तुके खण्ड कर करके खूब समझ बनाना। बस निश्चयनयका प्रतीक तो है वह सूँढ़ जो उस पुरूष शरीरमें एकरस अभिन्न एक बन गया है। वहाँ अब यह भेद नहीं रहा कि यह मनुष्य है और यह सूँढ़ है, वहीं सब एक है। और व्यवहारनयका प्रतीक है वह चूहा। जो प्रकृति व्यवहारनयकी है वही प्रकृति चूहाकी है, जैसे व्यवहारनय किसी वस्तुके वर्णनमें चले तो उसके हर तरहसे टुकड़े करके, भेदकर करके, अंश बना बनाकर उसका अवगम कराता है। तो यह चूहा भी कपड़ा मिले तो कागज मिले तो उसे कुतर कुतर कर ऐसे छोटे टुकड़े कर देता है कि यदि आप कैंचीसे उतने बढ़िया छोटे टुकड़े करना चाहें तो नहीं कर सकते हैं। यह है व्यवहार नयका प्रतीक।

वैशेषिकवाद–यह निश्चय व्यवहारात्मकज्ञान उस बनस्थलीमें चल रहा है, उसको सुनकर ऐसी-ऐसी स्थितियां गुजरती हैं कि नाना प्रकार की वृत्तियाँ चित्तमें उत्पन्न होती हैं। लो अब यह वैशेषिकवाद तक आया, जिसका काम वस्तुके बहुत छोटे छोटे टुकड़े कर देना है सो वैशेषिक सिद्धान्तमें भी वस्तु अलग, द्रव्य अलग, गुण कर्म सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव–ये सब तत्त्व जुदे-जुदे माने गये हैं। हालांकि ये सब तत्त्व अपनी पृक्क पृथक् सत्ता नहीं रखते। केवल द्रव्य हैं। जो द्रव्यकी शक्ति हैं वह गुण है, जो द्रव्यकी परिणति है वह क्रिया है। जो अनेक द्रव्योंमें समानताका प्रदर्शक साधारण धर्म है वह सामान्य है। एक पदार्थसे दूसरे को जुदा बताने वाला जो धर्म है वह है विशेष। वर्णन करते समय द्रव्यकी इन गुण क्रियावोंको प्रमोजनसे जुदा-जुदा कहा जाता है पर वह है एक । इस एकताको बताने के लिए समवाय है। और चूँकि प्रत्येक पदार्थ तभी अपनी सत्ता रखता है जब उसमें दूसरे पदार्थका अभाव हो। लो यह अभाव बन गया। अलग-अलग क्या हुआ? कुछ नहीं, पर भेदवादकी उपदेश प्रकृति जब बुद्धिमें आयी तो ये सब भेद बन गये। यहां तक अनेकान्तका सुननेके प्रसंगमें बुद्धिने अपना नृत्य किया।

अनेकान्तमें बुद्धिकी व्यवस्थितता–अब अन्तमें जिस अनेकान्तको सुनकर बुद्धि भ्रम गयी थी। भ्रम भ्रमकर अब उस ही अनेकान्त पर बुद्धि आती है। आह ! ठीक है, पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। स्वरूपलक्षणकी दृष्टिसे ज्ञानमात्र है और समग्र द्रव्योंकी विशेषतावोंकी दृष्टिसे ज्ञानमात्र ही नहीं है क्योंकि यह आत्मा दर्शनरूप भी है आनन्दरूप भी है। यह आत्मा अभावरूप है। समस्त अनात्मतत्त्वोंका जो अभाव है वही तो आत्मा है। यह आत्मा भावरूप है। जो इसका सहजस्वरूप है वही तो आत्मा है। यह आत्मतत्त्व प्रतिक्षण वहीका वही होकर भी नाना रूप हो रहा है। इस आत्माका न कोई आदि है और न कोई अन्त है। ऐसा यह आत्म-तत्त्व भी अनेकान्तकी पद्धतिसे अब दृष्टि में आया। यही तत्त्व है आलम्बनके योग्य।

आलम्ब्य तत्त्वका बाह्यमें अभाव–घरमें, कुटुम्बमें अन्य पदार्थोंमें। इन मायामयी पुरूषोंमें, गांवोंमें, नगरोंमें किसी भी जगह सिर मारनेसे आत्माका कोई विकास नहीं बनता। आलम्बनके योग्य एक ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। अन्य जो कुछ भी प्रकृत्तियां हैं वे सब भटकनाएँ हैं। और इस परके लगावके फलमें अन्तमें धोखा ही होगा और खुद पछताना पड़ेगा। कैसा अमूल्य जीवन पाया था। ज्ञानमें समय लगाते, ज्ञान दृष्टि बनाते, सत्संग करते, भाव पवित्र बनाये रहते तो कुछसे कुछ विकास और उद्धार होता। यह दुर्लभ नरजीवन सफल कर लिया जाता। लेकिन कुछ न किया। आज मर रहे हैं। इस शरीरको त्याग कर जा रहे हैं। होगी ना ऐसी किसी दिन हम आपकी स्थिति? अब बतावो कि हम आप क्या यहाँसे लूटकर ले जायेंगे?

ज्ञानाश्रय बिना हानियां ही हानियां–अरे भैया ! यहांसे कुछ लूटकर साथ ले जानेकी बात तो दूर रही, उल्टा हम आप जो साथमें लाये थे उसे भी यहीं लुटाये जा रहे हैं। साथ कुछ धर्मवासना थी, कुछ निर्विकारता भी प्राप्त थी (बचपनमें निर्विकार तो थे ही) कुछ बुद्धि भी तीव्र थी। बड़ी बड़ी समस्याओंको सुलझाने, हल कर देनेकी सामर्थ्य थी। पढ़नेमें, काम काजमें जिस ओर चित्त चाहा उस ओर सफलतायें ही पायीं। बड़ी तीव्र बुद्धि भी थी। और बहुत कुछ विवेक भी रहा। समझदारी भी थी, लेकिन सबके सब हमने उनको पानीमें घोल डाला। सब व्यर्थ कर दिया। अब मैं जा रहा हूं। क्या लेकर जा रहा हूं। जो विभव कर्म किये उनका संस्कार व जीवनमें जो पापकर्म बांधा उन द्रव्यकर्मोंको साथ लिए जा रहा हूं। पाप कुवासनाएँ, कषायें ये सब संस्कार साथ लेकर जा रहा हूं। लाभ कुछ भी न उठाया। जड़ पदार्थोंमें अपना उपयोग सिर मार-मार अपनेको मूढ़ ही बनाया, पछतावा ही हुआ। आलम्बनके योग्य तत्त्व तो यह चित्स्वरूप है हर सम्भव प्रयत्नोंसे इस तत्त्वका आलम्बन करना अपना कर्तव्य है।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥

अच्युति और तृप्ति–अच्युत नाम भगवानका भी है। जो च्युत नहीं होते हैं, अपनी स्वभावमहिमासे गिरते नहीं है उन्हें अच्युत कहते हैं। अच्युतमें क्या दशा रहती है स्वभावके प्रति?

यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है और उस ज्ञानस्वभावकी प्राप्ति होना सो ही अच्युति है, जो पुरुष अपने स्वभावसे च्युत नहीं होना चाहते हैं स्वभावकी प्राप्ति चाहते हैं उन्हें चाहिए कि निरन्तर ज्ञानभावनाको भायें। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही हूं ऐसा अपनेको ज्ञानस्वरूपमें भाते रहना चाहिए इस उपयोगके प्रसाद से विकल्प हटेंगे और निर्विकल्प आनन्दकी प्राप्ति होगी। जैसे कोई पुरूष अपने धनका धनी बनकर अपनी प्रवृत्ति रखता है तो उसकी एकसी दशा रहती है। यह लौकिक दृष्टान्त है, और जो दूसरे के धनसेधनी बनकर अपनी प्रवृति करता है उसकी एकसी दशा नहीं रहती, ऐसे ही आत्माका जो सहजस्वभाव है उस सहजस्वभावके ज्ञान ही का स्वामी होकर रहता है वह तो तृप्त रह सकता है और जो परद्रव्यका स्वामी बनकर, अधिकरी बनकर अपनी प्रवृत्ति चाहता है वह तृप्त नहीं रह सकता है।

ज्ञानीका ज्ञान–ये सर्व पदार्थ जैसे हैं तैसे परिणमते हैं, मैं तो इनका जाननहार ही हूं ऐसी जिसके भावना जगे उसको अविनाशी अवस्था बनती है। जीवका जाननापना तो स्वभाव है, स्वभावका कभी भी अभाव नहीं होगा। जो पदार्थ है, उसका स्वरूप भी है। देखो जानन बिना तो यह किसी परपदार्थका भी स्वामी कल्पनामें नहीं बनता। जो जीव परद्रव्यका अपने को स्वामी मान रहे हैं उसमें भी जाननका ही तो प्रताप है। वह जाननसे ही तो ऐसा जान रहा है। जो पुरूष इन बाह्य अर्थोका स्वामी मानकर अपने ज्ञानपरिणमनका ही स्वामी मानता है वह परमार्थतः अपने ज्ञानका स्वामी है और वह निराकुल रहता है। अपने आप की अविनाशी अवस्थाको जो चाहते हैं वे एक ज्ञानस्वरूपकी ही भावना भाते हैं।

आत्मप्रतीतिकी धुन–जैसे लोकिक जन सोते, उठते बैठते अपने नाम की बड़ी श्रद्धा रखते हैं, मैं अमुकचंद हूं। ऐसी ही प्रतीति प्रायः सभी कार्योमें बनाये रहते हैं ये जीव। ऐसे ही ज्ञानी जीव अपनेको मैं ज्ञानमात्र हूं ऐसी प्रतीति निरन्तर बनाये रहता है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं ऐसी भावना में ही सर्वकल्याण बसा हुआ है। प्रत्येक जीव अपने बारेमें किसी न किसी रूप अनुभव करते हैं। पशु, पक्षी, अज्ञानी बहिरात्मा, अन्तरात्मा सभी अपने आपमें अपने आपकी किसी न किसी रूप प्रतीति बनाये रहते हैं। कोई यर्थाथ कोई अयर्थाथ प्रतीतिके बिना कोई परिणति भी नहीं चल सकती है। तो हम अपने आपको ऐसी प्रतीतिमें न रक्खें कि मैं अमुक गांवका हूं, अमुक कुटुम्बका हूं, अमुक घरका हूं, अमुक नाम वाला हूं। अपने आपको मूलतः ऐसी प्रतीति न बनाएँ यह सब तो जाल है, भटकन है। यह आज की बात है, पहिले तो न थी, आगे न रहेगी। यह सब मायाजाल है। इस रूप मैं नहीं हूं। मैं तो ज्ञान स्वभाव मात्र हूं, ऐसा जो प्रतीति में लेगा वह लाभ पा लेगा और जो इस प्रतीतिसे दूर होगा उसकी वह दशा रहेगी जो अब तक है।

मौलिक अन्तरकी आवश्यकता–भैया ! अपने आत्माकी प्रतीति किये बिना वास्तविक अन्तर नहीं आ सकता। जैसे बहुतसे धर्मार्थी पुरूष बहुत कालसे बराबर धर्ममें लगे हुए हैं। पूजा, पाठ, स्वाध्याय, समारोह, दान सभी बातोंमें बराबर ठीक सावधानीसे चल रहे हैं। किन्तु बड़ी अवस्था

हो जाने पर भी कुछ तृप्तिसी नजर नहीं आती, कुछ विशुद्ध आनन्द नजर नहीं आता। जैसे अन्य लोग जो धर्मकी प्रवृत्तिसे दूर रहा करते हैं जैसा दुःख वे मानते हैं वैसा ही दुःख यहां भी बना हुआ है। तो कुछ अन्तर न आया, कुछ शान्ति न मिली, सन्तोष न हुआ, इसका कारण क्या है? कारण यह है कि हमने अपनी प्रतीतिमें अन्तर न किया। शरीरकी क्रियावों में या अन्य व्यवहारमें अन्तर तो डाला, पर अन्तरङ्गमें मौलिक श्रद्धामें अन्तर न किया।

केवल ज्ञानके उपायकी भावना—मैं यह सब कुछ नहीं हूं। मैं तो केवल ज्ञान मात्र हूं। ऐसे ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी भावना जो करता है वह केवल ज्ञानकी अवस्थाको प्राप्त कर लेगा। उस स्थितिका भी नाम केवलज्ञान है। और यहां भी केवल यानी सिर्फ ज्ञान मात्रकी ही भावना करनी है। यह विवेकी पुरूष इसी अन्तर्योगको करता रहता है। कितनी स्वाधीन बात है। आप हैं, आपका मन, आपका विचार सदा आपके पास है। यहां बैठें, घर में बैठें, दुकान में बैठें, जंगल में बैठें, कहीं भी आप हों तो अपने ज्ञानस्वरूप की भावना करनेमें कौनसी दिक्कत है? ये धन वैभव सम्पदा परिजन तो जहां के तहां हैं। इनसे मेरे आत्माका कुछ सम्बंध नहीं है। ऐसी भावना जहां कहीं भी हो, कर सकते है। पर यहां तो कल्पनावोंमें समय गुजारा जा रहा है।

क्षणिक जीवनके सदुपयोगकी प्रेरणा—यह जीव यहाँ क्या कर रहा है? प्रतिक्षण मरण हो रहा है उसपर दृष्टि ही नहीं है। दो प्रकारके मरण होते हैं—एक तद्भवमरण और एक आवीचिमरण। तद्भवमरणको तो लोग मरण कहा करते हैं किन्तु जो समय गुजारा उस आयुका निषेक ही तो गया वह आयुका क्षण ही तो निकल गया। वह आवीचिमरण है। प्रति क्षण हम मरते जा रहे हैं। जो आयु निकल गयी, मर गयी वह आवीचिमरण है। तद्भवमरण कैसा है? जैसे हम आपके ये ४०, ५०, ६० वर्ष यों ही चुटकीमें निकल गये, कुछ पता नहीं, तो बाकी जो थोड़ा समय रह गया वह भी चुटकीमें ही निकल जायगा। ऐसा जो अन्तिम मरण होता है वह तद्भवमरण है। इस रहे सहे समयका सदुपयोग करना है तो अपने आपको मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य सब तो माया जाल है इस भावनाको बारबार भाते रहो। इस भावनाके ही प्रसादसे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। इस भावनाका भाना हम आप सभीका परम कर्तव्य है।

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाध्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते॥ १७५॥

ज्ञानका वास्वतिक फल—किसी भी काम करनेका कुछ न कुछ फल माना जाता है, बिना फलके कोई कुछ करना ही नहीं चाहता। आखिर इसमें लाभ क्या मिलेगा, यह दृष्टिमें न हो तो कौन क्या काम करता है? यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। इसका जाननेका लगातार काम लगा हुआ है। किसी भी क्षण यह जाननेसे विराम नहीं लेता। तो यों जानते रहनेमें आखिर फल क्या मिलता है? आचार्यदेव बोलते हैं कि ज्ञानमें तो यही प्रशंसनीय फल है। अविनश्वर फल है कि ज्ञान बने। जाननेके फलमें जानना रहे यही उत्तम अविनश्वर फल है। जानन फलमें अन्य कुछ

जाननमें न लावें। अन्य कुछ ज्ञानका फल चाहें तो यह सब मोहका माहात्म्य है। सीधे सादे तो जाननेके फलमें जानना रहे यही उत्कृष्ट फल है।

ज्ञानका प्रशंसनीय फल–जैसे शास्त्रके आधारसे जाना, सम्यक्ज्ञान किया तो तत्काल तो यह फल मिला कि पदार्थोंका हमें यथार्थ ज्ञान हुआ और संततिसे परम्परासे यह फल मिलेगा कि केवल ज्ञान होगा, उस समय में समस्त पदार्थोंका जानना होगा। यों ज्ञानका फल ज्ञात ही है और यही फल वास्तवमें प्रशंसाके योग्य है, क्योंकि केवल जानन बना रहनेसे निराकुलता रहती है। निराकुलता ही सुखका लक्षण है। सुख वास्तवमें यही है जो स्वाधीन हो और अविनश्वर हो, इन दो बातोंको देख लीजिए ये वैषयिक सुख चेतन अचेतन बाह्य पदार्थोंका आश्रय करके कल्पनामें माने हुए सुख पराधीन हैं और विनाशीक सुखकी चाह न रहे।

वैषयिक सुखोंकी दुःखकारिता–वैषयिक सुखोंमें सुख भी वास्तवमें नहीं है। दुःखको ही सुखकर माना है, जैसे खाज शरीरमें हो जाय तो उसकी खुजान बड़ी भली लगती है, प्रायः करीब-करीब कुछ न कुछ सभीको कुछ न कुछ खाज हुई होगी और अनुभव होगा। खाज खुजानेके समय दुनिया की सारी बातें भूल जाते हैं, एक चित्त होकर हाथ पैर एकदम टन्नाकर खाज खुजलाते हैं। उस समय खाजमें ही चित्त रहता है। खाज बड़ी भली लगती है, पर उसके फलमें पीछे बहुत वेदना बढ़ती है, इसी प्रकार मोहवश काम, क्रोध आदिक कुछ कषायें आत्मामें बनती हैं तो हमें बाहरी पदार्थ चेतन अथवा अचेतन बड़े भले मालूम होते हैं। कामवासना वालेको स्त्री पुरूष भले मालूम होते हैं। क्रोध वालेको लाठी शस्त्र ये बड़ी भली मालूम होती हैं, मान वालेको स्थान या नाना बातें ये बड़ी भली मालूम होती हैं। लोभ वालेको वैभव भला मालूम होता है। इन चेतन अचेतन तत्त्वोंको यह मोहवश चाहता है, लेकिन इसका अन्तिम फल क्या है? केवल आकुलता।

ज्ञानके फलमें अज्ञानको चाहनेकी दुर्बुद्धि–भैया ! दुर्बुद्धिके काम करने के मौजोंकी सब कसर एक साथ निकल आती है। जैसे कोई रोज रोज सादा भोजन करे तो महिने भर बराबर रोज भोजन कर सकता है और कोई आसक्तिसे दो चार दिन खूब पौष्टिक भोजन करके हलुवा पूड़ी आदि पेट भर खाये (एक तप होता है ऊनोदर और इसके एवजमें लोग करते हैं दूनोदर) तो फिर १५ दिन तक मूंगकी दालही खाकर रहना पड़ेगा। लगा लो हिसाब, दोनोंका हिसाब एकसा ही बैठता है। इन वैषयिक सुखोंके कुछ क्षण भोगनेके बाद फिर पछतावा ही रहता है या अन्य-अन्य अलाभ, चिन्ताएँ शल्य ये सब भोगने पड़ते हैं। पर जो ज्ञान के फलमें जो ज्ञानका ही प्रयोजन रखते हैं उनको कोई आपत्ति नहीं आती। ज्ञानी जन तो ज्ञानके फलमें जाननेके सिवाय कोई अन्य कुछ फल चाहें तो उसमें आश्चर्य किया करते हैं, जैसे किसी पुरूषको कोई भूत लगा हो या चित्तकी अस्थिरता बन गयी हो तो उसकी चेष्टा आश्चर्यकारी होती है, ऐसी मोही जीवोंकी चेष्टा ज्ञानीजनोंको आश्चर्यकारी विदित होती है। ओह ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि ये संसारी जीव ज्ञानके फलमें ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ भी चाहा करते हैं। अन्य कुछ चाहना यह हितकारी बात नहीं है।

शास्त्रग्नौ भणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्मलः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मलीवा भस्म वा भवेत्॥ १७६॥

भव्यकी विशुद्धिऔर अभव्यकी मलिनता–एक तो होती है मणि और एक देख लो कोयला। आगमें मणि डाल दो तो उसमें चमक और बन जायगी और कोयलेको आगमें डाल दोंगे तो उसमें राख बनेगी, ऐसे ही भव्य पुरूष शास्त्रकी अग्निमें तपते हैं, ज्ञानकी अग्निमें तपते हैं तो ये भव्य विशुद्ध बन जाते हैं, प्रभु जो जाते हैं और अभव्यपुरूष कोयलेकी तरह हैं। भले ही ये किसी तपस्यासे तप लें मगर उनके विशुद्ध पवित्रता नहीं बढ़ती है। वे भस्मकी तरह मलिन ही बनते हैं।

अज्ञानियों द्वारा ज्ञानियोंकी नकल–समयसारमें कहा है–कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्–एक अभागे पुरूषने सोचा कि हमारा पड़ौसी यह सेठ कैसे धनी हो गया, क्या कर रहा है यह, जरा इस बातको देखें। जो यह करता है सो हम करें, हम भी धनी बनें। तो एक बार वह सेठ चावल के मिलपर धान खरीदने गया। वह अज्ञानी भी उसके पीछे चला। उस सेठने १०-५ गाड़ी धान खरीद लिया और गाड़ी लदाकर दूसरे बाजार में ले जाकर बेच दिया। वह अज्ञानी दूरसे देखता रहा कि यह कैसे क्या करता है? दो तीन दिन बाद, वह भी उसी मिलपर पहुंच गया। तो कुछ ऐसे धानके मिल होते हैं कि जहाँ धानमें से चावल निकल जाते हैं और छिलका धान जैसा पूराका पूरा निकल आता है, जिसे भुसी कहते हैं। उस भुसीको ही उसने कई गाड़ी खरीद लिया, अब उसका क्या होगा सो आप जानते ही हो। ऐसे ही ये ज्ञानी पुरूष क्या किया करते हैं? जिसके प्रसादसे ये तृप्त रहा करते हैं। पूज्य होते हैं और उत्तम पद प्राप्त करते हैं? किया क्या करते है? अज्ञानी ने देखना चाहा तो बाहरी प्रवृत्ति तो उसे दिखी, पर अन्तरङ्गमें ज्ञानीका कैसा परिणमन हो जाता है इसका उसे क्या भान? यो चलते है, यों बैठते हैं, यों खाते हैं, यह सब अज्ञानी ने देखा और उस ही को धर्म मानकर वह भी उसी भेषसे उसी रूपममें खाने पीने उठने, बैठने, चलने लगा। पर जैसे भीतरके चावलका मर्म न जानने से केवल छिलका खरीदने से धनी तो नहीं बना जाता यों ही अन्तरमर्मका ज्ञान न होनेसे केवल बाहरी क्रियावोंसे शान्तिपथ प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानी और अज्ञानीकी वृत्तिसे हितशिक्षण–ये भव्य जीव ज्ञानाग्निमें तपकर विशुद्ध हो जाते हैं और ये अभव्य जीव शब्द मात्रसे व्यवहार धर्मके श्रमसे तपकर मलिनके मलिन ही बने रहत हैं, जो कुछ थोड़ा पुण्यवश लोक दृष्टिमें दिव्य सुख मिल जाता, यहाँ उसे कुछ नहीं गिना गया। ये तो सांसारिक लाभ होते हैं थोड़े-थोड़े फर्क वाले। हमें चाहिये कि हम अपनी शुद्ध प्रतीति बनानेमें अधिकाधिक यत्न करे मैं ज्ञानमात्र हूं ऐसी प्रतीति बने तो वहाँ धर्म मार्गमें हमसे भूल नहीं हो सकती।

मुहः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीति निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥ १७७॥

सम्यग्ज्ञानके प्रसारसे राग द्वेषका निराकरण–अध्यात्मवेदी मुनि सम्यग्ज्ञानको बार-बार पसार कर अर्थात् सम्यग्ज्ञानका फैलाव करता हुआ जितने ये पदार्थ फैले हुए हैं अर्थात् पदार्थोंका

विज्ञान करते हुए प्रीति और अप्रीतिका निराकरण करते हैं, राग और द्वेषसे दूर रहते हैं जिन्हें आत्मतत्त्वका सुबोध हो गया है उन्हें पहिले तो आगमसे अनुमानसे जीवात्मकतत्त्वका निश्चय हुआ। फिर यथार्थ श्रद्धान् हुआ। फिर जिस प्रकार राग और द्वेष न हों उस प्रकार बाह्य साधन बनाया, अन्तरङ्ग विचार बनाया और इस प्रकारकी रत्नत्रयरूप प्रवृत्तिसे राग द्वेषका नाश करें तब सिद्ध होते हैं।

ध्यान सिद्धि–ध्यान नाम है उपयोगकी स्थिरताका जिसके उपयोग के विषय विषयसाधन बने हुए हैं तो चूँकि ऐसी ही प्रकृति है कि विषय साधनोंका सेवन करके जो उपयोग बनता है वह उपयोग मूल आधारवान् न होने के कारण डावाडोल रहा करता है। किन्तु जो पुरूष यथार्थ श्रद्धान् करके प्रयोजनभूत उपादेयभूत निज सहज अन्तस्तत्त्वका उपयोग करते हैं तो चूँकि यह उपयोग स्वाश्रित है इस कारण यह उपयोग निश्चल रहता है। उपयोगकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है यह उपयोग निश्चलता यथार्थ ज्ञानसे ही होती है। यथार्थ ज्ञान करनेके लिए ज्ञानका विस्तार बनाना होता है। जो पदार्थ जैसा है राग द्वेषकी वासनाका आधार तज कर उन्हें जानें तो ज्ञानका विस्तार बनता है। इस ज्ञानका प्रसार करके, फैला करके जो पुरूष राग द्वेषका निराकण करता है वह ही वास्तविक ध्यान करता है। वहाँ एक यह अंदाज कर लो कि जब ज्ञान संकुचित रहता है तो राग द्वेषकी प्रवृत्ति बनती है। किसी एक पुरूषमें, स्त्रीमें, मित्रमें, इष्टजनमें जब ज्ञान संकुचित हुआ वहाँ राग द्वेष बना। यह ज्ञान एकमें ही न रूके, सब पुरूषोंमें फैले, सबको विषयभूत बनाये तो वहां राग द्वेष फिर प्रसार नहीं रहता।

योगी संतोंका यत्न–ये योगी संत जो राग द्वेषके निराकरणके यत्नमें हैं। उनके ज्ञानका प्रसार होता रहता है। और कभी जब केवल आत्मा कह ही ध्यान करते हैं, समस्त परको विषय न बना कर एक आत्मतत्त्वका ही ध्यान करें उस कालमें भी उनका ज्ञान उनके उपयोग में व्यक्त नहीं है फैला हुआ, फिर भी वह फैला हुआ है। आत्मनुभवकी स्थितिमें यह ज्ञान सहज फैला हुआ रहता है। यह आत्मानुभूति कैसी विलक्षण स्थिति है कि उपयोग विषय तो कर रही है आत्माका पर प्रकृत्या चूँकि वह निर्भार उपयोग है शुद्ध, स्वच्छ है, तो वह स्वभावतः फैला हुआ रहता है। और उस फैलावमें एक सामान्य प्रतिभास रहता है। जो चीज निर्भार होती है, उसका फैलाव बहुत बड़ा होता है। भार वाली चीज का विस्तार थोड़ा होता है।

निर्भारके प्रसारका दृष्टान्त–यह पृथ्वी भार वाली चीज है और पृथ्वीकी अपेक्षा जलमें भार कम है तो इस मध्यलोकमें देख लीजिए पृथ्वीसे जलका भाग कई गुणा अधिक है। जो लोग बच्चोंकी दुनिया मानते हैं वे लोग भी जल प्रदेशको अधिक बताते हैं और सैद्धान्तिक लोग, धार्मिकजन भी जलभागको अधिक बताते हैं। जितना स्वयंभूरमण समुद्र है, जितने भागको लिए हुए वह जलसमूह है। उससे आधेमें असंख्यात द्वीप समूह बसे हुए हैं तो समझ लीजिए कि पृथ्वीसे जल भाग अधिक है, क्योंकि जल पृथ्वीकी अपेक्षा निर्भार है, और हवाकी अपेक्षा आकाशका विस्तार बहुत ज्यादा है क्योंकि आकाशमें भार ही नहीं है। जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही अधिक फैला हुआ होता

है। आकाशसे भी अधिक फैला हुआ ज्ञान होता है। जितना आकाश है उसे भी केवलज्ञान जान लेता है, अन्य समस्त द्रव्योंको भी जान लेता है और जितना जाना है उससे भी अनन्त गुणा आकाश लोक हो तो सबको यह केवलज्ञान जान लेगा।

आत्मानुभूतिमें ज्ञानकी निर्भारता–प्रकरणमें आत्मानुभूतिकी बात कही जा रही है, आत्माके ज्ञानस्वरूपका जो अनुभव करे वह ज्ञान निर्भार है और विषय यद्यपि केवल निजको कर रहा है, फिर भी स्वभावतः विलक्षण पद्धतिसे बहुत फैला हुआ है, जिसकी सीमा भी नहीं कूदी जा सकती। विलक्षण ढंगसे फैला है, जिसमें दृढ़तासे यह भी नहीं कह सकते तो बतावो किस पदार्थको जाना? उसमें विकल्प ही नहीं, फिर भी केवल आत्मामें ही वह संकुचित नहीं है। योगी पुरूष इस सम्यग्ज्ञानको जैसा जो पदार्थ स्थित है, जहाँ तक है प्रायः वहाँ तक फैला देते हैं, और इन रागद्वेषोंको सुखाते हैं। भीगी धोती को खूब फैला दो तो जल्दी सूख जायगी और धोकर ऐसे ही धर दो तो कुछ दिन सूखनेमें लगेंगे। इस ज्ञानको लोकमें फैला दो तो रागद्वेष सूख जायेंगे और इस ज्ञानको कुछ परिजनोंमें, मित्रजनोंमें संकुचित कर दिया तो उसमें रागद्वेष ही बसेंगे। ये ज्ञानी पुरूष इस ज्ञानको बहुत-बहुत फैला करके राग और द्वेषका निराकरण करते हैं।

वेष्ठनोद्वेष्टने यावत्तावद्गान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिवरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥ १७८ ॥

कर्मोंके वेष्ठन और उद्वेष्ठनका परिणाम–जैसे दही मथनेकी मथानीमें जो रस्सी लगी रहती है उस रस्सीका एक भाग खुलता है तो दूसरा भाग लिपटता है। दोनों हाथोंमें रस्सी है। उस रस्सीका खुलना भी मथानी की आफतके लिए है और लिपटना भी मथानीकी आफतके लिए है। वह मथानी घूमती रहेगी। ऐसे ही हम आप या संसारीजनोंके ये कर्म बँधते हैं और कर्म मिटते भी हैं। याने उदय उदीरणा भी करते हैं। तो इन कर्मोंका निकलना भी आफतके लिए है और इन कर्मों का बँधना भी आफतके लिए है। मथानीमें रस्सी जो खुलती है वह बेअटक सम्बंध तोड़कर खुल जाय तो मथानी न नाचेगी, पर अटक सहित खुलती है। ऐसे ही जीवके ये कर्म हैं। इनकी बेअटक निर्जराकी अवस्था बन जाय तो वह जीवके कल्याणके लिए है किन्तु ऐसा न निकलकर उदय और उदीरणाके रूपसे निकलते हैं। तो यों समझिये कि कर्मोंका यों निकलना दुःखके लिए है उस निकलनेसे तो भला बँधे रहना था। जब तक कर्म जीवमें सत्ता रख रहे हैं उनकी वजहसे जीवका बिगाड़ नहीं है, रूके हैं, पर वे कर्म जब निकलते हैं याने उदयको प्राप्त होते हैं तब क्लेश भोगनेमें आता है।

अहितपूरक कर्मोंका आगमन व निर्गमन–निकलना और उदय होना एक ही बात है। कभी कभी आप यह भी तो कहते हैं कि सूर्यका उदय हो रहा है और कभी आप यह भी कहते हैं कि सूर्य निकल रहा है तो निकलना और उदय होना एक ही अर्थ रखता है। तो ये कर्म जब निकलते हैं तो आफतसे कारण बनते हैं उदय अथवा उदीरणा, सो जब तक वेष्ठन और उद्वेष्ठन होता है,

बँधना और निकलना होता है, बंध और उदीरणा होती है तब तक संसारसमुद्रमें इस जीवका भ्रमण चलता है। जैसे कि मथानी की रस्सीमें लपेटना और निकलना होता है तो वह मथानीके भ्रमणके लिए ही होता है। संसारी जीवोंकी दशाका इसमें चित्रण किया है। बँधना और ऐसे उदय उदीरणाके रूपसे निकलना इसकी जो एक पद्धतिसी बनी हुई है उस पद्धतिका जब तक अनुभव नहीं होता तब तक इस जीवकी शुद्ध दशा प्रकट न होगी। कर्मोंके निकलनेसे अर्थात् उदय होनेसे ये रागादिक भाव हुए और रागादिक भाव होनेसे कर्म बँधे। फिर कर्म उदयमें आ गये, इस पद्धतिसे जीवका संसारमें भटकाना ही बना रहता है।

मुच्यकानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोतथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनप् ॥ १७९ ॥

निर्जरणकी द्विविधता–जैसे मथानीकी डंडीमें रस्सीकी फांसी लगी है तो उसका खुलना दो प्रकारसे होता है–एक तो ऐसा खुलना जिससे वह नवीन बंध हो इससे उस मथानीमें परिभ्रमण ही होता है, और एक ऐसा खुलना होता है जिससे कि नवीन बंध बिल्कुल न हो, खोलकर ही अलग धर दें। दही मथ जानेके बाद उस रस्सीको खोलकर बिल्कुल ही आगे रख दें तो इससे उस मथानीका भ्रमण नहीं होता। उसकी फांसीसे मुक्ति हो जायगी। इसी प्रकार संसारमें इस जीवके कर्मकी फांसी पायी जाती है, सो उसका निकलना दो तरहसे हो रहा है। एक तो ऐसी निर्जरा चलती है कि जिस निर्जराके कारण नया बंध होता रहता है। उदय नाम निर्जराका है। जो कर्म बँधा है समय पाकर निकले इसको कहते हैं निर्जरा अर्थात् उदय। ऐसे झरनेसे तो और नया बंध होता है, फिर संसारमें भ्रमण चलता है और एक ऐसी निर्जरा होती है कि जिससे नवीन बंध तो होता नहीं और निर्जरा हो जाय तो ऐसी निर्जरासे फिर संसारमें भटकना नहीं होता, इसमें कर्म फांसीसे मुक्ति ही हो जाती है। इसे कहते हैं अविपाक निर्जरा। अपना फल देकर कर्मका झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा तो अहित करने वाली है और जो अविपाक निर्जरा है, फल न दे, नवीन कर्म न बँधें और निर्जरा हो जाय उससे आत्माका हित होता है।

आशयकी विशुद्धिमें आत्मलाभ–भैया ! हमारी बेसुधीमें हम सावधान नहीं हैं ऐसी स्थितिमें यह होता है कि कर्म तो समय पाकर आते हैं। उदय में निकलते हैं। उस उदयका निमित्त पाकर विभाव बनते हैं, नवीन कर्म बँधते हैं और जकड़ाव होता है। हमारा आशय विशुद्ध हो। संसारके किसी पदार्थकी अन्तरङ्गसे इच्छा न हो तो उसके अविपाक निर्जरा होती है। ज्ञानीका ऐसा स्पष्ट ज्ञान रहता है कि जिसमें सहज वैराग्य बसा होता है। ये समस्त परपदार्थ भिन्न हैं, अहित हैं, वे अपने ही चतुष्टयसे परिणमते हैं, उनका जो कुछ जैसा परिणमन है वह उनका उनमें है। हम अधिकारी नहीं। कोई पुरूष परपदार्थका जबरदस्ती अधिकरी बनना चाहे तो उसे अधिकार तो नहीं मिलता, परवशता जरूर बनी रहती है। ज्ञानी जीव ने समस्त पदार्थोंको उनके ही स्वतंत्र स्वरूपके रूपमें निरखा है, इस कारण इस यर्थाथ ज्ञाताको व्याकुलता उत्पन्न नहीं होती।

दृष्टिके अनुसार सृष्टि–भैया ! अपना कल्याण अपना भविष्य अपने ही हाथ है। जैसा आशय बनायें इस ओर यह नाव चले। जैसे जिस ओरके लिये करिया घुमाया उस ओर ही नाव चल बैठती है, ऐसे ही जिस प्रकारका आशय बना उस प्रकारकी ही सृष्टि होती चली जाती है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपना अभिप्राय विशुद्ध रक्खें, विषयजालमें न फँसें। यह जीव विकारभावोंमें रूचि न करे, यथार्थ ज्ञान जो पाया है उसका लाभ उठाये, रागद्वेषकी प्रवृत्ति न हो तो इस जीवको इतनी प्रसन्नता होगी, इतनी निराकुलता होगी कि वह स्वाधीन शुद्ध आनन्दको भोगेगा, यही मात्र एक अपना कर्तव्य है। अब अपने कर्तव्य से विमुख न हों, अन्यथा ये सब क्षण निष्फल होंगे।

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्युवृत्तिभ्याम्।
तत्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥

बंध व मोक्षकी साधिका प्रवृत्ति व अप्रवृत्ति–इस जंतुकी जन्मते भटकने वाले जीवकी जो प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है वह राग और द्वेषके वशीभूत् होकर होती है। किसी काममें लगेंगे तो रागद्वेषसे लगेंगे और किसी को छोड़ेंगे, उससे हटेंगे तो भी रागद्वेषके कारण हटेंगे। रागद्वेषकृत ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे बन्ध होता है। किन्तु और तत्त्वज्ञान जागृत हो और उस तत्त्वज्ञानकी स्थितिमें जो प्रवृत्ति और निवृत्ति हुई उससे इस जीवका मोक्षमार्ग चलता है। तब महात्म्य किसका हुआ? अन्तरङ्ग आशयसे तत्त्वज्ञानका माहात्म्य हुआ। इस तत्त्वज्ञानके प्रसादसे इसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति मोक्षके लिए बन जाती है।

तत्त्वज्ञानके आश्रयका परिणाम–धर्मपालनमें मुख्य आश्रय तत्त्वज्ञान का है। दया, भक्ति परोपकार परसेवायें ये समस्त बातें पुण्यबंधके लिए हैं, पर संसारसे छुटकारा होनेकी बात तत्त्वज्ञानमें ही बसी हुई है। जो पदार्थ जिस रूपसे है स्वतंत्र है, भिन्न है, अपने स्वरूप रूप है। जैसा है उसे वैसा ही जानना। इस ज्ञानमें ऐसा प्रभाव है कि इस ज्ञानीके परम उपेक्षा हो जाती है। तो यह वैराग्य तत्त्वज्ञानसे ही तो हुआ, अब उस ज्ञानकी स्थितिमें जो प्रवृत्ति हो और जो अप्रवृत्ति हो उससे मोक्ष सिद्ध होता है। जिस रूपमें बन करके यह जीव प्रवर्तित हो, उसका तो नाम प्रवृत्ति है और जिस रूप होकर न प्रवर्ते यह जीव उसका नाम अप्रवृत्ति है। मोहका उदय हुआ, रागद्वेष भाव बने तो वहाँ अशुभ कार्यकी प्रवृत्ति होगी और शुभ कार्योंकी अप्रवृत्ति होगी। वहां इस जीवको बन्धन ही है। और कदाचित् शुभकार्योंमें प्रवृत्ति भी हो और अशुभ कार्योंकी अप्रवृत्ति भी हो लेकिन आशयमें रागद्वेष बसा है तो भी बंध होगा। हाँ आशय शुद्ध हो, मोह क्षीण हो, ज्ञान बने, उससे ज्ञानमात्र शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति होती है और अशुभोपयोगकी अप्रवृत्ति होती है। ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें मोक्ष बसा है।

तत्त्वज्ञानका अनुरोध–कल्याणप्राप्तिमें सर्व माहात्म्य तत्त्वज्ञानका है, ज्ञानके बिना शान्ति नहीं हो सकती। और ज्ञान वही है जो सब पदार्थों को उन उनके स्वरूपमें ठहरे हुए स्वतंत्र-स्वतंत्र निरखे। ऐसे ज्ञानसे रागद्वेष मोहका प्रसार नहीं होता। जहाँ रागद्वेष मोहका अभाव हो वहां इस जीवकी स्वयं ही निराकुलता प्राप्त होती है। अपनेको जानो और ज्ञानमात्र अनुभव करो, इसमें ही कल्याणका मार्ग बसा हुआ है।

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तद्द्वयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥ १८१ ॥

उपयोगकी त्रिविधता—गुणोंमें द्वेष और दोषोंमें प्रेम करनेकी बुद्धि पापको उत्पन्न करती है और उससे विपरीत अर्थात् गुणोंमें प्रेम और दोषों में द्वेष करनेकी बुद्धि पुण्यको उत्पन्न करती है। और जब ये चारों प्रकारके विकल्प नहीं रहे। ऐसी शुद्ध परिणति हुई तो वह मोक्षको आविर्भूत करती है। बुद्धि उपयोगका नाम है। उपयोग तीन प्रकारके होते हैं—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। गुणोंमें द्वेष होना, दोषोंमें प्रेम होना ही तो अशुभोपयोग है। गुणोंमें प्रेम होना, दोषोंमें द्वेष होना यह शुभोपयोग है और जहाँ ये समस्त विकल्प ही नहीं हैं। केवल जाननहार स्थिति है वहाँ होता है शुद्धोपयोग।

अशुभोपयोग व शुभोपयोगका विवरण—जिस परिणतिसे आत्माका कल्याण होता है उस परिणति का नाम गुण है। यह चरणानुयोगकी चर्चा है। कोई यहाँ द्रव्य गुणपर्यायसे प्रयोजन नहीं। आत्मकल्याणकारी वृत्तियोंमें प्रीति होना वह सब शुभोपयोगका ही लक्षण है। दोष नाम है आत्माके कल्याण करने वाले परिणमनका। पाप व्यसन कषाय विषय आदिक जो बुद्धि है वे सब दोष हैं। जिसको सीधे शब्दोंमें यह कहें कि धर्मरूप भाव तो गुण है और अधर्मरूप भाव दोष है। जो धर्मका विरोध करे वह दोष है। जो धर्मकी साधना कराये वह गुण है। तो जिसकी गुणों में प्रीति हो, धर्मसाधक भाव सुहावने लगें और धर्मविरोधी भाव, विकारी भाव ये असुहावने लगें वह अशुभोपयोग है यह तो अपनी बात है और अन्य मनुष्योंमें जो कि गुणवान हैं, धर्मरूचिया हैं उनमें अनुराग जगे और जो धर्मके विरोधक हैं उनसे अपेक्षा जगे तो यह है शुभोपयोग। इसी प्रकार अपने बारे में गुणरूप परिणामोंसे तो द्वेष हो और द्वेषरूप परिणामोंसे प्रेम हो। अपने विकार, पतन, विषय, इच्छा, पाप भले लगें और उन पाप क्रियावोंको करता हुआ अपने को बुद्धिमान माने, हम बड़े चतुर हैं, हम इस तरह दूसरेकी आँखमें धूल झोंक कर पैसा कमा लेते हैं आदिक किसी भी प्रकारके अन्यायमें, अनाचार में, दोषमें बुद्धिमानी माने वे सब अशुभोपयोग हैं। गुणियोंमें द्वेष माने व दोषवानोंमें प्रेम, राग माने वे सब अशुभोपयोग हैं। अशुभोपयोगसे पाप होता और शुभोपयोगसे पुण्य होता है।

शुद्धोपयोगकी उत्कृष्टता—भैया! उत्कृष्ट चीज तो शुद्धोपयोग है जहां कोई विकल्प तरंग न उठे। केवल ज्ञाताद्रष्टाका परिणाम रहे, वह शुद्ध निर्मल स्थिति शुद्धोपयोग है। यों उत्कृष्ट तो शुद्धोपयोग भाव है किन्तु ऐसे शुद्धोपयोगकी हमारे पात्रता कब जगे, जब हम पापोंसे दूर हों और हमारी पुण्यकी प्रवृत्ति हो। अशुभोपयोगके बाद किसीको शुद्धोपयोग नहीं होता, न हुआ है, न होगा। जिन्हें भी शुद्धोपयोग हुआ है शुभोपयोग पूर्वक हुआ है। शुभोपयोग ऐसे पात्रता बनाये रखता है कि उसमें शुद्धोपयोगकी किरण जग सकती है। जहां अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनों नहीं रहते वहां मोक्ष है। जहां अशुभोपयोग है वहां पाप है। जहां शुभोपयोग है वहां पुण्य है।

शुभोपयोगीकी पात्रता–देखिये प्रेम और द्वेषकी बात शुभोपयोगमें भी जगी किन्तु अशुभोपयोग में भी जगी इस दृष्टि से दोनों अशुद्धोपयोग हैं, फिर भी शुभापयोग और अशुभोपयोगमें ऐसा अन्तर समझिये जैसे कि दो पुरूष किसीके इन्तजार में खड़े हैं, उनमेंसे एक तो तेज धूपमें खड़ा-खड़ा इन्तजार कर रहा है और एक छाया वाले वृक्षके नीचे बैठा हुआ इन्तजार कर रहा है, ऐसे ही काल तो ये दोनों व्यतीत कर रहे हैं, शुभोपयोगमें भी समय ही गुजारा जा रहा हैं और अशुभोपयोगमें भी समय गुजारा जा रहा है, भावी फलकी प्रतीक्षा भी है किन्तु अशुभोपयोग संतप्त, संक्लिष्ट दुःखी होता हुआ भविष्यमें फल पायेगा और यह शुभोपयोगी प्रसन्न रहकर धर्म बुद्धि करके, कुछ निराकुलतासे रहकर भविष्यमें फल पायगा। हॉ इतनी बात अवश्य है कि पुण्यके फलमें यदि फिर यह अशुभोपयोगी बने तो इस की दुर्गति है। पुण्य फल पाया, सब साधन ठीक मिले, सद्बुद्धि जगे सम्यक् ज्ञान की ओर कदम उठे, आत्मसाधना करें तो इस पुण्यने तो उसे एक भला रास्ता दिया।

आत्मकर्तव्यताका शिक्षण–स्वरूप दृष्टिसे देखो तो बंधतो बंध शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोंमें है। रागद्वेषके अभावमें ही मोक्षकी पद्धति बनती है। ऐसे वर्णनसे यह भाव लेना चाहिए कि जब शुभोपयोगके खातिर किए हुए राग और द्वेष भी एक विकार हैं तब अशुभोपयोग सम्बंधी राग द्वेषके दुःखद परिणामोंका कौन बयान करे? हमारा कर्तव्य है कि अशुभोपयोगको छोड़ें, शुभोपयोगकी प्रवृत्तिसे शुद्धोपतोगकी पात्रता बनाये व लक्ष्य और उत्सुकता। इस निज अंतस्तत्त्व की ओर ही बनायें। एक ही यह कार्यक्रम होना चाहिए, बाकी जो कुछ मिला है, या जो वातावरण है उसको इस भवसे गुजरनेका साधन समझिये। ऐसे ऐसे भव,। अनन्त गुजार दिये भवोंके गुजारने स्थानमें मोह रखने से सिद्धि क्या है, आखिर छोड़ना तो पड़ेगा ही सब कुछ, किसी प्रकार छूटे। कुछ लोगोंका यह ख्याल है कि हम छोड़ जायेंगे सब कुछ तो हमारे लड़कोंका ही तो सब कुछ हो जायगा। हम कुछ घाटेमें तो नहीं रहे, अरे मर जानेके बाद फिर तुम्हारा लड़का तुम्हारा कुछ रहा क्या ? मर कर कहींका कहीं जाकर जन्म ले लिया। कदाचित् पड़ौसीके यहाँ भी जन्म ले लिया तो भी वे लड़के आपको कुछ माननेके नहीं हैं। भव ही बदल गया। बहुतसी बातें तो जिन्दगीमें ही बदल जाती हैं।

मोहबीजद्वितिद्वेषौ बीचन्मूलङ्कुरादिह।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाहयं तदेतौ निर्दिधक्षुणा ॥ १८२ ॥

राग द्वेषका बीज–मोहके बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होता है। जैसे अन्न आदिकके बीज से मूल और अंकुर उत्पन्न होता है। जड़ और तना जैसे ये बीजसे उत्पन्न होते हैं! यहाँ दृष्टान्तमें दो बातें कही गयी हैं मूल और अंकुर। और ये दो बातें कही गयी हैं राग और द्वेषके लिए। तो आप अपनी कल्पनासे यह सोचना कि रागको मूलकी तरह कहा जाय या अंकुरकी तरह? और द्वेषको मूलकी तरह कहा जाय या अंकुरकी तरह ? बहुत कुछ यह सुघटित होता है कि राग तो है मूलकी तरह और द्वेष है अंकुरोकी तरह। जो कुछ भी द्वेष होता है वह किसी न किसी रागका आधार करके होता है। यों ही कोई किसी से द्वेष नहीं करने लगता। किसी स्थानमें राग है, उसमें

बाधा जिसके निमित्तसे आये बस उससे द्वेष होता है। यों ही खामोखां कोई किसीसे द्वेष नहीं करने लगता। तो जो भी क्लेश बना है, जो भी व्यवहारिक द्वेष चलता है वह किसी न किसी रागके कारण चलता है।

मोहबीजको ज्ञानाग्निसे जलानेका विवेक—जैसे यह अंकुर इस मूलके आधार से पनप रहा है ऐसे ही यह द्वोष किसी न किसी रागके आक्षय ही पनपता है। जैसे बीजसे मूल और अंकुर उत्पन्न होता है ऐसे ही मोह बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। तब क्या करना, यदि मूल अंकुर न चाहिए तो बीजको जला डालें यही उपाय है ना? इसी प्रकार राग और द्वेष नहीं चाहियें हो तो मोह जो बीज है उसको जला डालें। काहे जलायें? अन्न आदिकके बीजको तो अग्निसे जला सकते हैं। इस मोहको काहे से जलायें? ज्ञानरूपी अग्निसे। मोहको नष्ट करने की सामर्थ्य तत्त्वज्ञानमें है। अन्य कुछ भी उपाय करते जाइये। तपश्चरण कर डालें। तपश्चरणके बाद भी यदि मोहका विनाश है तो उसे स्थितिमें तत्त्वज्ञान होता है तो है, नहीं है तो नहीं है।

तत्त्ववज्ञान बिना वैराग्यका अभाव—एक पुरुषने कहीं किसी बादशाह की लड़कीको देखा और उसका चित्त बड़ा चलित हुआ कि जिस प्रकार हो इससे सम्बंध हो ? शादी हो। तो उसने बहुत-बहुत उपाय सोचनेके बाद क्या उपाय सोचा कि एक चमत्कारी साधु बनें तो सभी लोग आयेंगे दर्शनके लिए। यह भी आयगी। सो कैसा मायाजाल किया कि किसी जगह दुवन्नियां, किसी जगह चवन्नियां, किसी जगह अठन्नियां बहुत सी गाड़ दीं। बहुतसे लोग आये, सो कोई अपने दुःख की कहानी कहें तो वह कहे अरे बेवकूफ उस जगह खोद ले तो कुछ मिल जायगा। खोदे तो बहुतसी दुबन्नियां, चवन्नियां, अठन्नियां मिलें। सो दो चार महीने में ही उसकी बड़ी महिमा फैली। बड़े पहुंचे हुए साधु हैं जहां वह निगाह डाल देते हैं वहां धन ही धन बरपने लगता है। सो यह बात फैलते-फैलते बादशाह तकके पास पहुंची। तो बादशाह भी सपरिवार उसके दर्शनको आया। साधुको सभी लोगों ने नमस्कार किया। बादशाहकी उस लड़कीने भी नमस्कार किया। यह देखकर उस साधुका ऐसा चित्त हुआ कि जिस भेषमें बड़े-बड़े राजा लोग भी प्रभावित हो जाते हैं और ये सब प्रभावित हुए हैं, यदि इस भेषमें जो करने योग्य काम है उसे यदि सच्चाईसे कर लिया जाय तो यह तो एक लड़की ही है, बड़ी-बड़ी ऋद्धियां और सिद्धियां भी सिद्ध हो जायें। चित्त बदल गया, उपेक्षा हो गयी, तत्त्वज्ञान जगा, विरक्त हो गया सही मायनेमें। सही-सही किसी तपश्चरण में कभी निर्मलताकी बात आये तो भी तत्त्वज्ञानपूर्वक ही आयगी। केवल एक कहनेसे जो कि बाह्य तप है उससे बात नहीं होती।

मोहविनाशसे ही रागद्वेषके विनाशकी संभूति—यह मोहका बीज ज्ञानरूपी अग्निसे जला देना चाहिए। मोह नाम है विपरीत श्रद्धानका। जो मेरा नहीं, मैं नहीं उसे मेरा माना, मैं माना, यह तो है मोह। और इष्ट विषयमें द्वेष हो उसका नाम है द्वेष। तो ये इष्ट अनिष्ट जो मालूम होते हैं उनकी जड़ तो यह मोह है, भ्रम है, यथार्थ श्रद्धान नहीं है तो बाह्यपदार्थो में इष्ट मानना और

अनिष्ट मानना यह वृत्ति हुआ करती है। जितने भी क्लेश हैं, वे सब रागद्वेष मोहके क्लेश हैं। चीजें तो सब अछूती हैं, पर हैं, भिन्न हैं, उनसे आत्मामें कोई अड़चन, कोई आपत्ति नहीं आती। पर वस्तुवों के विषयकी ओर मोह रागद्वेषकी वृत्ति जगती है, उस अपनी कृवृत्तिसे ही क्लेश होता है। इस दुर्वृत्तिको नष्ट कर दो, यह ही एक शान्तिका साधन है। जैसे कोई जड़ और अंकुरको जलाना चाहता है, नहीं होने देना चाहता है तो वह बीजको जला डालता है ऐसे ही जो रागद्वेष का नाश करना चाहता है उसका काम है—मोहको नष्ट करे।

विभावोंकी कष्टकारिता—अहो यह सब विभाव परिणाम कितनी बुरी बला है। बात कुछ नहीं। अकेले आये, अकेले जायेगे। किसी का कोई कुछ लगता नहीं है। सभी जीव अत्यन्त जुदे-जुदे हैं। उन अनन्ते जीवोंमें से अटपट कोई जीव आ गया, कोई नम्बरसे उसका नाम जीवमें खुदा हो कि मेरे यहां यही जीव आयगा, ऐसी भी कुछ बात नहीं है। यदि हो किसीसे कोई सम्बंध तो बतावो ? दुनियामें अनेक जीव जन्मते हैं, ओते हैं, मरते हैं, कितना अटपट प्रवर्तन है कि जो भी जीव अपने घर में आ गया उसको ही अपना मान लिया। वह दूसरा माने चाहे न माने, पर यह मोही तो मानकर ही रहता है। मान न मान मैं तेरा मेहमान। लड़का आपको माने या न माने। भविष्यमें कौन क्या बर्ताव करेगा? इसका क्या पता, जैसा कुछ भी हो। अच्छा हो तो क्या, बुरा हो तो क्या ? कोई लड़का अच्छा बर्ताव करे तो वह आपकी प्रीतीके कारण न करेगा, किन्तु वह खुद अपनी पोजीशन ठीक रखनेके लिए करेगा। क्योंकि उसको भी अपनी इज्जत रखनेकी धुन है। आप जब तक उसके काम आते रहेंगे तब तो वह आपकी इज्जत रखेगा। यह तो वस्तुके स्वरूपमें ही नहीं है कि कोई जीव किसी दूसरे जीवसे प्रीति कर सके। स्वयं स्वयंके प्रीतिपरिणामसे परिणमता है और उसमें जो कोई दूसरा विषयभूत् बनता है उपचारसे कहते हैं कि हमारी इससे प्रीति है।

तत्त्वज्ञानसे ही कल्याणका आरम्भ—यह संसारजाल सब मोह और रागद्वेष रूप है। इसीका ही मात्र क्लेश है। इस क्लेशको मिलना हो, वास्तविक पद्धतिसे शान्ति प्राप्त करनी हो तो वस्तुका यथार्थ ज्ञान करो। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है, किसी का किसी अन्यसे सम्बन्ध नहीं हो ऐसा स्वतंत्र सर्व पदार्थोको निरखो, ऐसे तत्त्वज्ञानसे ही मोहका विनाश हो सकता है। और कल्याणका आरम्भ हो सकता है।

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरूक्।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुध्यति रोहति ॥ १८३ ॥

मोहकी अशुद्धतापर व्रणका दृष्टान्त—यह मोह व्रणकी तरह अशुद्ध है। व्रणको शुद्ध करनेकी विधिकी तरह वाली पद्धतिसे इसे शुद्ध किया जाता है। व्रण नाम घावका है। जैसे कोई फोड़ा हो जाय और वह भी पुराना पड़ जाय। कोई फोड़ा फूटे फिर पक जाय, फिर फूटे फिर पक जाय, यों फूट-फूटकर पकता जाय तो ऐसा पुराना घाव जो कि भाग्यके विशेष दोषसे होता है। मामूली फुंसी होनी साधारणसी बात है और वह पुराना फोड़ा जो फूट-फूटकर पकता है उस फोड़ेमें

दो तीन बातें अधिक खराब हो जाती हैं। एक तो गहरा हो जाता है, दूसरे उसमें रूधिर आदिकी गतियां चलने लगती हैं। पीप निकले, खून निकले और वह रोग तो है ही है, पीड़ाकारक तो है ही।

मोहकी अशुद्धता—इसी प्रकार यह मोह है कभी किसीसे मोह किया कभी किसीसे किया, यों इस मोहका बड़ा विकट क्लेश है इस जीवपर। कुछ न लेना न देना, भिन्न पदार्थ हैं, अपनी परिणतिसे आये हैं, समय पाकर अपनी परिणतिसे चले जायेंगे। कोई सम्बंध नहीं, वास्ता नहीं, लेकिन यह जीव ऐसा वशीभूत हुआ है कि वह निर्मोहताका तो ध्यान भी नहीं करता। इतना भी नहीं सोचता गद्‌गद् होकर निर्मोह वीतराग प्रभुका नाम लेकर इतना भी नहीं कहता—हे नाथ ! मैं बड़ा अधम हूं, बड़ी त्रुटियोंका घर हूं। निर्मोहताके लिए तो इसकी उत्सुकता ही नहीं जगती है। यह ऐसा पुराना मोह पड़ गया है संतानके रूपसे कि यह अनादि कालसे मोह है, ऐसा यह बहुत विकट मोह भाग्यके दोषसे हुआ है। तीव्र पाप है। मोह स्वयं महापाप है और फिर इस मोहसे रागद्वेष विकल्प की गतियाँ नरकादिक गतियाँ चलने लगती हैं और यह मोह परद्रव्योंके ग्रहणसे परिग्रहसे उत्पन्न होता है। यह मोह भी बड़ा गम्भीर है मोही जीवोंको कितना ही समझाया जाय, वहाँ समझ नहीं बैठ पाती है। देखते तो हो। किसीका कोई इष्ट गुजर जाय तो उसको आप कितना ही समझायें, संसारमें जन्म मरण चलता ही है—जीव कोई आया कोई गया। किसका यहाँ कौन है? और खूब समझाये जाने पर भी बात नहीं जमती तो कहते हैं कि अच्छा तुम हमींको लड़का मान लो। अरे कैसे मान लें, वह मोह जिस पर था उसी पर बसा हुआ है। तो यह मोह ऐसा पुराना पड़ गया है जैसे व्रणसे रूधिर आदिककी गतियां चलती हैं इसी प्रकार इस मोह से नरकादिक गतियां चलती हैं, व्रणसे पीड़ायें होती हैं, खून, पीप आदिसे पीड़ायें उत्पन्न होती हैं तो मोहमें भी महती आकुलता उत्पन्न होती है।

मोहमें प्रभुदर्शनकी बाधकता—आप प्रभुके दर्शन करने जाते हैं, स्वयं का चित्त, स्वयंका उपयोग यदि निर्मोह बना है, अपने आपमें अपने सहजस्वरूपका स्पर्श किया जा सकता है तो प्रभुके दर्शन होंगे। यह बात अपने आपमें नहीं बनती है तो कहीं भटको, कहीं जावो, प्रभुका दर्शन न मिलेगा। यह मोह प्रभुदर्शनका प्रधान बाधक है। मोही जीवोंमें निर्मोह प्रभुका स्वरूप कैसे बस सकता है? किसी अतिथि को, आफीसरको बुलायें तो आप कितनी सफाई और सजावट रखते हैं और इस निर्मोह प्रभुको आप अपने हृदयमें बुलायें तो यों गंदे हृदयमें प्रभुका निवास हो जायगा क्या? नहीं हो सकता। सफाई और श्रृंगार दोनों चाहिए, अपने उपयोग को। सफाई तो आशय का नाम है। अभिप्राय शुद्ध हो। मोह ममताका, विषय कषायों का आशय न बना हो, निर्विकार शुद्ध चित्स्वभावका अनुभव करना अपना उद्देश्य किया हो, ऐसी तो सफाई चाहिए। और श्रृंगार क्या चाहिए? आत्मचिन्तन द्रव्यगुण पर्यायका यथार्थ विचार यह श्रृंगार चाहिए। ऐसे अपने आपके आत्मगृहकी स्वच्छता और श्रृंगार हो तो वहाँ प्रभुका निवास होता होता है।

मोहव्रणके समाप्त करनेका उपाय–जब जैसे गूमड़ा घाव बड़ा फोड़ा हो गया है तो उसे शुद्ध करनेका, निर्दोष अंग बना लेनेका क्या उपाय है? वह फोड़ा कैसे मिटे, घाव कैसे ठीक हो, तो उस उपायमें आप दो काम ही तो करेंगे। फोड़ेमें जो पीप खून आदि भरे हुए हैं उन्हें निकाल दें और उसे पर तैल घी आदिक का लेप कर दें। घावकी पीड़ा मिटानेके लिए दो काम किए जाते हैं-त्याग और ग्रहण कहो, जाति कहो। इसी प्रकार इस मोह का विनाश करनेके लिए दो काम किए जायेंगे-परद्रव्योंका त्याग, परद्रव्य सम्बंधी विकल्पका त्याग और अपने स्वभावका उपयोग, निज जातिका ग्रहण। यो त्याग और ग्रहण द्वारा इस मोहका भी अभाव होता है। तो जब फोड़ा ठीक हो जाता है तो उस पर चमड़ा और रोम प्रकट होने लगते हैं। नया स्थायी चमड़ा आ जाए और उसमेंसे रोम प्रकट होने लगें तो समझिये अब फोड़ा बिल्कुल ठीक हो गया है, और जैसी स्थिति थी शरीरकी स्वभावतः वह स्थिति आ गयी। इस ही तरह जब यह मोह विनष्ट होता है, तब इसमें सम्यक्त्वरूपी रोएँ उत्पन्न होते हैं।

मोह वैरी–भैया ! मोह जैसा बैरी अन्य नहीं है हम आपका। चित्त में पक्का श्रद्धान बना लो, इसमें दो बात ही नहीं, राय ही नहीं, गुन्जायश ही नहीं है कि इनके विरूद्ध कुछ सोचा जाय। मोह रस आत्मासे परे है। अपनी भलाई चाहिए तो जो करते बने सो तो ठीक है, पर अन्तरङ्गमें यह श्रद्धान पूर्ण बना लीजिए कि परद्रव्योंका परिग्रह परिजनका, कुटुम्बका जो मोह बसा रहता है, यह मोह ही मेरा बैरी है। कोई एक शराबी था, तो शराब वालेकी दुकान पर गया, बोला हमको बहुत बढ़िया शराब दो। दुकानदार बोला–हाँ हाँ तुम्हें बढ़िया शराब देंगे। नहीं–हमें बहुत बढ़िया शराब दो, तो दुकानदार बोला कि तुमको अभी भी विश्वास नहीं है हम पर, देख लो दुकानपर १०-२० आदमी बेहोश पड़े हैं। कोई नालीमें गिरा है, किसीके मुँहमें कुत्ते मूत रहे हैं। इन सबको देख लो और इनसे ही अंदाज कर लो कि हमारी दुकानपर बढ़िया शराब है या नहीं है। ऐसे ही मोही जन मोहमें विकल हो, व्यग्र हो रो रहे हैं। पीड़ित हुए इन जीवों को देखता है फिर भी यह विश्वास नहीं करता कि मोह ही इस जीवका बैरी है। आज यहाँ है, इस घरमें है कुछ क्षण बाद न जाने कहाँका कहाँ पहुंच गया, न जाने कहाँ जन्म लेगा, किस गतिमें जन्म लेगा, कुछ ठीक ठिकाना भी नहीं हैं और मोहमें मान ऐसा रहा है कि मेरे तो सब कुछ ये हैं, उनके ही पीछे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर किए जा रहे हैं। इतना व्यामुग्ध होता है मोहमें यह प्राणी। यह मोहरूपी घाव त्यागसे और स्वरूपग्रहणसे भरता है, विनष्ट होता है, और इसके विनष्ट होनेपर सम्यक्त्व अंकुर उत्पन्न होता है।

मोहविनाशके मलमें ही लाभ–और भी देखिये–यह घाव गूमड़ा फोड़ा अपने ही शरीरमें तो उत्पन्न होता है। शरीरमें ही विकार बना और उसने गूमड़ेका फोड़ेका रूप रख लिया। कोई बाहरसे मिट्टी चिपकाकर या कोई चीज लगाकर फोड़ा हुआ है क्या? कोई चीज लगाकर तो फोड़ा शायद बन ही नहीं सकता। अपने ही शरीरके भीतरका रूधिर रुक जाय, वायु अचलित हो जाय

या जो भी कारण हुआ हो, उन कारणोंके होने पर शरीरमें से ही फोड़ा निकलता है। उस फोड़ेमें पीड़ा भी है, घृणा के योग्य उसमें दुर्गन्धित मवाद आदिक भी हैं। और फिर भी कभी-कभी फोड़ा प्यारा लगता है। (चाहे मजाकमें समझ लो) फोड़ा हो तो कैसा हल्के हाथसे उसे फेरते हैं, कोई उसे छुवे तो हाथ उठाकर बड़े प्यारसे उस पर कोमल कपड़ा भी रखते हैं, इतना प्यार करते हैं फोड़ेसे। पीड़ा भी होती है, सारे तो ऐब हैं। उस पीड़ाके मिटे बिना चैन नहीं हो सकती है। ऐसे ही मोहके मिटे बिना जीवको शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए जैसे भी यह मोह मिटे वैसा ही उद्यम करना चाहिए।

सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः॥ १८४॥

समागमका परिणाम–कोई आपका मित्र हो तो मित्र तो वही है जो आपको सुखी करे। आपको सुखी कर रहा है ठीक है। कुछ दिन तक तो वह आपके लिए निधि है और कुछ ही समय बाद वही मित्र आपके विकट दुःखका साधन बन जाय तो फिर आप उस मित्रके लिए कुछ सोच भी कर सकते हैं क्या? जब मित्र अपने ही विकट दुःखका साधन बन गया तो भला बतलावो वह कुछ अपने शोक करने योग्य है क्या? सभी जानते हैं। तब ऐसे ही यहां देखो ये कुटुम्बी जन परिजन ये मित्र बन रहे हैं। मित्र उसीको कहते हैं ना जो सुखका करने वाला हो। पर यह तो बतावो–ये कुटुम्बी जन अन्तमें आपको दुःखके साधन बनेंगे या नहीं? नियमसे दुःखके साधन बनेंगे।

प्रेमियोंकी क्लेशहेतुता–सांसारिकी प्रकृतिके अनुसार कह रहे हैं। ये सभी कुटुम्बी लोग अन्तमें दुःख ही उत्पन्न करेंगे। कैसे? जब मरण होगा। खुदका मरण हो तो उनकी निगाह रखकर देखो–संक्लिष्ट होकर मरण होगा। हाय ! हम इन्हें छोड़कर जा रहे हैं, जिन्दगीभर कैसे एकमेक दिल रहा, कैसा प्रेम रहा, हाय ! अब हम इन्हें छोड़कर जा रहे हैं। ये कितने विनयशील थे, आज्ञाकारी थे, हमारे तो सब कुछ यही हैं और एकदम छोड़े जा रहे हैं, इस प्रकारका कितना सोच होता है। कोई कुटुम्बी जन गुजर जाय तो उसका वियोग भी दुःखके लिए होता है। संयोगके फलमें अन्तमें होगा क्या? वियोग। है कोई ऐसा अब तकका पुरूष बड़ी उम्रका हजार वर्ष पहिलेका कि जिसका सब कुछ अब भी आपको दीख रहा हो? पुराणोंमें, इतिहासोंमें सब जगह देख लो–सबकी यही दशा हुई। भले ही चाहे मोहवश बेगम मर गयी तो स्मरणके लिए बड़ा महल बनवा दिया, उसकी यादगार बनवा दिया कुछ भी नामपर किया, पर वियोग तो वियोग ही हुआ। गया सो गया। और स्मारक भी बनवा दिया गया तो भी वह उसके लिए क्या साधक है? खुदके लिए तो खुदका निर्मल परिणाम साधक है।

प्रेम उपनाम वैर–भैया ! विशुद्ध दृष्टि हो, मोह ममताका अभाव हो, आत्मस्वरूपकी प्रतीति हो, हम अपने शुद्ध आत्मव्यवहारमें चला करें यही सब लाभ देंगे। अन्य कुछ भी चीज यहांकी लाभ न देगी। बल्कि जो जितना अधिक प्यारा है वह उतना ही बड़ा दुःखका कारण है। जो थोड़ा बहुत

प्यारा है साधारणसी बात है उसके वियोगमें कौन पागल होता है? जो अधिक प्रिय होता है उसके वियोगमें जो दशा होती है वह दुःसह दशा होती है। बड़े-बड़े लोग भी कई दिनों तक पागल रहे, तो यहां किस बातमें मग्न होना, कोई बड़ा सुखकारी मिला और प्रेम भी किया, दो बातें चटक मटककी हो गयीं वही प्रेम कहलाया। प्रेम नाम और है किसका? केवल एक थोड़ी-सी अनुकूल चेष्टा जगी उसका नाम प्रेम है। जो जिसे अधिक प्रिय है वह उसके अधिक दुःखका कारण बनता है। और फलित शब्दोंमें यह कह लीजिए कि वह उसका उतना ही अधिक बैरी है।

समतामें ही लाभका संदेश—जैसे कोई मित्र पहिले सुखकारी था, पीछे वह दुःखी करने वाला बन गया, द्वेषी बन बया तो ऐसे मित्रके लिए भी कौन शौक करता है। वह तो एक शत्रुके रूपमें हो गया। ऐसे ही ये कुटुम्बी जन आखिर शत्रुके रूपमें होगे ही। कोई तो जीवितमें ही शत्रुके रूपमें बन जाते हैं। इसके लिए बुद्धिमान पुरूषोंको शोक करना उचित नहीं है। धीरता, गम्भीरता इसको ही कहते हैं कि कोई अधिक नुकसान हो जाय तो भी उसका ज्ञाता रहे। कोई प्रतिकूल भी चले तो उसे देखकर द्वेषकी ज्वालामें न भुन जाय। वहां पर भी समता परिणाम रक्खे, ज्ञाता रहे।

अपरमरणे मत्त्वात्मीयानलङ्घ्यतमें रूदन्,
विलपतितरां स्वास्मिन् मृत्यौ तथास्य जडात्मनः।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा,
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेपि न केनचित्॥ १८५॥

व्यर्थका रूदन—कोई जीव किसी स्त्री पुत्रादिक इष्टजनोंके मरण होने पर बहुत रूदन करता है, विलाप करता है, उस रूदन और विलाप करनेका कारण क्या है कि इसे वह अपना जानता था, सो कल्पना यह बनी कि अपना नष्ट हो गया। जरा इस वस्तुस्वरूपसे पूछो—तेरा इस जगतमें है कुछ क्या? जब कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्ताभाव है। और अत्यन्ताभाव है इसी कारण सत्ता भी सबकी बनी हुई है, रंच भी तो अवकाश नहीं है, किसी वस्तुका कोई वस्तु कुछ बन जाय, सब अपने आप में अपना परिणमन करते हैं। रही निमित्तनैमित्तिक योग की बात। सो उसका तो इतना ही मात्र अर्थ है कि योग्य उपादान अपने आपमें योग्य निमित्तका सन्निधान पाकर विकास कर लेता है। उसमें आदान प्रदान कुछ नहीं होता। निमित्तसे उपादानमें कुछ आ गया हो, उपादानसे निमित्त में कुछ आ गया हो यह कुछ नहीं होता, एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अत्यन्ताभाव है, त्रिकाल अभाव है। किन्तु परिणमने वालेकी ही ऐसी कला है कि वह किस किस निमित्तके सन्निधानमें किस किस प्रकार रूपसे अपना प्रभाव बनाता जाय।

शोकमें सर्वस्वहानि—यह जीव मोहवश स्त्री पुत्रादिक परिजनोंको अपना मान कर रूदन करता है, और ऐसा माना कि किसी प्रकार यह बुद्धि उसकी मिट भी नहीं पा रही है। सो कोई जीव स्वयं मरण कर रहा हो अर्थात् तड़फकर शरीर छोड़ रहा हो तो वहाँ यह बहुत रोता है, विलाप करता है। भला बतलावो कोई रूदन करके, विलाप करके कष्ट सहकर, मोहकी याद करके, पागल

बनकर मरण करे तो उसका उस लोकमें यश रह सकता है क्या? यशसे भी गया और परलोकमें भी उसे सुख अथवा विश्राम मिल सकता है क्या? परलोकका सुख भी गया। ऐसी ही बात दूसरोंके मरण होने पर रूदन और विलाप करनेमें भी यश भी खत्म और परलोकका आराम भी खत्म हो जाता है। जो बुद्धिमान् पुरूष हैं, सुबुद्धि जन हैं वे अपने मरने पर अथवा परके मरने पर किसी भी प्रकार का शोक नहीं करते।

ज्ञानीके ज्ञानका प्रसाद–कैसा अपने आपकी ओर नाता लगाया है ज्ञानीने कि परद्रव्योंमें कुछ भी खलबल होती रहे, परिजन गुजर रहे हों, खुदका भी शरीर छूट रहा हो, फिर भी अपने आपके स्वरूपसे नाता इतना अधिक जोड़ा है इस ज्ञानी जीवने कि परपरिणतियोंका इस पर प्रभाव नहीं हो रहा है। यह अंतःप्रसन्न निराकुलता रहा करता है। आँखों देख रहा है यह ज्ञानी जीव, सब छूट रहा है, जान रहा है कि यह मेरा कुछ नहीं है, यदि मेरा होता तो मेरे पाससे जाता कहाँ? वह ज्ञानी सर्वपर पदार्थोंको अपनेसे अत्यन्त भिन्न देख रहा है। भला जो दूसरे जीवोंका मरण देखकर भी शोक करते हैं, इष्टजनोंके मरने का रंज करते हैं और जब खुदपर बीतेगी मरणकी बात तब यह क्या करेगा, क्या गति होगी? तो एकका विछोह हो रहा है ना, हमारे जीते कोई मर रहा हो कुटुम्बका तो एकका ही विछोह है और जब खूद मरेगा तब? तब सबका विछोह है। अब हिसाब लगा लीजिए। एकके विछोहमें जब इतना शोक है तो जब सबका विछोह हो रहा है तो कितना शोक करता होगा? ज्ञानी पुरूष मोह को हटाता है, पहिले तो स्त्री पुत्र आदिका मरण होने पर शोक नहीं करता, भेद विज्ञान करता है। और जब स्वयंका मरणकाल आये तो समाधिमरणकी सिद्धि करता है, शोक नहीं करता। और ऐसा उपाय करने से ही यह जीव इष्ट स्वर्ग मोक्ष आदिकी गतिका पात्र बनता है।

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रास्ततः सुखम्।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः ॥ १८६ ॥

ज्ञानीकी अशोकपरिणति–जो सामग्री अपनेको प्रिय लग रही थी इस इष्ट सामग्रीके वियोग होनेमें शोक उत्पन्न होता है और उस शोकसे दुःख और क्लेश बढ़ते हैं। तथा जब इस इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति होती है तो उसमें राग उत्पन्न होता है और उस रागसे सुख उत्पन्न होता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी पुरूष हानिमें शोक नहीं करते तब लाभका सुख है तो है ही। हानिमें शोक नहीं करते, तब सुखकी ओर और भी वृद्धि हो जाती है।

ज्ञानीका विशुद्ध आशय–जगतके सभी जीव सुख चाहते हैं, और सुख का उल्टा है दुःख। दुःख होता है शोकसे। इष्ट सामग्रीका वियोग हो तब ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता कि मैं इस परवस्तुको मोहसे अपना इष्ट समझ रहा था, यह वस्तुतः इष्ट नहीं है, हमारा हितकर नहीं है, कोई परवस्तु मेरी कभी हो नहीं सकती। मेरे राखे कोई वस्तु रह नहीं सकती, तब परका वियोग होनेका क्या शोक करना। यह तो सबपर बीतने वाली बात है। किसी पर भी बीते। किसी पर कभी बीते

और कितनी ही बातें बीत चुकीं। कितने ही लोग गुजर गए। ऐसी स्थितियां सब पर आयी हैं और आयेंगी। इसमें है कि ऐसा भेदविज्ञान जागृत करें कि इन स्थितियोंमें भी हम पर पागलपन न छाये। ज्ञानी पुरूष ज्ञानके चिन्तनसे हानिमें भी शोक नहीं करता, फिर दुःख कब होगा? जब हानिमें शोक नहीं किया तो फिर दुःख काहे का होगा? तब तो वह सुखी ही रहेगा।

आत्मदोषका सही यत्न–ज्ञानीजन किसी भी परवस्तुमें 'यह तो पर है' ऐसा जानकर उसकी हानि होने पर शोक नहीं करते। यदि कोई ऐसा रचे कि हमारी कुछ हानि ही न होगी फिर रंज काहेका होगा? सो ऐसा कोई उपाय हो ही नहीं सकता। संसारमें जिस-जिसका भी संयोग हुआ है एक इष्टका वियोग होनेपर उस उसका वियोग नियमसे ही होगा। हानि जरूर होगी। अब आप अपने को संभाल लें, उस हानिके समय भी आप शोक न करें, यही एक प्रयोग करनेकी बात है। ज्ञानसे ही सुख हो सकता है। ज्ञानकी सुध न लें और परवस्तुवोंके संचय विग्रहसे ही हम अपनेको सुखी बनाना चाहें तो यह कभी हो नहीं सकता। इसमें भेद विज्ञान बनायें और अपने आपके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान बनायें, अपनेमें सन्तुष्ट रहें, तृप्त रहें, परके विकल्प न आयें तो यही उपाय अपने जीवनमें शान्ति पाने का है और भविष्यमें भी शान्त रहने का है।

॥ आत्मानुशासन प्रवचन पंचम भाग सम्पूर्ण ॥

आत्मानुशासन प्रवचन

षष्ठम् भाग

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम्।।मं0।।
सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते।
सुखं सकलसन्न्यासों दुःखं तस्य विपर्ययः।।१८७।।

सुखकी परम्परा—जो जीव यहाँ सुखी हैं वे भविष्यमें परलोकमें भी सुखी रहेंगे और जो यहाँ दुःखी हैं वे परलोकमें दुःखी रहेंगे, ये वचन सुनकर कुछ मनमें जिज्ञासा उत्पन्न होती होगी, यह क्या बात है? जो यहाँ मौजमें हैं, वह आगे भी सुखी रहेगा क्या यह बात है? जो बड़े संयम से रहे, मितव्ययितासे रहे, सादगीसे रहे, परिश्रम करके खाये तो ऐसा दुःखसे अपना जीवन गुजारने वाला क्या आगे भी दुःखी रहेगा। क्या अर्थ है? इसका भाव यह है कि जो वास्तविक मायनेमें सुखी है, निराकुल है, प्रकाशमें है, जिसके विह्वलता नहीं है, क्षोभ नहीं है, जो वास्तविक पद्धति से सुखी है वह पुरुष आगे भी सुखी रहेगा, और जो दुःखी है, क्लेश मानता है, संक्लेश करता है, आकुल व्याकुल रहता है वह आगे भी दुःखी रहेगा। सुख नाम है समस्त परपदार्थोंका त्याग करके, विकल्प छोड़कर अपने आपके दर्शनसे तृप्त रहना, संतुष्ट रहना इसका नाम है सुखी होना। जो इस प्रकार परसे उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूपसे तृप्त रहकर सुखी रहता है उस सुखकी ऐसी परम्परा चलती है, संतति चलती है कि वह मरकर भी परलोकमें सुखी रहेगा।

दुःखकी परम्परा—दुःख नाम है बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेका, परिग्रहण करनेका, विकल्प रखनेका। परमें मोह करना, परके लिए अपने तन, मन, धन, वचन लुटा देना, अपने महत्वका गौरव ही कुछ न रखना, सब कुछ परिजनों के लिए है ऐसा भाव रखकर अपने आपको कुछ मानना ही नहीं, तुच्छ समझना, जो कुछ सुख है वह इन दूसरोंके द्वारा ही दिया हुआ रहता है इत्यादिक क्षोभोसे जो जीव यहां भी दुःखी हैं, संक्लेश करते हैं, चाहे तपश्चरण कर रहे हों लेकिन उनके अन्तः खेद बना रहता है। वे ऐसा ही तपश्चरण करेंगे कि खेद भी मानते जा रहे, व्रत नियमके लोभसे भी सताये जा रहें हैं, संक्लेश कर रहे, वास्तवमें ऐसे व्यक्ति सुखी नहीं हैं, बल्कि दुःखी हैं। उस दुःख क्लेश संक्लेशके फलमें ऐसे कर्मोंका बंध होता है कि वे भविष्यकालमें भी दुःखी रहेंगे। लोग विषयसुखोंमें सुख समझते हैं, लेकिन इन विषयसुखोंमें कितनी पीड़ा है, कितना संताप है? कितना अपने आपको रागद्वेषकी आगमें झोंकते और जलाते चले जा रहे हैं।

विषयसुखकी अहितरूपताका निर्णय–भैया! एक निर्णय बनावो कि वे विषय सुख सारेके सारे क्लेश ही उत्पन्न करने वाले हैं। काम सुख–एक व्यर्थकी कल्पना हुई, वेदना हुई जो बुखार खांसीकी तरह वास्तविक वेदना नहीं है, वह तो एक मनकी उद्दण्डता है। मनकी उद्दण्डता करके कामकी वेदना बनी, उससे ही पीड़ित होकर यह विषय सुखोंकी अनुभवता है। वहां भी देखो तो आदिमें क्लेश, पराधीन बने, कायर बने। कितने प्रकार की वहां यातनाएँ होती हैं और फिर क्षणिक विषय सुखके कारण सारा जीवन चिन्ता शल्य परवशतामें रहकर अज्ञान, मोह अंधेरेमें बिताना पड़ता है। रसना इन्द्रियका सुख–अरे जहां जीभके नीचे कोई चीज उतर गयी उसके बादमें फिर कहां उस वस्तुका स्वाद रहा? जरासा जीभकी नोकपर रखते समयका सुख है, ऐसे क्षणिक मौजके लिए जीव अनेक प्रकारके साधन बनाता है और कष्ट पाता है। और फिर उस स्वादका लोभी होने के कारण कर्म बंध किया। वर्तमानमें भी थोड़ी ही देर बाद क्लेश सहेगा। काहेका सुख है? किसी भी प्रकारका विषय सुख हो वह दुःखका ही साक्षात् रूप है।

ज्ञानित्व व अज्ञानित्व–ज्ञानी और अज्ञानी किसका नाम है? जो विषय सुखोंके प्यासे हैं उन्हें तो अज्ञानी कहते हैं। जिनके विषय सुख की प्यास नहीं हैं, यथार्थ ज्ञाता द्रष्टा रहकर आत्मगृहवास निरखकर तृप्त रहाकरते हैं वे ज्ञानी जीव हैं, सुख ज्ञानियोंको होता है, ऐसे सुखकी बात है कि जो सुख आगे भी रहेगा और जो दुःखी है वह आगे भी दुःखी रहेगा। जो ज्ञानसे बहिर्मुख हैं, अज्ञान संतापके सताये हुए हैं वे सभी पुरुष दुःखी हैं और ऐसे दुःखी लोग भविष्यमें भी दुःखी रहेंगे। अहितकारी ये दो ही तो परिणाम हैं–व्यावाहारिक विषय और कषाय। और मूल आधार से देखा जाये तो मोह, यही एक क्लेशकारी है।

कर्म प्रेरणापर एक दुष्टान्त–अहो, कैसी पराधीनता है? कुछ बुद्धि जगी, ज्ञान बना तो यह सारी बातें कह लेता है और कहनेके बाद भी यह जीव अपने-अपने अवसरमें, जैसे-जैसे उदयकी आधीनता होती है यह जीव विचारोंसे फिसल जाता है। जैसे पिंजड़ामें बंद सुवाको कोई कितना रटा दे कि पिंजड़ेसे बाहर न भागना, भागना तो नलनीपर जाकर न बैठना, बैठनातो दाने चुगनेकी कोशिश न करना, दाने चुगना तो उलटन जाना, उलट जाना तो नलनी को पकड़े न रहना। ये पाठ याद कर लिया उस पिंजड़ेमें बंद तोतेने। मौका पाकर वह पिंजड़ेसे निकलकर भाग गया, नलनी पर बैठ गया, दाने चुगने लगा, उलट भी गया, सारी क्रियाएँ कर रहा है फिर भी उस नलनीमें लटका हुआ पाठ वही पढ़ रहा है। भागना नहीं, भागना तो नलनी पर बैठना नहीं, बैठ जाना तो दाने न चुगना, दाने चुगना तो नलनीमें उलटन जाना, उलट जाना तो उस नलनीको छोड़कर उड़ जाना, ऐसा पाठ भी वह सिखाया हुआ तोता पढ़ता जा रहा है और उस नलनीमें लटका हुआ उसे मजबूती से पकड़े है, सोचता है कि यदि मैं छोड़ दूँ तो कहीं मर न जाऊँ।

कर्म प्रेरणा–भैया! यों ही व्यामुग्ध जीवोंकी भी बात है। एक ज्ञान का पाठ अदा करते हैं, पढ़ते जाते हैं, बोलते जाते हैं–आत्मके अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाये। चाव

लगा है ना, चलो भगवानकी पूजा करें, ठीक है, मिलकर करें, पुरुष स्त्री दोनों एक साथ खड़े होकर पूजा कर रहे हैं। अब भीतरमें वासना बसी है, हम दोनों मिलकर कर रहे हैं—यह तो प्रीति निभानेके जैसे दसों उपाय घरमें हैं ऐसे ही एक यह उपाय पूजनका है। फल चढ़ायेंगे तो लौंग रख लेंगे अपनी रकावीमें और उसे दे देंगे बढ़िया बादाम। यह पूजा पता नहीं स्त्री की हो रही है कि भगवानकी हो रही है। जिसमें चित्त है, जिसमें प्रेम है, जिसमें भक्ति है उसकी पूजा हो रही है। बल्कि स्त्रीके प्रेमकी वजहसे यहाँ भगवानकी पूजा हो रही है, नहीं तो क्या जरूरत है? वहां तो अपना दिल रमाना है सो यह भी एक बात हो रही है। ऐसे-ऐसे अनेक प्रसंग हैं—खूब बोलते हैं—आत्मके अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाये। और उन्हीं विषयकषायोंको करते जाते हैं, बोलते जाते हैं। यह मोह एक विकट अंधेरा है।

अज्ञानियोंकी अपरिहार्य मोहव्यवस्था—अहो कैसी व्यवस्था बनी है मोहकी? उस व्यवस्थाके तोड़नेका आन्दोलन भी नहीं कर सकते। जो बनी है व्यवस्था सो ही है। वह ही मेरा घर है, इतना ही परिवार है मेरा। इतना ही वैभव है मेरा ऐसी-ऐसी वासना सहित मोहकी व्यवस्था बनी है। मानो उन कुटुम्बीजनोंके ही तो जान है, और लोगोंमें तो थोड़ी बहुत जान होगी। कुछ महत्व नहीं है अन्य जीवोंका। जो कुछ बड़प्पन है, यश चाह है, कुछ भी बात है वह अपने मोहके विषयभूत परिजनके लिए है। जहां मोह है, रागद्वेष है, क्षोभ है वहाँ सुख काहेका? शान्ति तो नहीं है।

शान्ति व अशान्ति संतति—जिसके यहां अशान्ति है उसके अशान्तिकी धारा बह जायेगी, अगले लोकमें भी अशान्त रहेगा। जिसके यहां शान्ति है उसकी संतति भी चलेगी, वह आगे भी शान्त रहेगा। विषयसुख सुख नहीं कहलाते। जहां तृष्णा है वहां क्लेश ही है। वह तो दुःख ही है। दुःखका फल दुःख है। किन्हींके विषय सुखोंकी सामग्री अधिक है, तृष्णा थोड़ी है, नहीं के बराबर है तो वह वहां सुखी रह सकता है। रंक पुरुषोंके विषयसाधन कुछ भी नहीं हैं किन्तु उनके तृष्णा बनी है, उनमें चित्त बना है तो वे दुःखी रहा करते हैं। इसलिए विषय सुख, सुख नहीं है, उसकी बात यहां नहीं कही जा रही है। जो वास्तविक सुखी है वह भावीकालमें भी सुख पायेगा और जो दुःखी है वह भावीकालमें भी दुःख पायेगा।

मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तिरुपचित्तरिह देहिनाम।
तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः।।१८८।।

उत्पत्तिकी खुशी अथवा मरणकी खुशी—लोग प्राणियोंके जन्म होने पर बड़ी खुशी मनाते, बड़ा प्रमोद करते हैं क्या किया उन्होंने? किसी प्राणीके जन्म होने पर सुख माना। भला यह बतावो कि जन्म होना और मरण होना ये कोई अलग-अलग बातें हैं क्या? मरण होनेका ही नाम जन्म है। जिस क्षणमें मरण है उसी क्षणमें जन्म है। एक भवका मरण है तो दूसरे भवका जन्म है। तो जन्ममें भला मानना इसका अर्थ क्या यह नहीं हुआ कि मरणमें भला माना? मरण और जन्म अलग-अलग चीजें तो नहीं हैं। मरण होनेसे एक मरणसे अन्य मरणकी प्राप्ति होना है, इस निर्णयका

ही नाम उत्पन्न होना है। तो जो उत्पन्न होनेमें प्रमोद करते हैं हम तो समझते हैं कि वे पिछली बातोंके पक्षपाती हैं। अर्थात् उन्होंने मरणमें ही भला माना है। पुत्र आदिका जन्म होता है तब लोग बड़ा हर्ष मनाते हैं और जब वह मरता है तब उनके शोक हो जाता है। जन्म नाम काहेका? जो जन्मा है उसे नवीन करण भी तो मिलेगा।

प्रतिक्षण मरणका नाम जीवन–अब दूसरी दृष्टिसे देखिये–आयुनाशका नाम मरण है। और ऐसा मरण तो प्रति समय हो रहा है। जितना समय गुजरा उतना ही उसका मरण है। आवीचिमरण तो निरन्तर होता रहता है। जिन्दा रह रहे हैं इसका अर्थ यह है कि हम नया-नया मरण पा रहे हैं। क्योंकि, प्रति समयमें नवीन-नवीन आयुका निषेक खिरता है। प्रति समय मरण हो रहा है। तो प्रति समय मरण होनेका ही नाम जिन्दा रहना है और पूर्वभवका मरण छूटकर नये भवके मरणका तांता लग जाना इसीका नाम जीवन है। लोग यों कहते हैं कि हम जिन्दा बने चले जा रहे हैं और अर्थ उसका यह है कि हम प्रति समय मरते चले जा रहे हैं, इन दोनों बातोंमें रंच भी फर्क नहीं है। बहुत बढ़िया फिट बैठनेकी बात यह है कि हम प्रति समय मरते चले जा रहे हैं। जिन्दा नाम काहेका? आयुका उदय हो, इसका अर्थ क्या है? आयु निकल रही इसका अर्थ है मरण हो रहा है। सूर्य निकला अर्थात् उदय हुआ, हम आयुके उदयसे जीवित रहते हैं, इसका अर्थ यह है कि हम आयुके उदयके कारण प्रति समय मरणकी संतति बनाये रहते हैं। मरणमें अन्तर न पड़े नहीं तो जिन्दा नहीं रह सकते। मरणका तांता बराबर चलता रहे इसीके मायने हैं मनुष्यकी जिन्दगी।

नव्य मरणकी खुशी–भैया! मोटे रूपमें यों समझ लीजिए कि मनुष्य जीवनका जो समय निकल गया वह समय फिर लौटकर आता है क्या? प्रत्येक समय निकलनेके लिए ही तो आ रहा है, ठहरने के लिए नहीं आ रहा है। समय निकलने के ही मायने हैं मरणका होना। इसे कहते हैं रोजका मरण, आवीचिमरण। तो पूर्वभवका मरण मिटे और नये भवका मरण शुरू हो, इसीके मायेने जन्म है। ये जीव जन्ममें खुशी मनाते हैं इसका अर्थ यह है कि उसके नये भवके मरणकी खुशी मना रहे हैं। पहिले भवके मरणसे निपट गये, अब इस भवके मरणमें इसका नम्बर आया, उसकी खुशी है।

ज्ञानीके धैर्यका कारणभूत विचार–ज्ञानी पुरुष समस्त विचार मूलसे यथार्थ रक्खा करते हैं जिसके कारण ये निराकुल और प्रसन्न रहते हैं जो हो उसके ज्ञाताद्रष्टा रहिये। कोई मेहमान आया कोई मेहमान गया, यही तो हो रहा है। कोई जीव घरमें आया तो कोई जीव गया, यही तो हो रहा है। किसी मेहमानको भेजनेमें आपका घंटा आध घंटेका ही तो समय खराब होगा। जब जानेका टाइम हुआ तब पहुंचा आये। ऐसे ही कोई मेहमान बिल्कुल जाये तो घंटा दो घंटा उसमें लगता होगा, भेज आये। किसी मेहमानको स्टेशनपर भेज आये, किसी महिमानको श्मशान भेज आये। दो एक घंटा वहां लगता है दो एक घंटा यहां लगा दिया। अब रही रंजकी बात, सो यह अपनी-अपनी मूढ़ता और कल्पनावोंकी बात है। कर रहे हैं। बैठे हैं, शोक मना रहे हैं और

महिलावोंमें तो महीने दो महीने शोक माननेकी प्रथा है। शोक मना रही हैं। हृदयमें न भी शोक हो तो जबरदस्ती शोककी मुद्रा बना रही हैं। बिना रंजके भी आंखोंसे पानी निकाल लेना यह भी अपनी बड़ी कला है। यह कला भी हर एकसे नहीं याद रह सकती है। शोक हो तो शोक, न हो तो शोक कोई क्या कहेगा। इतनी जल्दी मंदिर आने लगी, तो ये सब सारी विडम्बनाकी बातें हैं। दर्शन करने आना भी बंद कर दिया, शास्त्र सुनना भी बंद कर दिया। अरे वह शोक मानना क्या मंदिर आने और शास्त्र सुनने आदिसे भी बड़ा भारी काम है।

क्लेशका निबन्दन–जो लोग किसी जीव के जन्ममें खुशी मनाते हैं सैद्धान्तिक दृष्टिसे देखो हुआ क्या वहाँ? पूर्वभवके मरणका तांता समाप्त करके नये भवके मरणका तांता शुरू किया है। इसीके मायने हैं मरण। तो उसके मरणके तांतोकी खुशी मना रहे हैं। जो जितना परसमागममें आसक्त रहेगा, कल्पनाएँ करके सुख मानेगा वह उतना ही अधिक दुःखी होगा, क्योंकि सुख तो सदा किसीका नहीं रहता है। ये पराधीन सुख, वैषयिक सुख, परिग्रह जन्मसुख ये सब तो किसीके सदा नहीं रहते हैं। अब जो इनमें आसक्त हुआ है वह वियोगमें अधिक दुःख मानेगा। और जो संयोगके समय भी उदासीन भावसे रहा है, उपेक्षा भावसे रहा है वह दुःख न मानेगा।

ज्ञान, सन्तोष और कर्त्तव्य–सुखी होना, शान्त होना यह अपने ज्ञानपर निर्भर है, किसी अन्य जीवपर या अन्य परिग्रहपर निर्भर नहीं है। भेदविज्ञान करो और परिजनोंका भी श्रद्धामें उतना ही महत्व समझो जितना महत्व सर्वजीवोंका है। जो स्वरूप सबका है वही परिजनका है। जैसे भिन्न सब हैं वैसे ही भिन्न ये हैं। यथार्थ श्रद्धा रहे तो निराकुलता रहेगी। वस्तुतः कुछ करना पड़े यह बात तो गुजर रही है, पर अन्तः संतोष मिलेगा तो आन्तरिक श्रद्धाके होनेसे ही मिलेगा। इससे किसी भी घटनामें हम शोक करने की प्रकृति न बनायें। परपरिणतियोंके हम ज्ञाता दृष्टा रहें, यह भी ऐसा हो रहा है ठीक है, यह भी ठीक है। ऐसे विशुद्ध आशयमें ही हम आप सुखी रह सकते हैं। और जो सुखी शान्त रहेगा उसकी संतति ऐसी चलेगी कि भविष्यमें भी वह सुखी शान्त रह सकेगा।

अधीत्य सकलं श्र तं चिरम्पास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं त्योरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथ समुपलस्यसे मुरसमस्य पक्वं फलम्।।१८९।।

नामकी चाहसे श्रुत और तपकी व्यर्थता–साधुजनोंको उपदेश करने के लिए बनाये गए इस ग्रन्थमें श्री गुणभद्र आचार्य कहते हैं कि साधो! समस्त श्रुतका अध्ययन करके भी और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उस ज्ञानके और तपके फलमें लाभ पूजा आदिक तुम चाहते हो तो तुमने तपश्चरण रूप वृक्षके फूलको ही छेद डाला, तोड़ डाला, अब उसके फलमें देवगति समान अथवा मुक्ति समान जो उत्कृष्ट फल है उसे तुम कैसे पावोगे? जैसे कोई पुरुष वृक्ष फले और उसी

समय उन फूलोंको लाठियोंसे झाड़कर गिरा दे तो वह फल कहाँसे पायेगा? ऐसे ही ज्ञान प्राप्त करके और घोर तपश्चरण करके उन ज्ञान और तपश्चरणके फलमें यह पूजा प्रतिष्ठा चाहने लगे तो उस फलसे वंचित ही रहेगा।

सुगमलब्ध प्रतिष्ठासे भी विरक्तिकी आवश्यकता—यह पुरुष साधु बनकर, परिग्रहत्यागी होकर तपश्चरण में लगता है, ज्ञानार्जन करता है तो यह प्राकृतिक बात है कि लोगोंका आकर्षण उस ओर होता है और साधु को लाभ पूजा प्रतिष्ठा ये सब प्राप्त होते हैं। लेकिन यदि वह इसमें संतुष्ट हो जाय, उसने जो ज्ञान पाया अथवा तपश्चरण किया उसके फलमें उसे सब कुछ मिल रहा है। इनमें ही वह तृप्त हो जाय तो उस ज्ञान और तपश्चरणसे भावीकालमें होने वाला जो उत्कृष्ट चमत्कार है उससे हाथ धो बैठेगा। इस कारण हे साधो! अपनेको प्रमादरहित बना। चित्तको सावधान कर। यह सारा जगत मायाजाल है। यह आज यहां है, कल कहीं होगा, जो कुछ दिखता है वह सब भी विनश्वर है। तुम कहां दृष्टि डाल रहे हो?

सब जीवोंमें नाम प्रतिष्ठाकी अत्यन्त असंभवता—देखो भैया! यदि नाम चाह रहे हो, यश चाह रहे हो तो यह तो बतावो कि तुम कितने जीवों में यश चाहते हो? क्या १०० जीवोंमें? हां चाहे पहिले कह दें पर थोड़ी देर बाद यही कहोगे कि इतनेसे क्या है? हजारमें नाम हो। अच्छा, हजार में संतोष हो जायेगा क्या? आखिर यह कहोगो कि सब जीवोंमें हमारा यश फैले तब तो बात है। थोड़ा लाख दो लाखमें फैल गया तो उनके सिवाय तो बाकी बहुत बचे। कई गुणे अधिक बचे। कितने गुणे बचे? अनन्त गुणे बचे। खाली मनुष्योंकी बात नहीं कर रहे हैं—आखिर जीव तो सब हैं। सबमें नाम फैले तब तो ठीक है, नहीं तो इन थोड़े याने सब जीवोंके अनन्तवें भागमें क्या नाम चाहा जाये। तू इसे भी मूलसे मिटा दे। हठी बनता है ना। अच्छा हठी बनो। जैसे बच्चोंमें हठ होती है। खायेंगे तो यह खायेंगे नहीं तो भूखे रहेंगे ऐसे ही यहां हठ बना लें। अरे फैलाना हो तो सब जीवोंमें फैलावो। यह क्या थोड़ेसे लोगोंमें अपना यश फैलानेकी चाह करते हो। अरे ये थोड़ेसे लोग यदि न जान पायेंगें तो हर्ज क्या है।

अल्पल्प क्षेत्रमें प्रतिष्ठाव्यामोहकी निन्द्यता—अच्छा यह बताओ कि तुम कितनी दूर तक अपना नाम चाहते हो? क्या ५ मील तक? क्या १०० मील तक? क्या हजार मीलकी सीमा तक? अरे नहीं, यशका अभिलाषी तो यही कहेगा कि सारे लोकमें मेरा नाम फैले। हां यदि सारे लोकमें नाम फैलाना चाहते हो तब तो ठीक है, लेकिन इस समस्त लोकमें असंख्यातवें भागमें जरासी जगह में यदि अपना नाम फैलाना चाहते हो तो उससे क्या लाभ है? अरे यश फैलावो तो सारे लोकमें फैलावो, नहीं फैल सकता हो तो उतनेको भी मना कर दो, इतना भी न चाहिए। क्या धरा है इतनेमें?

अत्यल्प कालकी प्रतिष्ठाव्यामोहकी निन्द्यता—अच्छा बतावो कितने दिनों तकके लिए नाम चाहते हो? १० वर्ष क्या ठीक रहेंगे? नहीं १०० वर्ष तक। हमेशाके लिए, अनन्तकालके लिए।

अच्छा ठीक है। अनन्तकाल तक यश फैले तो उस यशकी चाह करो और जो १००, ५० वर्ष तक ही रहे उस यशकी क्या चाह करते? एक कहावत है—गांज बरे पूरनको देखो। घासके पूरा होते हैं। जितना इकट्ठा एक बंधा हुआ घास होता है उसे कहते हैं पूरा। पूराका गांज लगा है। समूह जिसे कहते हैं। जैसे मिलेटरी वाले ३ खंडके मकानसे भी ऊँचा गांज लगा देते हैं, ऐसे गांज में आग लग जाय। आग लगे तब तक पांव पसारे देख रहा है सो ऐसे वह गांज बर गया। अब कहीं कोई भाव तांवका प्रसंग आये तो पूरोंका लेखा करने लगे, हम तो १) में १० पूरा देंगे, नहीं भाई ११ पूरा दो, यों उन पूरों का लेखा करने बैठे, और गांजमें लग चुकी है आग तो उस लेखा करनेसे क्या पूरा पड़ेगा? ऐसे ही अनन्त कालमें सारे लोकमें सब जीवोंमें कहीं भी तो नाम नहीं होता, एक थोड़ेसे जीवोंमें थोड़े समय को थोड़ीसी जगह में और मायामयी पुरुषोंके द्वारा, मायामयी वचन, मायामयी यश उसकी क्या वाञ्छा करते हो।

शुद्ध ज्ञातृत्वमें भलाई—भैया! कल्याण इसमें है कि शुद्ध ज्ञान बना रहे। ये सब विषयोंके साधन धोखेसे भरपूर हैं, ये सब बरबादीके लिए हैं। ये तोतले बच्चे ये सब परजीव हैं, अपनी-अपनी चेष्टायें कर रहे हैं, यहां यह मोही उनको देखकर खुश होता है। किसी दो वर्षके बच्चेको आप लोग यों भी तो खिलाते हैं कि ऊपर थोड़ासा उसे फेंक देते हैं और फिर उसे आप झेल लेते हैं। अब ऊपर जब आप फेंकते हैं तो वह बच्चा डरके मारे अपना मुंह फैला देता है। आप समझते हैं कि वह हंस रहा है, प्रसन्न हो रहा है, और आप उसे देखकर खुश हो जाते हैं। यह क्या है? यह सब अपनी कल्पनाकी और अज्ञानकी चेष्टा है।

तपश्चरणके फलमें प्रतिष्ठाका अमोह—देखिये भैया! अब तक किसका यश रहा? कौन जानने वाला है, कितनीसी बात है और कोई गुण भी गाये तो जो चला गया जीव उस जीवको उन गाये जाने वाले गुणोंसे क्या लाभ है? हालांकि यह बात है कि जो सदाचारी होता है, ज्ञानी होता है, परोपकारी होता है वह यशस्वी बनता ही है, पर स्वयं वह यशकी ओर झुकाव करे, लाभ पूजाकी ओर झुकाव करे तो उसे इसमें कुछ तत्व न मिलेगा। उसने तो तपश्चरणरूपी वृक्षको ही छेद डाला। अब उसका फल देवगति मिलना अथवा मुक्ति मिलना यह कहांसे हो सकता है? परिणामोंकी बड़ी विचित्रता है जिसके उदयमें ऐसे विचित्र परिणाम हो जाते हैं। एक बार किसी श्रावकने अपने मित्र मुनिके बाबत पूछा समवशरणमें महाराज! उन मुनिराजकी क्या गति होगी, क्या परिणाम है, कैसी स्थिति है? समाधान मिला कि अबसे आधामिनट पहिले तो उनका ऐसा परिणाम था कि वे ७वें नरक जाते और अब उनका ऐसा परिणाम है कि वह अहमिन्द्रदेवमें उत्पन्न होंगे। आधा मिनटमें ही देखिये इतना अन्तर आ जाता है। ज्ञान और तपश्चरण पास है तो हे मुनि! इनके फलमें तू आत्मशान्ति और ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति इन दो को ही स्वीकार कर, अन्य सबसे उपेक्षा भाव कर। यह मूलमें श्रद्धा की बात है। तू एक ही निर्णय रख। जाननेके लिए तू जितना बढ़ना है उसका ज्ञान तो जानते रहनेके लिए है। ज्ञानका फल जाननामात्र है।

व्यामोही जनोंका ईप्सित तपःफल–व्यामोहीन ही इस ज्ञानका फल अन्य-अन्य कुछ चाहा करते हैं। तपश्चरणका फल आत्मशान्ति है। अज्ञानीजन तपश्चरण करके सांसारिक नाम पूजा-प्रतिष्ठा लाभ आदिक की चाह करते हैं। इस चाह में क्या रक्खा है? यदि कोई प्रशंसा करने का भाव ही मनमें रखता हो और कोई प्रशंस सुननेक ही व्यसन रखता हो तो उनकी यों कहानी हैं कि जैसे ऊँटका तो हो विवाह और गीत गाने के लिये बुलाये जायें गधे। तो गधे तो गायें–वाह ऊँटका कैसा सुन्दर रूप है और ऊँट गायें–वाह गधोंका कितना सुन्दर राग है? दोनों ही एक दूसरे की प्रशंसा सुनकर खुश होते हैं। यही हाल है इन संसारीजनोंका, सभी एक-दूसरेकी प्रशंसा करके खुश हो रहे हैं।

विशुद्धिका अनुरोध–हे शान्तिके अभिलाषी जनो! काम अपना कीजिए जड़ बैभवसे मूर्छा न रखिये, उनके ज्ञाताद्रष्टा रहिये। जो कुछ भी मिला है वह दूसरोंके लिए मिला है, खुदके लिए क्या मिला है? खुद को तो डेढ़ पाव आटेकी रोटी और तन ढ़कनेके लिए दो कपड़े ही तो चाहिए ना। यह सबकी चर्चा चल रही है, कहीं आप लोग हमारे ही ऊपर न घटा लेना। भोजन और वस्त्रके सिवाय और क्या अपने उपयोग में आता है? कोई कहे पान बीड़ी, तो उनकी उद्दण्डता है। अपना काम विवेक बनाकर अपने आपमें बना लीजिए। इस जगतमें किसीसे भी कुछ न चाहिए। बस मैं आत्माको पिछानूँ, आत्मामें ही रत होऊं, उसमें ही सन्तुष्ट होऊँ, इसीके लिए ज्ञान है, इसीके लिए तपश्चरण है। ऐसा परिणाम रक्खोगे साधुजनों! तो अवश्य ही कल्याण होगा।

तथा श्रुतमधीत्य शश्वदिह लोकपंक्ति बिना,
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनः।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान।।
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयो।।१९०।।

ज्ञानलाभका अभीष्ट फल–हे साधो! शास्त्रोंका अध्ययन करके यदि लोकयशकी चाह बिना तुम तपश्चरण द्वारा इस शरीरको भी सुखा रहे हो और विषय कषायोंके बैरयोंपर तुम विजय प्राप्त कर रहे हो तो ठीक है, करो। यह समता, यह शान्ति, यह विभावोंका उपशम ये ही तो शास्त्रज्ञान और तपश्चरणके फल हैं। यदि शास्त्रज्ञान केवल लोकरिझावन के लिए है अथवा लोग मेरे बारेमें कुछ दो शब्द कह दें, या मानलो इसके लिए ही यह ज्ञान है तो हे विवेकी पुरुष! तू जरा अन्तर तो देख, तू ने क्या किया? जैसे कोई सुन्दर पुष्ट कलाशील हाथी पाकर उस पर ईधन तोवे अथवा बर्तन मलनेके लिए चन्दनकी लकड़ी जलाकर उसकी राख बनाकर काममें ले तो उसे कौन बुद्धिमान कहेगा? ऐसे ही उत्कृष्ट चमत्कारमय ज्ञानको प्राप्त करके यदि उसके फलमें इन असार बातोंकी कल्पना जगे, देख लो यदि भ्रममें तू किसी विषयमें यदि चतुर है तो क्या तेरे मनमें यह भाव उत्पन्न होता है कि ये लोग मेरी चतुराई समझ जायें? यदि ऐसा भाव होता है तो धिक है। यह तो लौकिक बात है। संसारके संकटोंसे निवृत्त कराने वाले, मोक्षमार्गमें पहुंचने वाले ज्ञानको पाकर भी यदि उस

ज्ञानके फलमें धूल राख मांग ली, लोग कुछ समझ जायें, लोग मेरा बड़प्पन समझ जायें, ऐसी बातोंमें ही यदि पड़ गए तो उससे क्या लाभ रहा? अज्ञानी जन ऐसा सोचते हैं।

दुनियाको रिझानेका आशय–देखो शरीर बल वाले दूसरोंको अपनी बलवत्ता जाहिर करानेके लिए पूरा बल लगाकर बलसे भी अधिक काम करके दिखाना चाहते हैं। लोग जान जायें कि यह बहुत बलशाली है ऐसा ही जिन्हें दुनियाको अपना ज्ञानीपन जाहिर करना है। लोगोंसे ज्ञानीपनकी प्रशंसा चाहते हैं तो पूरा बल लगाकर संस्कृतकी प्राकृतकी और और भाषावोंकी झड़ी लगा देते हैं–चाहे श्रोतावोंकी समझमें कुछ आये चाहे न आये, यह इसलिए करते हैं कि जिससे लोग जान जायें कि यह विद्वान है। यह सब क्या है? चन्दनकी लकड़ीको जलाकर उसकी राख बनाकर काममें लेनेकी तरह है। यदि ज्ञान पाकर तपश्चरण करके उसके फलमें ख्याति पूजा लाभकी चाह करता है तो यह तो तेरे अनर्थकी बात है। तू यदि ऐसा करता है तो तू अभी लोककी पंक्तिमें ही बैठा हुआ है। अलौकिकता कुछ नहीं आयी। और, ऐसी स्थितिमें शरीरका शोषण किया वह भी व्यर्थ। लाभ भी न मिला और जीवनभर शरीरको भी सुखाया। उनकी गति तो दयनीय है।

लक्ष्यकी दृढ़ताका अनुरोध–हे साधो! देख अपना उद्देश्य, अपना लक्ष्य निर्मल बना। तेरे पर अनतरङ्ग के संकट आते हैं तब भी, बहिरङ्गके संकट आते हैं तब भी तू उन संकटोंके भावोंको और अधिक भीतर अन्तरङ्गमें, अपने आपमें इन श्रद्धानको तो पूर्ण शुद्ध स्वच्छ ही बनाये रहे मेरा स्वभाव तो एक ज्ञानमात्र है,जाननस्वरूप है, ज्ञानानन्दस्वभावमात्र ही मैं हूं, इस प्रतीतिको न तज। ज्ञान सम्यग्ज्ञान एक बार जगनेपर वह तो वही रहता है फिर कर्मप्रेरणा, कर्मोदय विशेष आ भी जाये तो भी उलझन मानकर भी, घबड़ा कर भी, विह्वल होकर भी भीतर अव्यक्तरूपसे अपने श्रद्धानका उत्तम फल बराबर पाये ही जा रहा है यह ज्ञानी। हे साधु! लोकपंक्ति न चाहकर, लोकएषणा न चाहकर फिर तू ज्ञान और तपस्यामें कितना ही अपनेको झोक दे, शरीरको सुखा ले, वे सब कार्यकारिणी चेष्टायें होंगी। और एक लोकपंक्ति चाहकर लोकेषणा कितना भी तू कुछ कर ले परोपकार आदिक तो निमित्तनैमित्तिकता जो कुछ होनी हो, होती ही है, उसका तो कोई भंग न कर देगा।

उपशमभावकी कार्यकारिता–भैया! केवल शास्त्रोंका पढ़ना और तप का करना ही तो कार्यकारी नहीं है। कार्यकारी तो उपशमभाव है, शान्ति का परिणाम है। यदि कोई पुरुष शास्त्र पढ़कर तत्वज्ञान बलसे कषायोंको कम करता है, तपश्चरण करके ऐसा अन्तः यत्न करता है कि इष्ट अनिष्ट अनेक वातावरण साधन सामग्री मिलें तब भी रागद्वेष नहीं होने दे, ऐसा साधन बनाता है, कषाय दूर करता है उसके तो शास्त्रअध्ययन और तपस्या दोनों ही सफल हैं। और जो शास्त्र पढ़कर तपस्या करके मन रमाने का ही काम करे। मान बड़ाईका ही काम करे। मौजसे गुजारा चल रहा है इसमें ही तृप्त हो जाये तो जैसे और लोग किया करते हैं विषयकषायोंके अर्थी, व्यापार करें, सेवादिक करें तैसा ही इस साधुने लौकिक कार्योंके लिए तपश्चरण किया है, ज्ञान सम्पादन किया

है, भेषमात्रसे अन्तरङ्गका अन्तर तो ज्ञान और अज्ञानका है। इस कारण हे मुमुक्षुपुरुषों! तपश्चरण करो, ज्ञान करो और ज्ञानका फल ज्ञातादृष्टा रहना मानो और तपश्चरण का फल विषयकषायोंका कम होना मानो। इस ही लक्ष्यको करके तुम ज्ञानमें और तपश्चरणमें खूब वृद्धि करो, इसमें ही कल्याण है।

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं,
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्!।
स्नेहाद्यु पक्रमजुषो हि यथातुरस्य,
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य।।१९१।।

अनर्थकारी विषयाभिलाषमें गमन पर खेद–हे आत्मन्! तू श्रृंगार सहित लोकको देखकर क्यों विषयोंकी अभिलाषाको कर रहा है? देख यह थोड़ी भी इच्छा महान् अनर्थको उत्पन्न करती है। मोह रागमें मस्त मोहीजीवोंको यह विषयोंका स्नेह थोड़ा भी हो तो भी दुर्गतिका कारण है। जैसे स्वर वाला रोगी थोड़ा भी स्नेह घी अथवा तेल जरा भी खा ले तो उसका रोग बढ़ाने के लिए होता है औ संताप उत्पन्न करनेके लिए होता है। जैसे खांसी ज्वर वालेको जरा भी घी उसको बरबाद कर देता है इसी प्रकार मोहीजीवोंको जरासा भी स्नेह बरबाद कर देता है।

निराकुलताके अथं कर्त्तव्य–हे भव्य! यदि तू निराकुलता चाहता है तो अपने चित्तमें आन्तरिक एक ही निर्णय रखो, मुझे परपदार्थोंसे कोई प्रयोजन नहीं। उनसे मेरे हितको कोई आशा नहीं, मैं ही स्वयं अहने आपमें रत रहकर तृप्त होऊँ तो यही मेरा भाव मुझे शरण होगा। जगतका कोई भी अन्य पदार्थ मेरेको शरण कभी हो ही नहीं सकता। यह अभिलाषा मायारूप है। यह इच्छा स्वयं ही अधिक देर तक नहीं टिक सकती है और इस क्षणिक इच्छाके प्रलोभनमे यह जीव आया तो उसको दुःखोंकी संतुति बन जायेगी। अतः हे मुमुक्षु! तू विषयोंकी अभिलाषाका परित्याग कर दे।

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमति स्वयं,
सकृदपकृतं श्रुत्वा खद्यो जहाति जनोऽप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे,
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः।।१९२।।

दुःखदायिताके अवगममें त्यागकी नीति–किसीको स्त्रीसे अधिक प्रीति हो और कुछ कालके बाद यह समझमें आये कि इस स्त्रीसे दुराचारकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है तो वह पुरुष एक बार भी अपकारकी बात दुराचारकी बात सुनकर उसे शीघ्र ही त्याग देता है, लेकिन हे आत्मन! यह विषयोंकी अभिलाषा जो भव-भवमें साक्षात दुःख उत्पन्न करती है यह दुराचारस्वरूप है जो भव-भवमें इसे पीड़ा देती है। क्या ऐसी विषयोंकी अभिलाषा को नहीं त्याग सकता। देख जैसे तुझे इन विषयके साधनोंसे वाञ्छा जगी है, उनसे प्रीति करता है किन्तु अब समझ ले कि इन विषयसाधनोंकी, विषय वाञ्छावोंकी प्रकृति दुराचारस्वरूप है। अपने आपके आत्मतत्वसे चिगकर

बाह्यपदार्थोंमें दृष्टि को गड़ाना यही अध्यात्मदृष्टिसे दुराचार है। इस दुराचारको तू अपना रहा है, इसे छोड़ता नहीं है। जो दिख भी रहा है साक्षात् कि भव-भवमें यह दुःख देता जा रहा है।

अब्रतत्यागकी न्याय्यता–एक बार एक ब्राह्मणकी कन्याने किसी वन में विराजे हुए दि० जैन साधुसे जन मुनिसे पंच पापोंके त्यागका ब्रत ग्रहण किया। अपने घर आयी, पिताजीको समाचार दिया कि हमने इस तरहसे पंचब्रत ग्रहण किया है दिगम्बर जैन साधुसे। तो वह ब्राह्मण क्रुद्ध हो गया, तूने मुझसे बिना पूछे ब्रत क्यों लिया? बोला तू इन ब्रतोंको अभी छोड़ दे। लड़की बोली पिताजी छोड़ दूंगी ब्रत, किन्तु साधु महाराजने यह भी कहा था कि यदि इस ब्रतको छोड़ना तो मेरे ही पास आकर छोड़ना। तो आप चलिए, महाराजके पास चलकर छोड़ दूंगी। चले और पुत्री। रास्ते में एक मनुष्य को फांसी दी जा रही थी। लड़कीने पूछा–पिताजी यह क्या मामला हो रहा है? पिता बोला–बेटी, इसने कतल किया है, दूसरे की जान ली है इसलिए इसे फांसी दी जा रही है। पुत्री बोली कि जब एक आदमीकी हत्यामें इसे फांसी दी जा रही है तो किसीकी हिंसा करना बुरी ही तो बात है। हमने यदि हिंसाका त्याग करदिया तो कौन सी बुरी बात है जो आप ब्रत छोड़नेके लिए कह रहे हो?...अच्छा बेटी तू एक इस ब्रतको लिए रह, शेष ब्रत तो छोड़ दे। आगे जा रहे थे कि किसी मनुष्यकी जिह्वा छेदी जा रही थी। पूछा–पिताजी यह क्या हो रहा है?...इस मनुष्यने बहुत विकट झूठ बोला है इसलिए इसकी जिह्वा छेदी जा रही है।...तो पिताजी झूठ बोलनेके कारण जिह्वा छेदी जा रही है तो हमने झूठ बोलनेका त्याग किया तो अनर्थ किया?...अच्छा बेटी तू इस ब्रत को भी लिए रह, शेष ब्रत तो त्याग दे। आगे चले जा रहे थे। रास्ते में कुछ सिपाही लोग एक पुरुषके हथकड़ी डाले पीटते हुए लिये जा रहे थे। लड़कीने पूछा–पिताजी यह क्या मामला है?...बेटी इसने दूसरेका धन चुराया है इस कारण यह कैदी बनकर पिटता हुआ जा रहा है।...तो पिताजी हमने चोरी करनेका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?...अच्छा बेटी तू इस ब्रतको भी लिए रह, शेष तो त्याग दे। आगे बढ़े तो एक जगह एक पुरुषके हाथ काटे जा रहे थे। लड़की बोली–पिताजी यह क्या मामला है?...बताया कि इस पुरुषने दुराचार किया है इसलिए इसके हाथ काटे जा रहे हैं।...तो पिताजी कुशील बुरा हुआ ना? यदि मैंने कुशीलका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?...अच्छा बेटी तू इस ब्रतको भी लिए रह। आगे देखा तो एक पुरुषपर बड़ी विकट मार पड़ रही थी। लड़कीने पूछा–पिताजी यह क्या मामला है?...बताया कि इसने अन्यायसे दूसरोंका धन अधिक लेना चाहा, इसीसे इस पर यह मार पड़ रही है। इसके तृष्णा जगी है, इसको पाये हुए धन पर सन्तोष नहीं है।...तो पिताजी परिग्रह दुःखकी खान है ना। यदि मैंने परिग्रह त्यागका अर्थात् परिग्रह परिमाणका ब्रत लिया तो क्या बुरा किया?...अच्छा बेटी तू इस ब्रतको भी लिए रह, किन्तु चल तो उस साधुके पास, उसने मेरे पूछे बिना तुझे ब्रत क्यों दिया? उसको तुझे ब्रत देनेका क्या अधिकार है?

वास्तविक पितृत्व–जब साधु महाराजके पास दोनों पहुंचे तो ब्राह्मण बोला–महाराज तुमने हमारी लड़की को बिना हमसे पूछे ब्रत क्यों दिया? साधु बोला कि लड़की हमारी है कि तुम्हारी है?

अरे महाराज आप गलती परगलती करते चले जा रहे हैं। अच्छा तू सब लोगोंको इकट्ठा करले और जब सब लोग एकत्रित हो जायें तब देखना लड़की किसकी है? इकट्ठा हो गये सब लोग, सभी बड़ी उत्सुकतासे देख रहे हैं। साधु महाराज इसे अपनी लड़की बता रहे हैं। साधुने आर्शीवाद देकर बस लड़कीके सिर पर हाथकी छाया करके कहा कि हे पुत्री! जो तुझे हमने सिखाया वह सब तू व्याख्यान कर। उसे एकदम विशेष क्षयोपशम जगा, विशुद्ध परिणति हुई और जो-जो उसने पूर्व जन्ममें अध्ययन किया था शास्त्रोंकी वे सब बातें व्याख्यान करने लगी। तब ज्ञानियोंने समझा कि वास्तविक पितृत्व आत्मरक्षकतामें ही है। मोही लोग अचरज करने लगे।

अनर्थमूल विषयाभिलाषकी परिहार्यता–यह इच्छा, व्यसनकी पापकी उत्सुकता ये सब साक्षात् दुराचार ही तो हैं और इनके फलमें सीधा देख भी रहा है कि बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं, पर इनको दूर नहीं करना चाहता। तू कितनी कामनायें वासनायें बनाये जा रहा है, ये सब भव-भवमें तुझे रुलाने वाली चीजें हैं। इनका तू परिहार नहीं करता। हे भव्यजन! शान्ति चाहते हो तो समस्त अनर्थोका मूल जो विषयोंकी अभिलाषा है उसका तू त्याग कर दे। थोड़ा धर्म करता, थोड़ा विषयोंमें जाता ऐसा ढिलमिल कार्य करके तुझे सफलता न मिलेगी। तू एक निर्णय रख कि मुझे समस्त परवस्तुवोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है। मेरा जो विशुद्ध आत्मा है उसमें ही रमें, इसहीके लिए हमारा जीवन है, यों निर्णय करके आत्मकल्याणकी धुन बनायें।

आत्मन्यात्मविलोपनात्मचरितैरासीददुरात्मा चिरं,
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः।
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना।।१९३।।

दुराचारसे विपत्ति–हे आत्मन्! तू आत्मज्ञानका विनाश कर अज्ञानी बन रहा है। देख आत्मज्ञानका घात करने वाली इन विषय कषायोंकी प्रवृत्तियोंसे तू चिरकालसे दुराचारी होता चला आ रहा है। जब तक आत्माका सम्पूर्ण विकसित होनेके कारणभूत ज्ञान और वैराग्य भावको स्वीकार नहीं करता है तब तक तू इस ही प्रकारइस संसार समुद्रमें गोते ही खाता रहेगा। अपने सहजस्वरूपकी सुध ले। मोहजालको मूलसे काट। इस मोहजालमें कोई सिद्धि नहीं है। क्षणिक समागम है, कुछ समयके लिए मिला हुआ वैभव और परिजन है, तिस पर भी ये सब भिन्न पदार्थ हैं। समागमके कालमें भी जैसा हम चाहें तैसा दूसरे परिणमन करलें ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ कोई दूसरा मेरी इच्छाके अनुकूल कुछ परिणमन भी करता है तो वह अपनी चाहसे करता है, मेरी चाहसे नहीं करता। कोई दूसरा प्राणी मेरी चाहसे कुछ कर ही नहीं सकता। तू उन परपदार्थोंकी ममताका परिहार कर और अपने सहज स्वभावको अंगीकार कर।

सदाचारसे सिद्धि–यह आत्मा ही परमात्म दशाको प्राप्त कर लेता है ना। यह आत्मा ही स्वयं केवलज्ञान स्वरूप है ना। सो अपने आपके ध्यानसे ही अपने आपके पुरुषार्थ से ही अपने यह

आत्मीय आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। शुद्ध आत्मभावों धारण करके अपने अध्यात्मस्वरूपमें ही यह ज्ञानी ठहर सकता है। जब तक तेरी बहिरात्म दशा है तब तक तू अपने कषायके सेवनसे दुराचारी ही बना हुआ है। जब ज्ञान और वैराग्य की परिणति करेगा तब तू सदाचारी है। जैसा आत्माका स्वरूप है और जिस पद्धतिमें आत्मामें शान्ति उत्पन्न होती है ऐसा सीधा, स्वाधीन, सुगम सहज उपाय यही है सदाचार। सदाचारसे शान्ति है और दुराचार से कष्ट भोगना होता है। तू अपने आपके स्वरूपमें आचरण कर, यही तुझे शरण है।

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवाद्वाहित–
स्तेतोऽनशानसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमै:।
क्रमेण विलपावधि स्थिरितपो विशेषैरिदम,
कदर्थय शरीरंक रिपुमिवाद्य हस्तागतम्।।१९४।।

संकटोंका कारण शरीर सम्पर्क–इस जगतमें इस शरीरने तुझे अनन्तकाल तक दास बनाकर सेवककी नाई परिभ्रमण कराया। आत्मा तो एक ज्ञानस्वरूप है किन्तु इस शरीरके सम्बन्धमें रहकर इसने लोकमें सर्वत्र भ्रमण किया। यह केवल अकेला होता, शरीरका बन्धन न होता तो यह काहे को भटकता? देख इसही शरीरने तुझे इस जगत्में भटकाया और इतना ही नहीं जितने क्लेश तू ने सहे हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे सहे हैं। भूखसे बड़ी वेदना होती है तो वहाँ भी शरीरका सम्बन्ध ही कारण है। प्यास, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, नामवरीकी चाह धन संग्रह करने की बुद्धि, लालच, सभी प्रकारके जितने भी कष्ट और श्रम हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धके कारण है।

मानसिक ऊधम विपदाओंका कारण शरीरसम्पर्क–भैया! और तो जाने दो, जो उद्दण्डता है, ऊधम है, याने शरीरमें कुछ वेदना नहीं है फिर भी मनकी चाह बढ़ा-बढ़ाकर यश, नाम, चाह, व्यामोह बनाकर जो विकल्प किए जाते हैं, श्रम किए जाते हैं वे ऊधम हैं। ये ऊधम भी महा क्लेश हैं। शरीरके सम्बन्ध बिना तो यह सब क्लेशजाल नहीं हो रहा है। जब कोई इस शरीरको नजरमें रखकर यह जानता है कि यह मैं हूं तब यह भी भाव हुआ कि मेरा लोगोंमें बड़ा अच्छा स्थान रहे, नामवरी बढ़े, यश हो। ऐसी चाह क्या तब होती जबकि अकेला आत्म होता, यह शरीर पिंडोला साथमें न होता? न होती। इस शरीरके सम्बन्धसे मोहवश ये सारी खटपटें हुआ करती हैं? क्या कोई ऐसा सोचकर दुनियामें अपना नाम रखनेका भाव कर सकता है कि यह मै एक चैतन्यस्वरूप हूं, एक चिदात्मक अमूर्त तत्व हूं? नहीं। पर्यायबुद्धिसे ही ये सारे ऊधम चल रहे हैं।

अनर्थशरीरसे प्रीतिकी व्यर्थता–देख इस शरीरने तुझे दास बनाकर जगतमें भ्रमाया और नाना प्रकारके कष्ट दिलाये और तू इस शरीरमें ही बड़ा अनुराग कर रहा है। इस शरीरको निरखकर तू हर्षमग्न हो रहा है। तुझे यह पता नहीं कि कुछ ही दिनों बाद यह शरीर भस्म बन जायेगा, राख हो जायेगा या पक्षी चोंटकर समाप्त कर देंगे? इस विनाशीक शरीरसे क्या प्रीति करना? और देख जैसा तेरा यह शरीर विनाशीक है और तुझे बंध मालूम होता है ऐसे ही तो ये सब शरीर हैं। तू

दसूरोंके शरीरसे भी प्रीति करता है। अरे ये सभी शरीर अशुचि, मल, मूत्र, मांस, चाम आदिके पिंड हैं, अपवित्र चीजें ही इसमें सब भरी हैं। रंच भी तो इसमें कोई सार बात नहीं है। पशुवोंके शरीरमें तो लोकव्यवहार में कोई सारभूत वस्तु मिल सकती है हड्डी, चाम, रोम, दंत इत्यादि पर ये तेरे हड्डी, चाम, रोम इत्यादि तो किसी भी कामके नहीं हैं। ये तो सब जलाकर भस्म कर दिये जायेंगे।

देहकी भयानकता–देखो भैया! ऊपरकी थोड़ीसी चिकनाई और चाम भी कुछ सजे हुए मालूम देते हैं। तू इस चामको नजरसे ओझल करके इसके अन्दर जो कुछ है उसकी तो कल्पना कर। जैसे मरघटमें मुर्दे की खोपड़ी पड़ी रहती है शायद कभी देखा हो या बिजलीके खम्भोंमें जहां पर डैन्जर अथवा खतरा अथवा सावधान लिखा रहता है वहाँ पर खोपड़ी का फोटो टंगी रहती है उसे देखा होगा तो वह कितना भयानकसा लगता है। हड्डी निकली, आँखोंकी जगह दो गड्ढ़ेसे, नाककी जगह तो बिल्कुल बेढंगासा दिखता है। वही चीज तो इस जिन्दा हालतमें है। कोई नई बात नहीं है। जो रूपक, जो आकार, जो ढंग उस मुर्दाकी खोपड़ीमें है वहीकी वही चीज जिन्दा मनुष्यकी खोपड़ीमें है। जिस शरीर ने तुझे कष्टका कारण बनाया उस ही शरीरसे प्रीति करता है। अरे जिन्दा रहनेके लिए कुछ खा लिया जाता है वह तो ऊधम नहीं है, पर यह अपने भीतरकी ईमानदारी है कहाँसे क्या होता है।

नरभवके सदुपयोगका अनुरोध–हे आत्मन! तू अब इस शरीरको ब्रतमें, तपमें, संयममें लगाकर इससे अपने आत्माका काम निकाल। अनशन आदिक तपश्चरण करके ऐसे ही क्रम क्रमसे तू जीवनके दिन पर्यन्त इस कायको क्षीण करने योग्य तपश्चरणको करते हुए शरीर भी क्षीण हो रहा है तो तू इसका रंच शोक न कर। उसमें लाभ मान। होने दे क्षीण। जिसमें आत्माको वास्तविक परमार्थ प्रसन्नता रहे उस कार्यको करनेसे तू क्यों विमुख होता है? इस शरीरको तू ज्ञान, ध्यान, तपस्या आदिक कार्योंमें लगा। तू ऐसा जान कि जैसे किसीको शत्रु हाथ लग जाये तो उस शत्रु को वह क्षीण कर देता है, वैसा ही तू भी समझ ले। मानो यह शरीर शत्रु तेरे हाथ लग गया है, तू इसको क्षीण कर। भेदविज्ञानकी भावनासे बल बढ़ा, जिस भावनामें इस शरीरका सदाके लिए सम्पर्क छूटे और अकेला आत्मा ही रहकर अपने स्वरूपमें समा करके सहज अनन्त आनन्दको भोगता रहे। ऐसा ज्ञान बनाना ही सत्य पुरुषार्थ है।

आदौ तनोर्जननमत्र हतन्द्रियाणि,
कांक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानम्।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु–
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥

शरीरकी शरारत–यह शरीर अनर्थकी परम्पराका कारण है। जितने भी कष्ट, अनर्थ, विवाद होते हैं उन सबका मूल कारण यह शरीर है। देखो प्रथम तो इस शरीरकी उत्पत्ति होती है और इस शरीरमें ये हत्यारी इन्द्रियां विषयोंको चाहती हैं। जैसे लोकव्यवहारमें कहते हैं ना–नासकी मिटी

फलानी चीज। यह एक गाली होती है। तो इन्द्रियोंको यहां हत कहा गया है। नासकी मिटी ये इन्द्रियां विषयोंको चाहती हैं, और यह विषय मानका भंग करता है। विषयोंकी अभिलाषा जगे तो गौरव नहीं रहता, मान स्वाभिमान नहीं रहता। दीन और याचक बन जाता है, किसी भी प्रकारका विषय हो। ये विषय महाक्लेशके कारण हैं, भय उत्पन्न करने वाले हैं, पापके कारण हैं। खोटी योनियोंके देने वाले हैं। तब यही तो सिद्ध हुआ कि समस्त अनर्थ परम्पराका मूल कारण यह शरीर है।

विषयाभिलाषमें मानहानि—यह जीव संसारदशामें पूर्वशरीरको छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता है तो प्रत्येक शरीरमें क्या गुजरी बात? जिस समय जीवकी जैसी योग्यता है उसके अनुरूप शरीर इन्द्रियां उत्पन्न हुई और इन इन्द्रियोंने विषयोंकी उत्सुकताकी और ये विषय अपमानके कारण हैं। घर ही में किसी को खानेकी चीजको कहना पड़े तो उसमें भी हालांकि आपकी चीज है, आपके घरमें है फिर भी कहनेमें थोड़ी हीनता आ जाती है। प्रथम तो घरमें कोई पूछे भी कि आज खाना क्या बनायें तो उसका उत्तर देनेमें भी थोड़ी हीनता आती है। अरे जो बनाना हो सो बनावो। किसी भी विषयकी इच्छा उत्पन्न हो तो वहां मान नहीं रहता। भोजन कर रहे हैं और मांगते जा रहे हैं—रोटी ले आवो, साग ले आवो, मीठा ले आवो तो यद्यपि वह आपके घरकी ही बात है। आपकी ही चीज है, पर इतने शब्द बोलनेमें आप ही सोच लो—हीनता आती है या नहीं। फिर जिन वस्तुवों परअपना अधिकार नहीं उन वस्तुओंकी भी वाञ्छा करे तो उसमें मान कहां रह सकता है?

शरीरमें सकल अनर्थ परम्पराकी कारणता—यह शरीर समस्त अनर्थो की परम्पराका कारण है। आजकल ही देख लो सभी लोग पसीनेसे लथपथ हो गये हैं, अपना ही शरीर अपने हाथसे नहीं छुवा जाता, ऐसी स्थिति में भी इस शरीरसे मोह नहीं छोड़ा जा पाता। अनेक आवश्यकतावोंकी पूर्ति और सभी बातें ज्योंकी त्यों हैं। समस्त अनर्थोकी जड़ है यह शरीर। सारे रोग, सारे मेल मिलाप, सारे विसम्वाद, कलह, आपत्ति, चिन्ताएँ ये सब इस शरीरके कारण हैं। लोग जरासी बातोंमें अपना सम्मान अपमान महसूस करने लगते हैं। इसका भी कारण यह शरीर है। देखो उसने मुझे यों कह दिया। अरे तू किस मुझको कह रहा है? इस शरीरको ही तो दृष्टिमें रखकर कह रहा है तो देखो अनर्थोकी परम्पराका कारण यह शरीर है।

शरीर विनाश करके भी शरीरख्यातिकी चाह—जिसने अपने शरीरसे मोह छोड़ा उसने सबसे मोह छोड़ा। कोई-कोई योद्धा युद्धमें अपने शरीर को झोंक देते हैं। क्या आप यह कह सकेंगे पूर्णरूपसे कि उस योद्धाके अपने शरीरसे मोह नहीं है? अरे इस शरीरके आधारसे होने वाला जो यश है उस यशकी चाहसे जिसने शरीरको भी युद्धमें झोंक दिया वह शरीरका मोह त्याग नहीं है। उसने इस शरीरकी प्रसिद्धिके खातिर इतना अधिक विकल्प बनाया कि शरीरका नाश करके भी शरीरकी ख्याति चाही है। मोह कहाँ तजा?

विसंवादोंका कारण शरीरसम्पर्क—घरमें जरा-जरा-सी बातोंपर झगड़ा हो जाता है। जैसे महिलावोंमें आपसमें न बने, सास बहूमें अथवा जेठानी दौरानीमें खूब झगड़ा मचा रहे तो उसका क्या

कारण है? अरे उन्हें धनार्जनसे कोई प्रयोजन नहीं कि हमारी कमाई कम है, इसकी ज्यादा हो रही है। कमाई तो सब पुरुष तो कर रहे हैं, लड़ने झगड़नेकी क्या जरूरत थी, क्या जीवन यात्राके लिए वह लड़ाई आवश्यक थी? आवश्यक तो न थी, पर वे क्या करें, शरीरमें है आत्मबुद्धि। यह मैं हूं, उससे रूपक बना एक जालका। तो वहाँ पद-पद पर अपमान महसूस किया जाता है। पढ़ी-लिखी बहू घर आ जाये, और सास हो बिना पढ़ी तो सासकी कोई बात मान लेनेमें बहूको अपमानसा महसूस होता है। मुझ पर आज्ञा, यह मूढ़ मैं बी०ए०एम०ए०। जिसको एक अक्षर बांचना नहीं आता वह मुझ पर हुकूमत करे। अरे यह सब अहं बुद्धिका ही तो परिणाम है और सास अपने उस गौरवके लिए लड़ी मरी जा रही है। इस बहूको तो रोज हमारे चरण छूना चाहिए। यह तो ढंगसे कभी बैठती भी नहीं, एक भी बात नहीं मानती। नाना कल्पनाएँ होती हैं, यह सब क्या है? यह सब शरीरके सम्बन्धके कारण है। चैतन्यमात्र जैसा स्वरूप है वैसा अपनेको मानकर कौन विवाद करता है?

आधिव्याधि उपाधिके कारणभूत शरीरके मोहके त्यागका अनुरोध—आधि, उपाधि ये सब इस शरीरके सम्बन्धके कारण होते हैं। आधि मायने मानसिक चिंता—वह भी इस शरीरके सम्बन्धके कारण है। व्याधि मायने शरीरके रोग ये भी इस शरीरके कारण हैं और उपाधि मायने उप मायने समीप आधि मायने मानसिक चिन्ता जो मानसिक चिंताओंके समीप लाये उसे कहते हैं उपाधि। जैसे बी०ए०, एम०ए०, शास्त्री, न्यायतीर्थ ये सब उपाधियां हैं। जो इन उपधियोंसे लगाव रखते हैं वे आधिसे ग्रस्त हो जाते हैं। तो जितनी भी विपत्तियां हैं, अनर्थ हैं वे सब इस शरीरकी नींव पर बने हुए हैं। यह मोही जीव अनर्थके कारणभूत इस शरीरसे ही प्रेम करता है। इस शरीरका विकल्प छोड़कर, ख्याल छोड़कर कुछ समय तो अपने आपका जो स्वरूप है, स्वभाव है उसका चिन्तन मनन कीजिए।

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम।।१९६।।

मोहियोंकी देहपोषणमें प्रवृत्ति—मोहीजन शरीरको भी पुष्ट करते हैं और विषयोंका भी सेवन करते हैं। इन मोही जीवोंको कुछ भी पाप आदिककी बात दुष्कर नहीं है, मानो विष पीकर जीने की इच्छा कर रहे हैं धर्मसाधनाके लिए जीवन रखना जरूरी है, और जीवनके लिए कुछ अन्न जल देना जरूरी है—एक तो यह भाव है उसमें अविवेकका नाच नहीं है। अनेक बड़े-बड़े योगीश्वरोंको भी ऐसा करना पड़ता है, और एक स्वादिष्ट भोजन, चरपरा भोजन कर-करके शरीरको पोषते हैं। यह मोह ही कराता है। जो चीजें सीधी खाई जा सकती हैं उनको भी साग बनाकर लोग खाते हैं। किसमिस छोहार आदि चीजें सीधे खाई जाने वाली चीजें हैं पर इनको भी लोग घी, मसाले डालकर साग बनाकर खाते हैं। यह सब क्या है? यह सब व्यर्थकी एक विषयाभिलाषा है। स्वादिष्ट भोजनकी चाह है। तो यों शरीरका पोषण करना, यह तो मोहकी बात है। खाते जायें कितने ही

बार, ६ बार सात बारका कोई ठिकाना ही नहीं, न दिनका न रातका और ख्याल बना है, रातके ९ बजे दूध पीना इस शरीरकी पुष्टिके लिए हैं, यों कल्पनाएँ कर रहे हैं। अरे ऐसे दूध पीने वालोंको देखलो और सीधा-सादा दो एक बार ही दिनमें खाने वालों को देखलो, कहाँ अन्तर आया? केवल एक व्यर्थकी कल्पना शरीरके ही पोषण का और प्रेमका परिणाम है।

शरीरपोषणका मोहमें प्रयोग–मोहकी दशामें शरीरके पोषणकी बात तो चलती ही है और फिर शरीरका पोषण करके प्रयोग क्या करते हैं? विषयोंका सेवन, ५ इन्द्रियां और छठा मन इनके विषयोंके साधनोंकी वृद्धि, ये ही दो काम मोही जीवोंको रुचते हैं। खूब देख लो, ये मोहीजन चौबीसों घंटे इन्हीं दो कामोंमें लगे रहते हैं। तीसरी बात कुछ भी उन्हें नहीं आती। उपकार करेंगे, नेतागिरी करेंगे उसमें भी मनका विषय जुड़ा हुआ है। तो मोही जीव शरीरको पुष्ट करते हैं, और विषयोंका सेवन करते हैं, ऐसे मूढ़ जीवोंको कुछ भी विवेक नहीं है। जो ज्ञानी हैं, विवेकी हैं वे विषयोंसे अधिक प्रेम नहीं करते। यहाँ ही उनकी प्रवृत्ति देख ली ना।

कुरूपमें सजावटकी आवश्यकता–कोई लोग शरीरका बड़ा श्रृङ्गार करते हैं। गहनोंसे अंग सजा लिया, इतने पर भी मन न भरा तो मुंह पर सफेद राख लपेट लिया, इतने पर भी मन न भरा तो ओठोंको लाल कर लिया, इतने पर भी मन न भरा तो आँखोंमें काजल लगा लिया। खुदका मुँह खुदको तो दिखता नहीं, सो दर्पणको देख-देखकर खुश हो रहे हैं। ऐसी सजी-धजी सूरत चाहे किन्हीं मूर्खोको रुच जाये, पर विवेकी लोग तो उसकी सारी पोल जानते ही हैं। शरीर यह खुद सुन्दर नहीं है, इसी लिये काजल, लाली, पाउडर आदि बाहरी चीजें लगाकर सुन्दर बनानेकी कोशिश की गयी है, समझने वाले सब जानते ही हैं। तो शरीरका साज श्रृङ्गार बनाना यह मोह बिना होता है क्या? शोभा गुणोंसे होती है। इस चामकी सजावटसे शोभा नहीं होती और आन्तरिक प्रसन्नता भी गुणोंसे मिलती है। इस शरीरकी सजावटसे प्रसन्नता नहीं मिलती, लेकिन मोही जन इस शरीरका ही पोषण करते हैं और विषयोंको सेवते हैं। विषयोंके सेवनसे वे चाहते तो सुख हैं मगर होता क्लेश है।

विषयलोभमें दुर्दशा–भैया! देख लो ना घर-घर दशा। जो विषयोंके लोभी हैं वे धनिक हों तो उनकी दुर्दशा देख लो और चाहे गरीब हों उनकी दुर्दशा देखलो। पुराणोंमें बताया है कि सत्यंधर राजा अपनी ही रानीके अधिक प्रेममें आकर उसने एक काठ बेचने वाले को राज्य दे दिया। उसे राज्यसे अपने विषय सुखोंमें बाधा मालूम होती थी। उतना टाइम देना, दरबारमें बैठना, कुछ काम-काज करना इसमें उसे बाधा जंचती थी सो काष्ठांगारको राज्य दे दिया, फिर काष्ठांगारनेउसी पर चढ़ाई कर दी। काष्ठाङ्गारने सोचा कि यह जीवित रहेगा तो मेरा यश न रहेगा, लोग यही कहेंगे कि यह इसका दिया हुआ राज्य है। लो इतना उपकार करने वाले के प्रति इतनी भी बात न सही जा सकी। कुछ देर बाद जो परिणाम होता है उस पर दृष्टि देकर देख लीजिए।

विषयप्रसंगका परिणाम–भैया! किसी भी विषम प्रसंगमें कुछ भी लाभ नहीं मिलता। घरमें आप हिलमिलकर रहें, बड़े प्रेमसे १०-५ वर्ष गुजरें, बस वही वातावरण, वही समागम आपत्तिजनक

लगने लगता है। करें क्या, इच्छा होती है, उसकी पूर्तिके कालमें थोड़ा सुख मानते हैं, चाह हुई, संतान हो गये, हो गई दो एक संतान, दिलमें खुश हो गये। कुछ समयके बाद तो अनेक घटनाएँ घटती हैं, उन घटनावोंसे अब दुःख में पड़ गए। कोई पुत्र प्रतिकूल है, किसीका कुछ खर्च है, किसीका कुछ है और नहीं तो यही देख-देखकर कि ये सब मतलबके गर्जी हैं, अरे इन मतलब के गर्जियोंको तुमने ही तो पैदा किया। अब वे बुरे लगने लगे तो चाहे कुछ भी करें, उन सबका परिणाम अन्तमें क्लेश ही मिलता है।

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्या यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।।११७।।

तपस्विजनोंको उद्वोधन–यह समस्त सम्बोधन साधुजनों की मुख्यता से इस ग्रन्थमें किया गया है। शरीरके अनुरागमें जैसे गृहस्थजन मनमाना जो बनाना आवश्यक समझा है कर लेते हैं। गृहस्थजनोंकी इतनी-सी बात जो हम आपको सोचने में ऐसा लगेगा कि यह तो कुछ भी बात नहीं ठीक है। उसके मुकाबिलेमें कुछ करते हैं ऐसा साधु तो क्या करें, करना चाहिए, समय है ऐसा। यों सोचना ठीक नहीं है। वही बात साधु के अयोग्य है। इस रूपमें गुणभद्र आचार्य कह रहे हैं। ऐ तपस्वीजनों! मुनिजन यहां वहां भयभीत होते हुए हिरणोंकी तरह रात्रिमें बनसे हटकर ग्रामके समीप पहुंच जाते हैं कलिकालमें, यह बड़े कष्टकी बात है।

विशुद्ध कर्त्तव्यमें आस्थाकी आवश्यकता–इस श्लोकमें यह बात दिखायी है कि यद्यपि ये साधुजन दिनमें तो बनमें रह रहे हैं–इस पंचम कालकी बात कह रहे हैं लेकिन रात्रिसे निकट पूर्व बनसे हटकर ग्रामके छोर पर आ जाया करते हैं। आचार्यदेवको यह उचित लग रहा है कि निर्भयताके साथ साधुधर्म निभाना चाहिए। भय मानकर उसके वश होकर ग्रामके निकट आ जाते हैं, इस पर आचार्यदेव खेद प्रकट करते हैं। चूँकि यह प्रकरण शरीर के पोषणका चल रहा था तो यह क्रिया उस शरीर पोषणसे ही सम्बन्धित हुई है ऐसा इसमें दिखा रहे हैं। लगाना ठीक? ऐसा करने लगते हैं तो क्या है? समय भी तो देखना चाहिए, अन्यथा कोई करके बताए। केवल आलोचनासे क्या है? समय देखो किस प्रकार का है और प्रायः किया भी जाता है लेकिन चित्तमें तो यह बात आनी चाहिए कि यह उत्कृष्टताकी बात नहीं है। उत्कृष्टताकी बात है निर्भर होकर बनका निवास बनाकर इस आत्मतत्वकी उपासनामें लगा जाये।

दृष्टिकी स्वच्छताका आदर–जिन बातोंमें मूल गुणका घात नहीं होता, कदाचित वे बातें भी परिस्थितिवश बन जायें तो चलो परपरिणति है, किन्तु दृष्टि तो शुद्ध होनी ही चाहिए। यह कष्टकी बात है, यह अनुत्कृष्ठ बात है, शरीरके पोषणका परिणाम। अपने-अपने पदके अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवहारधर्म हुआ करते हैं। साधुजन चूँकि निर्मोह निग्रन्थका व्यक्तरूप हैं इस कारण इस त्रासको भी शरीर पोषणसे सम्बन्धित मानकर आचार्यदेवने ग्रामके निकट बसने पर खेद प्रकट किया है। शिक्षा यह है कि हम दृष्टि ऐसी बनायें कि निर्मोहताकी दृष्टि बन सके और इस मोहके बन्धनमें न फँस सकें।

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्री कटाक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसंपदः।।१९८।।

निर्विकारतामें कल्याण–इस लोकमें यदि कोई तपश्चरण करता हुआ भी कामवश होकर, विरत्ति सम्पदा लुटाकर दीन होता है और संसार परिभ्रमणकी परम्परा बढ़ानेकी करनी करता है तो ऐसे तपश्चरण के भेषसे गृहस्थपना ही श्रेष्ठ है, यह साधुवोंके सम्बोधनेके लिए ग्रन्थ है। जिस प्रकार साधुजन विकारोंसे अवगुणोंसे हटकर स्वकी दृष्टिमें आयें, आत्मसन्तोष पायें उस प्रकारका उन्हें उपदेश दिया गया है। वह तप भी संसारभ्रमणका कारण है जिस तपश्चरणमें बढ़कर अन्तरङ्ग विकारोंका पोषण किया जाता हो। हे साधो! अपने आपके स्वरूपको निर्विकार निरख और इस निर्विकार आत्मतत्वकी रुचि करके यहाँ ही रत हो और तृप्त हो। अरे ये विकार तेरे स्वरूप नही हैं, ये तो तुझे दुःख देनेके ही हेतु हैं। यही तो एक साहस करने की बात है। अन्तरङ्गमें समस्त बाह्य पदार्थोंसे और परभावोंसे विरक्त रहें यही एक अन्तःपुरुषार्थकी बात है, हे साधो! तू ऐसा ही पुरुषार्थ कर।

स्वार्थभ्रंश त्वमविगणयन स्यक्तलज्जाभिमानः,
संप्राप्तोऽस्मिन् परिभवशतैर्दुः खमेतत् कलत्रम्।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोसि भूयः,
सख्यं साधो यदि डि मतिमान माग्रहीर्ठिग्रहेण।।१९९।।

असारकी प्रीतिमें सारकी अवहेलना–हे भव्य जीव! तू इस शरीरके मोहमें अपने लिए शुद्धोपयोग रूप आत्मकल्याण अथवा पंचमहाव्रतरूप मुनिधर्म अथवा अणुव्रत रूप श्रावकका धर्मके नाशको तू कुछ नहीं गिन रहा है और इस शरीरके लिए ही सर्व कुछ विकल्प और श्रम कर रहा है। देख यहाँ ये सब स्त्रीआदिक संयोग समागम ये सब महादुःखके मूल हैं। आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है और इस ज्ञानानन्दस्वरूप ज्ञानघन निजको जाननेमें ही व्याप्त रहे तो इससे बढ़कर और समृद्धि क्या हो सकती है? जहाँ वास्तविक शान्ति उत्पन्न हो ऐसी क्रियाको, चेष्टाको समृद्धि कहते हैं। देख विषयोंसे ठगाया जाकर लज्ज़ा और स्वाभिमान जो कि धर्मरक्षा के लिए गुण हैं उन सबको तू छोड़ देता है। गौरव नष्ट करदेता है, सो देख जिन विषय साधनोंके समक्ष, जिन चेतन जीवोंके समक्ष तूने अपनी दीनताकी, वे तो तेरे साथ मरने पर एक पग भी न जायेंगे, यह तो ठीक ही है, किन्तु यहां भी तो देख–जीवित अवस्थामें भी जिनसे रोग किया जा रहा है, ये तुझे कौनसी शान्ति उत्पन्न कर देते हैं?

शान्तिका सुगम यत्न–भैया! शान्ति प्राप्त करनेका एकदम सीधा मार्ग है, जहाँ न कोई दीनता है, न विपरीतता है, ज्ञानानन्दघन निजस्वरूपको जानते रहना। इतना यदि किसीसे करते नहीं बनता है तो उसका संसारपरिभ्रमणका काम बन ही रहा है। सीधीसी बात चित्तमें नहीं ठहरती और वक्र विषय पराधीन विभावरूप ये विषय कषायके परिणाम ये इसे परिचितसे लगते हैं, ये हितकारी

हैं, सुखकारी हैं, इस प्रकारके विकल्प इसको उत्पन्न होते हैं, और सीधीसी बात इसे कठिन लगती है जो कि खुद है, खुदमें रत हो जाये, परपदार्थोंका संकल्प विकल्प त्याग दे, लो फिर आनन्द ही आनन्द है। तू क्यों इन परपदार्थोंके समागम में लीन हो रहा है, ये सार परपदार्थोंके समागम तुझे कष्ट दे रहे हैं और भव-भवमें कष्ट देंगे। यदि कुछ बुद्धि है, विवेक है तो समझ। इस शरीर से तू रंच भी प्रीति न कर।

शरीरका विभक्ता—हे आत्मन! तू इस शरीरका पोषण कर रहा है स्वादिष्ट भोजन करके, श्रृङ्गार करके, और इसे आरामसे रखनेके लिए तू अनेक चेष्टाएँ कर रहा है तथा इस शरीरके खातिर, इसही शरीरके संगके कारण तू स्त्री पुत्रादिक परिजनोंमें अनुरागी होकर, निर्लज्ज होकर दीन बन रहा है, पर यह शरीर तो तेरे साथ एक पैड भी न जायेगा। तू चाहे इस शरीरसे कितनी ही मिन्नत कर मरण समयमें, प्रिय शरीर! मैंने तेरे पोषणके लिए सब कुछ खिलाया, मगर तेरे पोषणका भाव यत्न मैंने नहीं छोड़ा, अपनी बरबादी करके भी देख सब कुछ खोकर भी तेरे पोषण के लिए ही मैं सब कुछ करता रहा। अब तू मेरे साथ चल तो शरीरका यह जवाब होगा कि अरे प्राणी, तू बावला होकर बोल रहा है क्या? मैं तो बड़े-बड़े चक्री, तीर्थकर पुरुषोंके साथ भी नहीं गया। जो सिद्ध हो जाते हैं उनसे बड़ा और कौन है? शरीर कर्पूरवत विलीन हो जाता है, सिद्धके साथ भी यह नहीं जाता है और यहां पर भी जो सिद्ध नहीं हुए, स्वर्ग आदिक गतियोंमें उत्पन्न हुए वे भी इस शरीरको छोड़कर ही अकेले जाते हैं।

अनर्थ शरीरसे प्रीतिके परिहारका उपदेश—इस शरीरसे तेरा कोई वास्ता नहीं, यह तो तेरी बरबादीके लिए ही संगमें लिपटा है। मैं तो स्वयं ज्ञानघन हूं, आनन्दपुंज हूं, स्वयं समर्थ हूं, प्रभु हूं, लेकिन ये सम्बन्ध, ये शरीरसंयोग मेरी बरबादी पर ही उतारू हैं और फिर मैं इस शरीरके पोषणमें ही विकल्प बनाये रहूं यह कहां तक उचित है? अब तू इस शरीरसे प्रीति तज और जो इष्टजन मित्रजन आदिक हैं उनसे भी तू प्रीति छोड़ दे।

न कोऽप्यन्सोऽन्येन व्रजति समवायं गुणवता,
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति-
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखे भववने।।२००।।

वस्तुस्वान्यके अवगमसे मोहका परिहार—देख कोई भी पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थसे एकमेक कभी हो ही नहीं सकता और की बातको अधिक क्या समझना, खुद ही देख लो कोई जीव किसी दूसरे जीवसे एकताको प्राप्त नहीं होता। सबके अपने-अपने परिणाम जुदा जुदा हैं। प्रत्येक जीव अपने ही परिणामोंसे परिणम होकर अपना ही अनुभव करता है। कोई किसी दूसरेका कुछ नहीं है। और तू कर्मप्रेरणासे इन रूपीपदार्थो में ममत्वकर रहा है ये पुद्गल जो त्रिकाल भी तेरे नहीं हो सकते जिनसे तू प्रीति कर रहा है। जिन रूपोंसे तू प्रीति कररहा है वे प्रीतिके लायक नहीं हैं तू

बुद्धिहीन होकर आत्मपदसे भ्रष्ट होकर बाह्यमें इन रूपीपदार्थों से प्रीति कर रहा है। वस्तुस्वरूपको अपने उपयोगमें नहीं लेता प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र है। भले ही ये पदार्थ किसी परद्रव्यका निमित्त पाकर विकार और विभावरूप परिणम जाते हैं तब भी किसी निमित्तको कोई अंश लेकर वह विभावरूप नहीं बनता। किन्तु इसमे खुद ही ऐसी योग्यता पड़ी है कि अमुक प्रकारका निमित्त पाये तो अमुक प्रकारकी कषायोंसे परिणम जाता है। वस्तुओंके स्वरूपको स्वतंत्र देखने पर ही इस मोहका परिहार होता है।

वस्तुस्वरूपके बोधसे उद्बोधन–देख लो भैया! जैनशासनमें सबसे अधिक जोर वस्तुस्वरूपके ज्ञान करनेपर दिया है। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्यरूप है। उसमें शिक्षा और क्या बसी है? प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनसे अपना उत्पाद किया करते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणमनसे अपनी पूर्वपर्यायको विलिन करते हैं। और प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने स्वभावसे रह-रहकर ध्रुव बना हुआ है। अब बतलावो किसी पदार्थमें कहीं ऐसी गुञ्जाइश है कि वह मेरा बन जाये। त्रिकाल असम्भव बात है। कोई पदार्थ किसीका कुछ बने, यह असम्भव है। असम्भव बातको कल्पनामें सम्भव बनानेकी चाह करे कोई तो उसका फल मात्रक्लेश है। इन शरीरादिक पुद्गलोंसे तू एकता मानेगा, अपना स्वरूप मानेगा, आसक्त होगा तो भव-भवमें तू भ्रमण करेगा और दुःखी होगा। छेदा जायेगा, भेदा जायेगा, मारा पीटा, ढकेला जायेगा। तू कहां भूला हुआ है? इन देहादिकके ममत्व को तू तज दे।

अपनी सम्हालके यत्नमें सफलता–देखिये किसी पुरुषपर या किसी स्त्रीपर कोई ऐसा वातावरण छाया हो कि उसके कुटुम्बके या पड़ौसी विरुद्ध हो गए हैं, परस्परमें लड़ाई झगड़े चलते हैं, ईर्ष्या है, चित्त नहीं मिलता है, ऐसी एक दुःखकारी स्थिति बनी हुई है तो कुछ विचारो तो सही, क्या स्थिति बनती है? जब तक अपने वास्तविक आत्मस्वरूपको न जाने तब तक ही तो विकल्पोंका यह जाल गुथता रहता है। इन विकल्पों से कुछ सिद्धि नहीं होती है। ऐसा वातावरण भी छाया हो तो भी कुछ चिन्ता मत मानो। इस बातके अमुक यों विरुद्ध है, अमुकसे यों नहीं बनती। तू किसीसे ईर्ष्या मत कर तू दूसरोंके विनाशकी मनमें बुद्धि न बना। कैसी ही कुछ गुजर रही हो, तू अपने आपको सावधान रखनेका प्रयत्न कर। किसी जीवपर विरोधभावकी दृष्टि मत दे काम निकाल। अब गुप्त ही गुप्त अपने ही आपमें स्वरूपका उपयोगी बनकर आत्मलाभ ले, तृप्त और संतष्ठ बन। एक इस आत्मदर्शनके सिवाय अन्य किसी बाह्य प्रसंगमें तू कुछ भी लाभ न उठा पायेगा

संयोगसे असिद्धि–पुण्योदयवश यदि बहुतसा वैभव मिल गया है तो उससे कौनसा पूरा पड़ेगा? बल्कि ये सब प्रसंग तो आकुलताके ही कारण हैं। इन बाह्य प्रसंगोंसे अपने चित्तको विरक्तकर जिससे अपने आपकी साधनासे ज्ञान और आनन्दका विकास बने। इन देहादिकसे प्रीति करके तू लाभ न पा सकेगा। ये समस्त रूपीपदार्थ ये सब परमाणुवोंके पुञ्ज तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। और तुझसे ही भिन्न क्या, जितने परमाणुवोंसे यह पिण्ड बना हुआ है स्कंध वे सब परमाणु भी

परस्परमें एक दूसरेका स्वरूपग्रहण नहीं किए रहते। वे भी भिन्न हैं, पर मिलकर एक बंधरूप हो गए हैं। जब इन पुद्गलस्कंधोंमें भी परमाणु परमाणु प्रत्येक परस्पर न्यारे हैं तो फिर तू तो चेतन है और ये शरीर आदिक अचेतन हैं। ऐसे अत्यन्त विजातीय चेतन और अचेतनका कैसे सम्बन्ध हो सकता है? तू इससे कैसे मिल सकता है, इस कारण तू अपने आपमें केवल अपने स्वरूपको जान, देहादिक परपदार्थोंसे तू ममता त्याग दे।

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोदगतो।
प्रान्ते अन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके।।२०१।।

तेरा वर्तमान कुटुम्ब–देख अभी तो तेरा ऐसा कुटुम्ब है। तेरी माँ तो है उत्पत्ति अर्थात जन्म और पिता है मरण और साथ उत्पन्न हुए भाई कौन हैं? आधि और व्याधि। तेरा जो वर्तमान परिवार चल रहा है उस परिवारकी बात कही जा रही है, ये आधि और व्याधि तेरे भाई हैं और तेरे साथ जो बुढ़ापा लग रहा है वह है तेरा मित्र। समय गुजरने के कारण जो कुछ क्षीणता हीनता होती है वह तेरा मित्र है, ऐसा तेरा कुटुम्ब है। अब जरा पन्ना पलटकर देख अन्तरङ्गमें तो तेरा स्वरूप, तेरा गुण, तेरी शक्ति, तेरी प्रकृतियां ये सब तेरे कुटुम्ब हैं। अब बाह्यमें देखो तो तेरे ये कुटुम्बी हैं।

शरीर कारागार–अच्छा, भैया! और भी देखना है तो देख–यह शरीर तो तेरा कारागार है, इस जेल खानामें चारों ओर विकट ताले लगे हैं, कहाँको भागोगे? जब उस कैदकी अवधि पूरी हो जायेगी तब ही तू भाग सकेगा। भाग अच्छा, देखें तू कैसे भागता है? हम आपको बुलायें कि कल आप १० बजे दिनमें अकेले आना दावत करेंगे सो आप का निमंत्रण है। आप अकेले आना, किसी दूसरे को संगमें न लाना। आप १० बजे दिनमें दूसरे दिन पहुंच जायें तो हम यही तो कहंगे कि भाई साहब हमने तो आपको अकेले आने को कहा था, आप दूसरे को साथमें क्यों ले आये? तो आप कहेंगे वाह अकेले ही तो आये हैं, कहाँ दूसरे को साथ लाये हैं। अरे भाई अपने साथमें वह शरीरका पिंडोला भी तो ले आये हो। हमने तो जो कहा था वही तुम्हें करना चाहिए था। तो बतावों कैसे आप अकेले आयेंगे? यह शरीरका पिंडोला तो साथमें लगा है, यह शरीर तो इस जीवका पक्का कारागार है, इसको छोड़कर कहीं जाया भी नहीं जा सकता।

बन्धन और चिकित्सा–एक तो यह देह स्वयं कारागार और फिर दूसरे ये भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र ये सब पहरेदार हैं, कहीं जा नहीं सकता। अरे भाई क्यों विकट कैदी बने फिर रहे हो? यहाँ कैदी पुरुष तो किसीके कहे सुने कुछ छुटटी भी पा लेते हैं पर इस आत्माको इस शरीरमें ऐसी कैद है कि इसे रंच भी छुट्टी नहीं मिलती तो ये बन्धुजन स्त्री पुत्रादिक इसके पहरेदार हैं। देखते जाइए कैसा यह प्राकृतिक बंदीगृह है। क्या उपाय रचा जाये कि यह आत्म सर्वसंकटोंसे छूटकर वास्तविक आत्मीय आनन्दको प्राप्त हो? क्या करें? जब बाहरमें देखते हैं तो इतना विकट बन्धन मालूम होता है, लेकिन जब अन्तरङ्गमें स्वरूपकी ओर निरखते हैं तो जो होता है होने दो, इसको कोई संकट नहीं है। परपदार्थ हैं, जो परिणति होती हो होने दो उनके ज्ञाताद्रष्टा रहो। तो फिर दुःख कहांसे होगा?

निमित्तदृष्टिका झुकाव और विकार–किसी बालकको दूसरा बालक अंगुली मटकाकर चिढ़ाता है तो जो बालक चिढ़ता है वह न चिढ़े, फिर चिढ़ाने वाला कैसे पीछे पड़ सकता है। होलीके दिनोंमें कोई मस्खरा बूढ़ा बच्चोंको किसी प्रकार सिखा देता है कि तुम हमारे ऊपर धूल डालना। अब जिस घरसे उसकी कुछ अनबन है उस दरवाजे पर जाकर वह बैठ जाता है, बच्चे लोग ढेला, पत्थर, मिटटी, कीचड़ फेंक-फेंक कर उसे मारते हैं। यों उसका सारा घर खराब हो जाता है। यह देहातोंमें होने वाली एक प्रथा है। उस बूढ़ेके भी लग जाता है, दुःखी होता है, किन्तु अन्दरमें दूसरेके बिगाड़की वासना बनी हुई है, सो खुद ठुकपिटकर भी दूसरोंको बरबाद करनेकी धुनमें लगा है, ऐसे ही यह संसारी प्राणी रागद्वेष करके अपनी बरबादी सह रहा है, पर रागद्वेषसे विराम नहीं लेना चाहता।

निर्बाध निजएकत्वकी दृष्टिका अनुरोध–अरे कहाँ है तेरा कुटुम्ब? सब मायाजाल है। ये सब तो केवल काल्पनिक बातें हैं। इस जन्म और मरणके बीचमें तू पड़ा हुआ है, आधि व्याधियोंसे परेशान हो रहा है, रागद्वेषकी ज्वालामें जल भुन रहा है और फिर भी तू इस शरीरमें ममता कर रहा है यह बड़े आश्चर्यकी बात है। अरे तू निर्बाध स्वरूप है, और बाधावोंका घर जो यह शरीर है इस शरीरमें तू प्रीति करता है? वस्तुके स्वरूपको देख और वस्तु जिस एकत्वको लिए हुए हैं उस एकत्वमें तन्मय उस पदार्थको निरख। ऐसा किए बिना तू संसारके संकटोंसे छुटकारा न पा सकेगा।

शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तो
ऽप्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र,
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम्।।२०२।।

शुचि आत्माका भी बन्धन–हे आत्मन! मूलकी बात तो यह है कि तू शुद्ध है अर्थात् निर्मल है पर उपाधि सम्बधसे रहित है। दूसरी बात यह है कि तुम्हारा ज्ञानप्रकाश इतना विशाल है ऐसा स्वभाव है कि समस्त निज और परका तू ज्ञाता बन जाये। तीसरी बात अमूर्तिक है। ये तीन तुम्हारी खास विशेषताएँ हैं, फिर भी तुझको इस जड़ शरीरने अशुचि कर दिया है। शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र यह आत्मा और इसकी आज क्या दशा बन रही है? कहाँ तो अमूर्तिक शरीरके बन्धनमें पड़ा है, हजारों विकल्पोंमें उल्झा है, न करने की बात उसे भी कर रहा है, परपदार्थ अपने कहां हैं पर उनमें कैसा लिप्त हो रहा है, कितनी विह्वलता तुझमें आ गयी है।

शुचि अशुचिका गजबका बन्धन–अहो, देख तो किस परद्रव्यके साथ तेरा बन्धन बना है जो यह शरीर अशुचि है, अचेतन है, और जितनी सुगंधित वस्तुवें हैं उन्हें भी जो दुर्गन्धित बना देना है। केसरमें सुगंध आती है उसे सिर पर लेप करो तो दुर्गन्ध आती है। कपूरसे कितनी सुगंध आती है, शरीरमें लेप करो तो दुर्गन्ध आती है। आपके नहाये हुए पानी से कोई दूसरा नहा लेगा क्या? एक बड़े कोपरमें बैठकर आप नहा लीजिए तो फिर उसमें कोई दूसरा न नहायेगा, वह

अपवित्र हो गया। तब यह शरीर भी धिक्कारके योग्य है सो तो ठीक है, पर शरीरके मोहमें पड़ा हुआ तू क्या धिक्कारके योग्य नहीं है।

शरीरसे प्रीति तजनेमें सिद्धि—इस शरीरके सम्बंधसे तू महादुःखी हुआ है। चारों गतिके दुःख भोगे हैं। तू भी इस शरीरके सम्बंधसे अशुचि कहलाने लगा। अब इस शरीरसे प्रीति तज दे। मायने जो तू इस शरीर से मोह करता, प्रेम करता, खुश होता यह मैं हूं ऐसा जानकर। इसमें जो तू हर्ष मानता है एक तो इस आसक्तिकों छोड़ दे, दूसरी बात इस शरीरके जो विषयसाधन हैं उन विषयसाधनोंसे प्रीति तज दे, यही है शरीरसे प्रीति तजनेका तात्पर्य।

हा हतोऽसितरां जन्तो येनास्मिंस्तव साम्प्रतम।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसः।।२०३।।

शरीरके रागमें बरबादी—हाय रे प्राणी! तू मारा गया, ठगाया गया, इस शरीरकी ममतासे तू अति दुःखी हुआ। देख लो केवल दुःख है तो ममताका है। जिस-जिसके जालमें अपनेको फँसा माना वह सब क्या है? मात्र ममता। कोई चीज तो अपनी होती नहीं है, उसे अपनी मानो तो, न मानो तो। केवल एक ममता परिणाम करके यह जीव व्याकुल बना रहता है। मेरा है मेरा है, है क्या? कुछ नहीं। इस अशुचि शरीरको अपना मान रहा है यह जीव। इस शरीरको कितना अशुचि कहा जाये? चाहे कितना ही पेट साफ हो जाये पर हर समय करीब २।। सेर मल न पड़ा रहे तो कोई जीवित न रह सके। अपने शरीरको या दूसरेके शरीरको निरखकर इसे यों ही सुहाता है, वाह कितना अच्छा शरीर है। अपने शरीरको घृणाकी दृष्टिसे कोई निरखता है क्या?

ज्ञानकी आत्मरक्षता—इस शरीरके अशुचिपनेका ज्ञान होनेका नाम ज्ञान है और शरीरको शुचि मानता रहे यही अज्ञान है। शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना यही एक बड़ा भारी साहस है। जिसे लोग कहते हैं कि एकदम ममत्व छोड़ दिया। इस प्रकारसे इस शरीरको परद्रव्य जानकर किसी क्षण ममताका त्याग करनेकी सुध ले तो मोक्ष मार्ग फिर और किसका नाम है? यही शान्ति मार्ग हैं। ज्ञानदृष्टि ही सच्चा पिता है, मित्र है, गुरु है, देव है, रक्षक है। अपना सर्वस्व ज्ञानदृष्टि है। ज्ञानमयी दृष्टि रहे तो इसमें आत्माका लाभ है। अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको न जानकर परको यह मैं हूं, ऐसा मानकर दुःखी हो रहा है। जहाँ शुद्धआनन्द का अनुभव नहीं किया जा सकता और आकुलता व्याकुलतामें यह लीन रहता है, सो यह बरबादी ही तो है।

वकल्पोंकी परेशानी—भैया! जिस जिसका संयोग हुआ है उन सबको छोड़कर तो जाना ही पड़ेगा, कुछ साथ न जायेगा। और अब भी कुछ साथ नहीं है, केवल एक आपका परिणाम आपके साथ है। जैसा जाल गूथा, जैसा मायाचार किया, जैसा विषय कषाय हुआ केवल उस परिणाम तक ही तो आप हैं, इसके आगे कुछ नहीं इतने विकल्पजाल किए जा रहे हैं, उसका फल जरूर भोगना पड़ेगा। मिलता कुछ नहीं हैं। अज्ञानी जन किसी धनीको या किसी कलावानको या किसी बड़े धनिकको देखकर उसे उपादेयकी दृष्टिसे देखते हैं—स्थिति तो यह है ग्रहण करने योग्य, पर ज्ञानीजन

उसे दयापात्रके रूप में देखते हैं। कितना कष्ट है धनिक पुरुषको किस परमाण मात्र भी तो इसकी आत्माका कुछ नहीं है, व्यर्थमें यह धनिक धनके पीछे दुःखी हो रहा है, विह्वल हो रहा है, ऐसा निरखकर ज्ञानीजन तो उसपर दयाका भाव रखते हैं।

शुचि स्वरूपकी दृष्टिका कर्त्तव्य–देख यह शरीर अशुचि और तेरा स्वरूप महापवित्र तेरेमें शरीरका कुछ सम्बन्ध नहीं, लेकिन एक अशुचि पदार्थमें हठ करनेसे तू इतना दुःखी हो रहा है तू इस देहसे ममता तज। अपने निर्ममत्व ज्ञानमात्र सहज सिद्ध अपने आपको सत्ताके कारण जो सहजस्वरूप है उसको निरख और उसको ही अंगीकार कर।

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनिः खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले।।२०४।।

रोगादिकोंसे भी ज्ञानीकी अखिन्नता–बड़े-बड़े रोग आदिकसे भी मुनिजन, ज्ञानीजन खेदको प्राप्त नहीं होते। सब एक ज्ञानका चमत्कार है। जरासी कायरता बने और बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि लगे स्नेहके रूपमें तो वह रूप बढ़-बढ़कर एक अनर्थका ढंग बन जाता है और एक परखमयी दृष्टिसे ज्ञानका उपाय चले ज्ञान चले तो यह ज्ञान भी बढ़-बढ़कर इसे सहज आनन्दको प्राप्त करा देता है। जरासी रिपट हुई तो रिपटकर पूरा गिर जाता है, पर जिन्हें अपने आपके स्वरूपकी सुध है वे कितने ही रोगोंसे घिरे हों पर खेदको नहीं प्राप्त होते।

सनत्कुमार चक्रीका साहस–सनत्कुमार चक्रवर्ती जिसके रूपकी प्रशंसा स्वर्गोमें गाई जाती थी। निर्ग्रन्थ साधु हो गए, पूर्वकर्मोदयवश उनके चर्मरोग विकट हो गया, कुष्ट हो गया, अब देवता लोग दुबारा परीक्षा करने आये। पहिले तो रूपकी परीक्षा की थी, अब ज्ञानकी परीक्षा करने आये। वैद्यका रूप धरकर चार-चार, छः-छः चक्कर लगाना शुरू किया, मेरे पास कुष्ट रोगकी बड़ी पेटेन्ट दवा है। सनत्कुमार चक्रवर्तीसे कहा महाराज! हमसे कुछ सेवा लीजिए, दवा करवाइए। तो सनत्कुमार बोले ठीक है हमारा रोग मिटा दो तो यह तुम्हारी बड़ी अच्छी कृपा होगी। मुझे रोग है जन्म और मरणके चक्रोंका, संसारभ्रमणका, मेरे इस रोगको मिटा दो। देवता पैरोंमें गिरकर बोले–महाराज इस रोगको मिटानेमें हम असमर्थ हैं, आपही इस रोगको मिटा सकते हैं। बड़े-बड़े उपसर्गोमें भी मुनिराज खेदको नहीं प्राप्त हुए।

स्वरूपकी संभालमें लोभका अभाव–अब अपने लिये इतनी बातका तो यहां ही अन्दाज कर लो, आपकी कोई निन्दा करे, गाली दे और आप कुछ अपनी ज्ञानदृष्टिके निकट बैठ रहे हों, कुछ ज्ञानकी बात समायी हुई हो तो आपको खेद नहीं होता या अधिक नहीं होता, और जब अपने आपके ज्ञानसे चिगकर इस मूर्त शरीर पर दृष्टि जायेगी तो वहां आपको खेद होगा, बड़ी विह्वलता हो जायेगी। साधजन ज्ञानदृष्टिमें निरत रहा करते हैं, उन्हें उपसर्ग और रोग आदिकसे इसी कारण खेद नहीं होता जैसे नदीमें कितना ही जल चढ़ जाये पर जो मजबूत नाव पर बैठा होगा उसे रंच

भी क्षोभ न होगा, अधीर न होगा, ऐसे ही जो अपने मजबूत स्वरूप दुर्गमें बैठा होगा उसके भी कोई क्षोभ नहीं आ सकता।

शान्तिका यथार्थ उपाय–हम शान्तिके लिए बाहरी चीजोंके संग्रह-विंग्रह करनेका प्रयत्न करते हैं पर शान्ति नहीं मिलती है। अरे शान्ति तो तब मिलेगी जब अपने ज्ञानको संभाल लें। अपने आकिञ्चन्यस्वरूप का ज्ञान करें, निजको निज और परको पर जान लें तो उससे शान्ति प्रकट होती है। मोहसे वेदना उत्पन्न हुई तो उस वेदनाको मिटानेके लिए मोह ही किया जा रहा है। किसी कपड़ेमें खूनके दाग लगे हैं और उन दागोंको मिटानेके लिए खूनसे ही धोया जाये तो क्या दाग छूट सकते हैं? कदापि नहीं छूटते। यों ही शान्ति पानेके लिए अशान्तिके काम किए जा रहे हैं, तो क्या शान्ति प्राप्त हो सकती है? नहीं प्राप्त हो सकती है। बाहरी पदार्थोंके संचयसे शान्ति न होगी। मान लो जो आज लखपति है, करोड़पति हैं, न होती ऐसी स्थिति, अत्यन्त गरीब होते तो अपनी कल्पना कहां तक बनाते? उससे भी अधिक आज मिला है तिस पर भी शान्ति न हो तो यह निर्णय कर लीजिए कि बाह्य पदार्थोंका संचय शान्तिका उपाय नहीं है किन्तु अपने आपके ज्ञानस्वरूप ज्ञाता रहना, यही शान्तिका उपाय है।

आन्तरिक साहस–साधुजन अपने अन्तरङ्गमें शान्तिप्रद ज्ञानमयी प्रयत्न किया करते हैं, जिससे बढ़े हुए रोग उपसर्ग आदिकसे भी वे खेदको नहीं प्राप्त होते। कोई आपके किसी स्थान पर बैठा होगा तो आप उसे बाधक समझ लेगें, आप उससे ईर्ष्या करने लगेंगे, उसका आप नुकसान करने का यत्न करेंगे, पर यह उपाय न बन पायेगा कि मैं अपने ज्ञानको संभालूं और उस माने हुए विरोधी पुरुषको भी उस शुद्ध चैतन्यतत्वस्वरूप निरखूं। यदि यह जान बूझकर भी मेरे अपमानके लिए मेरे विरुद्ध कुछ कल्पनाएँ बनाता है तो भी इसका क्या अपराध? यह तो एक विभाव औपाधिक भाव उत्पन्न हुआ है, यह तो अब भी शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप है। यों दृष्टिमें विरोधीपन न जगे ऐसा उपाय करनेमें शान्ति है। इसने ऐसा किया, इसका ऐसा खोटा भाव है, इस बात पर दृष्टि ले जाकर यह मोही जीव अपने को दुःखी कर डालेगा पर ज्ञानदृष्टिका उपाय न बना पायेगा यह एक शुद्ध महान् साहसकी बात है। ये मुनिजन इस साहसके धनी हैं। इस कारण वे किसी भी परिस्थितिमें खेद नहीं किया करते हैं।

जातामयः प्रतिविधाय तनौ बसेद्वा,
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावराति बह्विमपोह्य गेही,
निर्हाय वा ब्रजति तत्र सुधीः किमास्ते।।२०५।।

शरीरकी द्विविध चिकित्सा–जिसे कोई रोग हुआ है तो उस समय क्या करता है? उसका कोई उपाय बनाता है। अणुव्रती श्रावक गृहस्थजन तो उस रोगको दूर करने के लिए निर्दोष औषधि आदिकका सेवन करते हैं, रोग और भी प्रबल हो जाये, मरणासन्न अवस्था हो जाये तो अनशन

आदिक तपश्चरण करके मोह तजकर इस शरीरको छोड़ देते हैं। शरीर को यों ही अकालमें नष्ट कर देना तो विवेक नहीं है, इस कारण औषधि आदिकका सेवन करके शरीरको राखें तो यह कोई दोषकी बात नहीं है। उस समयका कर्त्तव्य है। और जब देखे कि यह शरीर राखे भी नहीं रहता तो उस समय इस शरीरको निरख-निरखकर इसको छूटता देख-देखकर रोना कर्त्तव्य है क्या? इस शरीरसे ममत्व तजकर यह १० मिनट बाद तो जाना ही है तो मेरे जान अभी चला गया, यह समझकर ज्ञानी अपने आपके उस शुचि ज्ञानमय स्वभावमें अपनेको बसाये रहता है।

दृष्टान्तपूर्वक शरीरके प्रति अपना कर्त्तव्य—जैसे घरमें आग लग गई हो तो विवेकी पुरुष उस आगको बुझाकर अपने घरमें ही बसता है। और ऐसी प्रबल आग लगी हो कि वह बुझ ही न सके, ऐसा जानकर कि आध घन्टे में ही यह साराका सारा घर खाक हो जाने को है तो वह क्या करता है कि उस घरकी ममता छोड़कर दूर जाकर बसता है। ऐसा कोई नहीं करता कि रे घर तुझे मैंने बड़े प्रेमसे बनवाया, अब तू जल रहा है तो ले तेरे साथ मैं भी चिपट कर जल जाऊंगा। कैसा ही श्रम करके घर बनवाया हो पर उसके जलनेपर उससे चिपट कर कोई नहीं जलता। घर जला जा रहा है, अभी जलकर खाक होने को है, ऐसा जानकर वह दूर जाकर तक योग्य औषधि आदिक देकर रोग दूर करता है। हे ज्ञानी! उसको रहता हुआ समझमें न आये तब मोह करके, शरीरके पीछे विलाप करके कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा? उस समय तो यही कर्त्तव्य है कि शरीरका ममत्व छोड़कर अपने आपके स्वरूपमें तीव्र रुचि प्रकट करना। देखिये धर्मके धनी दो हैं—श्रावक और मुनि। तो श्रावककी तो ये दो रीतियां बताई और साधु इच्छा करके औषधिका सेवन नहीं करते। सुगमतासे हो गया तो हो गया और शरीर रहता न जाना तो उस समय की दोनोंकी प्रक्रिया एक है, ममता छेड़े और सल्लेखना धारण करे। अपना निर्णय दृढ़ बनाओ भैया कि यह शरीर प्रीतिके योग्य नहीं है।

शिरस्थं भारमुत्तर्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम।।२०६।।

दुःखमें भी अज्ञानीकी सुखमान्यता—जैसे कोई लकड़हारा शिरपर लकड़ियोंका बोझ लादे चला जा रहा है। बोझके मारे उसका सिर दर्द करने लगे तो सिरसे भार उठाकर कंधे पर वह रख लेता है और कंधे पर वह गटा रखकर अपने आपको सुखी अनुभव करता है। इस ही प्रकार ये अज्ञानी जीव शरीरमें रोग नष्ट होने से अपने को सुखी मानते हैं, पर यह नहीं देखते कि शरीरका सम्बन्ध होना, मिलना यह स्वयं एक महारोग है। किसी भी प्रकारकी कोई इन्द्रिय सम्बन्धी बाधा दूर हुई तो उसमें यह जीव अपनेको सुखी मानता है, पर यह नहीं जानता कि हम तो वेदनाओंके वनमें गुजर रहे हैं, एक वेदना हटी कि दूसरी वेदना तैयार है, यों हजारों वेदनाएँ एक पर एक आती रहती है। यहाँ देखा जाये तो जैसे लकड़ीका बोझ सिरसे उतारकर कंधेपर रख लेने से उसका भार दूर नहीं हुआ ऐसे ही जगतके जीवोंका कोई भी रोग मिटे या कोई वेदना शान्त हो तो उससे वेदनाओंका भार नहीं हटा। वेदनाएँ तो अभी ज्योंकी त्यों हैं। पर यह मोही जीव कभी-कभी अपनी

कल्पनाके अनुसार कुछ वैभव पाकर अपने को सुखी मानते हैं, वस्तुतः ये सुखी नहीं हैं। सुख तो तब है जब शरीरका विभावोंका, कर्मोंका अभाव हो और कैवल्य अवस्था प्रकट हो तो उसमें ही शान्ति है, अन्यत्र शान्ति मानना मूढ़ता है।

यावदस्ति ग्रतीकारस्तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियाम।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया।।२०७।।

वेदनाकी दो प्रतिक्रियायें–जब तक रोगकी उपशान्ति नहीं होती है तब तक ज्ञानीजन योग्य औषधिका ग्रहण करते हैं और जब रोग मिटते न देखा तो फिर उसका विकल्प नहीं करते। अपने शरीरका विकल्प होना यही एक-एक बड़ा यत्न है। कोई रोग हो तो रोग सम्बंधी दुःखको मिटानेका यत्न करना चाहिए ना? योग्य औषधिका सेवन करना चाहिए। इसको कहते हैं चिकित्सा? और जब रोग शान्त हो ही नहीं सकता तो फिर उसकी क्या चिंै। रोग मिटानेके लिए औषधियोंका

सेवन करें और जब रोग मिटता न दिखें तो फिर उस शरीरकी उपेक्षा कर आत्मचिन्तन करें। ऐसा ज्ञानबल बढ़ायें, ऐसा उपेक्षा भाव करें कि यों अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि ले जायें कि अंतःतृप्ति उत्पन्न हो, यही वास्तविक चिकित्सा है। बड़े-बड़े साधुजन, ज्ञानीजन हर स्थितिमें इस ही चिकित्साको करते हैं। वे तो जानते हैं कि जब तक इस शरीरसे सम्बन्ध है तब तक रोग ही रोग हैं। ये रोग कैसे दूर हों, इसका उपाय तो एकमात्र उपेक्षा भाव है। उपेक्षासे ज्ञानबल बढ़ता है। इस शरीरके मिलते रहनेके रोगको दूर करें, यही जो काम करे उसकी तो बुद्धिमानी है और जो बाह्यदृष्टि करके शरीरका रोग मिटाये तो यह बुद्धिमानीका काम नहीं है।

यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्याज्यं कि शेषैः क्षुद्रकल्पनैः।।२०८।।

सूक्ष्मशरीरकी भी त्याज्यता–जिसको ग्रहण करके यह जीव जन्म वाला बनता है, और जिसको त्यागकर यह जीव मुक्त हो जायेगा वह शरीर ही त्यागनेके योग्य है, इस जीवके साथ दो प्रकारके शरीर लगे हैं–एक सूक्ष्मशरीर और दूसरा स्थूलशरीर। स्थूलशरीर तो एक भव छोड़नेके बाद नया भव ग्रहण करनेमें जो शरीर मिलता है–औदारिक्शरीर मिले अथवा वैक्रियकशरीर मिले वे सब स्थूलशरीर कहलाते हैं। और यह शरीर मरणके बाद जिस शरीरको साथ लेकर गया, जन्म पाने के लिए जाता है। वह शरीर सूक्ष्मशरीर है। उसका नाम है तैजसकार्माण। तो एक तैजसकार्माणशरीरको लेकर यह जीव जन्म वाला बना करता है, या यों कह लो कि नवीनशरीर मिलनेकी कारण यह सूक्ष्मशरीर है। तो यह शरीर त्यागनेके योग्य है और इस शरीरका जब त्याग हो जाता है, तैजसकार्माण शरीर छूट जाता है तो यह जीव मुक्त हो जायेगा। तो इस शरीरके त्यागने की ओर लक्ष्य रहना चाहिए।

धर्मपालनकी विधि व निषेध पद्धति–भैया! धर्मपालनके लिए विधिरूप तो आत्मदृष्टि सहजशुद्धज्ञानस्वरूपका आलम्बन, यह तो है विधिर कार्य और निषेधरूप कार्य विभावोंका दूर करना, तैजसकार्माणशरीरकादूर होना यह है निषेधरूप कार्य। इसके अतिरिक्त जगतमें और कार्य करने योग्य हैं। जगतके अन्य कार्योंसे कोई सिद्धि नहीं है। केवल मोहकी नींदमें कल्पना बन रही है उस कल्पनासे अपने आपको सुखी माना जा रहा है।

संमीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति–एक बार राजा भोज रात्रिको लेटे हुए एक कविता बना रहे थे। उसी रातको एक कवि जिसे बहुत दिनों से इनाम न मिला था वह दरिद्रतासे दुःखी होने के कारण राजा भोजके ही महलमें चोरी करने गया। उसे कुछ आहट मिली तो और जगह छिपनेको न मिलनेसे राजा भोजके नीचे छिप गया। राजा भोजने तीन छंद तो बना लिए थे पर चौथा छंद न बन रहा था। छन्दके तीन चरण ये थे–चेतोहरा युक्तयः सुहृदोऽनुकूलाः, सद्बान्धवाः प्रणतिगर्भगिश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः, इस कवितामें राजा भोज अपनी सम्पदाका वर्णन कर रहा था। मेरी आज्ञाकारिणी स्त्री है, मेरा चित्त हरने वाली है, मेरे मित्रजन मेरे अनुकूल हैं, मेरे बन्धुजन बड़ी सुन्दर वाणी बोलने वाले हैं, नौकर भी बड़े विनयशील हैं, बड़े-बड़े हाथियोंके समूह गरज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं, ये सारी बातें तीन चरणोंमें दिखा दी थीं। अब चौथे चरणमें क्या चीज दिखायें और कैसे बनायें, इस समस्यामें पड़े थे। सो बार-बार उन्हीं तीन चरणोंको पढ़ते थे कविताका चौथा चरण बन ही न रहा था। सो उस कवि चोरसे न रहा गया, सो नीचे से चौथा चरण बोल देता है। चौथे चरणमें क्या कहता है–संमीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति, नेत्रोंके बंद हो जाने पर फिर ये कुछ भी नहीं है।

सूक्ष्मशरीर की त्याज्यताके हेतु–भैया! यही दशा है ना सबकी यहाँ, जब तक यह जीवन है तब तक ही यह मोहकी नींद है। बड़ी लम्बी नींद है, जितना भव है उतनी नींद है। इस नींदमें कल्पनाएँ करके यह जीव अपना सब कुछ मान रहा है। मैं लखपति हूं, वैभवशाली हूं, इतने बच्चों वाला हूं ऐसी अच्छी गृहस्थी वाला हूं, ऐसी पोजीशन वाला हूं ये सब कुछ मान रहे हैं किन्तु है कुछ नहीं। तो भव छोड़कर इसे जाना ही पड़ता है और जो सूक्ष्म शरीर साथ लेकर जाता है वह सूक्ष्म शरीर नवीन जन्मका कारण बनता है। कुछ उपदेयसा बन गया, कुछ निमित्तसा बन गया और यह शरीर रच जाता है। आखिर स्थूलशरीरके रच जाने पर भी सूक्ष्मशरीर तो बना रहता है ना, तो इस शरीरमें उपादान रहकर भी रहता है और औदारिक वर्गणाएँ जुदी चीज हैं और कार्माण तैजसवर्गणायें जुदी चीज हैं, सो औदारिक शरीरकी रचनामें यह सूक्ष्म शरीर निमित्त कारण हो जाता है। यों जिस शरीरको लेकर यह जन्मपरम्परा बनती है और जिस शरीरको छोड़कर यह मुक्त बनेगा कर्त्तव्य तो यह है कि उस शरीरका ही त्याग करे।

सूक्ष्म शरीरके त्यागकी विधि–अब इस बात पर विचार करें कि इस शरीरका त्याग कैसे हो सकता है। कोई मान लो आत्मघात करले तो स्थूल शरीरका वियोग हो जायेगा, मगर ऐसी

कौनसी चिकित्सा है कि यह सूक्ष्म शरीर भी इस जीवसे दूर हो जाये, वह चिकित्सा सिर्फ रत्नत्रयकी है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विधिवत पालन हो तो इन शरीरोंका मिलना दूर होगा और यह निश्चय जानो कि जब तक सूक्ष्म शरीर दूर न हो तब तक हम आप नीरोग दशामें नहीं हैं, निराकुल दशामें नहीं हैं। अतः ज्ञानभावना बढ़ा-बढ़ाकर मैं तो ज्ञानानन्दमात्र अमूर्तिक सबसे न्यारा चैतन्यतत्व हूं। अन्तरभावना बनाकर भावना बढ़ाकर इस तैजसकार्माण शरीरसे मुक्त होनेका यत्न करें।

ज्ञानबलका प्रताप—जब शरीरसे स्नेह करते हैं तो शरीर मिलेगा ही, जब शरीरसे स्नेह न रहेगा, शरीरसे उपेक्षाभाव करेंगे तो यह शरीर ही क्यों साथ रहेगा? यहाँ अपने शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि देना है, इस जड़ वैभवके मिले हुए समागम पर दृष्टि नहीं देना है। इन समागमोंके प्यारसे मोहसे इस जीवकोकुछ मिलेगा नहीं, उल्टा खोकर ही जायेगा जो कुछ ज्ञानबल पाया, विशेष योग्यता पायी, स्थितियाँ पायीं उन सबको मिटाकर ही जायेगा। शरीरकी उपेक्षा करके ज्ञानदृष्टिसे ज्ञानबल बढ़ाइये। ज्ञान ही एक हम आपका सहारा है। अन्य जीवोंसे अपना कुछ सहारा न मानो, परवस्तु तो आपत्तिके ही कारण हैं उन्हें निरापद नहीं कर सकते हैं।

नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।
सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत्।।२०९।।

आत्मभावोंकी कलायें—सर्व अशुचिका मूल यह शरीर है, ऐसे भी शरीरमें पूज्यबुद्धि बनाई जा सकती है। भाव यह है कि जो पुरुष रत्नत्रय की साधना करता है उस पुरुषसे सम्बन्धित जो शरीर है वह भी लोगोंके द्वारा पूज्य होता है। तो अब देखिये आत्मामें कितनी बड़ी पवित्रता है, इस रत्नत्रयरूप धर्मपालनमें कितनी उत्कृष्ट पवित्रता है? दुनियाके समस्त अशुचि पदार्थोंमें। अशुचि पदार्थोंका यह पिंड है शरीर। यह महा अशुचि है, इस शरीरको भी जो पवित्र बना दे उस चीजकी पवित्रताका अंदाज तो कीजिए। तो जो सर्व अशुचितावोंको लिए हुए है उस शरीरको भी जो पवित्र बना देता है, वह है आत्मभाव और जो इस शरीरको चाण्डाल आदिक बना देता है, घृणाके योग्य बना देता है वह आत्मभाव देखिये। शरीरको पूज्य बना दे वह भी आत्मभाव है, रत्नत्रयभाव है, धर्मभाव है और शरीरको जो अशुचि बना दे उसका भी कारण आत्मभाव है। वे आत्मभाव खोटे रागद्वेष मोह संकल्प विकल्प अशुभ परिणाम हैं। ये शरीरको घृणाके योग्य बना देते हैं, तब हुआ क्या कि जो सदाचार है, रत्नत्रय है वह तो पूज्य है और जो दुराचार है मिथ्याज्ञान, मिथ्या दर्शन, मिथ्याआचरण हैं वे घृणाके योग्य हैं। ऐसे मिथ्या भावोंको धिक्कार हो।

धर्मभावकी उपादेयता—भैया! एक ऐसा भाव है जो शरीरको मनुष्यों के द्वारा, देवोंके द्वारा सेवनीय बना देता है और एक ऐसा भाव है जिसके कारण इस जीवका शरीर अशुचि बन जाता है, घृणाके योग्य बन जाता है। कोई उस शरीरको छूना नहीं चाहता तो अन्तमें यही निश्कर्ष निकला कि जो धर्मभाव है वह पवित्र है और जो अधर्मभाव है, पाप भाव है वह निद्य तत्व है। ऐसे इस

धर्मभावको जो कि मलिनसे मलिन वस्तुको भी पवित्र बना देनेका कारणभूत है वह धर्मभाव हम आप सब कर सकते हैं। एक दृष्टि करने भरकी देर है। जहाँ अपने आपकी ओर दृष्टि गई, आत्महितका भाव बना, निजको निज व परको पर जाना तहाँ फिर किसी भी प्रकारका बन्धन नहीं रहता है। है किसी को बन्धन नहीं, पर मान लिया है।

ज्ञानका व बन्धनका विरोध–श्री रामके पूर्वजोंमें एक वज्रबाहुकी घटना आयी है कि जब उनकी शादी हुई, स्त्री आई घर, तो स्त्रीसे बड़ा प्रेम करने लगे। पहिली ही बार जब स्त्रीका भाई लिवाने आया तो यह भी साथ-साथ चल दिया। ऐसा तो यहाँ पर भी कोई नहीं करता है। उनकी नई उमर थी अभी, राजपद मिलने को था, पर हुआ क्या कि स्त्रीके संगमें चले जा रहे थे। रास्तेमें एक मुनि महाराजको देखकर उनका चित्त ऐसा परिवर्तित हुआ कि उसी क्षण सारे विकल्प छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा ले ली। लो अब कहाँ रहा बन्धन? जैसी चाहे स्थिति हो पर अपना ज्ञानबल बढ़ायें बस सारे संकट एक साथ दूर हो जायेंगे। अपने को परेशानी अनुभव करने वाला माने तो यह एक मोहकी नींदका स्वप्न है। परेशानी कुछ नहीं है।

ज्ञानीकी सावधानी–परमार्थदृष्टि बनाओ और देखो–बन्धन कुछ नहीं है। भला बतलावों तो सही कि यदि इसी समय मृत्यु आ जाये तो फिर कुछ बन्धन रहता है क्या? अरे कैसे मरें, मुझे तो अभी बड़ा बन्धन है, मुझे अभी अमुक कार्य करने को पड़ा है, मैं अभी कैसे मरूँ, ऐसा कुछ बन्धन तो फिर मरण समयमें नहीं आता है। जब चाहे तब अपने स्वभावको बन्धनरहित निरख सकते हो। सर्वपरका त्याग, विकल्पों का त्याग कर सकते हो, ऐसी स्थिति सदा मानो। जैसे मिलेटरीके सिपाही लोग सब काम कर रहे हैं, व्यवस्था कर रहे हैं, सब कुछ करते हुए भी हर समय इसके लिए तैयार रहते हैं, कि जैसे ही विगुल बजा कि सारे धंधें छोड़कर तैयारहो गए कमाण्डरके पास पहुंचनेके लिए। ऐसी ही तैयारी ज्ञानीकी होती है। भले ही यह रह रहा है गृहस्थीमें, भले ही अनेक प्रकारकी बातें कर रहा है पर ऐसा तैयार रहता है कि कोई विपत्ति आयी नहीं कि झट ज्ञानदृष्टि, ज्ञानभावना, आत्मश्रद्धान–इन सब तपस्यावोंको करके सर्वविकल्पोंको त्यागकर अपने अन्तःस्वरूपमें लीनहो जाता है। ऐसी ज्ञानी पुरुषकी तैयारी रहती है।

जीवभावपर शरीरकी पूज्यता व घृणाकी निर्भरता–ये भाव इस शरीर को भी पूज्य बना देते हैं, और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र और भी खोटे आशय दुराचार ये सब इस जीवको जो शरीर मिल गया उसको घृणाके योग्य बना देते हैं। तो हमारी जो सृष्टियां हैं उन सृष्टियोंके हम ही तो कारण हैं। जैसा हम अपना भाव बनायें वैसी हमारी सृष्टि चलती है। हम ही हमारे शरण हैं अन्य कोई हमारा शरण नहीं है, ऐसा जानकर हम अपनी भावनाको संभालनेमें लगें, इस ही ओर दृष्टि दें, पुण्य पाप फलोंके ज्ञाताभर रहें, जाननहार भर रहे, उनसे अपना कुछ सम्बंध न मानें, पक्का निर्णय रखें कि परसे मेरा कोई हित नहीं है, मेरा हित तो अपनेआपके सहजस्वरूपकी दृष्टि है।

रसादिराद्यो भागः स्याद् ज्ञानावृत्यादिरन्वितः।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येव त्रयात्मकः।।२१०।।

संसारी जीवकी त्रिभागात्मकता–संसारी जीव त्रिभागात्मक हैं। जो कुछ यहाँ दिख रहा है, समझमें आ रहा है, ये मनुष्य, पशु-पक्षी, तिर्यञ्च, पेड़ वगैरा, ये सब संसारी जीव त्रिगात्मक हैं। इनमें प्रथम भाग तो रस आदिक रूप है। प्रथम भाग है शरीर जो रस रुधिर आदिक रूप है। दूसरा भाग है इसके भीतर ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंका, और इनके भीतर तीसरा भाग है ज्ञानादिक गुणपुञ्जका। इस प्रकार ये संसारी जीव त्रिभागात्मक हैं। जो जीव उस त्रिभागात्मकता को नहीं जानता है वह तो जो कुछ दिखनेमें आया, समझमें आया वही उनके लिए सर्वस्व हैं। जो इनको पहिचानता है वह तो इसमें जो हेय भाग है उसे छोड़ देता है और जो उपादेय भाग है उसे ग्रहण कर लेता है।

त्रिभागोंकी अवस्थिति–ये तीन भाग कुछ नीचे ऊपर नहीं हैं कि सबसे नीचे जीव हो, उसके ऊपर कर्म हो, कर्मोंका आवरण पड़ा हो, ऊपर शरीरका पलस्तर लगा हो, ऐसी कुछ नीचे ऊपर बात नहीं है, किन्तु यह उत्तरोत्तर सूक्ष्मताकी दृष्टिसे कहा जा रहा है कि प्रथम भाग तो शरीर का है, द्वितीय भाग कर्मोंका है और तृतीय भाग निजभावका है। जहाँ यह प्रथम भाग है, शरीर है वहाँ सब जगह जीव भी हैं और कर्मजाल भी हैं। जहाँ कर्मजाल है वहाँ जीव भी है और शरीर भी है और यहाँ जहाँ शरीर है वहाँ कर्म भी है और शरीर भी है। तीनों एकक्षेत्रावगाही हैं पर प्रथम भाग, द्वितीय भाग और तृतीय भाग स्थूल और सूक्ष्मकी दृष्टिसे हैं, यह शरीर स्थूल है तीन भागोंमें, इसी कारण सर्वप्रथम जीवोंको वही नजर आता है और इस जीवमें क्या-क्या है ऐसा कहने के लिए जब उद्यम होगा तो प्रथम स्थल भाग कहा जायेगा वह है शरीर। उससे सूक्ष्म है ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंका जाल, यह कर्मजाल पुद्गल है, मूर्तिक है फिर भी सूक्ष्म है, प्रतिघात रहित है और उससे सूक्ष्म हैं जीव, जीवके निजभाव। ये तो अमूर्तिक हैं, इस तरह ये संसारी जीव त्रिभागात्मक कहे गये हैं।

भागत्रयमिदं नितयमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भागद्वयात पृथक्कर्तु यो जानाति स तत्ववित्।।२११।।

तत्त्ववेदिता–यह आत्मा बंध अवस्थामें है इस कारण त्रिभागात्मक है किन्तु जो पुरुष प्रथम और द्वितीय ऐसे इन दो भागोंसे इस तृतीय जीवको पृथक् करनेकी विधि जानता है वही वास्वतमें तत्वज्ञानी जीव है। इस संसारी जीव पर भावकर्मोंका ऐसा जाल बिछा है कि इसका उपयोग उन कर्मोंमें ही उलझ गया है और अपने शुद्ध स्वरूपकी इसे खबर नहीं है। ऐसी कठिन परिस्थितिमें बिरला ही कोई सुभवितव्य वाला जीव है जिसको यह सुध होती है कि यह मैं त्रिभागात्मक हूं, मैं नहीं, किन्तु यह संसारी जीव, मनुष्य, नारकी, तिर्यच, देव ये जो शरीरी हैं, देही हैं, वे त्रिभागात्मक हैं। उसमें दो भाग तो अचेतन हैं और तीसरा एक भाग चेतन है। उन दोनों भागोंसे इस जीवको पृथक करने की विधि क्या है? जान जावो कि शरीर और कर्मोंसे यह जीवतत्व जुदा है। ऐसी

ज्ञानकी दृढ़ता रखना यही काम करनेका है। फिर कैसे कर्म जुदे होते हैं, कैसे शरीर जुदा होता है, इन सब बातोंमें विकल्पकी जरूरत नहीं है। ये कर्म स्वतः ही हट जायेंगे।

सारभूत अन्तस्तत्वके आश्रणयका पुरुषार्थ–यहाँ पुरुषार्थमें तो मात्र जीवको एक तत्वके ज्ञान करनेकी बात कही जा रही है। तत्व क्या है? आत्माका तत्व, सद्भूत, आश्रयके योग्य एक सहजस्वभाव है, वह सहजस्वभाव शुद्ध ज्ञानप्रकाशके रूपमें विदित होता है। सर्व परपदार्थ अहित रूप हैं, उनसे मेरी कोई भलाई नहीं है, ऐसा जानकर समस्त परकी उपेक्षा करके तो देखो, अपना जो ज्ञानप्रकाश है वह उमड़ कर उपयोगमें आ जायेगा। इस सारभूत तत्वका आलम्बन करनेसे ही दोनों भाग अपने आप दूर हो जाते हैं। कही मैं इन दोनों भागोंको दूर करूँ ऐसा विकल्प करने से और उन दोनों भागोंको दूर करनेके लिए शरीर और कर्मका उपयोग बनाये रहने से अथवा किसी प्रकारकी गुस्सा या अन्य भीतरमें तरंगभाव उठाने से शरीर और कर्म दूर नहीं हो जाते हैं।

उपशान्तताका प्रताप–प्रभुने इस क्रोधको पहिले ही दूर कर दिया, फिर उन्होंने कर्मजालका कैसे विनाश किया, यह कुछ समझमें नहीं आता, ऐसी आशंका न करना। क्रोधका विनाश करनेके बाद शान्त परिणामों से ये कर्म बैरी दूर हो जाते हैं। इन कर्मोंका विनाश शान्त होकर ही किया जा सकता है। इस शरीर और कर्मोंमें दृष्टि रखकर मैं इन्हें कैसे दूर करूँ ऐसा सोचने से कर्म दूर न होंगे। आप अपना काम कर लीजिए सब काम बन जायेगा। अपना काम है निज सहजस्वभावकी दृष्टि रखना, मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा ही उपयोग बनाये रहना और ऐसी ही अपनी चर्या रखना यह है इन दोनों भागोंको दूर करने की पद्धति। जो पुरुष शरीर और कर्म इन दोनोंसे इस जीवको पृथक् करनेकी विधि जानता है वही वास्तवमें तत्वज्ञानी है। उपयोग द्वारा, ज्ञानद्वारा शरीरसे अपने को न्यारा निरखना और शरीरका कारणभूत कर्मोंसे अपने को न्यारा निरखना श्रेयस्कर है। जो निरखे विविक्त ज्ञानस्वरूपको व उस निज भावसे रमण करे ऐसा जो यत्न करना जानता है वही तत्वज्ञानी जीव है। जो ऐसा न करके शरीरादिक परवस्तुवोंमें रत होता है, यही मैं हूं, ऐसी प्रतीति करके इसकी ही सेवामें बना रहता है और इस शरीर की ही सेवाके खातिर शरीरमें शरीरके विषयसाधनोंमें रमण करता है वह अज्ञानी जीव है।

करोतु न चिरं घोरं तपःक्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्न जयेद्यत्तज्ञता।।२१२।।

सकलविघ्ननिवारक ज्ञानबल प्राप्तिका अनुरोध–ज्ञानकी बात बताते हुए इस प्रकरणमें आचार्यदेव इतनी सी सरल बातको न कर सकने वाले साधुजनोंकी कृति पर कुछ खेदसा लाकर बोल रहे हैं कि हे साधु अथवा जो अपने आप सुकुमारता छांटा करे, अपने मनमें यह प्रतीति बनाए हैं अथवा स्वच्छन्दता बनी है–मुझसे कैसे उपवास होगा, मुझसे कैसे सर्दी गर्मी सहन होगी, कैसे तपश्चरण बनेगा, ऐसे आशय वालों को भी समझा रहे हैं, मानो एक झुँझलाकर ही कह रहे हैं कि ऐ नवाब साहेब, ऐ सेठ साहूकारों, तुमसे यदि घोर तप करते नहीं बनता है तो मत करो क्योंकि

आप क्लेशको सह नहीं सकते, शारीरिक व्यथा आप सह नहीं सकते तो ठीक है मत करो तपश्चरण, किन्तु इन कषाय विकल्परूप शत्रुवोंको जो कि केवल एकविचार और दृष्टिमात्रसे जीते जा सकते हैं उनको तू जीत। यदि उन कषाय बैरियोंको नहीं जीत सकता है तो हम तुम्हारी वेवकूफी समझेंगे।

कषायवैरियोंके विजयका सुगम उपाय–तपश्चरणकी बात, शरीरकी प्रकृतियां भिन्न-भिन्न और फिर थोड़ा साहसकी कलामें भी अन्तर पड़ा रहता है। न कष्ट सहते बने तो मत करो घोर तपश्चरण। साधारणतया तो तप ब्रत होना ही चाहिये, अन्यथा अध्यात्ममार्गमें गति नहीं बन सकती। जो आध-आध घंटेकी प्यास नहीं सह सकते, दो-एक घण्टे भी भूख नहीं सहन कर सकते, अथवा भूख भी नहीं है केवल एक आदत बन गयी है। जो जरासा भी त्याग करनेमें असमर्थ हैं ऐसे जीवोंको आध्यात्मिक अनुभवकी पात्रता तो नहीं जग सकती। हाँ घोर तपश्चरण नहीं कर सकते तो मत करो, पर जो एक साधारणसी बात है, जिसे गृहस्थ पुरुष निभा सकते हैं ऐसे साधारण भी त्यागको नहीं कर सकते हो तो गति नहीं है आध्यात्मप्रवेशकी, कषाय बैरियोंको जीतनेकी। जहाँ मन हर बातमें मौज चाहता है कहाँसे वहाँ सहनशीलता आये। जो अपनेमें विकास नहीं करता ऐसा पुरुष तो उस अध्यात्मपथमें प्रवेश करनेका भी पात्र नहीं है। कुछ तो त्याग और तपश्चरणकी प्रकृति होनी ही चाहिए। हाँ घोर तपश्चरण नहीं करते बनता है तो मत करिये क्योंकि आप क्लेशको सहन करने में समर्थ नहीं हें, लेकिन क्रोध, मान, माया, लोभ ये केवल एक सद्विचार बनानेसे ही जीते जा सकते हैं। सो इतना स्वाधीन कार्य तो तू कर ले।

क्रोधविनाशक विचार–भैया! किस पर क्रोध करना। सब परजीव हैं वे अपनी परिणति लिए हुए हैं, उनका परिणमन उनमें है। उनके परिणमनका असर मुझमें नहीं होता। यदि खुद ही अज्ञानी हैं तो दूसरोंकी परिणतिको देखकर अपने में यह विकल्प जगने लगा कि यह बड़ा बुरा है, यह मेरा ऐसा अनर्थ चाहता है, मेरा ऐसा विरोध रखता है, इसे मेरी उन्नति सहन भी नहीं हो सकती, ऐसे विकल्प करके खुद ही अपना प्रभाव अपने पर डाल लिया जाता है। ये सभी बातें यथार्थ-यथार्थ सोचते जाइये। दूसरे जीवोंमें मूलमें जो सहजस्वभाव अन्तःप्रकाशमान है तद्रूप उसको निरखनेका उपयोग बनायें। क्रोधभाव तो जीता जा सकता है शान्त परिणामोंसे, सद्विचारसे। शरीरके बलसे क्रोधको नहीं जीता जा सकता।

मानमर्दकविचार–ऐसी ही बात मानकषायकी है। यह मान अर्थात् घमंड़ क्या चीज है? किस पर घमंड करना और घमंड दिखाकर, लोगों को अपना बड़प्पन जताकर उन लोगोंसे क्या लाभ लूट लिया जायगा? सब मायाजाल है। अपने स्वरूपको भूलकर दूसरे जीवोंकी दृष्टिमें भला जगनेकी उत्कंठा बन जाना यह तो महाव्यामोह है। यह कोई चतुराईकी बात नहीं है। इसके फलमें तो पतन है, अगला भव भी बिगड़ता है, इसमें कौनसी लाभकी बात लूटी जा सकती है? सोचते जाइये। एक सद्विचार ही तो बनाना है, एक सम्यग्ज्ञान ही तो रखना है। ये घंमडके विषय विनष्ट हो जायेंगे।

इन घमंडकषायको कैसे जीतें? किसी दूसरे पदार्थके सहारे जीतें या किसी पदार्थसे भीख मांगकर जीतें? अरे केवल एक सद्विचार बनाने मात्रसे यह घमंडकषाय जीता जा सकता है। वस्तुस्वरूपके अनुसार अपने ज्ञानकी पद्धति बनायें कि यह मानकषाय नष्ट हो गया।

मायाहारीविचार—मायाकषाय—छल-कपट करना, ऊपरमें कुछ दिखाना, भीतरमें कुछ भाव रखना, इस मायाचारसे क्या भला होगा? मायाचारी पुरुष समझता है कि मैं दूसरोंको उल्लू बनाकर अपना उल्लू सीधा कर लेता हूँ, पर बात यहाँ उल्टी है। मायाचार करनेसे दूसरोंका क्या बिगाड़ हुआ? अधिकसे अधिक यह समझें कदाचित कि दूसरेको न विकसित होने दें किसी भी कार्यमें, तो यह भी उसकी एक कल्पना है। उसके मायाचारके बर्तावके कारण कहीं दूसरेका अनर्थ नहीं हो जाता। यह मायाचार स्वयंको ही धोखा देने वाला और पतनकी ओर ले जाने वाला है। जब मेरे आत्माका सीधा सुगम एक स्वभाव है तो उस सुगमस्वभावके विरुद्ध कल्पनाएँ गढ़कर एक कितना बड़ा बोझ लादा जा रहा है? इस मायाचारसे कोई सिद्धि नहीं है। दूसरे जीवोंका कैसा होनहार है, जैसी उनकी योग्यता है उसके अनुसार जिस विधिसे जो होना है होगा। उसमें हम न उनका कुछ बिगाड़ कर सकते और न उनको कुछ धोखा देने से अपनेमें सुधार कर लेता हैं। मायाचार करना व्यर्थ है। यह मायाचार इस तरह ज्ञानबलसे छूट जाता है। बताओ क्या किसी कसरतसे छूटा? कोई शस्त्र लाठी आदिके प्रयोगसे यह मायाचार छूटा क्या? यह मायाचार सद्विचारोंसे छूटा। एक ज्ञानभावसे ही कषाय बैरी दूर किए गए।

तृष्णासंहारकविचार—लोभकषाय भी जीती जा सकती है तो क्या परपदार्थका समूह बढ़ानेसे जीती जा सकती है? यह तो समझमें आ रहा होगा। कुछ किन्हीं धार्मिक प्रसंगोंमें आकर कि इतनी सम्पदा हो जाने पर, इतना परिग्रह होने पर फिर मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है। चाहे किसीने ब्रतका संकल्प करके ऐसा परिमाण रक्खा हो और चाहे किसीने ब्रतका संकल्प न करके अपनी ही जरूरत समझकर एक सामने नजरमें ला लिया हो कि इतना हो जानेपर फिर तो मौज ही है। लेकिन बाजे-बाजे तो ब्रत परिमाण रखने वाले लोग भी इतना वैभव पानेपर फिर आगेकी तृष्णा बढ़ाने लगते हैं और प्रायःकर संकल्पी पुरुष भी इतना धन प्राप्त होनेपर जो उनको गुजारेमें पर्याप्त आवश्यक था आगेकी तृष्णा बढ़ा लेते हैं। यह तृष्णा तो बिल्कुल व्यर्थकी चीज है। जैसे ईधनके संचयसे अग्नि शान्त नहीं होती ऐसे ही परिग्रहके संचयसे तृष्णा शान्त नहीं होती आदिक विचार बनायें तो तृष्णा शान्त हो जायेगी।

अज्ञतापरिहारका अनुरोध—भैया! जो केवल सद्विचारोंसे कषायबैरी जीते जा सकते हैं। यदि इस सुगम उपायसे हम कषायोंको नहीं जीत सकते तो यह बेवकूफी है। घोर तपश्चरण नहीं कर सकते तो इसे अज्ञानता न कहेंगे, किन्तु सद्विचार भी न रख सके तो यह तेरी अज्ञानता है। सद्विचार रख और अज्ञान भावको दूर कर

हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे,
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
श्रयति गणागणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं,
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतु यतस्व।।213।।

कषायविजयके लिये अनुरोध—हे साधु पुरुष! जब तक तेरे इस निर्मल अगाध हृदयरूपी सरोवरमें कषायरूपी जलचरोंका, मगरमच्छोंका समूह बस रहा है तब तक गुणोंका पूञ्ज तेरेमें निःशंकरूपसे प्रवेश नहीं कर सकता। जैसे किसी अगाध समुद्रमें बहुतसे जलचर मगरमच्छ आदिक रहते हों वहाँ गुणीजन, सज्जन पुरुष निशंकरूपसे प्रवेश नहीं कर सकते हैं इस कारण क्या करना? शान्त परिणामसे और इन्द्रियके दमनसे अनेक प्रकारके यमनियमोंसे इन कषायोंके जीतनेका उद्यम करना जिस परिणाम में समताभाव बसा हुआ है, रागद्वेषका त्याग रहता है उस परिणामके समय कषायोंका क्या काम है? जो पुरुष इन इन्द्रियोंका दमन करते हैं वे गुणलाभ करते हैं। ये हत्यारी इन्द्रियाँ, ये दुःखकारी इन्द्रियाँ अपने विषयमें प्रवर्तन हो सकें इसके जो विषय हैं जो कि थोथे हैं, असार हैं, उनमें यह न लग सके ऐसा ज्ञानका अंकुश इस पर बना रहे तो वहाँ गुणोंका विकास होता है और इसी तरह किसी उचित नियमको आजीवन लिया जाये और उसे निर्वाहा जाय तो उस यमनियमके प्रसादसे भी ये कषाय उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार बने तू इन कषायोंके हटानेका उद्यम कर।

क्रोधविजयकी आवश्यकता—कषायें चार प्रकारकी हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। अच्छी प्रकार निरख लो, क्रोध कषायसे किसीका भला होता है क्या? यहां बताया जा रहा है कि क्रोधकषायकी ज्वालामें पुरुषके रहे सहे गुण भी जल जाते हैं। कितना-कितना ही किसीका उपकार करे। कोई किसीका कितना ही हितू हो, वे सब उपयोग और सब सेवायें जल जाती हैं। लोगोंकी दृष्टिमें फिर वह कुछ नहीं रहता है। यह तो है दूसरी बात। अपनी बात भी देखो, क्षमाका तो वहाँ प्रवेश ही नहीं है जहाँ क्रोध हो रहा हो। और क्रोधके समय सरलता, उदारता, नीति सेवा सब कुछ नष्ट हो जाते हैं। क्रोधमें किसने भला किया है? घर-घरमें देखो—जरा-जरासी बातपर क्रोध आने लगता है मगर उस क्रोधसे कोई काम सुधरता है क्या? क्रोध करनेसे जिस पर क्रोध किया जा रहा है क्या वह सुधर गया? जिस कामके लिए क्रोध किया जाता है क्या वह सुधर गया? अथवा खुदका भी जीवन क्या सुधर गया? सुधरा क्या? कुछ भी नहीं। प्रायः काम बिगड़ जाता है। कभी-कभी तो क्रोधके वश होकर यही मनुष्य खुद अपने आप अपने आरामके साधनोंको बिगाड़ देता है। गुस्सा आये तो कहो अपने घरमें आग लगा दे, गुस्सा आये तो कहो हाथमें घी का डबला लिए हो उसे डाल दे, गुस्सा आये तो कहो रसोई घरमें चूल्हा खोद फेंक दे। बतावो उसने किसका नुकसान किया? अपना ही तो नुकसान किया। जब तक क्रोध कषाय जगती है हृदयमें तब तक गुणोंका निवास कैसे हो सकता है?

मानविजयकी आवश्यकता—दूसरी कषाय है मान कषाय, घमंड। कोई पुरुष ऐसे चतुर होते हैं कि लोगोंकी समझमें नहीं आने देते हैं कि यह घमंडी है, नम्रताका व्यवहार करते हैं, ऐसी वाणी बोलते हैं जिससे दूसरोंको बड़ी मधुर लगे और कहो उसमें मान कषाय पुष्ट किया जा रहा हो। पर जो मान कषाय करता है उसको आत्माकी सुध भूल जाती है क्योंकि घमंड किया जाता है। किसी परपदार्थको अपनाने की बुद्धि होने पर शरीरको निरखकर यह वासना बनी कि यह मैं हूं, इस मेरेका नाम जगतमें होना चाहिए, मेरी प्रशंसा होनी चाहिए। किसकी प्रशंसा? क्या इस चैतन्यस्वभाव की? नहीं-नहीं उसको तो नजर में ही नहीं लिया कि यह मैं हूं। अगर उस शुद्ध चैतन्यभावको दृष्टिमें लेता कि यह मैं हूं तो वहां घमंड ही न उत्पन्न हो सकता था। इस शरीरको माना कि यह मैं हूं तब इस मूर्तिक शरीरकी पोजीशन रखने के लिए मान कषाय जगती है और तब श्रद्धा, चरित्र संयम, अन्तर्ज्ञान, भेदविज्ञान—ये सब भली-भली बातें कैसे हो सकती है?

मायाविजयकी आवश्यकता—मायाचारकी कषाय भी देखो, उसे तो एकदम शल्य ही बता दिया है। क्रोध कषाय, मान कषाय तथा लोभ कषाय ये शल्यरूप नहीं है किन्तु माया कषायको एकदम शल्यरूप बता दिया है। मायाचारकी स्थिति वालेको रात दिन शल्य रहती है क्योंकि पहिले यहाँकी वहाँ और वहाँकी यहाँ अनेकवार्तालाप कर डालें ना तो चित्त में यही रहता है कि कहीं यह बात खुल न जाये और इस बातके ही कारण उसे रात दिन शल्य रहती है। जैसे शल्य सट्टा लगाने वालों को रहा करती होगी, बिना रकमके मुँहकी बोली वाणीसे ही व्यापार करनेमें जैसी शल्य रहती होगी उससे भी विकट शल्य मायाचार में हुआ करती है और फिर इस मायाचारसे सिद्धि क्या होगी? कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा। आखिर यह जीव अपने स्वरूपरूप ही तो है, समस्त परद्रव्योंसे भिन्न ही तो है, इसमें क्या आ जायेगा? कौनसा इसमें विकास हो जायेगा? बल्कि मायाचारसे अपना निधान खोया ही है सब कुछ। शान्ति खोयी, ज्ञान खोया, बल खोया, कायरता जगी, धीरता, उदारता और तपश्चरण आदिककी पात्रता ये सब खत्म कर डाली।

मायावशतामें पतन—एक कथानक है कि एक मुनिराज ४ महीनेका उपवास ठानकर चातुर्मास करके बिहार कर गए। चातुर्मासका जो अन्तिम दिन था उस दिन बिहार कर गए और उसके दूसरे दिन एक साधु वहाँसे निकला, लोगोंने उसकी बड़ी प्रशंसा की। धन्य है चार महीनेका महाराजने उपवास किया। ऐसी बात सुनकर उसे खुशी हुई, सोचा अच्छी मुफ्तमें प्रशंसा मिल रही है। बस वह मौनपूर्वक रह गया। उसमें उसको ऐसा मायाचारका दोष लगा कि वह मरकर खोटी गतिमें गया। तो मायाचार से कौनसी सिद्धि मिल जाती है? जरा-जरासी बात छिपाना। जरा-जरासे विषयसाधनों पर बड़े-बड़े प्रोग्राम होना, इस मायाचारसे कौन-सी सिद्धि मिल जायेगी? अरे जो मिला हुआ है वह ही साराका सारा छूट जायेगा। अपनी तो कुछ सुध कर, सरलताका आदर कर।

लोभविजयकी आवश्यकता—चौथी कषाय है लोभ। लोभ पापका बाप बखाना—यह बात बहुत प्रसिद्ध है। तृष्णामें अपने आपकी सुधबुध सब भूल जाती है। परपदार्थोंके विषयमें जो लोभ

भाव जगता है, उस लोभसे इस आत्मामें कौन-सी सिद्धि हो जायेगी। कौनसा सुधार बन जायेगा, सो तो निरखिये। एक आत्माको क्लंकित किया। सब कुछ छोड़कर तो जाना ही है, देह तक भी साथ न जायेगा। जैसा परिणाम किया उसके अनुसार परभावकी रचना चलेगी। लोभमें कौनसी सिद्धि हुई, और फिर बाह्य सम्पदाका समागम होना पुण्यके आधीन है। कोई किसी परवस्तुको तृष्णावश उसे चिपकाये रहे, आधीन ही रखे तो इससे कौनसी सिद्धि है? पुण्यरस घटेगा, पापरस बढ़ेगा। फिर रखी रखायी सम्पदा भी पास न रह सकेगी। और जो पुरुष तृष्णा नहीं करता, उदारता रखता है ऐसे पुरुषका कुछ द्रव्य दूसरेके उपयोगमें खर्च हो जाने पर भी लौकिक दृष्टिसे भी उसे क्या घाटा रहता है? उदय है पुण्यका तो वह कहाँ जायेगा, फिर उससे भी अधिक समागम उसे प्राप्त हो सकेगा। कुछ भी हो, इन बातोंके विवरणमें नहीं जाना है किन्तु अपने अन्तरङ्गमें यह देखो कि तृष्णा करके यह मैं अपना कौनसा लाभ ले लेता हूं? ये कषाय बैरी, ये कषायोंके जलचर जब तक इस अगाध उपयोग समुद्रमें पड़े रहते हैं तब तक गुण निःशंकरूपसे आत्मामें उपयोगमें प्रवेश नहीं कर सकते। हे कल्याणर्थी पुरुष! तू तत्वज्ञानके बलसे ज्ञानभावनाके द्वारा इन कषायों को जीत। इसही में सुख शान्तिका समागम हो सकेगा।

हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं,
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुविडालिकेति तदिदं धिक्धिक्! कलेः प्राभवं,
येनैतेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्ययासिताः।।२१४।।

उपादानशुद्धिपर विचार—ये चतुर लोग, ये संसारीजन शान्तिके फल को और शान्तिके कारणभूत निष्परिग्रहताको छोड़कर परलोक की सिद्धि चाहते हैं और अपने आप ही अपने मनसे विकल्पोंसे या कुछ साधनों को बनाकर स्वयं अपनी प्रशंसा करते हैं, वे कषायके वशीभूत हैं, गुणोंके विकासके मार्गमें लगना विरल और दुर्लभ बात है। धर्ममार्ग, धर्मभेष, धर्मपदको धारण करके भी ये सब अवगुणोंकी बातें रहना यह प्रायः होता रहता है। जिस पुरुषका जैसा उपादान है वह उस उपादानके अनुकूल ही तो परिणमेगा। भेषमें चाहे कैसा ही कुछ बना दो, पर बात तो यह बनेगी जो इसके उपादानमें बैठी है।

उपादानानुसारिणी प्रवृत्ति—गड़रियाकी लड़की बादशाहको भी ब्याह दी जाये, रानी बन जाये और वह अपने भवनमें चित्रोंको एक ओर से देखने लगे तो मुकुट पहिना देनेसे या रानीके कपड़े पहिना देनेसे भीतर के उपादानमें तो फर्क न आ जायेगा। उसकी दृष्टि वीर बहादुर, योगी, संत पुरुषोंपर न टिककर बकरी की फोटो लगी होगी तो वहां टिकने लगेगी और टिक-टिक बोलकर उस अचेतन फोटोसे भी व्यवहार करने लगेगी। अब उपादानको कैसे टाला जाये? किसी तोतले बच्चेको बहुत अच्छे कोट-पैन्ट, बूट-टोप आदिसे खूब सजा दिया जाये तो इतना श्रंङ्गार करनेके बावजूद भी क्या उसके तोतलेपनका अवगुण मिट जायेगा।? भेष बनानेसे क्या होता है? जो उपादान है, जो

प्रकृति है, जो कुदृष्टि है वह अपना काम करेगी। कोई अज्ञानी पुरुष किसी भावुकतामें आकर या किसी लालचमें आकर किस ही प्रकार मुनि बन जाये, निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ले तो भी क्या वह वास्तविक निर्ग्रन्थता का पालन कर सकेगा? क्या मनमें वह शान्तिका अनुभव कर सकेगा? वह तो अपने मन-ही-मन अपनी प्रशंसा करता हुआ कुछ प्रवृत्ति करेगा।

बाह्यपरिस्थिति व उपादान–जैसे बालकको राजा भैया! राजा भैया कह-कहकर कितना ही काम करा लो, ऐसे ही इन अज्ञानी मोही साधुजनों को बढ़ावा दे-देकर पूजा प्रतिष्ठा कर-करके समितियोंका खूब पालन करा लो, इन सब प्रवृतियोंके करनेके बावजूद भी क्या भीतरमें अन्तर पड़ जायेगा? वहाँ तो जिस प्रकारका उपादान होगा उस तरहकी वृत्ति जगेगी। तब हे साधु पुरुष! करनेका काम ज्ञानभावना है। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूं–इस प्रकारके स्वरूपकी दृढ़ भावना बने तो वह सब अन्तर बन जायेगा। जिसके प्रसादसे संसारके संकट दूर हुआ करते हैं। जैसे छाछ चाहने वाले को कोई दूध देता रहे तो वह कितना शान्तमिजाज बनकर व्यवहार करेगा? ऐसे ही एक साधारण आरामकी अभिलाषासे किसीने साधुव्रत लिया हो और उसे उस मनचाही बातसे भी कई गुणा अधिक प्रतिष्ठा पूजा मिले तो वह तो शान्तिका ही व्यवहार करेगा मगर उस शान्ति व्यवहारके मायाचारमें अशान्तिकी अग्नि दबी हुई है। बड़े शान्तचित्त हैं, ठीक तरहसे ब्रत संयम पाल रहे हैं किन्तु अज्ञानका उदय है वह कषायके वश हुआ पड़ा हुआ है। शुद्ध सहज चित्स्वभावका उन्हें अनुभव नहीं होता है।

अन्तर्मल–भैया! अन्तर्मलकी कितनी गहरी बात है? कहाँ क्या मल पड़ा हुआ है और जिसकी गन्दगीका इतना असर होता कि उसके प्रति लोकमें भी असर हो जायेगा और इसे वह स्वयं भी मालूम नहीं कर पाता। जैसे अटपट अधिक खाने वाले पुरुषके पेटमें किसी जगह नाभिके केन्द्र पर कुछ ऐसा दृढ़ मल जम जाये इतनेसे मलके असरका क्या पता, लेकिन उसका विष, उसका प्रभाव उसके समस्त शरीर पर पड़ जाता है, जुखाम हो, बुखार हो, अनेक रोग हो ऐसे ही पूजा प्रतिष्ठा आदिक वातावरणसे तृप्त होकर अपनी शान्त मुद्राका व्यवहार करने वाले पुरुषके आत्मामें अन्तः कहाँ क्या मल पड़ा रहता है जिसका प्रभाव, जिसका विष इसके इहलोक और परलोकमें बुरा पड़ जाता है।

धर्मकी ओटमें कषायपोषणका अनौचित्य–हे साधु पुरुष! ऊपरी ही बातें निरखकर तृप्त मत हो। अपने अन्तरङ्गके आशय और उद्देश्य खोटे मत करो। अपना क्या उद्देश्य बनाया है? हमारी दृष्टि कहाँ जम रही है? तुम आखिर एक खास बात क्या चाहते हो, उसका निर्णय तो करो। यदि इसके अतिरिक्त निजतत्वको छोड़कर अन्य तत्व आये तो तू समझ अभी बहुत पिछड़ा हुआ जीवन है। वहाँ तो यह बड़ी विरुद्ध बात हो रही है। जैसे चूहा और बिलावमें परस्पर बैर है ऐसे ही क्रोधादिक कषायोंमें और उपशान्ति आदिक गुणोंमें परस्पर बैर विरोध है। जहां कषाय जग रही है चाहे वह व्यक्त हो अथवा न हो, दूसरेको अव्यक्त हो पर भीतर कषाय पड़ी हुई है तो उसके

लिए तो कोई गुण उत्पन्न नहीं हो सकता। धिक्कार हो ऐसे दुराशयको और ऐसे दुराशय वाले जीवोंसे बर्त रहे इस कलिकालको धिक्कार हो। एक धार्मिक भेष धारण करके एक साधु निर्ग्रन्थ भेष धारण करके फिर आत्मकल्याणके सिवाय अन्य कुछ इन्द्रियविषयके साधनोंकी चाह बनाये तो वह गृहस्थसे भी खोटा है।

ज्ञानभावका कर्त्तव्य—इस ग्रन्थमें साधुजनोंको सम्बोधा गया है। देख तू कषायनके वश मत हो। तू एक शुद्धज्ञानप्रकाशके अनुभवके सिवायके अन्य कुछ मूल लक्ष्य मत बना। तू ज्ञानस्वभावी है, सुबुद्धि है, फिर भी कषायोंके प्रभावके तू अत्यन्त ठगाया गया है और इस लोक तथा परलोक के फलका तू स्वयं विनाश कर रहा है। अपना काम संभाल। सभी लोग प्रायः अज्ञानी हैं, मोही हैं, खुदके बोझमें लदे हुए हैं, उनमें तू क्या चाहता है? अपने विभावमलको दूर कर और अपनेमें अपने सहज शुद्ध आनन्द का अनुभव कर, ऐसी अपनी दृष्टिका ही झुकाव बना, ऐसी ज्ञानभावना बना।

उद्यक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषायाः,
प्राभूद्बोधोप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेपि प्रवाहे सलिलमिवम नाग् निम्नदेशेष्ववश्यं,
मात्सर्य ते स्वतुल्येर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि।।२१५।।

गूढअदेरवसका भावके भी त्यागनेका उपदेश—हे साधो! तू तपमें उद्यमी हुआ है यह बात तेरे योग्य है और इस तपश्चरणके उद्यमसे तेरे द्वारा ये कषाय अपमानको प्राप्त हुए हैं यह भी योग्य बात है अर्थात् क्रोधादिक कषायें तेरेमें मंद हो गयी हैं यह भी ठीक है, और तेरा ज्ञान बड़ा अगाध है, गम्भीर है। जैसे समुद्रमें जल अगाध होता है इसी प्रकार तेरा ज्ञान भी अगाध है। यह भी बड़ी शोभाकी बात है। सभी बातें तुझमें भली-भली हैं परन्तु तुमको एक शिक्षाकी बात है उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

हे साधु! जो बात मैं कहूंगा वह दूसरेके द्वारा अगम्य है और मैं जिस दोषकी बातको कहूंगा उसको कोई बिरले ही संत त्याग पाते हैं। तेरा तपश्चरण उत्तम है, मंदकषायें भी प्रशंसाके योग्य हैं, तेरा ज्ञान भी बड़ा अगाध है किन्तु जैसे जलके प्रवाहमें, नीचे स्थानमें गहराईका जल निःसंदेह गूढ़ होता है ऐसे ही तेरे हृदयमें एक दोष ऐसा गूढ़ छुपा हुआ है जो दूसरे लोगोंके द्वारा जाननेमें नहीं आ रहा है। उस दोषकी बात कहता हूं कि तू उतनी बात और मिटा दे फिर तो तू सर्व प्रकार निर्मल है। यह कौनसा दोष है? अपनी बराबरीके लोगों में मात्सर्यका भाव होना।

आचार्य देवकी सूक्ष्म गवेषणा—आचार्यदेव ने कैसा छान-छानकर आत्माको संभाला है? कोई साधु तपश्चरणमें भी ऊँचा है, ज्ञानमें भी ऊँचा है, कषाय भी मद हैं फिर भी एक ऐब ऐसा रह जाता है कि कुछ-न-कुछ बराबरीके साधुवोंके प्रति एक अदेखसकाका भाव हो जाता है। वह दोष लोगोंको भी विदित नहीं हो पाता। कितने ही साधु तो प्रकट मात्सर्य रखते हैं, उनकी कहानी नहीं कह रहे हैं। वे तो तपश्चरणमें सावधान नहीं, ज्ञानमें गम्भीर नहीं, कषाय भी मंद नहीं और

उनका मात्सर्य भाव एकदम व्यक्त है। दूसरोंकी निन्दा करना, दूसरे साधुसे ईर्ष्या रखना, उनसे मिल न सकता, कदाचित् एक ही नगरमें आ जायें तब भी मिलाप न करने की भावना हो यह तो प्रकट दोष है। उनकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जो सब जनताके परीक्षणमें भी उच्च तपस्वी हुए हैं और ज्ञान भी गम्भीर, कषाय भी मंद, फिर भी चित्तमें अपनी बराबरीके साधुवोंके प्रति एक अदेखसका का भाव हो जाना, यह ऐब रह जाता है। हे साधु! तू इस दोषको दूर कर! यह अवगुण दुर्जेय है। बड़ी कठिनाईसे जीता जा सकता है। इसके जीत लेने पर फिर तू निर्मल ही है।

अंतरङ्ग त्यागकी आवश्यकता–सत्य तो यह है कि जिसने इस मायामयी दुनियाके लिए अपना अस्तित्व माना है उसे सत्यसे यथार्थ प्रीति होना कठिन है और जिसका यह निर्णय है कि मेरा जीवन, मेरा अस्तित्व, मेरी बात दुनियाके लिए नहीं है मेरी बात मेरी लिए ही है, मेरा काम मेरे ही लिए है, मेरा भवितव्य मेरे ही लिए है। यों केवल निजके स्वभावसे अनुराग जगे तो ये सब गुणविकास अवगुणपरिहार सरल हो जाते हैं। हे साधु! तू तपस्वी है, मदकषायी है, गम्भीर चित्त वाला है, ज्ञान भी विशाल है, सब कुछ है तो एक तू अपने आपमें जो विदित हो सकता है देख ले। यदि कुछ भी आदेखसका का भाव है अथवा अपनी बराबरी वाले या अपने से भी कम गुण वाले उनके उन्नपन, उनकी प्रशंसा, उनकी प्रतिष्ठा तू रुचिसे हृदयसे यदि नहीं देख सकता तो तू इस अवगुणके भारसे मलिन है। तू इस अवगुणका भी परिहार कर अथवा अपनी बराबरी वालोंसे अथवा कम ज्यादा गुण वालोंसे मात्सर्यका भाव मत कर। यह प्रच्छन्न बड़ा बुरा दोष है। इसके रहते हुए तू अपने आत्माकी उन्नति नहीं कर सकेगा।

चित्तस्थमप्यनवबुध्य हरेण जाडयात्
क्रुद्धवा वहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्धया।
घोरामवापसहितेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः।।२१६।।

क्रोधसे हानि–इस प्रकरणमें इन कषायोंसे क्या हानि होती है? इसका कुछ संक्षिप्त विवरण किया जायेगा। उनमें सबसे पहिले क्रोधकी बात कह रहे हैं और उसको एक ऐसे दृष्टान्तसे शुरू कर रहे हैं जिससे यह भी प्रकट होता है, कि अपनी बुद्धिके अनुसार किसी अच्छी बातके लिए क्रोध किया गया है, फिर भी यथार्थ सावधान न होने से कुछ-से-कुछ समझा जाकर क्रोधसे क्या कर लिया जाता है ऐसे क्रोधसे भी हानि है, तब अति अविवेकी जनोंके क्रोधसे क्यों न हानि होगी?

क्रोधसे हानि पर एक दृष्टान्त–एक ऐसी बात प्रसिद्ध है कि किसी ने इस कामविकार पर इस कामदेव पर क्रोध किया, अच्छी बात है। कोई यदि इस कामदेव पर क्रोध करके इसे छेद डाले, जला डाले, मार डाले तो अच्छी बात है क्योंकि इस कामने जगतके सभी जीवोंको आक्रान्त कर दिया है, सो किसी पुरुषने कोई बड़े ऋषिसंतोंने यह तो न जान पाया कि यह कामदेव चित्तमें ही रहा करता है, किन्तु बाहरी किसी पदार्थमें कामदेवकी आस्था करके यह काम है उसे जला डाला। जल

तो गया इसकी जानमें, पर काम तो नहीं मरा, वह तो चित्तमें ही छुपा हुआ था और इस प्रसंगमें यह हुआ कि काम छुपे-छुपे भीतर-ही-भीतर काम कर रहा था सो ऐसा उमड़ा कि उस पुरुषको पदभ्रष्ट होना पड़ा और योग सन्यास त्याग सबको छोड़कर विवाह रचना पड़ा और पर्वतोंमें रहना पड़ा। लोग जानते होंगे, इस क्रोधसे किसके कार्यकी हानि नहीं होती है? कामके रोगसे वह रोगी बना और रोगी बनकर फिर बड़ी विडम्बना हो गयी। भले ही कुछ कला थी, कुछ सिद्धि थी, कुछ प्रताप था सो अपने ही बलसे अथवा मरकर व्यंतर होकर अपनी मान्यता मनाने के लिए कुछ रोग फैलाकर फिर कुछ स्वप्न देकर अपनी मान्यता करा ली हो, ठीक है पर जो अशान्तिका काम करेगा उसे फल अशान्तिका ही मिलेगा। क्रोधके उदय से किसके कार्यकी हानि नहीं होती है। क्रोधसे लाभ कुछ नहीं मिल पाता बल्कि हानि हो जाती है।

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं,
यत्प्राब्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्तः।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति।।२१७।।

मानकषायसे हानि–मान कषाय भी जीवोंकी महती हानि करती है। देखो बहुत प्राचीन घटना है–ऋषभदेवके पुत्र बाहुबलिके साथ जब भरत चक्रवर्तीका युद्ध हुआ, दोनों यद्यपि थे भिन्न-भिन्न किन्तु चक्रवर्तित्वकी प्रेरणामें यह लड़ाई छिड़ गयी थी। अनेक युद्धोंमें हारकर भरतने बाहुबलिपर चक्र चलाया, वह चक्र बाहुबलिके दाहिने हाथ पर आकर रुक गया। इतना महान शस्त्र चक्र जिसके हाथ पर आ जाये उसको समझ लीजिए सब समृद्धि मिल चुकी। एक तरहसे देखा जाये तो बाहुबलि ही चक्रवर्तीसा बन गया, वही सब लोगोंकी दृष्टिमें एक प्रतापी नजर आने लगा। ऐसा बाहुबलि ऐसी बड़ी समृद्धियोंको राज्यको सबको त्यागकर दीक्षित हो गया। कितना बड़ा त्याग था बाहुबलिका? बड़े श्रमसे विजय चक्रवर्ती पर पा ली, लोकमें सबके द्वारा मान्य हो गया। इतनी बड़ी समृद्धि पानेके बादमें उस सब समृद्धिका त्याग करदे तो यह बाहुबलिका कितना बड़ा त्याग था और त्याग तो सब दिया, किन्तु साधु अवस्थामें एक मान रह गया। सो देखिये उस मानसे क्या हानि होती है?

बाहुबलिकी शल्य–किसी ग्रन्थमें लिखा है कि बाहुबलि उस समय इस शोकमें थे, विचारमें थे कि भरतकी भूमिपर मैं खड़ा हूं। मुझे तो उसकी भूमि पर खड़ा ही न होना चाहिए। अब भरतक्षेत्रके ६ खण्डसे बाहर कहाँ जाये? यह मान बाहुबलिको सता रहा था और इस कारण तपस्या करने पर भी जहाँ रहकर एक वर्ष तक आहार नहीं किया, उन्होंने एक ही जगह एक आसनसे खड़े होकर एक वर्ष तक घोर तपस्या की, वर्षाकाल में बेल शरीरमें लिपट गयी, सर्प फिरने लगे, इतनी कठिन तपस्या करने पर भी केवलज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ, प्रभुता नहीं जगी। उसका कारण वही मान कषाय था। तो यह मान कषाय महान अनर्थको उत्पन्न करती है।

बाहुबलिके शल्यका विलय–भरतचक्रवर्तीको जब ऋषभदेवके समवशरणमें विदित हुआ कि बाहुबलिको शल्य है सो वहां आकर बाहुबलिके चरणोंमें प्रणाम करके भरतने कहा–हे योगिराज! यह भूमि किसकी हुई? मुझ जैसे अनन्त चक्रवर्ती हो गए इस क्षेत्रमें और जहां स्मारकमें नाम लिखा गया है, कई योजन लम्बे चौड़े विशाल पर्वतपर किसी भी चक्रवर्तीका नाम लिखने की खाली जगह न मिलनेसे दूसरे चक्रवर्तीका नाम मिटाकर उस जगह अपना नाम लिखा करते हैं। महाराज यह भूमि आज तक किसकी होकर रही क्या? सब धोखा है। बाहुबलिकी शल्य मिटी, निर्विकल्पसमाधि हुई, केवलज्ञान जगा, लेकिन जब तक मान कषाय रही तब तक इतना विशिष्टतपश्चरण करनेके बाद भी सिद्धि न हो सकी।

मानकी अनर्थकारिता–यह मान कषाय अनर्थ करती है। और श्री बाहुबलिकी घटना तो पुराणोंकी बात है, अपने ही जीवनमें देखलो, मान करने से क्या फल मिलता है? किसी घमंडीको अपनेसे अधिक घमंड करने वाला मिल जाये तब उसे पता पड़ता है। यह मान कषाय महान् अनर्थ करने वाली है। घर-घरमें, समाजके लोगोंमें, देशके लोगोंमें सब जगह अपनी-अपनी पद्धतिसे इस मानका विसम्वाद चलता रहता है। छोटे-छोटे बच्चों तकमें भी साल-सालके बालकोंमें भी मान कषायका नाच चलता रहता है। सबको विदित है। यह थोड़ा भी मान कषाय महान् अनर्थका करने वाला है।

सत्यं वाचि मतौश्रुतं हृदि दया शौर्य भुजे विक्रमो,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृते।
तेन प्रागजनीह तेपि निरहङ्कातः श्रुतेगेचिरा–
श्चित्रं संपति लेशितोषि न गुणस्तेषां तथाप्युद्धताः।।२१८।।

गुणियोंकी निरहङ्कारता व निर्गुणोंके अंहकार पर आश्चर्य–देखिये जिसमें बड़े गुण होते हैं वे तक तो निरभिमानी देखे जाते हैं, पर जिनमें गुण भी कुछ नहीं हैं फिर भी लम्पाकी तरह ऐंठे चले जा रहे हैं, इस पर तो बड़ा अचरज होना चाहिए। एक घासमें लम्पा घास हुआ करती है जो होती तो कोमल है और कांटेकी तरह पैरमें छिद जाया करती है। उस सूखे लम्पापर थोड़ा पानी गिर जाये तो फिर उसकी लीला देख लो, वह चारों तरफ इस तरहसे ऐंठती है कि वह देखते ही बनती है। ऐसे ही जिसमें गुण नहीं हैं वह इस तरह अभिमानमें रत रहा करता है, यह आश्चर्यकी बात है।

निरहङ्कारीके गुणोंका वर्णन–गुणी पुरुष तो बड़े गुणोंसे भरपूर होकर भी निरहंकार रहते हैं, जिनके बचनोंमें सत्यता है, कोई स्वार्थसाधना नहीं है। ऐसे भी संत पुरुष होते हैं जिनके वचन सदा सत्य प्रामाणिक होते हैं। यह बड़ा गुण है कि नहीं? हर एक कोई ऐसा कर सके तो बतावो, पर हाँ बिरले गुणी पुरुष ऐसे होते हैं जिनके वचनोंमें सत्यता है और जिनकी बुद्धिमें बड़ा ज्ञान भरा हुआ है शास्त्रका, युक्तियोंका, नीतियोंका, अनुभवका, बड़ासे बड़ा ज्ञान जिनकी बुद्धिमें पड़ा हुआ

है ऐसे भी बड़े पुरुष होते हैं, जिनके हृदयमें दया बसी हुई है। जिनके हृदयमें रंच भी कठोर वासना नहीं रही, भुजावोंमें शूरवीरता बसी हुई है और सम्पदा भी अधिक पायी है, दीन दुखियोंके लिए पूर्णदान भी जिनके होता रहता है, और शुद्धज्ञान, शुद्धआचरण एक ऐसा है कि निर्वाणके मार्गमें भी जिनका गमन चल रहा है, धर्मी है। बतावों किसी पुरुषमें ये सारे गुण मिल जायें तो वह कितना महान् है। इतना महान् होकर भी वह पुरुष तो रहता है निरहंकार, अभिमान रहित, सरल, मृदुपरिणामी और आजकल इस कलिकालके समयलेश भी गुण जिनके नहीं हैं ऐसे पुरुष भी उद्धत देखे जा रहे हैं। यह बड़े खेदकी बात है।

गुणहीनव्यक्तिके अहङ्कारका प्रसार—अथवा यों समझ लीजिए कि जो मदसे उद्धत रहा करता है वह पुरुष गुणशून्य होता है। जिसका जैसा उपादान है उसे वह योग्यतासे अपना वैसा ही परिणमन बनाये रहता है। गुणी पुरुष अहंकारमें नहीं आया करते निर्गुण पुरुष ही अंहकारमें बसा करते हैं और ऐसा अंहकार जिससे दुनियाके जीवों पर छाये रहनेकी वाञ्छा बनी रहती है यह मान हानिका, अनर्थका उत्पन्न करने वाला है।

हठ और हठका फल—एक बार एक सास बहूमें लड़ाई हुई। उस बहू से पतिको बड़ा अनुराग था। बड़ी हठ हो गयी उस बहूके मनमें कि मैं बहूरानी तब कहाऊँ जब इस सासके सिरके बाल घुटवा लूं और मुँह काला करा लूँ। इस चिन्तामें एक दिन उसे ऐसा उपाय सूझा कि जैसा कि वह करके दिखायेगी। बड़े कठिन पेट और सिर दर्दका बहाना करके पड़ गई। उसके पतिने बहुतसे वैद्य हकीम बुलवाकर दवा करवाई, पर उसका दर्द ठीक नहीं हुआ। एक दिन पूछा अरी रानी तेरा दर्द किसी तरहसे ठीक होगा कि नहीं? तो वह बहू बोली कि एक देवता ने स्वप्न दिया है कि तुझे जो अधिक प्यार करता हो उसकी माँ के सिरके बाल घुटाकर मुँह काला करके सबेरा होते-होते दिख जाये तो बच सकेगी नहीं तो मर जायेगी। पति सब ताड़ गया। झट स्वसुरको पत्र लिखा कि सासू जी तुम्हारी लडकी बहुत बीमार है। बचनेकी आशा नहीं है, उसके बचने का सिर्फ एक उपाय किसी देवने बताया है कि इसकी मां अपने सिरके बाल घुटाकर मुँह काला करके सबेरा होते ही दिख जाये तो लड़की बचेगी नहीं तो मर जायेगी। उस बहूकी मां ने झट अपने सिरके बाल घुटाये, मुँह काला किया और सबेरा होते ही वहाँ पहुंची। उस समय वह बहू चक्कीमें आटा पीस रही थी। उसे देखकर बहू बोली—देखी बीरबानीके चालें, सिर मुडे और मुँह काले, तो पति बोला—देखी मर्दोंकी फेरी, अम्मा तेरी कि मेरी। मानमें रखा क्या है? इस मानसे हानि ही है, अपमान ही है। मानको तजना ही श्रेयस्कर है।

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै—
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं,
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु।।२१९।।

घमंडका अनवकाश–जैसे लोग कह देते हैं कि घमंड किस बातका करते हो, यहाँ तो एकसे एक बड़े पड़े हुए हैं, ऐसे ही यहाँ निरखिये यह समस्त दुनिया पृथ्वीपर अवस्थित है और यह पृथ्वी भी सारीकी सारी किन्हीं अन्योंने धारण की है, किसने धारणकी है? तीन जो धनवान बलय धनोदधिवातवलय और तनुवातवलय हैं, इन्होंने समस्त पृथ्वी को धारण कर लिया है और इस पृथ्वीको और इन सब वातवलयोंको किसीने अपने पेटमें रख लिया है। किसने? आकाशने। ये पृथ्वी और ये वातवलय सब आकाशके पेटमें पड़े हुए हैं। जैसे हम आपका शरीर इतना बड़ा है, हम आपके पेटमें कितनी सी जगह है और उसमें कुछ भोजन आदिक पड़ा हुआ है तो इतने बड़े हमारे पेटमें थोड़ीसी जगहमें समाया हुआ रहता है ऐसे महान् आकाशके ठीक बीचोबीच वातवलय और पृथ्वी सब समाई हुई है और यह सबको सब पृथ्वी भी, वातवलय भी और आकाश भी ये सबके सब किन्हीके ज्ञानके एक कोने में पड़े हुए हैं अर्थात् सर्वज्ञदेव के केवलज्ञानीके एक कोनेमें समस्त सत् पड़े हुए हैं। अब बतावों गर्व करनेकी कहाँ गुञ्जाइश है?

घमंडीकी अनुत्कृष्टताकी जाहिरात–गर्व तब किया जाये जब कोई अपने से अधिक न हो। घमंड तो छोटोंमें ही सुहाता है। अपने से बड़ोंके आगे कोई घमंड बगराये तो वह क्या शोभा देता है? लोग घमंड़के साथ बगराना शब्द लगा देते हैं। तुम बड़ा घमंड बगरा रहे हो। बगराना मायने है बखेरना। जो घमंड करता है उसका वह सब भाव सब लोगोंके सामने बिखरा हुआ दीखता है सब समझ जाते हैं। घमंडी पुरुष अपने आपको घमंड चाहे न समझ पाये कि मैं इस समय घमंडमें हूं पर लोग तो सब जान जाते हैं, इसीलिए घमंड़ बगराना शब्द बोलते हैं। अपने से कोई अधिक न हो वहाँ घमंड किया जाता है, पर देखो तो सब अपनेसे अधिक हैं। सर्वज्ञदेव केवलज्ञानी ये तो पूर्ण अधिक ही हैं अपनेसे, अब कहां घमंड किया जाये?

घमंडके अवस्थानकी स्थिति–घमंड करना अज्ञानीजनोंका ही तो काम है, बड़े पुरुष कार्यमें ही रत रहा करते हैं, गर्वमें नहीं। उनका चित्त अपने विचारे हुए शुभ कार्योंमें रहता है। शुभकार्योंमें ही उनका समय व्यतीत होता है। उससे ही उन्हें फुरसत नहीं होती है। घमंड किस बात पर किया जाये? फुरसत वाले आदमी पर घमंड सवार होता है और घमंड ही नहीं, चारों कषायें विशेषकर फुरसत वाले आदमी पर सवार हुआ करती हैं। जो उद्योगहीन हैं, जिन्हें कोई काम सामने नहीं पड़ा है, ठाली बैठे हैं तो यह चित्त भी कहाँ जायेगा। ज्ञान तो जगा नहीं है जो यह चित्त शुद्ध ज्ञानतत्वमें लग जाये। अनापसनाप बातें ही सोचते हैं। ज्ञानीपुरुष विवेकीजन गर्व नहीं किया करते। इस गर्वसे कोई सिद्धि नहीं है। दूसरी बात यह है कि सब जीव जब अपने ही समान हैं चित्प्रकाश चिद्विलासमय हैं वही बात मेरी है। वही बात सबकी है, अन्तरमें देखो, मूलमें नजर करो सबका एक स्वरूप है। जब सब एक समान हैं तो समान वालोंमें गर्व कैसा? इस गर्व करने वाले की दृष्टिमें जब तक दूसरे लोग लघु न जंचें किसी भी दृष्टिसे तब तक उनमें घमंड नहीं किया जा सकता।

सो किस बातपर घमंड करते हो? एकसेएक अधिक पड़े हुए हैं अथवा सब ही जीव तेरे समान हैं गर्व करनेको फिर अवकाश कहाँ है?

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं,
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणायिलघरासीद्यमसुतः।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटवहुवेषेण नितरा-
मपि छद्मल्यं तद्विषमिवहि दुग्धस्य महतः।।२२०।।

मायाचारसे यशकी मलिनता—मायाचार कषाय छल कपट करना, यह एक ऐसा दोष है जैसे विशाल दूधमें विषकी एक कणिका पड़ जाये तो सारा दूध विषैला हो जाता है इस ही प्रकार बहुतसे भी गुण हों, किन्तु थोड़ा भी कपट हो तो वह कपट उन सब गुणोंको विषैला कर देता है, कलंकित कर देता है। देखो—रावणका मंत्री मारीच, उसने कपट करके एक मायामृगका रूप रखा रामको ठगनेके लिए सो उसका यश मलिन हो गया, आज तक भी वह लोकोक्ति चली आ रही है। घटना कुछभी हुई हो पर एक कल्पनामें लाइये और लोकमें इस बातकी प्रसिद्धि हो गयी है कि मारीचने कपटसे मृगका रूप रखा, सीताने रामसे कहा कि इस मृगको मेरे पास लावो तो राम लेने गये, मृग चलता गया, राम बिछुड़ गए, सीता बिछुड़ गई, रावणने सीताको हर लिया। ऐसी एक लोक प्रसिद्धि बात है। और यह भी कहा गया है कि खरदूषणके साथ युद्ध करनेके लिए लक्ष्मण गए, और रामने यह कह दिया था कि तुम मुझे पुकारना तो मैं आ जाऊंगा, तब रावणने विद्याबलसे यह सच घटना समझकर हो राम ऐसा शब्द गर्जित किया। राम पहुंच गए, और रावण सीताको हर ले गया। कुछ भी हो, यश तो मलिन हुआ ना। मारीचने मायामृग बनकर अपना यश मलिन किया।

मायाचारसे विडम्बना—यहाँ मायाचारकी बात दिखा रहे हैं। यह मायाचार सर्वगुणोंको मलिन कर देता है। भाई को भाईका कपट मालूम हो जाता है तो उस जरासी कपटकी बातपर तेज अनबन हो जाती है। दो भाई थे—एक बड़ा और एक छोटा। मान लो बड़ा भाई बाजारसे दो अमरूद लाया। सामनेसे एक उसका लड़का और एक उसके भाईका लड़का आ रहा था। यह प्राकृतिक बात है कि दो चीजोंमें बड़ी चीज तो दाहिने हाथमें और छोटी चीज बायें हाथमें ली जाती है, सब जानते हैं। तो उसके दाहिने हाथमें था बड़ा अमरूद और बायें हाथमें था छोटा अमरूद। बाई ओर उसका लड़का था और दाहिने ओर छोटे भाईका लड़का था तो वह हाथ पर हाथ रखकर दाहिने हाथ वाला बड़ा अमरूद अपने लड़के को दिया और बायें हाथसे दाहिने हाथ वाले छोटे भाईके लड़केको छोटा अमरूद दिया। यह दृश्य देख लिया उसके छोटे भाईने। बस उसका चित्त उतर गया था। सो बड़े भाईसे बोला—मुझे न्यारा कर दो। मुझे कुछ जायदाद न चाहिए। एक झौपड़ी दे दो और साधरणसी आजीविका का साधन दे दो। बड़े भाई ने कहा—क्यों भाई क्या बात हो गई? तुम्हें हम तो अपने प्राणोंकी तरह सुरक्षित रखते हैं, तुम क्यों अलग हो रहे हो? अरे तुम सब जायदाद रख लो, न्यारा होनेकी क्या जरूरत ? हमारा कुछ नहीं है। लो सब तुम्हारा है। देखो बड़ी-बड़ी जायदादका मोह

भी छोड़ दिया, मगर वह अल्पकपट जो ज्ञात हो गया उसके घावकी औषधि नहीं बन सकती। अल्प भी मायाचार हो तो यह गुणोंको मलिन कर देता है।

मायाचारकी अविदितताकी असिद्धि–मायाचारी पुरुष भले ही यह समझता हो कि मेरे पापको कोई दूसरा नहीं जानता है मगर उसका यह ख्याल ही ख्याल है। उसके कार्योंको सब जानते हैं। कुछ नीतिके श्लोकों में बताया गया है कि जिनमें मायाचार है उनका मायाचार इन पुरुषोंसे अविदित नहीं रहता। नट, उपाध्याय, पाठक, गुरु, आदिक लोग बताये गए हैं, इनमें दूसरोंका कपट अविदिक नहीं रहता। लोग जान ही जाते हैं। तो सभी जगह अपनेसे बड़े लोग भी रहते हैं, कपट उनको विदित हो जायेगा और कुछ समय बाद सभीको विदित होगा। इस कपटसे कुछ सिद्धि नहीं होती। और सिद्धि क्या करना है? अधिक से अधिक धनका संचय कर लिया जायेगा, पर कभी एक साथ वह सब छोड़कर जाना भी तो होगा। उसकी भी सिद्धि क्या सिद्धि? कोई वर्तमानमें विषयोंका साधन जुटा लिया जायेगा, पर उसके फलमें आखिर होगा क्या? पछतावा होगा, पतन होगा, विषाद होगा, कर्मबंध होगा। कपटसे कुछ सिद्धि भी है क्या? कपटसे यश मलिन हो जाता है।

मायाचारसे महापुरुषोंका भी अपवाद–देखिये भैया! जिस समय द्रोणाचार्य गुरुकी युद्धकुशलतासे पांडवोंकी सेना हटने लगी थी तब द्रोणाचार्यको विरक्त चित्त करनेके लिए शायद श्रीकृष्णजीने युधिष्ठिरको सलाह दी थी कि वहां जाकर कह देना–अश्वस्थामा मृतः; अश्वस्थामा था एक हाथीका नाम और अश्वस्थामा ही द्रोणाचार्यके लड़के का नाम था। युधिष्ठिर बोला–मैं वहां कैसे झूठ बोल दूंगा। मरा तो नहीं है। कहा अरे फिर धीरेसे कह देना–नरो वा कुञ्जरो वा। अश्वस्थामा मर गया, हाथी हो या मनुष्य। खैर, युधिष्टिर ने वहाँ चिल्लाकर कह दिया मुख्य शब्द। द्रोणाचार्य खेद खिन्न होकर उससे विरक्त हो गये, पर यह बात अब तक लिखी चली आ रही है। कपटका लेशमात्र भी सर्वगुणोंको मलिन कर देता है। जैसे विषकी जरासी कणिका भी विशाल दुग्धको मलिन कर देती है।

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमोहयः।।२२१।।

मायाचारसे दूर रहनेका उपदेश–यह मायाचार महागर्त है जो कि मिथ्यारूप घनांधकारसे व्याप्त है उससे डरना चाहिए। कोई बड़ा गहरा गड्ढ़ा हो और चौड़ा हो, और यह भी विदित हो कि यहाँ गड्ढ़ा है तो वहाँ कितना डरते हैं, यह डरनेकी चीज है, ऐसे ही यह मायाचार एक विशाल गड्ढ़ा है और वह भी मिथ्याघनांधकारसे व्याप्त है। देखिये उस गड्ढ़ेमें क्रोधादिक कषायोंरूप विषमरूप विषम सर्प भी बसे हुए हैं, वे दिखनेमें भी नहीं आते, ऐसे ही इस मायाचार गर्तसे डरना ही ठीक है, बचना ही ठीक है। जो पुरुष संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं वे पुरुष इस मायाचार पर विजय प्राप्त करते हैं। शरीरसे अति अनुराग हो, संसार के वैभवसे अति अनुराग हो, अपने

भोगसाधनोंसे प्रेम हो तो ऐसी स्थिति में मायाचार पर विजय प्राप्त करते हैं। शरीरसे अति अनुराग हो, संसारके वैभवसे अति अनुराग हो, अपने भोगसाधनोसे प्रेम हो तो ऐसी स्थिति में मायाचारका होना प्राकृतिक बात है। जो मायाचारसे दूर होना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे पहिले तत्वज्ञानसे अपनेमें विरक्ति उत्पन्न करें। और तृष्णाका काम है, धनसंचयका काम है उस प्रसंगमें तो मायाचार प्रायः बहुत -बहुत निवास करता है। लोभ और माया ये दोनों रोग हैं, इनका परस्परमें सहयोग है।

मायाचारकी विचित्रता–एक बार किसीने बादशाहसे कहा–महाराज आपके नगरमें जो बणिकजन हैं उनकी बुद्धिकी उनकी बातकी कोई थाह नहीं ले सकता। हाँ ऐसे चतुर होते हैं। चतुर कह लो, मायाचार वालेकह लो। बादशाहने कहा अच्छा देखेंगे उनको। बादशाहने क्या किया कि आंगनमें बहुत विशाल गेहूंका ढेर लगा दिया और फिर वणिकजनोंको बुलाया, कहा बतलावो यह क्या चीज है? सब आपसमें कहने लगे कि बात क्या है, दुनिया जानती है कि यह गेहूं हैं और फिर बुलाकर के इतनीसी बात पूछी जा रही है, इसमें कुछ बात है जरूर। सो आपसमें सलाह करके कहा–महाराज कल बतावेंगे कि यह क्या चीज है, अच्छा भाई कल बताना। सब वणिक जनोंने गोष्ठी की और सोच विचारकर अपना समाधान बना लिया। पहुंचे दूसरे दिन उस गेहूंके ढेरके पास। मंत्री बादशाह सब बैठ गए। आधेलोग तो उन वणिकजनोंमें से एक तरफ खड़े हुए थे और आधे लोग एक तरफ खड़े हुए थे। मंत्रीने पूछा बतावो यह क्या चीज है? तो एक तरफ खड़े हुए वणिक लोग बोलेंगे और दूसरी तरफ खड़े हुए वणिक लोग बोले 'हूं'। मंत्रीने कहा–महाराज देखिये न चतुराई, कल उत्तर नहीं दिया और आज भी किसी एक ने उत्तर नहीं दिया कि क्या चीज है?

तृष्णा और मायाचारका परस्पर सहयोग–तृष्णाका और मायाचारका परस्परमें सहयोग है। तृष्णाके प्रति मायाचार मदद करते हैं, मायाचारके प्रति तृष्णा मदद करती है। हे कल्याणर्थी जनों कुछ भी हो–आखिर एक बार अपने अन्तरमें यह एक वेदना तो उत्पन्न करो कि इस संसारमें इस ही प्रकार जन्म मरण करते रहनेमें कौनसा श्रेय प्राप्त हो जायेगा? अपने आपको संसारसंकटोंसे बचा लेना और बचा क्या लेना, सही आनन्द लूट लेना बस यही तो करना है। धर्म करके क्या दुःखी रहने के लिए धर्म किया जाता है? नहीं। धर्म तो वास्तविक आनन्दकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। क्रोध और मानका परस्परमें सहयोग है। क्रोधसे मान बढ़ता है, मानसे क्रोध बढ़ता है। जैसे क्रोध और मान कषायका परस्परमें सहयोग है इस ही प्रकार तृष्णा और मायाका परस्पर सहयोग है। ऐसे मायाचारसे बचना चाहिए।

माया शल्यके परिहारका उपदेश–देखो थोड़ी भी माया हो तो वह शल्यका रूप रख लेती है और जहां शल्य हों वहां सम्यक्त्व भी नहीं बताया, ब्रत भी नहीं बताया। माया, मिथ्या, निदान–ये तीन शल्य हो तो उसे ज्ञानी पुरुष नहीं कहा है। अपने को सरल रक्खो, कपट धोखा; छल, विश्वासघात इनको न पनपने दो, पापोंसे बचे रहो। कुवास्ना करने की आवश्यकता क्या है? इस मायाचारके गड्ढ़ेमें सारी विपत्तियां छुपी हुई हैं, सब लोग इसका अनुभव भी कर चुके होंगे। कोई

छल कपट करता है तो कितनी यातनाएँ उठानी पड़ती हैं। सब संकटोंसे बचना है तो अपने जीवनमें सरलताका प्रयोग करना चाहिए।

प्रच्छन्नकर्म मम कोपि न वेत्ति धीमान्,
ध्वंसं गुणस्य महतोपि हि नेति मंस्थाः।
कामं गिलन् धवलदीधितिघौतदाहो,
गूढोप्यबोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः।।२२२।।

मायाचारकी प्रकटता और उसके त्यागका उपदेश–हे जीव, तू ऐसा मत मान कि मेरे कोई प्रच्छन्न कर्म नहीं जानता है, बड़े बुद्धिमान भी नहीं समझ सकते हैं अन्य लोग तो क्या जानें और जो मुझमें खास विशेष गुण हैं उन गुणोंको ये पास कैसे अच्छादित करेंगे, ऐसी बात कभी मत समझ। उज्जवल चन्द्रमाको बड़े गुप्त रूपसे यह राहु निगलता है, चाहे मानों राहु यह समझता हो कि मैं जो एक ज्योतिमान चन्द्रबिम्बको इन्द्रके विमानको डस रहा हूँ उसे कोई नहीं जानता, लेकिन ज्योंहि राहु चन्द्रको ग्रसता है त्योंही सब लोग जान जाते हैं कि राहु ने चन्द्रको ग्रसा है, ऐसे ही तू यह संदेह मत रख और अपने चित्तसे इन कषायोंका परित्याग कर। यों कषायत्यागके प्रकरणमें, माया कषायके सम्बन्धमें वर्णन किया। अब लोभ कषायके वश होकर जीव क्या करता है? इसे दिखा रहे हैं।

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः,
किल जडतया लीलो बालब्रजे विचलं स्थितः।
ब्रत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः।।२२३।।

लोभसे हानिपर एक दृष्टान्त–वनमें एक सुरही गाय हुआ करती है जिसकी पूंछके बालोंका पुञ्ज बड़ा सुहावना होता है और गायोंकी पूँछ के बालोंका पुञ्ज तो काला कठोर, असुन्दर होता है पर उस सुरही गाय की पूँछके बालोंका पुञ्ज अति कोमल, सफेद, सुन्दर होता है, जिसे आप लोगोंने शायद विवाह बरात आदिमें देखा होगा। अथवा अन्य लोग जो रथ वगैरह निकालते हैं उसमें भी उस गायकी पूँछका प्रयोग करते हैं ऐसा देखा भी होगा। वह पूँछ सुन्दर होती है, उसका बहुत विस्तार होता है। वह चमरी गाय मानो शिकारियोंके भयसे दौड़ती हुई जा रही है, पीछे शिकारी लगे हैं और उनसे प्राण बचानेके लिए वह गाय दौड़ लगाये जा रही है, दौड़ते-दौड़ते किसी जगह उसकी पूंछका वालपुञ्ज अटक गया, बस आगे गाय तो पूरी निकल गयी पर किसी झाड़ीमें उसका पूँछ-पुञ्ज अटक गया। अब वह गाय इस लोभमें कि मेरी बड़ी सुहावनी पूँछ है, बड़े सुन्दर बालपुञ्ज हैं, मैं यदि भागती हूं तो यह बालपुञ्ज टूट जायेगा, उस बाल पुञ्जके लोभसे वह गाय वहीं खड़ी रह जाती है, शिकारी आता है और उसको पकड़ लेता है। अरे वह बालपुञ्ज भी टूट जाता तो क्या हर्ज था? भाग जाती तो प्राण तो बच जाते। थोड़ेसे उस बालपुञ्जके लोभमें आकर वह खड़ी रह गयी और शिकारियोंके द्वारा अपने प्राण खो बैठी।

लोभसे हानि—इसी प्रकार इन परद्रव्योंके लोभसे जो कि न कुछ चीज हैं भला, यह अनन्तशक्ति अनन्तज्ञानका पुञ्ज आत्माको शान्ति रहे इसके लिए यह सारी सम्पदा भी त्यागनी पड़े तो कौनसी बड़ी बात है? इस आत्माको शान्ति मिले इसके लिए यदि कुछ थोड़ेसे परद्रव्योंको त्यागना पड़े तो कोई नई बात है क्या? शान्तिके लिए ही तो सब कुछ किया जाता है, पर मोहका जिसके उदय है, लोभकषायका रंग जिसपर चढ़ा है वह जरा-जरासी बातोंपर अपने आपको विपत्ति में डाल लेता है। किसी भी प्रकार हो पैसा आना चाहिए, सम्पदा जुड़नी चाहिए। चाहे स्वयंकी कुछ भी स्थिति बने, व्याकुलतामें चाहे जीवन चला जाये पर लोभका विषय नहीं छूटता। जो तृष्णाके आधीन होते हैं प्रायः करके उन पर ऐसी ही अचानक विपदा आती रहती है।

विषयविरतिःसंगत्यागः कषायविनिग्रहः,
शमयमदमास्तत्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।।२२४।।

विषयविरति—ऊपरके कुछ श्लोकोंमें यह बताया है कि जगतके प्राणी चारों कषायोंके वशीभूत होकर अपने प्राण, अपना जीवन संकटपूर्ण व्यतीत करते हैं। इस छंदमें यह बतला रहे हैं कि जिन जीवोंका यह संसारसागर निकट आ गया है अर्थात् अब संसारसे मुक्ति पानेका समय निकट आ गया है तो भव्यजनोंको इतनी बातोंका समागम प्राप्त हो जाता है या ऐसी निर्मलता जगने लगती है—पहिली बात तो विषयोंसे विरक्ति। इस जीव पर मोहित विपदा छायी हुई है वह है विषयोंसे प्रेम। जितने भी दंद फंद आकुलता विपत्तियां होती हैं, वे सब विषयोंके प्रेमसे होती हैं। मोहमें लोग इसे बड़ा सस्ता समझते हैं। हुआ किसी विषयसे प्रेम और साधन जुटाया उसे भोग लिया। इसे लोग अपनी कला चतुराई और पुण्य का उदय मानते हैं लेकिन इस जीवको विपत्तियोंमें जन्ममरणकी परम्परा में फँसाने वाला यह विषयोंका अनुराग है। ऐसे भव्यपुरुषोंके जिनका कि संसार तट निकट आ गया है उनके विषयविरक्तिका परिणाम उत्पन्न होता है।

परित्याग—दूसरा कल्याणका साधन है परिग्रहत्याग। चित्तमें परपदार्थोंके प्रति मूर्छा परिणाम न होना, परपदार्थोंसे अपनेको एकमेक मान लेना, परसे हो अपना हित समझना—ये सब एक परिग्रह हैं। बाह्यपदार्थ परिग्रह नहीं हैं वे तो उपचारसे परिग्रह कहलाते हैं। चूंकि मूर्छाके विषयभूत हैं वे बाह्यपदार्थ और मूर्छा ही निश्चयसे परिग्रह है। तो उस मूर्छाके साधनभूत बाह्यपदार्थोंको यह संचित किया है। अन्तरङ्ग परिग्रह होने पर तो ऐसा कारणमें कार्यका उपचार करके कहा जाता है कि यह बाहरी सम्पदा विभूतिपरिग्रह है, इसको भी त्यागना और उन पदार्थोंके प्रति जो मूर्छाका परिणाम होता है उसका भी त्याग करना यह किसी बिरले भव्यजीवको प्राप्त होता है।

कषायविनिग्रह—कषायविनिग्रह—कषायोंको मोथ डालना, जैसे कोई ज्यादा गाली बकता हो तो उसका मुंह पकड़कर ठोक डालते हैं इसे कहते हैं विनिग्रह। अथवा जैसे बंदरको सांप मिल जाये

तो वह उसके फनको कुचल देता है। ऐसा ही समझिये विनिग्रहका अर्थ। उठती हुई कषायोंका न उठने देना, उनको बुरी तरहसे मोथ डालना, समाप्त कर देना, कषाय विनिग्रह है। कषाय जगने पर किसे अपने हितकी सुधबुध रहती है? वह तो क्रोध करेगा तो क्रोध करके दूसरेका बिगाड़ करनेमें ही अपना हित समझेगा। मान कषाय जगेगी तो लोगोंमें अपना मान रखा लेनेकी बात करा लेनेमें ही उसे शान्ति समझमें आयेगी। और कोई-कोई ऐसे भी मूर्ख होते हैं कि अपना मानकषाय रखने के लिए सभामें बड़ा लम्बा चौड़ा भाषण करेंगे जिसे सुनकर लोग ऊब जायें। चाहे बीचमें ऊबकर लोग धीरे-धीरे ताली भी बजाने लगें पर वह तो यही समझेगा कि मेरा भाषण लोगों को खूब पसंद आ रहा है। यह एक दृष्टान्त लिया है। ऐसी बहुतसी घटनाएँ होती हैं कि यह मानका चाहने वाला समझ तो रहा है कि मेरा मान बढ़ रहा है लेकिन लोग उसे उल्लू बना रहे हैं ऐसी भी स्थिति होती है। तो मान कषायके उदयमें किसीको अपने हितकी सुध नहीं रहती है। यों ही माया कषाय इसका विनिग्रह भी बहुत कठिन है। लोभ कषाय, इन चार कषायोंका विनिग्रह करना यह किसी बिरले संतमें बात बनती है जिसका कि यह संसारसमुद्रका तट निकट आ गया हो।

समूल कषायविनिग्रहकी साधना—जिसको जन्मसे ही किसी कषायकी प्रकृति बनी हो और वह अपनी उस जन्मजात प्रकृतिको बदल दे तो इसके लिए बड़े ज्ञानबलकी आवश्यकता है। कोई एक चोर था, उसे कुछ ज्ञान वैराग्य जगा, कुछ उपदेश मिला और साधु बन गया। कमंडल पिछी ही तो रहती है साधुवोंके पास। साधुवोंके बीच रहने लगा। अब रात्रि आयी तो उसने क्या किया कि सभी साधुवोंके कमण्डल इधर-उधर कर दिये। सुबह हुआ तो देखा कि कमण्डल सभी इधर-उधर पड़े हुए हैं। पूछा कि यह किसने किया है? तो उसने बताया कि महाराज हमने यह काम किया है। क्यों ऐसा किया? उसने बताया कि महाराज यह पहिली ही तो रात थी चोरीके त्यागकी। चोरीका त्याग तो कर दिया, पर वह प्रकृति कहाँ जाये, सो चोरी तो कर न सकता था, नियम ले चुका था लेकिन टारा व टोई न छूट सकी। जो उसने सभी कमण्डलोंको रात्रिको इधर-इधर कर दिया तो यह उसकी जन्मजात प्रकृति ही तो हुई ना। कषायोंका विनष्ट करना किसी बिरले ही योगी बली साधुके सम्भव होता है।

शम, यम, दम—कषायोंका शमन, कषाय शान्त कर लेना और ब्रतों का पालन करना—यम—जो ब्रत लिया है उसका आजीवन पालन करना यम कहलाता है, इन्द्रियोंका दमन करना। कोई-कोई तो गृहस्थ भी ऐसे होते हैं कि उनके मनमें आया कि आज खीर खाना है सो तुरन्त कह दिया कि आज खीरका त्याग है। क्यों खीर खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई? उस इच्छाका तुरन्त ही वह दमन कर देता है। इस प्रकारसे इच्छावोंका दमन करना यह भी मुक्तिका मार्ग है। कुछ इस प्रकारके भी सद्गृहस्थ पाये जाते हैं। इन्द्रियोंसे कुछ भी विषयोंका प्रोग्राम रचा, बस वह भव्य जीव उस इच्छाका तुरन्त ही दमन कर देता है। सहज हो गया तो हो गया, कुछ सेवन, पर प्रोग्राम रचना, संकल्प बनाना और उसके बाद आकुलताएँ उत्पन्न होना यह बात ज्ञानी पुरुषको पसंद नहीं है। इन्द्रियोंका दमन यह सबको मिल जाता है क्या? जिनकी मुक्ति निकट है उनके ही ऐसा परिणाम होता है।

तत्वाभ्यास व नियमित मनोवृत्ति–तत्वाभ्यास-वस्तुस्वरूपका मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक तत्वोंका अभ्यास करना, भावना करना, उसमें उपयोग लगाना, यह बात भी क्या हर एक जीवमें सम्भव है? अरे जिसकी मुक्ति निकट है, होनहार उत्तम है ऐसे पुरुषोंको ही तत्वाभ्यास प्राप्त है और तपश्चरणका उद्यम-ऐसी उत्सुकता जगनी चाहिए कि मैं तपमें उद्यमी बनूं, तपकी रुचि जगना यह भी जिनका मवितव्य उत्तम है ऐसे महंत जनोंका काम है। वे ही इसे कर सकते हैं। नियमित मनोवृत्तिसे मनकी वृत्तिको, मनके चलावाको नियमित कर देना, जहाँ चाहे वहाँ ही मनको स्थिर कर सके ऐसी योग्यताका होना बिरले संत पुरुषके ही सम्भव है।

योगाभ्यास–योगाभ्यासमें जो प्रक्रियाएँ की जाती हैं वे मनको एक जगह टिकानेके लिए की जाती हैं। किसी स्थानपर कोई निशान बना दिया उसको एक पलकसे देखते रहना कुछ देर तक, यह भी एक योगाभ्यास है। यह भी मनको स्थिर करने का एक साधन है। किसी बिन्दुको एक पलकसे टकटकी लगाकर देखना, उसही लक्ष्यका ध्यान करना ऐसा जो योगाभ्यासमें किया जाता है उसका यही तो प्रयोजन है कि यह मन एक जगह टिक जाये। मनकी वृत्तिको नियमित कर देना यह भी बिरले संतोंके होता है, साथमें उस योगाभ्यासीके सम्यग्ज्ञान भी हो तो उसकी सफलता मिलती है।

जिनेन्द्रभक्ति और दयालुता–जिनेन्द्रभक्ति-रागद्वेष रहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त सुखसे सम्पन्न, निष्कलंक गुणोंके निधान ऐसे परमात्मदेवके प्रति भक्तिका उपजना बिरले ही सुभवितव्य वाले जीवके होता है। अन्यथा स्त्री पुत्री पुत्र मित्र कुटुम्ब बच्चे संतान इन ही इनही में अनुराग बना रहता है, तो प्रभुभक्तिका होना, यह युक्ति जिनकी निकट है उनके सुगम है। दयालुता–हृदयमें दया बनी रहना। किसी भी जीवको दुःखी करनेका, उसका अकल्याण करने का परिणाम न रखे, चित्तमें उसके हितकी ही भावना जगे, ऐसी कृपाका परिणाम होना बिरले ही सुभवतव्य वाले जीवके होता है। जिनके संसारसमुद्रका तट निकट आ गया है ऐसे सौभाग्यवान जीवोंके ही इतनी बातें हुआ करती हैं।

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः।।२२५।।

क्लेशजालके विनाशक ज्ञानी संत–यम और नियम आदिक योगाभ्यास की मूल प्रक्रियाओंमें जो तत्पर हैं, जिनको अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सर्वत्र निर्दोषता प्रकट हुई है, जिनका समतारूप चित्त बना है, सर्वप्राणियोंमें जो अनुकम्पा भाव रखते हैं, जो हित और परिमित भोजन करते हैं, जो सदा जागरूक होते हैं, जिन्होंने अध्यात्मका सार निश्चित कर लिया है ऐसे योगी महापुरुष क्लेशजालको मूलसे नष्ट कर देते हैं।

यमी, नियमी और शान्त पुरुष—यम कहते हैं आजन्म किसी पदार्थके त्याग करनेको अथवा उपादेयके ग्रहण करने को और नियम कहते हैं कुछ निश्चित समयके लिए वस्तुके त्याग करनेको। जिनका यम और नियममें उपयोग बना रहता है ऐसे पुरुष क्लेशजालोंसे छूटनेका उपाय बना सकेंगे। जिनका अनुराग आत्मशान्तिमें है और उसके प्रतापसे बाह्यमुद्रा भी जिसकी शान्त इष्ट होती रहती है जिसके निकट कोई जीव आये तो वह भी शान्तिका पाठ लेकर जाय। स्वयं भी शान्तिके यत्नमें बन रहा है ऐसा शान्त पुरुष क्लेशजालको समूल नष्ट करता है। जिसके समता भावका परिणमन हुआ है, रागद्वेष मोहका परित्याग करके केवल ज्ञाता द्रष्टारूप रहकर जो एक समताके सन्मुख हुए हैं ऐसे समतारूप परिणमन करने वाले पुरुष इन क्लेशसमूहोंको समूल नष्ट कर डालते हैं जो क्लेश जालको नष्ट करने के उद्यमी हैं उनकी बाह्य और अंतरङ्ग प्रवृत्ति भी उत्तम होती है।

विहितहितमिताशिता—अहितकारी या भरपेट भोजन करने वाला व्यक्ति तो उसी दिनका क्लेश नहीं मिटा पाता। आसक्त होकर रसीला भोजन कर लिया और खूब ढूंस-ढूंसकर पेटभर लिया ऐसी जिसकी वृत्ति है आप सभी लोग जानते हैं कि उसको उसी दिनके कष्ट मिटाना कठिन हो जाता है। जिसने खानेके लिए ही अपनी जिन्दगी समझी है ऐसा पुरुष भविष्यके तो क्या, उसी दिनके क्लेशको भी नहीं मिटा पाता है। और जो एक दिनका भी क्लेश नहीं मिटा सकता वह संसारके क्लेशजाल तो मिटायेगा ही क्या? विमुक्ति चाहने वालोंको हित और परिमित शास्त्र विधिके अनुसार योग्य आहार लेने वाला होना चाहिए। जिस पुरुष को कम खानेसे अपने आपमें एक प्रसन्नता और धर्मरुचि जगती है, अथवा उपवास आदि करके अपने आपमें कुछ आत्मलाभ जो समझता है वह पुरुष ही क्लेशजालको दूर करनेमें समर्थ हो सकेगा। यदि कोई दूसरेको दिखानेके लिए उपवास करता है तो उसने भूखका भी दुःख सहा और कुछ लाभ भी न उठा पाया। कोई अपनी प्रशंसाके लिए थोड़ासा ही खाकर उठ आये तो वह भी कोई भली बात नहीं है। जैसे किसी लालाजी के खानेके पहिले ही कोई कह दे कि लालाजी तो खाते क्या हैं। फूलसा सूंघते हैं और लालाजी अपनी प्रशंसा सुनकर थालीमें थोड़ासा खाकर ही उठ पड़े तो यह कैसी बात रही? अपने आपको सन्तोष और आत्मलाभ देने वाला परमार्थ भोजन तो ज्ञानी संतजन ही किया करते हैं और वे साधुसंतजन अपने संसारके क्लेशजालोंको दूर कर देते हैं। जिन ज्ञानी पुरुषोंने अध्यात्मका सार निर्णीत किया है वे लोग बेहोश होकर नींद नहीं लिया करते हैं। वे सदैव अपने ज्ञानमात्र आत्मतत्वका अनुभव किया करते हैं। इस प्रकार की शुद्ध प्रतीति और शुद्ध अभ्यास रखने वाले संतजन क्लेशजालोंको समूल नष्ट कर डालते हैं।

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।।२२६।।

विमुक्तिके भाजन–जिसने समस्त वस्तुवोंका स्वरूप जान लिया है, जो सर्वप्रकारके पापोंसे दूर हो गये हैं, जिन्होंने अपने हितमें ही चित्तको रक्खा है, सर्वप्रकारके प्रचार, इन्द्रिय विलास, स्वच्छन्दताएँ जिनकी शान्त हो गयी हैं, जो अपना और परका हित करें इस प्रकारके सफल जिनके वचन निकलते हैं। जो सब तरहके संकल्प-विकल्पोंसे मुक्त हैं ऐसे भव्य पुरुष मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे?

हेय उपादेयके ज्ञान बिना सम्यग्ज्ञानका अभाव–हेय क्या है, उपादेय क्या है? इसका जिसने ज्ञान किया है वही वास्तवमें ज्ञानी है। यों तो आजके युगमें भी बड़े-बड़े आविष्कार और विज्ञानके ज्ञानी मौजूद हैं किन्तु आत्माके हितके लिए हेय क्या है और उपादेय क्या है? यह बात उनकी दृष्टिमें नहीं है। और जिनके है वे वैज्ञानिक होकर भी आत्मज्ञानी हैं, इस पर मूलसे विचार किया जाये तो परभावों पर ही घटावो। पदार्थोंमें कौन-कौन हेय हैं, कौन पदार्थ उपादेय है? इस तरहका परीक्षण न करो, जितने भी पदार्थ हैं उनका इस आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं हे, वे तो हेय ही हैं। अपने आपके परिणामोंमें यह छटनी करो कि कौनसा परिणाम हेय है और कौनसा परिणाम उपादेय है?

हेय और उपादेय भाव–जो पराधीन परिणाम है वह तो हेय है और जो स्वाधीन परिणाम है वह उपादेय है। इसका तात्पर्य समझ लो। जो विषय कषायोंके परिणाम हैं, दुनियावी परिणाम हैं, नेतागिरी आदिके परिणाम हैं वे सब परिणाम पराधीन हैं लोकमें यश चाहनेका परिणाम तो बिल्कुल मूढ़तासे भरा हुआ परिणाम है। परिणाम कौनसा उपादेय है इसको अपने भावोंमें घटायें। जो परिणाम मेरे स्वाधीन है वह उपादेय है। मेरा उपयोग मेरे खुदके स्वरूपको जाननेमें लगे तो यह क्रिया स्वाधीन है। किसी दूसरे जीवकी इसमें आधीनता नहीं है। कोई प्रशंसा कर दे, कोई आजीविका लगा दे, कोई कुछ करे उसमें पराधीनता नहीं है क्या? उसमें पराधीनता है। अपने स्वरूपके ज्ञातृत्वकी बात तो अपने उपयोग की बात है, यह उपयोग अपने आपको जानने लगे, यह स्वाधीन क्रिया है, स्वाधीन काम है। यह परिणाम उपादेय है। जो परिणाम दूसरेके आश्रयसे बनता है, दूसरेका विषय करके बनता है वह पराधीन है। पराधीन भावोंकी वाञ्छा भी मत करो। किसी परिस्थितिमें पराधीन रहता है तो भी उसे हेय तो मानो। जो पुरुष हेय और उपादेयके स्वरूपसे अवगत हैं वे ही पुरुष मुक्तिके पात्र हो सकते हैं।

दुर्लभ समागमके सदुपयोगके प्रसंगमें–देखिये उत्तम कुलका पाना, उत्तम धर्मका पाना, सत्संगतिका मिलना, देव, शास्त्र, गुरुके स्वरूपका बोध हो जाना, अपने आत्माके गुणोंका परिचय हो जाना और साधारण रूपसे तीन लोक तीनकालकी बातें भी समझमें आना, इतनी बड़ी बातें कितनी दुलर्भ हैं, ये बातें किसी और को मालूम हैं क्या? भैसा, हाथी आदि ये तो बड़े ताकतवर हैं, हम आप जैसे सैकड़ोंको घायल कर दें, इतने ताकतवर हैं। इनको तुम्हारी जैसी बातें मालूम हैं क्या? और अनगिनते यहाँ कीड़ा, मकौड़ा, पेड़-पौधे हैं उन्हें इतनी बात मालूम हैं क्या? कितनी

अच्छी स्थितिमें हैं हम आप, और यहां व्यर्थकी मैं-मैं, तू-तू, मेरा-तेरा, जरा-जरासी बातोंमें धर्मका लाभ न ले पायें, उस निर्विकल्पतत्वकी झांकी न ले सकें तो बतावो यह कितने खेदकी बात है। फिर भविष्यमें क्या किया जायेगा? मनुष्य होकर मनुष्यके योग्य करनी हो तो आशा है कि हम आगे भी मन वाले जीव बन जायेंगे, पर करनी खोटी हो और इस कारण मनरहित बन गए, कोई कीड़ा-मकौड़ा बन गए तो उन कीड़े-मकौड़ोंकी कौन कदर करता है, इनकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है? ऐसा ही जीवन मरण करके मिल गया फिर क्या कर लोगे? यहां तो कुछ सन्तोष नहीं करते।

तृष्णामें दुःखकी ही साधना—भैया! तृष्णामें ही जिनका चित्त है उनको तो रोटी खानेका भी सुख नहीं है। और की तो बात जाने दो। रोटी तकके खानेका सुख नहीं है। तृष्णामें चित्त पड़ा है, जगह-जगह चित्त डोल रहा है। तृष्णा किस बात पर की जाये? कौनसी चीज यहांसे उठाकर ले जावोगे, मरनेपर मान लो पुत्रोंके लिए छोड़ गये तो मरनेपर काहेके पुत्र। कहांके कहां गए, कहांके कहां पैदा हुए, कुछ नाता है क्या? तृष्णा बुरी बला है। सारे जीवनको तृष्णा नहीं करते हैं, ये पड़ौसी धनी हैं, इनको देखकर धन संचयकी हमारे मनमें कुछ बात आ जाती है। अरे तो तुम्हारे दुःखमें उनकी कुछ खता हो गयी क्या? खुद जो मन न संभालें, ज्ञानप्रकाश सही न रक्खें तो जगह-जगह दुःखी होंगे यह अपने भलेकी बात कही जा रही है।

खुदकी संभालसे सब संभाल—भैया! खुदके ही विचार, खुदके साधक और खुदके बाधक बनते हैं। अपने आपको संभालना होगा। खुदके ही संभालसे सब संभाल है। दूसरे से अपने संभालकी भीख मांगते फिरना अरे भाई, अरे स्त्री, अरे बच्चों, तुम हमारी आज्ञा मानो तो हम सुखी रहें। देखो हम जीवन भर तुम्हारे सुखके लिए सब कुछ करते रहे अब तुम हमारी कुछ कदर भी नहीं करते। यह दूसरोंसे भीख मांगना ही तो है। तुम्हारे जो राग उठा था उसमें जैसा बन सका कर्त्तव्य किया, अब इनका जैसा परिणाम है वैसे ये चलते हैं। चलो हम भी कुछ खेल देख रहे हैं, उनके ज्ञाताद्रष्णा रहें। इतना तो साहस होना चाहिए।

वस्तुस्वरूपके परिज्ञानका फल तो यही है कि शान्त और सन्तुष्ट रह सकें। कुछ भी परिस्थिति आये, जैसे लोग कहते हैं कालेका सफेद हो जायें या सफेदका काला हो जाये, कैसी भी कठिन स्थिति बन जाये किन्तु उसके ज्ञाता द्रष्टा रहें, यह परका हो रहा है। कालासे सफेद हो जाये तो परका हुआ, सफेदसे काला हो जाये तो परका हुआ। हम तो सर्वप्रसंगों में सबसे न्यारे केवल अपने स्वरूपमात्र हैं। निजस्वरूपकी दृष्टि बनायें, कषायों पर विजय करें, यह सब बातें ज्ञानपर ही तो निर्भर हैं। हेय और उपादेय तत्वका यथार्थ बोध हो जिसके, वह पुरुष मुक्तिका पात्र क्यों न होगा? अवश्य होगा। हम सम्यग्दृष्टि हैं, यह मिथ्यादृष्टि है, इस कल्पना में क्या रखा है? जो योग्य बात है, तत्वकी बात है उस पर जमकर रह जायें। समीचीन दृष्टिसे ही भला है। जिसमें हेय और उपादेयका यर्थाथ ज्ञान है वह निकट भव्य जीव है।

सर्वसावद्यदूराः—जो सर्वप्रकारके पापोंसे दूर हैं वे मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे? सबसे बड़ा पाप तो मिथ्यात्व है, मोह है। कोई मनुष्य मोह परिणाम तो रखे रहता हो और शरीरकी शुद्धि, कपड़ोंकी शुद्धि, पूजा, तिलक और बड़ा ध्यान जाप ये सब विधियां करे, पर अन्तरङ्गमें मोहकी गाँठ न मिटे, यह भेदविज्ञान ही न जगे कि ये तो प्रकट भिन्न पदार्थ हैं, मेरा स्वरूप तो इस देहसे भी न्यारा चैतन्यमात्र है, यह बात न जगे और अपने प्रकाशका कभी अनुभव न हो, कभी अपने आपकी इस स्थितिके लिए उत्सुकता भी न जगे, खेद भी न हो कि यह क्यों नहीं होता तब बतावो हम धर्म कहाँसे पालें? ये कर्म हमारे हाथ पैरोंको देखकर नहीं आते, नहीं छूटते। इनका तो परिणामोंसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्तरमें जो परिणाम हो जैसी चेष्टा हो, उसका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। कर्म तो अचेतन है ना, वे बेईमानी कर ही नहीं सकते। उनके बँधने और छूटनेकी जो स्थिति बनती है वह हो रही है, यहाँ हम चेतन चाहे कुछ सोचा करें, अपनेको धोखा दें, दूसरोंको धोखा दें पर अचेतनका जो परिणमन है वह जैसा जब जिस प्रसंगमें होना होता है होता ही है, वह अचेतनमें है और चेतनका जो परिणमन है वह चेतनमें है। जो पुरुष समस्त पापोंसे दूर हो गये हैं वे मुक्तिके पात्र होते हैं।

स्वहितनिरतचित्ताः—जिन्होंने अपने हितमें चित्त लगाया है वे शान्तिके पथिक हैं, ऐसे ही पुरुष शान्त और सुखी रहते हैं और इन्द्रियों के प्रचार, इन्द्रियोंके विषय ये जिनके शान्त हो गये हैं, जो पहिले खानेके बड़े शौकीन रहे हों, अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट चीजें बनाकर अथवा बनवाकर बड़ी उत्सुकतासे खाते हों और बहुत दिनोंके बाद कोई कारणसे उनकी अभिरुचि नहीं रहे, बनाकर अथवा बनवाकर स्वादिष्ट चीजें खाने का शौक नष्ट हो गया हो तो वह यह भी अनुभव कर सकता है कि हमारा रसनाइन्द्रियका प्रचार शान्त हो गया है। ऐसे समस्त इन्द्रियोंके विषय जिनके शान्त हो गए हैं—थियेटर आया, तो आया है ठीक है पर ऐसा भाव नहीं जगता कि चलो वहाँ चलकर देखना ही है, वहाँ चलकर यों सुनना ही है, ऐसा जिसका भाव ही न जगे, इसी को ही तो कहते हैं कि विषय शान्त हो गए हैं।

शान्तसर्वप्रचाराः—जिनके इन्द्रियोंके विषय और मनके विषय, नामवरी यशकी चाह—ये सब खत्म हो गए हैं, ज्ञान जग गया है, इस झूठी दुनियामें ३०,३२ अक्षरोंके वहाँ-वहाँ किन्हीं शब्दोंके रख देनेसे जो नाम बनता है उसके यशकी, नामवरीकी क्या चाह करना, इसको कुछ भी सिद्धि नहीं होनेकी है। कौनसा तत्व उसमें बसा है, किसलिये व्यर्थमें परेशान हुआ जाये, इतनी बातमें हमारा अपमान न हो जायें, नाक न कट जाये, अनेक कल्पनाएँ जगती हैं। हाँ, अयोग्य काम न करें और अपने ही आत्महितकी जो वृत्ति हो उसे करते रहें। इतने पर भी कोई बुरा कहता है तो कहने दो। भला कहता है कहने दो। खुदमें नियत बुरी हो तो खुदका बुरा है। अपने को संभालें, अपनी नियत शुद्ध बनायें। जिसमें सर्वइन्द्रियोंके प्रचार शान्त हो गए हैं वे मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे?

स्वपरहितवादी व संकल्पमुक्त–जिनकी वाणी अपने और पराये हित के लिए होती है, कितने शुद्ध वचन निकलते हैं, हितके ही वचन जिनके मुखसे निकलते हैं ऐसे हितशाली पुरुष मुक्तिके पात्र क्यों न होंगे? जो पुरुष सर्वसंकल्पोंसे मुक्त हों वे ही पुरुष शान्तिके धनिक हैं। ये संकल्प विकल्प छूटना बहुत सरल काम है और बहुत कठिन भी है। कुञ्जी मिल जाये तो सरल है और न मिले तो कठिन कह लो या असम्भव कह लो। स्वयं क्या है किसी समय ऐसी झलक हो जाये, यह मैं एक सामान्य प्रतिमास स्वरूप हूं, जिसका नाम नहीं, जिसकी कोई शकल सूरत नहीं, केवल एक ज्ञानप्रकाश है। तन्मात्र मैं हूं, ऐसी जिसकी भावना है वहीं संकल्प विकल्प मिटानेमें समर्थ हो सकता है। जो विधि है वह तो की न जाये और नाना प्रकारसे संकल्प विकल्प दूर करने के यत्न किए जायें तो कैसे सफलता मिल सकती है? ऐसे तत्वज्ञानी पुरुष ही मुक्तिके पात्र होते हैं।

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां पर–
स्तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं,
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वं तन्मुहुर्जागृहि।।२२७।।

इन्द्रियचोरोंसे सुरक्षाकी चेतावनी–कोई धनी पुरुष अपने रिश्तेदार धनीको यों समझाता है जब कि कुछ गर्मीके दिन हैं, लूटमार बहुत हो रही हो, बड़े आतंक मच रहे हों तब समझाता है यह रिश्तेदारको। देखो यहाँ बहुतसे लोग जिनके पास धन नहीं है, कुछ भी नहीं है, सिर्फ करते खाते हैं वे निःशंक सो रहे हैं, तो इनका क्या बिगाड़ है, ये तो लुटे हुए ही हैं। सावधान तो तुम्हें रहना चाहिए जो तुम्हारे पास धन है। या तो कहीं ढंगसे जमा कर दो या किसी जगह सुरक्षित रख दो, किसी शहर या कस्बेमें निवास करलो। अरे ये निर्धन पुरुष तो स्वयं ही निर्धन हैं, लुटे हुए हैं। इनका क्या बिगाड़ होता है, बिगाड़ तो तुम्हारा हाता है जो तुम्हारे पास धन है। तो जैसे इस प्रकार कोई अपने रिश्तेदारको समझाता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुष हितपंथकी रुचि रखने वाले लोग ज्ञानको समझाते हैं कि देखो इस जगतमें बहुतसे जीव जो विषय राजाके नौकर बन रहे हैं, जिनके गुण और दोषका कोई विवेक नहीं है, जो विषयोंमें मस्त हैं उनका क्या नाश होगा, वे अज्ञानी जीव तो खुद लुटे हुए हैं और जिन्होंने ज्ञान किया है, नियम लिया है, जो धर्ममार्गमें चल रहे हैं, वे सावधान न रहेंगे तो ये इन्द्रियरूपी चोर इन्हें लूट डालेंगे, बरबाद कर डालेंगे, इस कारण तुम जगो, भली भांति चेतो।

चेतावनीके उपदेश प्रयोजकता–जिस प्रकारके उपदेशसे, सम्बोधनसे यह आत्मा अपने आपके स्वरूपकी ओर झुके, सावधान रहे वे सब उपदेश कहनेके योग्य हैं। यह बात इसलिए कहनी पड़ी कि प्रायः करके लोग गतानुगतिक होते हैं। लोगोंकी देखादेखी अपने परिणामोंको शिथिल कर डालते हैं और ये सबके सब तो इस ढंगसे रहते हैं, उनको देखकर खानेमें, ब्रतमें, संयममें, श्रद्धामें शिथिलता आनेकी नौबत आ जाती है, तब समझाया है कि उनको देखकर तुम क्या सोचते हो? वे जीव तो लुटे पड़े हैं, इनका क्या नाश होगा? ये तो निम्नतल पर ही हैं तुम अपनी देखो

अन्तःपुरुषार्थ करके ज्ञान करके इतनी ऊँची स्थिति पर हो गये हो। आपका आचरण भी ठीक है, अहिंसामय जीवन है और और प्रकारकी शुद्धि है। तुम सावधान हो। अपनी ज्ञानदृष्टि बनावो अन्यथा ये इन्द्रियरूपी चोर तुम्हें बरबाद कर देंगे, इस कारण तुम जगो। सावधान रहो ताकि ये इन्द्रिय चोर तुम्हें लूट लेंगे। देखो इस संसारी अज्ञानी जीवोंकी देखादेखी तुम अपना निर्णय न बनावो। अपने आपसे अधिक गुणी चरित्रवान पुरुषोंको निरखकर अपने कर्त्तव्यका निर्णय बनावो और आत्मभावना बनाकर अपनी शान्तिकी साधना करो।

रम्येषु वस्तुनितादिषु वीतमोहो,
मुह्यद्धेथा किमिति संयमसाधनेषु।
धीमान् किमामयभयात् परिहृत्यभुक्तिं,
पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम।।२२८।।

तुच्छमोहके त्यागके उपदेश—साधुजनोंको सम्बोधन किया जा रहा है कि हे साधु पुरुष! बड़े रमणीक मकान, स्त्री, परिजन इन चीजोंको तो तूने त्याग दिया, इनमें तो मोह नष्ट कर दिया, अब वृथा तू संयमके साधनोंमें मोह क्यों कर रहा है? संयमके साधन हैं पिछी कमण्डलसे जो मुनि मोह रखता है ऐसे मुनिको समझाया है कि तूने बड़ी-बड़ी चीजों का तो मोह त्याग दिया, अब इन पिछी कमण्डल शास्त्र या जो भी साधन रखे हैं उनमें तू मोह कर रहा है। कोई लोग बहुत सुन्दर पिछी रखते हैं, खूब अच्छी लम्बी सुहावनी बढ़िया गुथी हुई जो देखते ही बने, ऐसे पिछी चाहते हैं, तो कहते हैं कि हे साधु! बड़ी चीजका तो मोह छोड़ दिया, अब न कुछसी बातमें तू मोह कर रहा है तो यह कौनसी तेरी बुद्धिमानी है? कमण्डल भी बड़ा सजावजा अच्छा रंगबिरंगा हो, तो कहते हैं अरे साधु! तूने बड़े-बड़े मोह त्याग दिये, अब इस न कुछसी चीजमें मोह क्यों करता हैं? शास्त्रका मोह—पढ़ते हों या न पढ़ते हो। काममें आता हो या न आता हो लेकिन कुछ शास्त्रोंका संग्रह कर रहे हैं। बढ़िया जिल्द है, बढ़िया ढंगसे रखे हैं, चाहे उनका उपयोग न कर पाते हों पर ये शास्त्र मेरे हैं ऐसी मान्यता बनी हुई है, ऐसी स्थिति है तो कहते हैं कि हे साधु! तूने बड़ी चीजका मोह तो त्याग दिया, अब इन चीजोंमें व्यर्थका मोह क्यों किये जा रहा है।

दृष्टान्तपूर्वक तुच्छव्यामोहपरिहार समर्थन—जैसे कोई रोगके भयसे रोग मेरा न बढ़े, इस उद्देश्यसे भोजनका तो त्याग कर दे और औषधि इतनी ले कि अजीर्ण हो जाये, यदि ऐसा कोई करे तो आप उसे बुद्धिमान कहेंगे क्या? अरे इतने बड़े भोजनको तो छोड़ दिया जिसके कि छोड़नेको किसीका जी नहीं चाहता है, और इस डरसे कि कहीं रोग न बढ़ जाये, अजीर्ण न हो जाये औषधिका सेवन किया है तो औषधिको तू मीठी अच्छी समझकर आवश्यकतासे ज्यादा खाले तो इससे तो तूझे कोई बुद्धिमान न कहेगा। कहीं चूरण चटनी ही जरूरतसे ज्यादा खा लिया, अजीर्ण हो गया तो उसमें तेरी बुद्धिमानी तो नहीं रही। इसही तरह हे साधु तूने मकान छोड़ा, राज्य छोड़ा, साहूकारा छोड़ा,

दूकान छोड़ी, कुटुम्ब छोड़ा, सब कुछ छोड़ा। अब इन संयमके साधनोंमें मोह किये जा रहे हो। हे मुनिराज! इस व्यर्थके मोहका त्याग कर दो।

ज्ञानीका निर्मोह प्रवर्तन–ज्ञानी पुरुष तो धन वैभव परिजन परिग्रहों को छोड़कर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करके संयमके साधन जो पिछी, कमण्डल, शास्त्र आदि हैं उनमें ममत्व नहीं करते। और उनसे ममत्व करे कोई तो वह बुद्धिमान नहीं है। ममत्व है सो बंधका कारण है। जो ममत्व करेगा वीतराग भावको न पा सकेगा। सो रागवश होकर महाव्रतका भी विनाश कर लेगा। इसमें यह शिक्षा दी है कि जब बड़ी-बड़ी बातें छोड़ दी तो पासमें जो कुछ चीजें रहती हैं उनका उपयोग कर ले पर मूर्छा भाव मत कर। कोई पुरुष कमण्डल उठाकर भागे तो क्या साधु उससे झगड़ेगा, क्या साधु उसका पीछा करेगा? अरे ले गया तो ले गया। उससे यदि झगड़ा करता है तो मोहका दोष लगता है। ग्रन्थ पढ़ रहे हैं और उस ग्रन्थको कोई श्रावक देखकर थोड़ा विषय समझकर ऐसी इच्छा जाहिर करे कि महाराज यह ग्रन्थ तो बड़ा अच्छा है, पढ़ने लायक है, इससे हमारा बड़ा उपकार होगा तो उसकी इच्छा लेनेकी जानकर मुनि क्या उससे यह कहेगा कि इसे हम नहीं देंगे, यह हमारा है? अरे मुनि तो यही कहेगा कि यदि आपके कामका है तो इसे ले जाइये। लो अब दृष्टि अपनी ओर देगा, चलो मनके विषयोंसे टले, विकल्पोंसे भी टले। यह मुनि तो तब आत्मदृष्टिमें रत हो जायेगा। शास्त्र और गुरुका तो समान दर्जा है। गुरु स्वयं एक धर्ममूर्ति है तो आप समझेंकि गुरुकी कितनी ऊँची तैयारी हो तब उसमें गुरुता कहाये। जो शास्त्रमें लिखा है वह बात जिसमें दिखती हो मिलती हो ऐसा जो धर्ममूर्ति है वही तो गुरु है। इन साधनोंमें भी गुरु को व्यामोह नहीं होता।

तपः श्रुतमिति द्वयं वहिरुदीर्य रूढं यथा,
कृषीफलमिवालये समुपनीयते स्वात्मनि।
कृषीवल इवोज्झितं करणचोरबाधादिमि–
स्तदा हि मनुते यतिः स्वकृत कृत्यतां धीरधीः।।२२९।।

शुद्ध फलमें ही कृतार्थता माननेपर एक दृष्टान्त–जैसे कोई किसान खेत में बीज बोकर उसको बढ़ाकर काटकर, दांय कर अपने घरमें अनाज रख लेता है। किसानकी ऐसी बुद्धि होती है कि जब तक अनाज घरपर न आ सके तब तक वह उसे अपना नहीं समझता है। लोग कहते भी हैं कि जब घरमें अनाज आ जाये तब समझो कि हमारा है अन्यथा नहीं। कहीं चोर काट ले जायें, ओले बरस जायें अथवा ठंडी गरम रोगीली हवा चल जायें, पेड़में कीड़ा लग जाये, तो किसान जन जब अपने घरमें काट मोड़कर अनाज ले आते हैं तभी समझते हैं कि यह हमारा है। घरपर अन्न लाने पर वे अपनी कृतकृत्यता समझते हैं। अनाज आनेपर उनको ऐसा सन्तोष होता है जैसे मानो बड़ी-बड़ी बाधावोंको पार करके बड़ा संग्राम जीतकर कोई बहुत बड़ा फल लूटा हो, इस तरहकी कृतकृत्यता उनके दिलमें आती है।

तप और श्रुतके विशुद्ध फलमें ही कृतार्थता–ऐसे ही तप और श्रुत, तपश्चरण और ज्ञानार्जन–इन दोनोंको साधुजनोंने ग्रहण किया है। अब इनके फलमें यदि आत्मदृष्टि आत्मसन्तोष आत्मदर्शन ज्ञानानुभव बनता है तो वह समझता है कि हमने फल ठीक पाया। वे साधुजन कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं, और इस आत्मसन्तोष आत्मदृष्टिसे पहिले तपश्चरण भी वही बन रहा है, ज्ञानसाधनाका काम भी बन रहा है, पर यह नहीं मानता कि अब हमने कुछ पाया है, तप और श्रुत पाया है, अब इस बीच कोई विषयकषायका दुर्भाव न आये और जैसी ब्रतसंयमसाधना जो कुछ चलनी चाहिए चलती रहे और ज्ञानानुभूतिके क्षण गुजरें तो वह समझता है कि हां हमने कुछ किया कृतार्थता अनुभव करता है। जैसे किसान घरपर अन्न जब आ जाता है तभी सन्तोष मानता है ऐसे ही साधुजनोंको जब आत्मानुभवका क्षण बनता है तब उन्हें अतीत होता है–ओह! मैंने इन्द्रियचोर विषयकषाय कुबुद्धि, मनकी उद्दण्डताएँ इन सारे बैरियोंको पार करके अपना कुछ लाभ उठा पाया है, यों वे अपनेको कृतार्थ समझते हैं।

ज्ञानीके ज्ञानानुभूतिमें ही कृतार्थताका अनुभव–तपस्या और ज्ञानार्जन का फल है आत्मज्ञान, और आत्मज्ञानमें बाधा करने वाली हैं इन्द्रियां। ये इन्द्रियां, ये विषयकषायोंके परिणाम ज्ञानको न बिगाड़ दें और यह जीव अपने स्वरूपमें लीन हो जाये तब वह साधु अपनेको कृतार्थ मानता है। जैसे कोई बालक सालभर पढ़े और अन्तमें फेल हो जाये तो यह यही समझता है कि साल व्यर्थ गया। फल तो नहीं मिला। ऐसे ही तप ब्रतकी सब साधनाएँ कीं और ज्ञानानुभूतिरूप फल न मिला तो वह साधु समझता है कि व्यर्थ गया। कोई फल तो नहीं मिला। साधुजनोंकी ऐसी अपने आपके हितके लिए दृष्टि होती है।

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं,
मोपेक्षस्व जगत्त्रयैकऽमरं निःशेषयाऽऽशाविषम्।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते बाऽवः,
ब्रोडोभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः।।२३०।।

ज्ञानमदमें असावधानी–कुछ ज्ञान पाया तो उस ज्ञानके गर्वमें ऐसा न सोचना कि मैंने तो पदार्थोंके स्वरूपका और श्रुतसिद्धान्तका भली प्रकार ज्ञान पा लिया है। अब मेरेको कोई कुछ विघ्न कर ही नहीं सकता। मैं तो कृतार्थ हो गया, उत्कृष्टता पा ली, अब मेरा और कोई क्या विघ्न करेगा, ऐसा न सोचना अर्थात् आशारूपी शत्रुको तू अल्प न गिनना। शत्रु छोटा भी कहीं रह जाये तो नीतिकार कहते हैं कि वह उसके अनर्थके लिए हो सकता है। तीन लोकका एक अद्वितीय बरी महान् भय उत्पन्न करने वाला आशारूपी शत्रु है। इस आशारूपी शत्रुको सब प्रकारसे दूर ही करना चाहिए।

शत्रुके अंशसे भी हानिका दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन–देखो जिसमें अगाध जल पड़ा हुआ है ऐसे महान् समुद्रको बड़वानल सुखा देता है। समुद्रमें स्वयं कुछ जलकी ही किसी स्थितिके कारण

ज्वाला बन जाती है, बड़वानल बन जाता है वह समुद्रको सुखा देता है। समुद्रमें कितना अगाध जल है, कितना बड़ा विस्तार है और बड़वानल उसमें किसी भागमें ही उत्पन्न हो जाता है, किन्तु वह भी समस्त समुद्रका विनाश कर देता है। ऐसे ही कितना ही ज्ञान हो, कितने ही गुण हों किन्तु एक इच्छारूपी विकार थोड़ा भी रहा हो तो वह इसे पूर्ण बाधित कर सकता है। इसलिए जो किसी शुत्रुको दबाये रहे उसको शान्ति कहाँसे होगी? जिनके रंच भी शत्रु नहीं हैं उनको ही निर्बाध समझिये। तो यहां विभाव, इच्छा, विकार ये सब शत्रु हैं। इनसे जैसे रहितपना हो सके वैसा ही उद्यम करना चाहिए। लाख बातकी बात यही निश्चय डर लावो। 'तोड़ सकल जग दंदफंद निज आतम ध्यावो।'

क्रोडीकृत शत्रुकी भयंकरता—इस आत्मध्यानमें बाधक हैं ये सर्व इच्छायें। कोई अपनी ही गोदमें शत्रुको खिलाये, पाले-पोसे तो वह अनर्थ अपने आप स्वयं अपना कर रहा है। ऐसे ही अपनी गोदमें अर्थात् आत्मप्रदेशोंमें जो इच्छा बन रही है और इच्छाका पोषण किया जा रहा है वह अपने आप अपने शुत्रका पोषण है, वह इसही का स्वयंका अनर्थ करेगा। देखो समुद्र बड़ा गम्भीर होता है। जहाँ देखो वहाँ पानी-ही-पानी नजर आता है। वह समुद्र अगाध है, प्रचुर जल समूह वाला है और दावानल तो किसी जगह कुछ थोड़ेसे भागमें रहता है फिर भी सारे समुद्रके जलको यह बड़वानल सुखा देता है। ऐसी ही आशा प्रतीक्षा ममता ये सब उस आत्मप्रदेशमें कहीं पड़े हैं और वह बड़ा ज्ञानी भी हो, तपश्चरण भी करता हो, बड़े संयम आदिक गुणोंमें भी प्रयत्नशील रहता हो तो भी वह यह न समझ पायेगा कि ये मेरेको कुछ विघ्न डालेंगे। ये विकार आशा इच्छा मेरा क्या बिगाड़ कर लेंगे, ऐसा विचार न करो। बड़वानलने जैसे समुद्रको सोक लिया, ऐसे ही ये विकार, ये आशायें, ये इच्छाएँ इस ज्ञान समुद्रको सोख डालेंगी। इससे आप तब तक भेदविज्ञान करते रहें जब तक यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपसे प्रस्फुटित न हो जाय।

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य।।२३१।।

स्नेहानुबद्धताका दुष्परिणाम—जैसे दीपक स्नेहके सम्बन्धसे सहित है ना, स्नेह मायने तेल। दीपकमें स्नेह डाला जाता है जो मिट्टीके तेलके या सरसोंके तेलके दीपक जलाये जाते हैं उनमें। तो उस दीपकका हृदय दीपकका सर्वस्व उस स्नेहसे बंधा हुआ है। स्नेह मायने तैल और स्नेह मायने प्रेम, राग, मोह। तो जैसे स्नेहसे जिसका सब कुछ हृदय बँधा हुआ है वह दीप जहाँ कुछ प्रकाशका भी काम करता है वहाँ एक काजलको भी प्रकट करता है, बनाता है। इसी तरह ज्ञान, चारित्र, संयम सब कुछ भी हैं, पर किसी स्नेहसे हृदय बँधा हुआ हो तो वह भी उस दीपक की तरह प्रशंसनीय नहीं है। ये सभी शुभरागबद्ध आचरणरूपी दीपक स्नेहरूपी तेलसे सहित हैं। यह शुभोपयोगमें रागका सम्बन्ध है तो यह भी पापरूपी कलंकको उत्पन्न करता है। जिस तपस्याके साथ राग भी बसा हुआ रहता है, रागका जितना काम है वह इतना काम करेगा ही, इस कारण तू शरीरादिकका स्नेह तज

दे और देख ऐसी भी तो अग्नि हाती है जो तेलके बिना भी जाज्वल्यमान होती है और काजल नहीं छोड़ती। इसी प्रकार ऐसे भी आचरण हैं जो रागके बिना केवल एक वीतराग भावपर आधारित हैं। वे चेष्टाएँ पाप कलंक नहीं उत्पन्न करतीं, इस कारण जैसे वीतराग भावकी वृत्ति बने वैसा ही उद्यम करना योग्य है।

समूल मोहविनाशका अनुरोध–हे मुने! रागकी कणिकामात्र भी तुझे रखने योग्य नहीं है। तू रागद्वेष रहित ज्ञानानन्दस्वरूप निज अन्तस्तत्व को देख और इस अपने शुद्ध प्रतिभास मात्र स्वरूपका अनुभव करके अंतः प्रसन्न रह। तेरा शरण तेरे स्वरूपकी ही दृष्टि है। अन्य पदार्थों पर गया हुआ उपयोग स्नेह राग मोह ये सब शरण नहीं हैं, बल्कि अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं। इन सबका तू सर्व प्रकारसे परित्याग कर। कोई पुरुष जैसे यह सोचे कि हम हैं और हमारी स्त्री है और कोई अलाबला हमारे पास नहीं है, पाँच सात सौ रुपये महीना आजीविकाके भी अपने आप लगे हैं, किरायेदार लोग दे जाते हैं, न हम किसी को सताते हैं, न अन्याय करते हैं, हमसे किसीसे कुछ मतलब ही नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन सबसे दूर हैं और मोह भी देखो तो केवल एक स्त्री भरसे है और दुनियाके अनन्त जीव इन सबका मोह छूटा हुआ है, तो क्या आप उसे निर्मोह कहेंगे? अरे सब जीवोंका तो मोह छूट गया, केवल एक स्त्री भरसे रह गया तो चाहे एक जीवसे मोह रहे और चाहे दुनियाके कितने ही जीवोंसे मोह रहे, वह तो मोह ही है। एक बात और भी है। एकका मोह रहे तो वह कठिन मोह है, तीव्र मोह है और वह मोह आपका हजारों आदमियोंमें बंट जाये तो आपका मोह शिथिल हो जायेगा। तो एकके सम्बन्धका भी मोह न रहना चाहिए। वह भी पूरा आवरण है। सर्वप्रकार मोहसे विश्राम लेकर निर्मोह स्थिति बनाना जरूरी है। अपने आपको निर्भार ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव करके तृप्त तो हो लें। इतनी बात यदि बन सकी तो धर्मपालन किया समझिये और अपने को कृतार्थ हुआ समझिये।

रतेररतिमायातः पुनारतिमुपागतः।
तृतीयं पदमप्राप्य वालिशो बत सीदसि।।२३२।।

रति अरतिके परिवर्तन करते रहनेका क्लेश–हे जीव! तू अज्ञानी होता हुआ इस लोकमें दुःख पा रहा है, उसका कारण यह है कि तू दो ही काम कर रहा है। किसीसे राग किया उसके बाद अब उसमें अरति हो गयी। रति चल रही थी फिर बदलकर अरति हो गई। घरका धंधा ऐसा ही तो है। घरके लोगोंसे थोड़ी देरमें प्रेम बढ़ गया, थोड़ी देरमें अनबन हो गयी, फिर वह अनबन बनी रहे ऐसा भी नहीं है, अनबन मिट कर फिर प्रेम हो गया। रतिके बाद अरतिको प्राप्त होता है और अरतिके बाद फिर वही चीजोंमें रतिको प्राप्त होता है। बड़ा विचित्र सम्बन्ध है कुटिम्बियोंका। न राग करते बनता, न द्वेष करते बनता। चलो किसीसे राग है सो राग ही राग बना रहे, ऐसा नहीं होता। थोड़ी देरमें द्वेष हो गया, फिर थोड़ी ही देरमें राग हो गया। यों रति और अरति ये ही दो काम करते हैं। जब रोटी खा चुके तब फिर झगड़ा शुरू हो गया। यह क्या है? यही एक बात नहीं,

सभीमें लगा लो, उसीसे राग किया, उसी से द्वेष किया, फिर राग किया। यह जीव इसी प्रकार रति अरतिको बदल रहा है, पर रति अरितिसे भिन्न जो तीसरा पद है वीतरागभाव उसको न प्राप्त करके इस लोकमें व्यर्थ दुःखी हो रहा है।

तावद्दुःखाग्नितप्तात्मायः पिण्ड इव सीदसि।
निर्वासि निवृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि।।२३३।।

सांसारिक सुखसे संताप–जैसे लोहे का खूब तपा हुआ गोला हो तो उसका आताप कब बुझेगा जब बहुत अधिक पानी उसमें डालें और यदि दो चार बूँद ही पानी उसमें डालो तो वह पानी उसमें भस्म हो जाता है, सोख जाता है। उससे अग्निका संताप नहीं बुझेगा। उसका संताप तो तब मिटेगा जब खूब टंकी भर पानीमें डाला जायेगा। ऐसे ही दुःखरूपी अग्निपर तपे हुए इस जीवको शान्ति कब मिलेगी। जब पूर्ण आनन्दका निधान मोक्ष पद मिलेगा और उसे देवपद मिल जाये, धन वैभव मिल जाये, अच्छे परिजन मिल जायें, उससे थोड़ा सुख हो गया, पर उससे शान्ति न मिलेगी। जैसे तपे हुए लोहेके गोलेपर थोड़ा-थोड़ा जल डालेंगे तो उससे उस अग्निका संताप न मिट जायेगा। इसी तरह इस जीवको जब सर्वकर्मोंसे मुक्ति हो, सर्वविकल्पोंका अभाव हो तब शान्ति मिलेगी।

सांसारिक सुखकी असारता–भैया! यहां काहेका सुख? ये सांसारिक सुख थोड़े दिनोंको मिले हुए हैं और काल्पनिक हैं, ये तो इस जीवके दुःख की ज्वालाको बढ़ाते हैं। ये शान्ति नहीं लेने देते। जैसे थोड़ा जल उस जलते हुए लोहेके गोले पर विलीन हो जाता है ऐसे ही यह रंचमात्र सुख क्षणभरमें विलीन हो जाता है। पता ही नहीं पड़ता कि वे सुखके दिन कैसे निकल गए। वे १०-२० वर्ष ऐसे निकल गए होंगे जैसे मानो कुछ ही घंटों में निकल गए हों। इन सांसारिक अल्प सुखोंसे शान्ति न मिलेगी। भरपूर सुख तो है मोक्षमें, निराकुल दशामें। आत्माकी शुद्ध स्थितिमें प्राप्त हुआ आत्मीय आनन्द मिले तो उस सुखसे अतुल शान्ति प्राप्त होगी।

सांसारिक सुखमें टिकावका अभाव–ये सांसारिक सुख तो टिक नहीं सकते। जब बच्चे थे तब मांकी गोदको ही सब सुख मानते थे, फिर जरा बड़े हुए तो गोद तो मिट गयी, खेल-खिलौनोंमें सुख मानने लगे। और बड़े हुए तो खेल-खिलौने मिट गए, कुछ विद्याभ्यास किया, उसमें सुख माना। जरा और बड़े हुए तो चाहे कुछ समझमें आये अथवा न आये, परीक्षामें पास होनेमें सुख माना। और बड़े हुए तो अब पास होने तक ही बात नहीं रही, अब डिग्री प्रिय हो गई। डिग्रीसे सुख माना। और बड़े हुए तो विवाह करके सुख माना। अब और सुख मिट गए। और बड़े हुए तो अब धनसे सुख माना। यह जीव किसी बातपर टिकता ही नहीं है। जब सब कुछ मिल गया तो अब उसे छोड़नेमें सुख माना, क्योंकि उसमें बहुत बहुत क्लेश मिले। तो ये सांसारिक सुख क्षणमात्रमें विलीन हो जाते हैं। यों दुःखोंसे तपा हुआ यह जीव है। इसे मुक्तिका भरपूर सुख प्राप्त हो तो इसे शान्ति प्राप्त हो सकती है। सांसारिक अल्प सुखोंसे इसे शान्ति नहीं मिल सकती।

मक्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यङ्कारस्वसात्कृतम्।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु।।२३४।।

रत्नत्रयसे मुक्तिलाभका विवेक–कहते हैं कि हे मुमुक्षु पुरुषो! हे विशुद्ध आनन्दकी इच्छा करने वाले जनो। तुम शीघ्र सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रकी पूर्णता रूप धनसे उस निर्वाणको अपने हाथमें करो। जब यह मुक्तिपद प्राप्त होगा तब ही तुम अपनेको कृतार्थ समझो। उससे पहिले संसारके किसी भी पदमें, किसी भी स्थितिमें अपनेको कृतार्थ मत मानो। क्या है संसारकी बात। आज उदय है, कुछ अच्छा दिख रहा है, कल पापका उदय होगा तो उसे सब बुरा ही बुरा दिखेगा। क्या है, आज है कल नहीं है। ये वैभव सम्पदा किसीके रखाये नहीं रहते हैं। जब तक रहना है रहते हैं, जब जाना है तब चले जायेंगे, एक साथ चले जायेंगे। यहांके समागमोंमें आनन्दका भ्रम मत करो। जैसे कोई लोग किसी इष्टवस्तुको धन आदिक जानकर उसे अपने हाथ कर लेते हैं, खरीद लेते हैं ऐसे ही तुम रत्नत्रयरूपी धनके द्वारा इस मोक्षपदार्थको अपने हाथमें कर लो तब ही तो वास्तवमें सुखी होंगे।

प्रियकी वैरिता–भैया! यहाँ किसी ने प्रेम भरे शब्द कह कर सुखी किया तो वहाँ क्या किया गया? आखिर वह बड़े विशाद परिणामको लेकर नष्ट होगा। जिसे जो जितना रुचिकर मिला है वह उतना ही अधिक दुःखका कारण बनेगा। किसी को पुत्र बड़ा प्रिय है तो चूँकि वह अधिक प्रिय है सो वह अधिक ही दुःखका कारण बनेगा। कोई भी हो, जो भी अधिक प्रिय होगा वह उतना ही अधिक विपत्तिका कारण बनता है। पुराणोंके दृष्टान्त ले लो। बलभद्रको नारायणसे अधिक प्रीति होती है और नारायणको बलभद्रसे तो आखिर अन्तमें वह अधिक प्रीति दुःखको ही उत्पन्न करती है। लक्ष्मण भाईके वियोगमें श्रीरामकी क्या हालत हुई? बलदेवके वियोगमें श्रीकृष्णकी क्या हालत हुई? सब जानते हैं। अपनी ही बात देख लो, आपको जिनपर प्रेम था या आप पर जिनका भी वियोग हुआ है उस वियोगके समयमें आप ऐसा अनुभव १०-२० दिन तक करते ही थे कि मेरे लिये दुनिया अब सूनी है, कुछ है ही नहीं, कुछ नहीं सुहाता। यह विकट स्थिति क्यों होती है? क्योंकि स्नेह अधिक था।

समागमोंमें विवेक–विवेकी पुरुष वह है जो समागमके कालमें भी स्नेहको बढ़ावा नहीं देता। उसका सही ज्ञाता बना रहे, यह सब अपनी-अपनी जिम्मेदारी की बात है। कोई यह समझे कि हमारा तो अभी पिता जिन्दा है, हमारी तो अभी मां भी जिन्दा है, हमें क्या फिकर, मौजसे हमें रहना चाहिए। हमारे तो ये ही शरण हैं। जो बात आयेगी आफतकी वह इन पर आयेगी। अरे चाहे वह १० वर्षका भी बालक हो और उसके बब्बा, दद्दा, मामा सब कोई जीवित भी हों तो भी उस बच्चेकी जिम्मेदारी उस बच्चे पर ही है, दूसरे पर नहीं है। फिर अपनी-अपनी सब सोच लो। जो कर लेगा सो पायेगा। जो जैन शासनकी शरण लेकर अपने आपमें मार्ग बना लेगा उसीका भला है। बाकी तो सब कुछ नहीं है? चर्कवर्तीकी भी विभूति सदा नहीं रही, उनको भी अन्तमें तजना

पड़ा था मर कर छोड़ना पड़ा, जो खुद अपनी इच्छासे तज गए उनकी तो सुगति हुई और जो अपनी इच्छासे नहीं तज सके उनकी दुर्गति हुई। बड़े पुरुषोंकी अच्छी गति होगी तो खूब अच्छी होगी और बुरी गति होगी तो खूब बुरी होगी। ऐसी ही कुछ पद्धति है। भैया! एक ही अपने चित्तमें कर्त्तव्य की बात लावो कि मुझे तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता करके अपने आपको निर्विकल्प केवल शुद्धविलास वाला बनाना है।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निर्वृत्तिवृत्योः परमार्थकोठयां,
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्धया निर्वृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी।।२३५।।

अविवेकी व विवेकियों द्वारा जगतकी भोग्यता व अभोग्यता—यह सारा जगत निर्वृत्तिकी दृष्टि बने तो यह अभोग्य जंचता है और प्रवृत्तिकी दृष्टि रहे, ऐसा ही रागभाव रहे तो यह सारीकी सारी दुनिया भोग्य जंचती है। 'तनकी भूख है तनिकसी, तीन पाव या सेर। मनकी भूख अपार है, 'लीलन चहत सुमेर।।' कोई भूखा हो तो वह अधिकसे अधिक तीन पाव या सेर भर खा लेगा, पर इस मनकी भूख कैसी है कि यह मेरूपर्वतको भी लीलना चाहता है। आता कुछ नहीं है, पड़ा रहता है सब सामने देखने को और मोहियोंकी व्यवस्थामें जरा नगरपालिकामें नाम दर्ज रहता है, इससे आगे और क्या होता है? कोई यह जड़ वैभव आपके आत्मामें स्थिरता पैदा करे, शान्ति पैदा करे, कुछ आनन्द उत्पन्न करे ऐसी यहाँ कुछ भी बात नहीं है। सारा जगत यह निर्वृत्तिकी दृष्टिसे अभोग्य है और प्रवृत्तिकी दृष्टिसे भोग्य है, किन्तु हे मोक्षकी अभिलाषा रखने वाले सत्पुरुषों! तुम अभोग्य और भोग्य सर्वप्रकारके विकल्पोंका परिहार करके एक मोक्षका ही अभ्यास करो। यह समस्त संसार अविवेकी जनोंको तो भोग्य लगता है और विवेकीजनों को अभोग्य लगता है।

भोग्यविकल्पका एक दृष्टान्त—एक ब्राह्मण अपनी कन्याकी शादीके खर्चके लिए राजाके पास गया। बोला—महाराज हमारी लड़कीकी शादी है सो कुछ खर्चके लिए पैसा चाहिए। राजा बोला अच्छा कल तू आना जो मांगेगा सो मिल जायेगा। बड़ा खुश होकर ब्राह्मण घर गया। शाम को खाटपर लेट गया। खाट पर लेटे-लेटे बहुत बातें सोचने में आती हैं। सो उसने सोचा कि हो न हो राजासे हम १००) रुपये मांग ले। उसकी दृष्टिमें १००) रुपये ही बहुत थे। फिर सोचा कि १००) तो अमुक पड़ौसी के पास भी हैं, वह तो सुखी नहीं है १०० रुपये से क्या होगा, हजार रुपये मांग लेंगे, हजारपतियों पर दृष्टि दिया तो वहाँ पर भी सुख न नजर आया, लखपतियोंपर दृष्टि डाला। सोचा लाख रुपये मांग लेंगे। वहां भी सुख नजर न आया तो सोचा करोड़ रुपये मांगेंगे। आधा राज्य मांग लिया तब भी लोग यही कहेंगे कि यह मांगा हुआ राज्य है। हम तो पूरा ही राज्य मांग लेंगे। यों सोचते-सोचते रात्रिके चार बज गए।

अभोग्य विकल्पका शेष दृष्टान्त—अब भजनका टाइम हो गया। वह भजनमें बैठा तो सोचने लगा कि राज्यमें तो बड़े-बड़े कष्ट हैं, आधा ही राज्य ठीक है, फिर सोचा कि आधा राज्य

भी ठीक नहीं है, करोड़ रुपये ही ठीक हैं। करोड़पतियोंके विषयमें सोचा कि वहां भी बड़े कष्ट हैं, जहां देखो तहां फोन लगे हैं। संडासमें अलग फोन लगा है, बैठकमें अलग लगा है, चौकमें अलग फोन लगा है। करोड़पतियोंको तो बड़ा कष्ट है ऐसा समझकर कहा लाख ही ठीक हैं, इसी तरह हजारपतियोंके दुःखको देखकर कहा कि हम तो १००) ही मांगेंगे, जो पहिले सोचा था। इतनेमें निकला राजा, बोला—विप्रदेव मांगो जो मांगते हो। ब्राह्मण बोला महाराज जब तक मैंने आपसे कुछ मांगा नहीं तब तक तो नींद नहीं आयी और जब मांग लूँगा तो न जाने क्या हालत होगी? सो महाराज मुझे कुछ आपसे न चाहिए, जो मेरी स्थिति है वही ठीक है। सो जिसकी जो वर्तमान स्थिति है वही उसके लिए फिट बैठनेकी बात है।

निवृत्तिके अभ्यासकी प्रेरणा—सारा जगत अविवेकियोंको तो भोग्य जंचता है और विवेकियोंको अभोग्य जँचता है। हे साधु! हे मोक्षके इच्छुक पुरुषों! तुम सर्वविकल्प बुद्धिको तजकर निवृत्तिका, मोक्षका ही अभ्यास करो। देखा जैसे कहा करते हैं कि अमृतके दो एक बूँद भी सुखी कर देते हैं, ऐसे ही इन चौबीस घंटोंमें कुछ मिनट भी यदि इस निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र अन्तस्तत्त्वकी सुध बन जाये तो सारा दिन सुखमें बीतेगा। यह यथार्थ बात कही जा रही है। जिसे अपने इस सहजानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्वका दर्शन हो उसके प्रतापसे यह दिन भर सुखी रहेगा चाहे कुछ भी परिस्थिति सामने आये। प्रथम तो भला ही भला सामने आयेगा क्योंकि भलेका स्मरण है। सो इन सब विकल्प धारावोंको तजकर हे भव्य पुरुषों! एक इस निर्वाणका ही अभ्यास करो। भेदविज्ञानकी भावना करो।

कल्याणकी बात—भैया! आत्माकी भलाईमें ही सुख है और सुख वही है जहाँ आकुलता न हो। आकुलता मोक्षमें नहीं है। तब इसी निर्व्याकुल मोक्षके मार्गमें लगना चाहिए। मोह ममताका जब तक उदय है तब तक इस जीवको तजने योग्य बात ग्रहण करने योग्य लग रही है। बाह्यपदार्थोंके लगावसे तो इस जीवको कुछ भी हित न मिल सकेगा। हित तो जीवका एक निजअन्तस्तत्त्वके लगावमें ही है। जहाँ यह भावना बनी कि मैं शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमें तन्मय ऐसा शाश्वत स्वतंत्र पदार्थ हूं, यह दृष्टि बनते ही सारा मोह भाव दूर हो जायेगा। निर्मलतामें ही मुक्तिमार्ग है, आनन्दका उपाय है। आनन्द इस अन्तस्तत्त्वकी ही प्रतीतिमें होता है। यह एक अपना पवित्र निर्णय बनाये रहो। बाह्य समागमोंसे कुछ भी कल्याण न होगा। मैं तो केवल अपने शुद्ध स्वरूपको देखूँ, उसमें ही रत रहूं, इसमें ही कल्याण बसा हुआ है।

निर्वृत्ति भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्।।२३६।।

निवृत्तिकी भावना—जब तक किसी पदार्थसे भी निर्वृत्त होनेका काम पड़ा है अर्थात् पदार्थ निवृत्तिके योग्य है तब तक सदैव निवृत्तिकी भावना रखना चाहिए। किसी भी परपदार्थसे लगाव न

रहे, ऐसी अन्तरंग भावना रखनी चाहिए। क्योंकि किसीभी परपदार्थका लगाव केवल क्लेश ही उत्पन्न करता है, हितका कुछ भी कारण नहीं बनता। कभी कोई शुभ सत्संग जो हितका कारण मालूम होता है उसका मतलब इतना ही है कि वह शुभ प्रसंग बड़े अहितसे बचाता है। अहितसे बचानेमें तो सत्संग आदि प्रसंग कारण पड़ता है, पर आत्माका जो हितमय भाव है उसमें कोई परपदार्थ कारण नहीं होता। वह तो स्वयंकी पर्यायसे स्वयंमें प्रकट होता है। इस कारण जब तक निर्वृत्त होने के योग्य कुछ काम पड़ा है तब तक हमें निवृत्तिकी भावना रखनी चाहिए।

हम सबको निर्वृत्तिकी भावनाकी आवश्यकता–निवृत्तिकी भावना सदैव रखनी चाहिए, इस योग्य स्थितिमें तो हम आप सब हैं, जब तक इस जीवके रागादिक परभावोंकी प्रवृत्ति है तब तक निवृत्तिका अभ्यास रखना। अपने-अपने प्रसंग निरख लो कितना रागद्वेषादिकका प्रसंग लगा है, सन्तोष करो निवृत्तिमें सफलता मिलनेमें। प्रवृत्तिमें लगने पर सन्तोष मत करो। कुछ वैभवका संचय हो गया अथवा परिजन इष्टजन बड़े आज्ञाकारी और चाहने वाले हैं। संसारके जितने भी सुख हो सकते हैं वे सारे सुख भी सामने आ जायें तो भी वे सन्तोष करने योग्य नहीं हैं क्योंकि ये सांसारिक सुख आकुलता किये बिना भोगे भी नहीं जाते। किस इन्द्रियका विषय ऐसा है जो शान्तिपूर्वक भोगा जाता हो? क्षोभ और आकुलता सहित इन्द्रियका विषय भोगा जाता है ये सब विनाशीक हैं। ये संताप उत्पन्न करने वाले हैं।

प्रवृत्तिमें सुख शान्तिका अभाव–भैया! इतनी जिन्दगी ५०-६० साल की घर पर व्यतीत हुई है पर बतावो कितनी आपको शान्ति हैं, कितना सुख है? जितना जीवन शेष रह गया है उसमें भी आप कभी यह न कह सकेंगे कि हमने अब शान्ति पायी, लाभ पाया, सुख पाया, बल्कि और उल्टा क्लेश बतावोगे। इससे तो १० साल पहिले २० साल पहिले अच्छी स्थिति थी, आज तो बड़ी विपत्ति है यही आप बतावेंगे। सारे जीवन भर आप अपनेको बड़े बन्धनमें फंसा हुआ अनुभव करंगे। सुख और शान्ति पायी है ऐसी बात आप नहीं बता सकेंगे। तब यों निर्णय रहे ना कि यह साराका सारा दृष्यमान सब कुछ निवृत्तिके योग्य है, लगनेके योग्य, प्रवृत्त होनेके योग्य यहाँ कुछ भी नहीं है।

अव्ययपद–जब पदार्थका अभाव हो जायेगा, परवस्तुके सम्बन्धसे रहित दशा होगी तो मुक्त होकर स्वयं ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंसे हट जायेगा। मुक्त अवस्थाको न संयम सहित माना न असंयमसहित। मुक्ति तो प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रहित दशा है। जहाँ किसी भी प्रकारकी प्रवृत्ति सम्भव है वहाँ तक निवृत्तिका सम्बन्ध है और जहाँ किसी भी प्रकारकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका कारणभूत कोई पिण्ड नहीं रहता तो वहाँ क्या प्रवृत्ति रहे और क्या निवृत्ति रहे। क्या कोई धर्म अधर्म, काल आदिक द्रव्योंको कहता है कि ये त्यागी हैं। अरे जब उनमें किसी प्रकारका संकल्प विकल्प ही नहीं है तो उन्हें त्यागी क्यों कहा जाये? जब प्रवृत्ति ही नहीं है तो निवृत्ति किसको हो, बतावो? जहाँ अनाकुल अवस्था हो जाती है वहाँ शाश्वत शुद्धद्रव्यकी तरह पदार्थशुद्ध हो जाता है।

फिर जहाँ न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति है वह अव्यय पद है। विधि, विभाव और विग्रह तीनोंसे सहित जो स्थिति है वही अव्यय पद है।

प्रवृत्तिनिवृत्तिरहितता–जैसे कोई रोग हो जाये तो जब तक रोग है तब तक औषधिका सेवन करना चाहिए। जब रोगका भी अभाव हो जाये तो फिर औषधिसे क्या प्रयोजन रहा? ऐसे ही जब तक प्रवृत्ति है तब तक उसके दूर करने के अर्थ निवृत्तिका अभ्यास है। जब पदार्थ छूट जायेगा, पदार्थसे निवृत्ति मिल जायेगी फिर वह पद निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनोंसे रहित है। यह अवस्था जीवके सहजविकासकी अवस्था है।

जीवके चिरवासके स्थान–चिरकाल तक रहे जाने के ये दो ही स्थान हैं–एक निगोद अवस्था और एक सिद्ध अवस्था। निगोदक शुरुवातकी सीमा नहीं है और सिद्धके भविष्यकी सीमा नहीं है। ये दो घर हैं। अब जीवको जो घर सुहाये उसमें जानेका रहनेका उद्यम करे। बाकी स्थितियां तो थोड़े-थोड़े समयकी है। एक निवृत्तिका ही स्थान कल्याणसे परिपूर्ण है और सर्वसिद्धिमय है। अपने आपमें उस सिद्धिकी भावना रखना चाहिए।

रागद्वेषौ प्रवृतिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यर्थसम्बद्धौ तत्मात्ताश्च परियजेत्।।२३७।।

राग द्वेषके परित्यागका उपदेश–राग और द्वेष ये ही तो प्रवृत्ति हैं और राग द्वेषका निषेध परिहार यही निवृत्ति है। बाह्य क्रियावों पर प्रवृत्ति का यहाँ अर्थ नहीं लगाना है। अन्तरङ्गमें राग तरंग उठे यही आत्माकी प्रवृत्ति हुई और राग तरंगका परिहार होना यही निवृत्ति हुई और ये दोनों राग और द्वेष बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखते हैं इस कारण बाह्य पदार्थोंका भी परित्याग करें और राग द्वेषका भी परिहार करें।

सहजविश्रामका महत्व–भैया! जो आनन्द एक सहजविश्राममें प्राप्त होता है वह आनन्द अन्यत्र कहीं नहीं है। किसी भी संयोगमें, समागममें, किसी भी प्रसंगमें वह आनन्द नहीं है। जो खुदका भाव किसी समय परके विकल्पसे हटकर सहज विश्रामरूप बन जाय वहाँ ही वास्तविक आनन्द है, रागभरी प्रवृत्तिमें आनन्द कभी नहीं होता। यह मोही जीव मानता है प्रवृत्तिमें आनन्द, पर रागभरी प्रवृत्तिमें रागभरी चेष्टाके अभिप्रायमें आनन्द कभी नहीं होता, बल्कि क्षोभ ही मचा रहता है। आनन्दका नाम नहीं है, इस रहस्यको ज्ञानीजन जानते हैं, अज्ञानी नहीं जानते। ये राग और द्वेष जो दुःखस्वरूप हैं, दुःखसे होते हैं, दुःखके कारण हैं, ये किसी-न-किसी बाह्य पदार्थका आश्रय करके होते हैं, इस कारण इन बाह्य पदार्थोंको छोड़ो।

बाह्य अर्थके परिहारका समर्थन–बारह तपोंसे एक विविक्त शय्यासन नामका तप है। एकान्तनिवास केवल जहाँ यही है, दूसरा देखनेको नहीं, बोलनेको नहीं, वहाँका रहना एक बड़ा तप है। उपवासकी तरह, अन्य कार्यक्लेशोंकी तरह यह भी एक तप है, क्योंकि वहाँ कोई बाह्य पदार्थ

सामने नहीं है, कोई परिजन अथवा कोई मनुष्य सामने नहीं है, ऐसे एकान्त स्थानमें सहजविश्राम होता है और उस सहज पदार्थमें जो विशुद्ध आनन्द जगता है वैसा आनन्द हजारों मनुष्योंके बीच बड़े समारोह प्रशंसा आदिक अनेक चेष्टायें हो वहाँ भी वह आनन्द नहीं है। क्यों कि बाह्यपदार्थोंका आश्रय करके वीतरागता नहीं होती, रागद्वेष ही होता है। रागद्वेष ही नाम प्रवृत्ति है, संसार है। क्लेशका साधन, है स्वयं क्लेश है। उसको त्यागें और उसके आश्रयका भी परित्याग करें।

ज्ञानबल द्वारा रागपरिहार व रागके आश्रयभूत अर्थका परिहार—रागदिककी प्रवृत्तिका निमित्तकारण तो द्रव्यकर्म है तथा आश्रयभूत कारण परपदार्थोंका सम्बन्ध है। यहां इतनी बात समझनी है कि रागका उपादान कारण तो यह अशुद्ध जीव है और निमित्तकारण उस प्रकारकी कर्मप्रकृतिका उदय है और आश्रयभूत कारण ये रूप, रस, गंध, स्पर्श पुद्गल स्कंध हैं, तो कर्मप्रकृतियोंपर तो हम क्या शक्ति अजमायें, क्या परित्याग करें, किसे हटायें, वह तो प्रतिघातरहित है। अब रही शेष दो बातें। सो आपका व्यवहार या जो किया जा सकता है वह यह बतलाता है कि हाँ इन दो बातों पर हमारा वश है। आश्रयभूत बाह्यपदार्थोंको अलग कर दे और रागदिक भावोंको भी न आने दे, यह सब होगा ज्ञानबलसे। भीतरमें अज्ञान बसा हो तो कायरता बनती है और ज्ञानबल पड़ा हो तो शूरता आती है, कायरता नहीं आती। आत्माकी कायरता है विषय और कषायके परिणमन होने लगना और आत्माकी शूरता है केवल एक निज सहजस्वभावकी रुचिसे, इसके ही उपयोगसे परिणमन बना रहना। यही है आत्माकी शूरता। हाँ तो इन दो तत्वोंसे हम न्यारे हो सकते हैं। रागद्वेषके साधनोंका परित्याग करें और रागद्वेष को भी दूर करें, यह होगा ज्ञानभावनासे और ज्ञानभावना होने पर ये द्रव्यकर्म भी अपने आप खिर जायेंगे। इसमें भी बहुतसी शिथिलताएँ हो जायेंगी। हमारा तो काम एक ज्ञानबल बढ़ानेका होना चाहिए और आश्रयभूत परपदार्थोंसे दूर रहनेका यत्न रखना चाहिए। फिर जैसे कल्याण होना है वैसी विधि बनती ही चली जायेगी।

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः,
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः।।२३८।।

भावनाका करतब—मैं इस भाववर्तमें इन भवोंके अभावके लिए ऐसी भावना भाऊँ जो पहिले कभी नहीं भायी और उन भावनाओंको मैं न भाऊँ जिनको अब तक भाते आये हैं। इस मोही जीवका अथवा जिसका संस्कार अब तक बाह्य विषयोंमें पड़ा हुआ है ऐसे जीवको ज्ञानभावना दुष्कर मालूम होती है और जो कठिन बात है, आत्माकी बात नहीं है ऐसे परके संचय, प्रसंग गड़बड़ी—ये सब सुक्ष्म मालूम हो रहे हैं। इस जीवने अब तक केवल भावना भानेका ही काम किया, अन्य कोई काम नहीं किया। शरीर भी इसे मिला तो सहज स्वयं मिल गया निमित्त पाकर पर इस जीवका कुछ वश नहीं है कि शरीरमें अपना अधिकार बनाये। यह बात न कभी हो सकती हौ और न होगी।

जीव तो एक भावना करता है और भावना पर ही ये सारी सृष्टि बनी कैसे? एक बार ब्रह्ममें ऐसी तरंग उठी कि एकोऽहं बहु स्याम्। मैं एक हूं और बहुत हो जाऊं, सो ये बहुत बन गए। यह सारी सृष्अि बन गयी। जरा इसका मर्म तो देखो। प्रत्येक जीव स्वभावतः निश्चयसे एकरूप है। स्वभावमें क्या अन्तर? हम और आप बिल्कुल एक समान हैं, रंच भी तो अन्तर नहीं। द्रव्यदृष्टि लगायें। जो सत्व है, सहज स्वरूप है उसकी दृष्टिसे हममें और आपमें क्या अन्तर है? किसी भी जीवमें देखो तब हम एक ही हुए ना। व्यक्तिगत भी एक हैं, स्वभावतः भी एक हैं। अब इसमें विकल्प हुआ, नानापन हुआ सो नाना बन गया। जिस भवमें पहुंचा उस भवमें अपने को उस रूप माना। मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक, देव आदि नाना रूप अपनेको माना। मूलमें जो एक रूप है उसको भूल गया और ये सारीसृष्टियां होने लगीं। तो अब तक क्या किया? ऐसी वासना, ऐसी भावना बनायी जिसके फल में इस जीवको संसारमें रुलाना पड़ा।

भाविताभावना व अभावितभावना–अब संसारभ्रमणका अभाव करनेके लिए अब तक की आयी हुई भावनाको तो अब न भाऊँ और जो आनन्दमयी भावना है ऐसी अपूर्व भावना को भाऊँ। विषय कषाय रागद्वेष इनको बढ़ाने वाले, इनका सम्बन्ध रखने वाले विचारोंको अब न भाऊँ और केवल शुद्ध निज सत्वमात्र जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी निरन्तर भावना भाऊँ, यही कल्याणका उपाय है। वे सब समागम कोई भी हमारे कल्याणके साधक नहीं हैं। साधक क्या, प्रत्युत बाधक हैं।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट्त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथार्छितम्।।२३९।।

हिताहित भाव–शुभभाव व अशुभभाव, पुण्य और पाप, सुख और दुःख ये ६ हैं ना और तीनों युगल हैं। इन तीन युगलोंमें आदिका एक-एक तो हितरूप है, अनुष्ठानके योग्य है और शेषके तीन अहित रूप हैं, त्याज्य हैं। शुभभाव पुण्य और सुख इन तीनको इस छन्दमें अनुष्ठान के योग्य कहा गया है। यद्यपि निश्चयसे ये छहोंके छहों निषेधके योग्य हैं। इसको भी आगे के दोहे में कहा जायेगा। किन्तु जीवकी जो वर्तमान परिस्थिति है उस परिस्थितिके अनुकूल सर्वप्रथम यह जीव हितके लिए किसी प्रकार कदम बढाये और उसके फलमें क्या-क्या होता है? यह प्राक् पदवीकी बात भी यदि प्रतिपाद्य है ना तो शुभभाव, दयाभाव, भक्ति भाव, गुणानुवाद, किसीके गुण देखकर खुश होना, ये सभी भाव अनुष्ठेय हैं, पालने के योग्य हैं और इनके फलमें पुण्यकर्मका बंध होता है। वह पुण्यकर्म भी ठीक है, उसके उदयकालमें निश्चिन्त होने के लिये सुविधा सुख मिलता है वह भी ठीक है।

हितयोग्य भावकी भी दुरुपयोगसे अहितरूपता–दुरुपयोग तो किसीका भी करलो। शक्कर मीठी होती है। अब उसकी चासनी बनावो और कहीं कढ़ी बन जाये तो कड़वी बन जायेगी। दुरुपयोग किसी का भी कर लो। योंही पुण्यकर्मका उदय आये तो वह अपना कल्याण करनेका एक

अवसर है, लग सको तो लग लो क्योंकि जहाँ पापका उदय है, खाने का भी ठिकाना नहीं। घरके लोग भी परेशान हैं, सब भिखारी हैं, दरिद्री हैं और अन्य सब प्रसंग भी बहुत नीच प्रकृतिके हैं तो वहां कल्याणका अवसर कम है। इस दृष्टिसे पुण्य भी अनुष्ठेय है और उसके फलमें जो सुखके साधन बनते हैं वे भी अनुष्ठेय हैं, बाकी तीन अहितरूप हैं। यह एक व्यवहारिकी बात कही जा रही है। सीधे अगला पैर रखना है ना और शक्ति है नहीं छलांग मारने की और मार रहे हैं छलांग, तो गड्ढ़े में ही गिरते हैं ना? सीधे चलते जाये और अगला मार्ग दृष्टिमें रखा जाये तो वह उचित है, शुद्धको लक्ष्यसे न भूलें और शुभसे अलग न हों, इस बातका स्मरण करानेके लिए इस छदमें कहा है। ये तीन अनुष्ठेय हैं और अन्तके तीन अहित रूप हैं।

तत्राप्याद्यं परित्यात्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्।।२४०।।

हिताहितभाव विवरण–जीवका उपयोग दो प्रकारका होता है–एक शुद्धोपयोग और दूसरा अशुद्धोपयोग। अशुद्धोपयोग दो तरह का होता है एक शुभोपयोग और एक अशुभोपयोग। चूँकि अशुभमें रागद्वेष मिला हुआ है अतएव वह अशुद्ध कहलाता है, ऐसे ही शुभोपयोगमें भी राग पड़ा हुआ है इस कारण उसे भी अशुद्ध कहते हैं। तो उपयोग तीन तरह के हुए, अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इनमें शुभ और अशुभ ये दो तो विषमताके कारण हैं। शुभसे पुण्य होता है, अशुभसे पाप होता है और पुण्यसे सांसारिक सुख होता है और पापसे दुःख होता है। तो ये तीन जोड़े हुए–शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप तथा सुख-दुःख। इनमें से शुभ अशुभमें शुभभाव, पुण्य पापमें पुण्य तथा सुख-दुःखमें सुख-ये तीन लोगों को प्रिय हैं। विवेकी भी विवेक करके इनका आदर करते हैं मुकाबिले अशुभ, पाप और दुःखके। किन्तु ये छहोंके छहों छूटें तब ही आत्माका विशुद्ध विकास होगा। जहां न शुभ रहता है, न अशुभ रहता है, न पुण्य रहता है, न पाप रहता है, न सुख रहता है, न दुःख रहता है, ऐसी अवस्था है निर्वृत्तिकी अवस्था। वही अवस्था यही अवस्था वास्तविक उपादेय है।

अहितपरिहारपद्धति–अब यह संसारदशा छूटे किस प्रकार? इस पर चिन्तन करिये। सर्वप्रथम तो अशुभ छूटना चाहिए, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। मोह ममता से कलुषित परिणाम पहिले छूटना चाहिए और इन अशुभ परिणाम छूटनेके पश्चात् जो शुभमें प्रवृत्ति होती है वह शुभ प्रवृत्ति भी कब तक रह सकेगी? शुभ और अशुभ ये दोनों नम्बरवार अदल-बदलकर चलते रहें तो इन दोनों का जीवन लम्बा हो जाता है। खूब अशुभ रहें और खूब शुभ रहें, तो इनका विनाश नहीं हो सकता, लेकिन अशुभ तो बिल्कुल होने न दें और शुभको ही रहने दें तो यह शुभ भी जीविज नहीं रह सकता। जैसे जो मंदिर मानते हैं उनका तो मन्दिरके आधारसे धर्म टिका हुआ है, और वह समूह परम्परासे बराबर धर्ममें चला आ रहा है। तो व्यवहारमें धर्मकी परम्पराको चलाने वाले आश्रय हैं,

ये मन्दिर। जो मन्दिर नहीं मानते, मूर्तिको नहीं मानते उनकी भी परम्परा चलाने वाले हैं ये मन्दिर। कोई इन मन्दिरोंका समर्थन करके अपनी धर्म परम्परा बनाये हैं तो जो मन्दिर नहीं मानते उनके भी धर्मकी रक्षा करने वाले ये मन्दिर हैं। मान लो कोई एक भी मन्दिर न रहे, तो जिनके उद्देश्यमें मन्दिरका निषेध है फिर वे क्या निषेध करेंगे, फिर तो उनका धर्म टिकेगा कैसे? ऐसे ही यहाँ समझिये कि शुभोपयोगसे भी संसारमें चिरकाल तक रहना हो तो उसके बीच-बीच अशुभोपयोग आता रहना चाहिए, नहीं तो यह शुभोपयोग भी बहुत काल तक टिक नहीं सकेगा। जिन्होंने इस अशुभोपयोगका परित्याग किया है उनका कुछ ही समय पश्चात् शुभोपयोग भी छूट जाता है, शुभोपयोगके छूटनेसे और अशुभोपयोगके छूटनेसे पुण्यपाप भी समाप्त होंगे और सांसारिक सुख दुःख भी समाप्त होंगे। तो अन्तमें शुद्धमें स्थित होकर यह जीव परमपदको प्राप्त कर लेता है।

अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतस्तद्बंधनान्यास्त्रवै-
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् सप्वस्मलः कालादिलब्धौक्वचित,
सम्यक्त्वव्रमदक्षताऽक्लुषतायौगेः क्रमान्मुच्यते।।२४१।।

आत्माका अस्तित्व–कोई पुरुष ऐसी आशंका करे कि आत्मा कुछ हो तो उसके परमपदका विचार करें, जब आत्मा ही कुछ नहीं है तो परमपद कैसे हो? किसीने इस आत्माको गर्भसे लेकर और अन्तिम जीवन तक कभी देखा भी है क्या? यदि आत्मा हो तो दृष्टिमें आये। आत्मा तो है ही नहीं, तो फिर कैसे उसके परमपदकी बात कहना मुक्त है? ऐसी आशंका के समाधानके लिए मानो यह छंद कहा गया है। आत्माकी कुछ सिद्धिसे पहिले इतना तो हम आप भी अनुभव रखते होंगे कि जब यह उपयोग यह ज्ञान बाहरीपदार्थोंका उपयोग नहीं रखता, प्रभुके भजनमें अथवा आत्मचिन्तनमें अथवा एक ज्ञानबलसे सहज विश्राममें हो जाये तब अदभुत आनन्द होता है, और यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप वास्तविक सत् है।

आस्तिक और नास्तिक–जो वास्तविक सतको मना करे उसे कहते हैं नास्तिक और जो इस सारतत्वकी हां करे उसे कहते हैं आस्तिक। और नास्तिक शब्द में यही अर्थ पड़ा है कि अस्ति है, उसे न माने सो है नास्तिक। इस परिभाषाका अर्थ यह नहीं निकलता है कि जो हमारे शास्त्र को न माने सो नास्तिक और जो माने सो आस्तिक। हमारे वेदको जो माने सो आस्तिक, न माने सो नास्तिक, हमारे कुरानको जो न माने सो नास्तिक और जो माने सो आस्तिक–यह इसका अर्थ नहीं है। यदि ऐसा कहा जाये तो वह तो उस पर जबरदस्ती थोपी जा रही है। बात यह है कि जो पदार्थ है, जो पदार्थ जैसा है जीव आदि उसे वैसा मानले तो उस का नाम आस्तिक है और इस आस्तिकमें जो माना गया है वैसा ही किसी शास्त्रमें हो तो क्या करे? वह तो अपने आप मन गया। वस्तुके अस्तित्व के ज्ञानकी अपेक्षा न करके सीधा अपना अभिमत मढ़ देवे तो आस्तिक नास्तिककी

परिभाषा ठीक नहीं है। तो ऐसी ही आस्तिककी परिभाषा मन में रखकर इस छंदमें बताया जा रहा है कि आत्मा है और वह अनादि कालसे बन्धनको प्राप्त है।

अनादिबद्धता—रागादिक विभावोंका जो बन्धन लगा है वह बन्धन अकारणक नहीं हो सकता, क्योंकि जो चीज घटती है, बढ़ती है और अपने आपके विनाशके लिए होती है वह तत्व अकारणक नहीं होता। वस्तुका स्वभाव उसी वस्तुका अहित करनेमें नाश करने में उद्यमी हो ऐसा कहीं देखा है। स्वभाव स्वभाववानके विनाशके लिए नहीं होता। वह तो स्वभावके अस्तित्व रखनेके लिए होता है। क्या ये रागादिक आत्माका अस्तित्व रखने के लिए हैं या अहित करनेके लिए हैं? ये रागादिक विभाव जीवको दुःखी करनेके लिए हैं वह कहीं टिकते भी नहीं तो ये अहेतुक नहीं हो सकते। इसमें कोई उपाधि कारण है और क्यों जी यह उपाधि किसी जीवमें समूहमें अपने आपमें अललटप्प किसीसे लग बैठे, क्या ऐसा हो सकता है? जो भी जगतमें कार्य होते हैं वे उपादान निमित्त कारण पूर्वक होते हैं। ये कर्मोंकी उपाधियां जो कि विभावोंके कारणभूत हैं ये भी अललटप्प न लगें, यह भी सकारणक है और इसका करण है रागादिक विभाव। तो ऐसा सोचते जावो। रागादिक भावोंका कारण है पूर्वकर्म। उन पूर्व कर्मोंका कारण है पूर्व विभाव। बस कहते जाइये। एक जिन्दगी नहीं अनन्त जिन्दगी लगातार आपको कहने लायक मिलें तो भी सब भवोंको आप कह डालेंगे क्या? तो निष्कर्ष यही निकला कि अनादिकाल से यह आत्मा बन्धनको प्राप्त है। भैया! अनादिताकी बात यहाँ ही देख लो। कोई एक बालक है, वह बालक किसी पितासे उत्पन्न हुआ ना और वह पिता अपने पितासे उत्पन्न हुआ। और वह भी अपने पितासे उत्पन्न हुआ। कहते जावो, कोई भी पिता ऐसा न मिलेगा जो अपने पितासे न उत्पन्न हुआ हो। क्या कोई पिता ऐसा भी होगा जो आकाश आदिक से टपक पड़ा हो? ऐसा तो नहीं है, तब यही तो निष्कर्ष निकला ना कि यह पितावों की परम्परा अनादिसे है। उसकी भी आदि नहीं है।

बन्धनका मूल खुदकी करनी—यह आत्मा आनादिसे बन्धनको प्राप्त है और यह बन्धन क्यों हुआ? आस्रवके द्वारा। आस्रव हुए द्रव्यकर्म—आये और उनका उदय पाकर आत्मामें यह रागादिकका बन्धन हुआ और ये आस्रव कैसे हुए? कर्म कैसे हुए? ये क्रोधादिक कषायोंसे हुए। जो जैसा करता है वह वैसा भरेगा। यह प्रायः ९९ प्रतिशत निर्णीत बात है। एक प्रतिशत या समझिये कि कोई विरला ज्ञानी योगी संत ज्ञानदृष्टिके बल से उन कर्मोंको संक्रान्त करके अन्यरूप परिणाम कर यों ही विफल कर दे तो हो सकता है, किन्तु ऐसे जीव १ प्रतिशत क्या, हजार, लाख, करोड़में असंख्यातमें भी एक नहीं बल्कि अनन्तमें एक होता है। तब यही बात एक प्रकट रूपसे हुई ना कि जो जैसा करेगा तैसा भरेगा।

आत्मसावधानीकी आवश्यकता—भैया! अब सोचो—कितना सावधान रहना चाहिए अपने को? किसी जीवका अहित न विचारमें आये। किसी जीवसे मात्सर्य न उत्पन्न हो, किसी जीवमें

तुच्छताका भाव न उत्पन्न हो, घृणाका भाव न उत्पन्न हो, किसी को सताकर अन्याय करके कोई अपने विषय साधनोंके योग्य सिद्धि अभिप्राय न जगे। सीधा सच्चा, न्यायपूर्ण, सच्चाई सहित जीवन गुजर जाय और यह जीवन अधिकतर प्रभु भक्तिमें, तत्वचिन्तनमें, गुणी पुरुषोंकी सेवामें व्यतीत किया जाये, यह है अपनी सावधानी और भला भविष्य पाने का उपाय। किन्हीं जीवों को खुश करके तुम क्या लाभ लूट लोगे? परजीवोंका संकोच करके तुम कौनसी रक्षा कर लोगे? अपने आपमें स्पष्ट विशुद्ध रहना चाहिए।

बंधका मूल निमित्त—ये द्रव्यकर्म क्रोधादिक का निमित्त पाकर बँध जाया करते हैं और ये क्रोधादिक प्रमादसे उत्पन्न हुए हैं। प्रमोद नाम है मुक्तिके मार्गमें उत्साह न जगनेका। इस प्रमादके कारण ये क्रोधादिक हुए हैं और ये प्रमाद और क्रोधादिक अव्रतसे हुए हैं, पापसे हुए हैं और ये सारे अब्रत पाप मिथ्यात्वसे उपचित हैं। मूलमें जीवके अज्ञान पड़ा है, मोह मिथ्यात्व पड़ा है तो उससे यह जीव मलिन है और इसीसे इसके सारी गंदगियां उत्पन्न हुआ करती हैं। कभी परिणाम सुधरे, काल आदिकके योग्य परिणति हो जाये तो सम्यक्त्व पैदा होना, शिवमय उत्कंठा प्राप्त होना, इन सब निर्मल परिणामोंके साधनसे यह जीव क्रमसे मुक्त हो जाता है।

विशेषणोंमें तत्वसमर्थकता—इन सब विशेषणोंमें कितने ही दर्शन आ गये। जो आत्मा नहीं मानते उनका खण्डन है, जो आत्माको स्वभावतः शुद्ध मानते हैं सर्वथा, उनका भी खण्डन है। जो बनावटी मुक्ति मानते हैं—हो जाये मुक्ति,चढ़ जाये कुछ काल तकके लिए। बादमें चिर काल तक मुक्तिका आनन्द भोगने के पश्चात् वह जीव फिर संसारमें जन्म मरण करता है—इत्यादि अनेक एकान्त आशयोंके खण्डनमें कितने ही शब्द इस छन्दमें आ गए, उनका खण्डन तत्वनिरूपणमें स्वयं हो जाता है।

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तफःफले।।२४२।।

परप्रीतिकी मलिनतामें तपके फलकी क्या आशा—ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, इस प्रकारकी प्रीति इस जीवमें ईतिकी तरह अनादिसे लगी हुई है। ईति भीति कोई बड़ा रोग जंजाल हुआ करता है उसकी ही तरह यह प्रीति लगी हुई है जीवमें कि यह मेरा है, मैं इनका हूं। एक वर्षके बच्चे के सामने भी, कोई दो एक महीनेका बच्चा हो उसके सामने भी यही बात है। कोई बड़ा कहे कि मैं इसे अपने घर लिए जा रहा हूं तो वह बच्चा सारी शक्ति लगाकर रोकर विह्वल होता है। रोकता है हम नहीं ले जाने देते और बड़ा होने पर बड़ी प्रीति होती है और बहुत बड़ा हो जाने पर कदाचित् किसीके आ जाये मनमें मैल तब पुरानी वह प्रीति न जाने कहां नदारत हो जाती है? और लगी रहे आजन्म प्रीति, उसके हृदयमें बसा रहा करे तो आखिर अन्तमें तो वह दुःखका कारण होता ही है। उसके वियोगका दुःख सहना पड़ता है। यह मेरा है, मैं इसका हूं इस प्रकारकी प्रीति एक

क्लेशको उत्पन्न करती हुई रहा करती है। यह प्रीति जब आत्मक्षेत्रमें घुल मिलकर अपना स्थान बनाये है। तब तपस्याके फलमें किसी सारकी क्या आशा रखी जाय?

परमार्थ अन्तरतपके बिना बाह्य तपकी निश्फलता–कोई तपस्वी साधु तप तो बहुत करता है, बड़े उपवास करता है, अनेक प्रकारकी तपस्याएँ बहुत किये जा रहा है, पर भीतरमें यह बात पड़ी हो कि यह शरीर मेरा है, मैं इसका हूं, अथवा यह मैं मुनि हूं शरीरको निरखकर, जैसे कि कोई छाती ठोककर कहते कि यह मैं हूं बंदा। ऐसे ही शरीरको अपने आंखोंकी दृष्टिसे ठोककर कोई कहे कि मैं मुनि हूं, मुझे ऐसा तप करना चाहिए, इससे सुख प्राप्त होता है, ऐसी भी जिसकी प्रीति है उसे उस तपस्यामें क्या मिलेगा? मिल जायेगा उतना फल जितना कि निदानमें मिल जाया करता है। निदानका यह अर्थ नहीं है कि जो मुनि जो चाहे सो मिल जाये, तपस्या है उसकी बहुत ऊँची, साधना है उसकी बहुत ऊँची और चाह है उससे कमकी चीज तो वह चीज उसे मिल जायेगी। और वह उस तपस्यासे अधिककी चीज मांगे तो कैसे प्राप्त हो सकेगी? तपस्या करके भी भीतर में यह गाँठ पड़ी होती है तो उसका फल नहीं मिलता।

बाह्यचर्यामात्रसे अन्तरमें अन्तरका अभाव–एक गृहस्थ गृहस्थीमें रह रहा है और गृहस्थके योग्य चर्चा कर रहा है। सुबह हुआ तो पूजन किया, दर्शन किये, स्वाध्याय किया, सत्संग किया, फिर घर गया भोजन किया, दूकान किया, चौबीसों घंटेकी जो चर्या है वह करे और एक मुनि भी अपनी चौबीसों घंटेकी चर्या करे–यह मैं मुनि हूं, मेरा काम सुबह पाठ करनेका, सामायिक करनेका, कुछ उपदेश देनेका और कुछ गृहस्थोंसे अपनी पूजा भक्ति करनेका है, सारी चर्यायें सोच लें तो अब देखिये–उनमें समितिपूर्वक प्रयोजनके सब काम करते हुए साधुमें और घरकी चर्या करते हुए गृहस्थमें इन दोनोंके भीतरमें कौनसा अन्तर आया?

अन्तश्चरणका महत्व–जिसके अन्तरङ्गमें निजसहज चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति हो चाहे वह गृहस्थ हो अथवा मुनि हो तब उसे संसारके बन्धनसे छूटनेका आयेगा। जब तक शरीर आदिकमें यह मेरा है, मैं इसका हूं ऐसी प्रतीति बनी हुई है तब तक तपस्याके फलकी कोई आशा न की जाये। कोई फल नहीं प्राप्त होता। इस कारण अधिक यत्न करके अपने आपको ऐसा अनुभवतेका यत्न करें कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्य प्रतिमास मात्र हूं।

मामन्यमन्यं मां मत्त्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
यान्योहमहमेवाहमन्योऽयोहमस्मि न।।२४३।।

भ्रान्तिके क्लेश व उनके मेटनेका उपाय सम्यग्ज्ञान–मैं अपनेको अन्य और अन्यको यह मैं, ऐसा मानकर भ्रान्तिसे इस संसार-समुद्रमें भटकता रहा। अब यह पहिचाना कि अन्य मैं नहीं हूं मैं मैं ही हूं, अन्य अन्य ही हैं, ऐसा ज्ञानीपुरुष अपने आपमें चिन्तन कर रहा है। यद्यपि वस्तुगत यह स्वरूप ही है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही तन्मय है। किसी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यसे

कुछ सम्बन्ध नहीं है, सभी जुदे-जुदे हैं। मैं भी यद्यपि अनादिकालसे मिथ्यात्व रागादिकके सम्बंधसे कर्मविपाकवश अनेक विकल्प करता चला आया। शरीरमें एकताकी बुद्धि रक्खी। परपदार्थोंको अपना समझता रहा। इतने पर भी कोई पर मेरा न हो सकता। न मैं किसी पररूप हो सका। कल्पनामें हो मानता रहा और उस कल्पना का ही मैं कर्ता रहा। किसी परका कर्ता अथवा स्वामी नहीं बन सका। और यों व्यर्थ ही इसी प्रकार दूसरोंको अपना माना और संसारमें भ्रमण करता रहा। अब यह पहिचान हुई कि सभी पदार्थ परस्पर अत्यन्त जुदे हैं। यही परिचय, यही सग्ज्ञान कल्याणका कारण होगा।

कठिन परीक्षण–भैया! कितनी तीव्रश्रद्धा चाहिए इस बातपर टिकने के लिए कि यह देह जुदा है और मैं जुदा हूं। कह लेना तो आसान है ओर चूँकि ऐसा कहनेसे भला जंचता है सो दिलका बहलाना भी है किन्तु इसी प्रकारका प्रयोग बने कि देह जुदा और मैं जुदा हूं यह बात सम्यग्दृष्टि पुरुषके ही सम्भव है। सम्यग्दृष्टि कुछ जुदे लोग नहीं हैं। जैसा मेरा स्वरूप है तैसा ही उनका स्वरूप है। एक सत्यप्रकाश चाहिए। सत्यविज्ञान चाहिए, सम्यक्त्व हो जाता है।

निर्मूलमोह–मेरा है कहीं कुछ नहीं। कितना ही कुछ माना जाये, किसीको शान्ति विश्राम कहीं प्राप्त न हो सकेगा। शान्ति तो जितना केवल अपनेसे वास्ता रक्खे, अपनेको ही देखे, अपनेमें ही रत हो, स्वयंसे ही केवल सम्पर्क रहे उस स्थितिमें तो विश्राम है, शान्ति है, बाहरमें कहीं शान्ति नहीं है। जगतके अनन्त जीव हैं, उनमेंसे कोई परिजन कोई भी जीव घरमें आ गया संतान या स्त्रीके रूपमें, या किसी अन्यके रूपमें, तो यह बतावो कि उस जीवसे आपका कोई नाता है क्या, कोई वास्ता है क्या, किन्तु वह जीव ही प्रिय हो रहा है। कुछ वास्तविकता है क्या? ऐसी यथार्थ बात समझमें आये और फिर सबको निभाये तो उसे कर्त्तव्यकी बात कह सकते हैं। जहाँ यह तत्व ही नहीं है, बस एकदम पूर्ण लगावके साथ ये मेरे ही हैं, ऐसा मानकर उनका पालन-पोषण करें, उनकी उन्नति करें, ये सब बातें मोहमें गर्भित हैं।

मोहमें अलाभ–मोहमें रहकर किसीने कुछ लाभ उठा पाया हो तो बतावो? किसीका पिता गुजर गया, किसीकी मां, किसीकी स्त्री, वह सोच सकता है कि उनके सम्बंधमें कितनी प्रीति थी,परस्परमें उनसे कितना तीव्र अनुराग था और बड़ा परस्पर मोह भी किया, पर उसके फलमें आज पासमें क्या रहा? केवल एक कल्पना ही रह गयी। और कुछ ऐसासा लगता कि व्यर्थका श्रम करके मोहका रागका परिणाम करके उस अतीतकालमें व्यर्थ ही परिश्रम किया। लाभकी बात कुछ न रही। जो विवेक न रखेगा, समागमोंमें मोह रखेगा उसे नियमसे दुःख होगा। जो विवेक रखेगा उसे उस समय भी क्लेश न होगा और आगे भी क्लेश न होगा। वियोग होगा सभीका, पर ज्ञानी पुरुषको क्लेश नहीं और अज्ञानी पुरुषको संक्लेश होता है।

बन्धो जन्मनि येन येन निविडं निष्पादितो वस्तुना,
बाह्यार्थैकरतेःपुरा परिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्
तत्तत् तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो,
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम्।।२४४।।

परप्रीति ईति व उसका निवारण–जिस पुरुषके बाह्यपदार्थोंमें ही एक पूर्ण लगाव है, प्रीति है, मोह है उस पुरुषने पहिले जिस-जिस प्रयोगसे, जिस-जिस वस्तुके सम्बन्धसे बहुत तीव्र बन्ध किया था कहो उसी पुरुषके जब प्रज्ञा जगे, सम्यग्ज्ञान जगे तो अब वही-वही चीज बन्धके विनाशके लिए हो जाती है, बन्धके विनाशका साधन बन जाता है। तब ही वैराग्य उसका एक उच्च स्थितिको प्राप्त होता है। जैसे यह देह अज्ञान अवस्था रहनेकी स्थितिमें बन्धका कारण बना था वही अब प्रज्ञा प्रकाश मिलने पर वैराग्यका साधन बन जाता है। वे ही घरके लोग राग और मोहकी स्थितिमें बंधके साधन बनते हैं और सम्यग्ज्ञान जगने पर फिर वे ही बंध विनाशके साधन बन जाते हें, अर्थात् उनको स्वतन्त्र विचार कर उनको ज्ञानका विषयभूत बनाकर हम ज्ञानकी आराधनामें लग सकते हैं। तब बाह्य चीजोंको जिस समय शरीर आदिक वस्तुओंको रागादिक 'बुद्धिसे देखा तो बन्धका कारण बना। वस्तुतः उनके प्रति जो राग था वह बन्धका कारण बना। जब वैराग्यबुद्धिसे इस देहको देखने लगे तो यही शरीर आदिक मुक्तिके यत्नमें सहायक बन गये। अब तपस्यामें लगाना, संयममें लगाना यह वृत्ति बन गई।

राग और वैराग्यके अनुसार देहका उपयोग–भैया! होता तो यही है ना। जब राग था तब इस देहको विषयोंके साधनमें लगाया। जब राग न था, वैराग्य था तो फिर इसे संयम और धर्मके साधनमें लगाया। है सब यहाँ राग और वैराग्यकी महिमा। राग भाव जैसे बनता है ऐसे भावोंको छोड़कर अन्तरङ्ग भावोंको करना चाहिए। पुराणोंमें सुनी, बहुतसी घटनाएँ मिलती हैं। किसीका किसीसे बहुत अधिक प्रेम राग मोह रहा हो कुछ ही समय बाद ऐसी स्थिति बन जाती है कि जैसे मानो कुछ परिचय ही न हो। श्री रामके पूर्वजोंमें वज्रबाहु हो गए हैं, ना उदयसुन्दर जिनका साला था। बज्रबाहुको अपनी स्त्रीसे बड़ा घनिष्ठ प्रेम था। जब उदयसुन्दर अपनी बहिनको लिवाये लिए जा रहा था तो बज्रबाहु भी उसके संग लग लिए। एक जंगलमें से गुजरे। कुछ ही क्षणमें एक मुनिराज के दर्शन करके और उनकी शान्त मुद्राका निर्णय करके, ओह कैसी शान्त मुद्रा है, वास्तविक शान्ति तो यही है, कैसा उत्कृष्ट आत्मानुभव है। यह आनन्द रागमें नहीं है। इतनी बात चित्तमें बैठते ही बज्रबाहु मुनि हो गया जैसे मानो उस स्त्रीसे कुछ परिचय ही न हो। एकदम ऐसा मोह छूट गया। तो किसका विश्वास किया जाये? जब अपने रागका ही विश्वास नहीं है। तो और किसका विश्वास करें?

जगसे निराला रहकर रहनेमें बुद्धिमानी–यहांकी वस्तुवोंमें किसी भी परपदार्थमें अपना लगाव नहीं रखना है। विवेक सहित घरमें भी रहा जाये तो वह संसार परम्पराका कारण नहीं है

और अविवेकसे साधु भी अगर बन जाये तो वहां भी यह मैं साधु हूं, त्यागी हूं, मेरा तो ऐसा पद है कि लोग पूजते रहें और मैं उनके सिर पर चढ़ूँ—कल्पनाएँ बनाता जाये, हाँ मेरी इतनी प्रतिष्ठा, पूजा, यश, नाम कुछ होता है तो वह ठीक है, होना चाहिए, मैं साधु हूं, मुझे तपस्या करना चाहिए। मैं साधु हूं। चित्स्वभावकी जिसे खबर नहीं और एक शरीरको ही अपनी दृष्टिमें रखकर सारा निर्णय बनाया जाये तो उसने संसार परम्परा बढ़ायी और एक सद्गृहस्थ जो विवेकसहित सम्यक्त्वसहित जलमें भिन्न कमलकी भाँति रह रहा है वह संसारपरम्परा नहीं बढ़ाता।

अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनःक्वचित्समः।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः।।२४५।।

बन्धाबन्धविभिन्नतायें—इन जीवोंमें देखो कितने ही जीव तो ऐसे हैं कि जिनमें बन्धन तो बहुत होता है और निर्जरा थोड़ी होती है और कुछ जीवोंका समूह ऐसा है कि उतना ही बन्धन हो रहा है, उतनी ही निर्जरा हो रही है। समान काम चल रहा है और कुछ जीवोंका समूह ऐसा है कि जहाँ निर्जरा बहुत है, बन्धन कम है व कुछ जीवोंका समूह ऐसा है कि जहां केवल निर्जरा ही निर्जरा है। बन्धन होता ही नहीं है। ये चार चीजें बताई हैं। ऐसे कौनसे जीव हैं जिनके बन्धन तो बहुत हो और निर्जरा अत्यन्त तुच्छ हो, वे जीव हैं मिथ्यादृष्टि। मिथ्योत्व गुण स्थान वाले जीव हैं। उनके कर्मोंका बन्ध तो बहुत चलता है और निर्जरा अत्यन्त अल्प होती है।

मिथ्यात्वमें बन्धकी अधिकता—यद्यपि कुछ ऐसा लगता है कि वाह जितना बन्ध हुआ उतनी ही निर्जरा हुई, जितनी निर्जरा हुई उतना ही बंध होता है। जायेंगे कहां वे कर्मपरमाणु लेकिन बन्धके कालमें जितना जो कुछ बन्ध होता है उनमें से कितनी ही प्रकृतियां संक्रमण करती जाती हैं। वह संक्रमण चाहे पुण्य प्रकृतियां पापरूप बन जायें ऐसा अदल बदल हो जाये, उदीर्ण हो जाये, कुछ प्रकृतियां अन्य वातावरण पाकर अन्य रूप से खिर जायें, फल न दें, ऐसी बहुतसी स्थितियां होती हैं। जैसे इस समय हम आप मनुष्य हैं और गतिकी बात कहे तो चारों गतियोंकी सत्ता मौजूद होगी, कभी किसी भवमें नरकगतिका बंध किया, तिर्यञ्चगति का बन्ध, देवगतिका बन्ध और गतियों का बन्ध कुछ कोड़ा कोड़ी सागरों तक का हो जाता है। जैसे तिर्यञ्च व नरकगतिका २० कोड़ाकोड़ी सागर मनुष्यगतिका १५ कोड़ाकोड़ी सागर व देवगतिका १० कोड़ाकोड़ी सागर का स्थितिबन्ध हो जाता है। आयुका बन्ध अवश्य परिमित होता है जितने समय तक कि भव पाना है। जैसे कोई पुरुष नरकआयुका बंध करे तो ज्यादासे ज्यादा ३३ सागर तक का बन्ध करले, पर नरक गतिका बन्ध २० कोड़ाकोड़ी सागर तकका करले तो नरक आयुको तो भोग आया। अब मनुष्य बन गया,तिर्यच बन गया तो नरकगतिके परमाणु खिर रहे हैं, उदयमें आ रहे हैं। हम आपके चारों गतियां उदयमें आ रही होंगी, पर फल मिल रहा है मनुष्यगतिका। वे गतियां एकदम ठीक मौके पर जबकि विपाक काल आने को है, उदयावलिमें प्रवेश हो जाये उसी समय बदल जाती हैं। मनुष्यगति रूप होकर

उदयमें आ जाती है। कितनी विचित्र स्थिति है? खैर, ऐसे जीव मिथ्यात्वगुणस्थान वाले हैं, जहां बंध तो बहुत है और निर्जरा थोड़ी है।

मिथ्यात्वमें निर्जराकी अल्पल्पता–दूसरा भाव यह ले लो कि उन मिथ्यादृष्टि जीवोंमें कभी तप करके कुतप करके अनेक मिथ्यादृष्टि तो बड़े शान्त भी होते हैं, सो कहो कोई द्रव्यलिङ्गी मुनि किसी शत्रुके द्वारा सताया जा रहा हो, शत्रु उसे पानीमें पेल रहा हो तिसपर भी वह मुनि उस शत्रु पर द्वेष न करे और समता रक्खे, मैं मुनि हूं, मेरा कर्त्तव्य रागद्वेष करने का नहीं है, यह जो कुछ करता है अपने कर्म बांधता है। जो कुछ है उसके उदयसे हो रहा है। मुझे इसमें द्वेष न करना चाहिए। इतना विवेक है और शान्ति समता है फिर भी मिथ्यात्व साथ है। तो क्या उसके थोड़े बहुत कुछभी कर्मोंसे रंच फर्क न आता होगा? उस ही को कोई निर्जरा मान ले तो ऐसी निर्जरा अत्यन्त अल्प है। और बन्धन बहुत है।

बन्ध व निर्जराकी समानता व असमानता–कोई जीव ऐसे हैं कि जितना ही बन्धन है उतनी ही निर्जरा चल रही है। जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके सग्यक्त्वके कारण निर्जरा है और अव्रतके कारण बंध है, समान बात हो रही है। पंचम गुणस्थानसे लेकर कुछ प्रमाद सहित गुणस्थान तक प्रमत्तगुणस्थान तक या जितना सम्भव हो ऐसे जीव हैं कि जिनका बंध तो कम है और निर्जरा अधिक हो रही है। ध्यानस्थ श्रेणीगत वीतराग जीव ऐसे हैं जिनके निर्जरा ही हो रही है, बंध नहीं हो रहा है। १५वें,१२ वें, १३वें और १४वें गुण स्थान ऐसे होते हैं जहां निर्जरा ही निर्जरा होती है, बंध नहीं होता। यह बन्धनका और छूटनेका एक अनुक्रम बताया गया है।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः।।२४६।।

निर्वाणपात्र योगी–जिसके पुण्य और पाप निष्फल होकर स्वयं गल जाते हैं वह योगी है और उसका नियमसे निर्वाण होता है। उसके फिर कभी आस्रव नहीं होता है। पुण्यको पुण्य सभी बताते हैं। पर कोई जीव ऐसे विशिष्ट संत ज्ञानी होते हैं जिनकी निगाहमें यह पुण्य भी पाप बन गया है। जिनकी दृष्टिमें पाप तो पाप है ही, किन्तु पुण्यकर्म भी बंध करने वाला, संसार में रुलाने वाला यह सब दिखता है। सो बड़े वीतराग ऋषिसंतोंकी ऐसी स्थिति होती है कि उनके पुण्य और पाप दोनों निष्फल होकर खिर जाते हैं।

फल प्राप्तिका मर्म–आपका भी कैसा ही उदय आये उसमें जो भी फल सामने आया उस फलको हम अपनेमें लपेटें अर्थात् उसके फलको हम ग्रहण करें तब ही तो उसका फल समझिये। पुण्यका कितना ही फल सामनेआये, बड़ा वैभव आये, चक्रवर्ती हो गए, तीर्थकरका वैभव मिल गया, कैसा भी वैभव मिले उस वैभव को अपनायें, उससे अपना बड़प्पन मानें तब ही तो फल मिला समझिये। तो जो योगी संत विरक्त होते हैं,अपने आपमें केवल अपने स्वभावकी रुचि रखते हैं,

किसी भी फलको अपनाते नहीं हैं, उनके पुण्य पाप ये सभी फल स्वयं खिर जाते हैं। पापके फलमें भय करना और उसे असुहावना मान लेना यही तो पापके फलका ग्रहण करना है। और पुण्यके फलमें इष्टवस्तु को अपना लेना, हर्षमग्न होना, यह पुण्यके फलका अपनाना है।

पुण्य पापके निष्फल गलनका कारण—अब सोचिये—ज्ञानी पुरुष चाहे कभी पापके फलमें थोड़ा बहुत लग जाये तो भी पुण्यके फलमें नहीं लगता। अर्थात् पापका फल उपद्रव, परिषह, दुःख क्लेश आयें, उनमें थोड़ा भय कर जाये, घबड़ा जाये, आकुलित हो जाये, किसी परिस्थितिमें यह सम्भव है, पर पुण्यके फलमें वह उसे अपनाये, उसमें हित माने, यह उस ज्ञानीके नहीं होता। तब इतनी बात माननेमें अब क्या संदेह रहा कि ज्ञानी संत योगी पुरुष पुण्य और पाप दोनोंके फलको अपनाते नहीं हैं। और इस उदारता एवं ज्ञानप्रकाशकी स्थितिमें पुण्य और पापके फल निष्फल होकर स्वयं खिर जाते हैं। और इस परमतपश्चरणके प्रसादसे उसे निर्वाण प्राप्त होता है।

पुण्य पाप गलनसे निर्वाणका लाभ—संसार भ्रमणके कारण पुण्य और पाप ही तो हैं। जैसे फलका मूल फूल है। फूल ही खिर जाये तो फल कहाँसे लगे? ऐसे ही जीवके चारों गतियोंके भ्रमानेका कारण ये शुभ-अशुभ पुण्य पापके उदय हैं। जब योगी संतके ये पाप पुण्यकर्म ही निश्फल होकर खिर जाते हैं तो फिर नया शरीर कैसे मिलेगा? और यह शरीर न मिलें, इसका ही नाम निर्वाण है। इसकी प्राप्तिके लिए काम केवल परसे विविक्त होकर ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपको उपयोगमें लेना, इस ही रूप अपनी प्रतीति रखना, यही करनेका काम है।

महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम्।।२४७।।

अल्प छिद्रके भी अनर्थकी कारणता—जैसे जलसे भरपूर सरोवरके चारों ओर पाल लगी हो और उस पालके बंधमें कहीं थोड़ा भी छेद अथवा दरार हो तो वह उपेक्षा करने लायक नहीं है। यदि उसकी उपेक्षा करदी जाये तो वही छोटा छिद्र अथवा दरार पालकों नष्ट कितने ही गाँवों को जलमग्न कर देगा। कोई यह सोचे कि क्या है इसमें जरासी ही तो टूटा है, पर थोड़ा भी छिद्र हो तो वह बढ़कर सारे पालको खत्म कर सकता है, तब उस सरोवरका पानी अनेक गाँवोंको डुबा देगा। ऐसे ही महान् तप रूपी समुद्रमें जिसमें कि बड़े गुण भरे हुए हैं, जो गुणरूपी जल से भरपूर है, उसमें चारों ओर मर्यादाका बाँध लगा हुआ है। उसमें कभी कोई दोष लगे तो वह उपेक्षा करने योग्य नहीं है। क्योंकि थोड़े भी दोषकी उपेक्षा अल्प निकट कालमें ही एक बड़े दोषको उत्पन्न कर सकती है।

अल्प छेदसे गुणोंकी विराधना—जब तक तालाबकी पाल दृढ़ रहती है तब तक तालाबका जल व्यवस्थित रहता है, और पालमें रंचमात्र भी छिद्र हो जाये, पाल फूट जाये तो तालाबमें जल न रहेगा, ऐसे ही गुणरूप जल भरा है तपरूपी तालाबमें और उसकी पाल हैं प्रतिमायें। यदि

प्रतिमाधारण कर रंच भी डिग जाये तो गुणरूपी जल फिर उसमें ठहर नहीं सकता। इस छंदमें मुमुक्षुको यह शिक्षा दी है कि तू किसी भी समय अपने ब्रतमें संयममें तपस्यामें किसी भी मर्यादामें अल्प भी दोष न लगा और लग जाये दोष तो उसकी उपेक्षा तो न कर। हो जाते हैं दोष, उनका बोधकर, उपेक्षा मत कर। जैसे भींतमें कहीं दरार हो जाये तो हो जाये, पर उसकी उपेक्षा तो न की जाये। यदि उसकी उपेक्षा की जायेगी तो बरसातमें उससे हानि है। तो उसके भींतकी दरारकी तुरन्त चिकित्सा करे, उसकी उपेक्षा करनेसे तो इस समस्त भींतको जल बहा देगा, और ऐसे ही दुर्गण इस आत्माको गुणोंसे रिक्त कर देंगे।

दृढ़गुप्तिकपाटसंकृतिर्धृतिमित्तिर्मतिपादसंभृति।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रिकते गृहाकृतिः।।२४८।।

अल्प छिद्रसे कुटिलोंका प्रवेश—जैसे कोई घर तो बनवाये बड़ी रुचि से, अच्छे मजबूत उसमें किवाड़े भी लगाये। अच्छी मजबूत भींत बनाये, नीवं भी उसकी मजबूत हो, पर उसमें ऐसी उपेक्षा रखी गई कि भींतोंमें कई छिद्र हो गये अथवा पहिलेसे रक्खे गये। उनको ढांका नहीं, छिद्र बने रहे, तो भले ही बढ़िया महल बनाया हो मगर साँप उस छिद्रमें से घरमें घुस लेंगे, तो फिर क्या गुजारा होगा? अरे परिवारके किसी व्यक्तिको काट लेंगे तो मृत्यु हो जायेगी। घर तो बनाया बढ़िया, पर उसके साधारण छिद्रकी परवाह न करनेसे उसमें सर्पोके आवागमनके द्वार बन गये, तो जैसे वह अविवेकपूर्ण कार्य है इस ही प्रकार एक आध्यात्मिक महल तो खड़ा किया, किन्तु वहाँ ब्रतातिचारको कोई छिद्र रहने दिया तो वहाँ अनर्थ ही हो जायेगा।

अध्यात्ममहलकी ब्रतच्छेदसे हानि—देखिये कैसा सुदृढ़ है यह आत्ममहल—जिसमें मनोगुप्ति, बचनगुप्ति और कायगुप्तिके मजबूत किवाड़ लगे हैं। किवाड़में और गुप्तिमें समानता दी है। गुप्तिका अर्थ है रक्षा करना, किसी परभावको न आने देना और किवाड़का अर्थ है, कि मायने किसी को भी (वाड़) मायने रोक देना, जो किसीको भी हो रोक दे सो किवाड़ है। तो एक अध्यात्ममहलमें मन, वचन गुप्तिके बड़े मजबूत किवाड़ भी लगाये गये हैं, धैर्यकी भींत उठायी गयी है। जैसे महलमें भींत मजबूत होती है ऐसे ही अध्यात्ममार्गमें धैर्यकी भींत मजबूत है, देखिये! कितना उत्तम महल बनाया जा रहा है और फिर भी एक कमी रह जायेगी। उससे यह महल बना नहीं बनासा हो जायेगा। इसको बतावेंगे।

दृढ़ महलमें भी छिद्र द्वारा कुटिलोंका प्रवेश—धैर्यकी भींत उदार विशाल बनाई गई है और नींव बुद्धिकी बड़ी गम्भीर खड़ी की है इस अध्यात्ममहल के लिए। जैसे महल उठानेको नींवपर ध्यान पहिलेसे दिया जाता है। पता नहीं उस पर दूसरा तीसरा मंजिल बनाना पड़े ऐसे ही अध्यात्ममहल में बुद्धिकी नींव बहुत गहरी बनायी है, यह बुद्धि ऐसी गहरी जगह पहुंच जाती है जहाँ किसी अन्य चीजका प्रवेश नहीं है। जैसे एक लोकोत्तिमें कहते हैं—जहाँ न जाये रवि, वहाँ जाये

कवि। किसी गुफाके अन्दर जहाँ पर सूर्यका प्रकाश नहीं पहुंच सकता वहाँका वर्णन कहो कवि इस तरहसे कर दे कि सुनने वालोंको उस गुफाके भीतरकी सारी चीजें सामने नजर आने लगें। तो इतनी बुद्धिकी नीवं बनाई गई जहाँ किसी अन्य विरोधी चीजका प्रवेश न हो। और ऐसे महलके बनवानेमें भींतमें ब्रतातिचारके छेद रह जायें तो वहाँ विनाशकारी कुटिल विकार सर्पोंका प्रवेश हो सकता है अर्थात् मुनिपद धारण करके अगर रंच भी दोष रह गए तो वे ही दोष इस मुनिपदको दूषित कर देते हैं।

अल्पछिद्रसे विकरालोंका आवागमन–जैसे बड़े-बड़े सर्प छोटे-छोटे छिद्रोंमें से भी प्रवेश कर जाते हैं, ऐसे ही छोटे-छोटे दोषोंसे बड़ी-बड़ी दुष्परिणति वाले महाविषधर रागादिक सर्प आ सकते हैं। मुनि पदको धारण करके बड़ी-बड़ी गुप्तियोंकी साधना करके, अपने धैर्यकी वृद्धि करके बड़ी बुद्धि और ज्ञानको भी पायें और एक मुनिपदका महल खड़ा करके वहाँ कोई अल्प ब्रतभंगरूपी छिद्र रहने दें तो रागादिक कुटिल सर्प उसमें निवास कर लेंगे, और फिर वे ऐसे भंयकर सर्प हैं कि अनेक पर्यायोंमें अनेक बार मरण करायेंगे। यहां का सर्प एक बार डस ले तो एक भवका मरण हो गया किन्तु ये रागादिक सर्प डस लें तो भव-भवमें मरण करायेंगे। हे साधु और भी ज्ञानी पुरुषोंकी दशायें देखो भूल मत जावो। लोग मोह भाव करके बहुत चैन मानते हैं, कि हम बहुत रक्षित हैं, पर ये मोहादिक सर्प इतने भंयकर हैं कि इनका डसा हुआ प्राणी भव-भवमें जन्म लेगा और मरण करेगा।

निरपराध होकर अध्यात्मदिकासमें बढ़नेकी शिक्षा–यह ग्रन्थ साधुजनों के लिए बना है ना, तो उनके सम्बोधनमें यह बात कही जा रही है। पर इससे हम आप सभीको शिक्षा मिलती है क्योंकि हम आप भी उन ही जैसे एक पुरुष हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि साधुजन निरारम्भ और निष्परिग्रह हैं, हम आपमें अभी यह बात नहीं है। पर ये सब बातें हम आप सबको अपनेआप पर भी घटानी चाहिए। इस अध्यात्म चमत्कार को निरखकर प्रसन्न रहना यही तो एक हमारे करने के लिए काम रह गया है। देखो जो पद धारण किया गया है–ब्रत, ध्यान, संयम ग्रहण किया गया है–इनमें निर्दोषता रही, इनका भंग नहीं हो सकता, तो हम निरापद होकर निराबाध होकर इस अध्यात्म चमत्कारका दर्शन करके अपनी शान्ति प्रसन्नता बढ़ा सकेंगे।

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्यक्तस्तपोमिरतिदुर्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः।।२४९।।

परदोषवादसे दोषोंका पोषण–देखो तो मूढ़ता कि अपने दोषोंको अवगुणोंको मूलसे नष्ट करने के लिए तो उद्यमी बने, बड़ी दुर्लभ तपस्यायें धारण करते हुए अज्ञानी बनकर एक व्यर्थका दोष ऐसा बना लिया है कि जिससे उन ही दोषोंका पोत्रण हो रहा है। वे दोष क्या हैं? दूसरोंके दोषों के बोलने में मजा लेना। आचार्यदेव कैसा छांट-छांट कर सफाया करने का यत्न कर रहे हैं। होता है ना किन्हीं बड़े-बड़े तपस्वीजनोंमें यह महत्वसे सम्बन्धित ऐब। ऐसी दुर्धर तपस्या करले, बड़ा

संयम पाल ले, निरारम्भ, निष्परिग्रह सब कुछ वृत्तियां धारण करले लेकिन एक ठलुवा बैठे कभी भी किसीका दोष कहनेमें दिलचस्पी ले लें, तो इतने मात्रसे करी कराई वह सारी तपस्या मिट्टीमें मिला दी। जैसे कहते हैं ना गुड़ गोबर एक कर दिया। भैया! दुर्धर संयम पालन करके एक परदोषवादकी बातको किए बिना कुछ अटक थी क्या, कुछ नुकसान था क्या, जो दूसरेके दोषोंकी कथा न करते? एक व्यर्थ सी बातका बड़ेसे बड़ा झमेला खड़ा कर दिया, जिसे कहते हैं गुणों पर पानी फेर दिया। गुणोंका विकास करने के लिए, कर्ममलोंको नष्ट करने के लिए तपस्या किया, परदोषवादके ऐबसे उन कर्ममलोंको बहुत दृढ़ बना दिया।

अज्ञानान्धकारमें अज्ञानान्धकारकी अज्ञानान्धकी प्रवृत्ति–अंधकार तो अन्धकार ही है। तिलकी ओटसे पहाड़ ढक जाता है। देखो आंखके अन्दर जो एक तिल बराबर काला निशान होता है वही दिखनेका कारण है। उस तिलके दाने बराबर जगहमें तिलका दाना तो नहीं चिपक सकता पर तिलके दाने बराबर कागजका टुकड़ा उसी जगह चिपका लिया जाये तो मीलों लम्बा पहाड़ ढक जायेगा, दिखाई न पड़ेगा। तो जैसे मीलों लम्बा चौड़ा पहाड़ एक तिलके दाने से साराका सारा ढक जाता है ऐसे ही देखो–यहां निरारम्भ रहे, निष्पपरिग्रह रहे, बनमें रहे, बड़ी-बड़ी तपस्यायें करते रहे, भूख प्यास सर्दी गर्मीकी बड़ी-बड़ी वेदनाएँ सही, रात-दिनकी चर्यायें भी बड़ें संयमपूर्ण पलती रहीं, पर बैठ गये चार छः मुनि किसी जगह, बैठते ही है कभी तो बैठे हुएमें दूसरेके दोष बतानेमें दिल बहला रहे हैं, चाहे वह थोड़े समयको ही क्यों न हो, पर लो इस अंधकारसे जहां कि चैतन्यस्वरूपकी प्रबल रुचि होनी चाहिए थी, क्या मतलब है जगत्के अन्य जीवोंसे, उस ही चैतन्यस्वभावकी मुख्यतासे निरखते रहना चाहिए था, लेकिन उस निरखन पर आवरण कर दिया। किसी परके दोष बताने से तो खुदके ही दोषोंका पोषण हो गया। ये सब व्यर्थके कार्य काहेके लिए किए जा रहें हैं।

परदोषवादसे लाभका अभाव–जो विवेकी पुरुष होते हैं वे पर निन्दा से दूर रहा करते हैं। परकी निन्दा वे नहीं करते हैं। परनिन्दासे क्या सिद्धि कर ली जायेगी? परनिन्दा करनेसे क्या खुदकी सिद्धि होगी, क्या दूसरों की, क्या समाजकी, क्या दुनियाकी? परनिन्दाका जो भाव मनमें आया उसमें बुद्धि लगी तो वहां खुदका क्या भला हुआ? वहां कर्मबन्ध किया और जिसकी निन्दा की जाये उसका भी भला क्या हुआ? इस तरीकेसे दोष छूट जायेंगे क्या? परदोषवाद ने समाजमें भी कौनसा लाभ पहुंचा दिया। कहो समाजके लोग कुछ धर्ममें लगे हों तो कहो और छोड़ दें यह सोचकर कि यहां तो कुछ सच्चाई ही नहीं है। कौनसा लाभ पहुंचाता? हां यदि करुणा है तो जिसका दोष है उस ही से ऐसी शैलीसे कहा जाये कि उस पर असर हो। लौकिक जनसमूहमें या कुछ अपनी गोष्ठीमें, कहीं पर भी दोषवादसे क्या लाभ होता है? सो अपने आपमें इसको घटा भी लो, देख भी लो कि क्या लाभ पाया? कुछ अपना समय ही व्यर्थ गमाया अपना उपयोग गंदा किया, कर्मबंध भी किया।

साधु सम्बोधन–साधुजनोंको आयार्चदेव सम्बोध रहे हैं कि हे साधुजनो! इतना बड़ा उद्यम कर रहे हो, इतनी तो दुर्धर तपस्या कर रहे हो, और एक व्यर्थकी बात, जिसके बिना कुछ अटकी नहीं, उस दोषवादसे तुम अपने सारे उद्देश्यों पर पानी फेर रहे हो। जिन दोषोंका विनाश करनेके लिए यह दीक्षा धारण की है उन ही दोषोंका एक व्यर्थकी आदतसे पोषण कर रहे हो। हे साधु! यह तुम्हें शोभा नहीं देता है। तुम्हें भव-भवमें रुलानेका ही यह उपाय है जोकुछ तुम रौद्रध्यान सहित यहां कर रहे हो। संसारके कारणभूत ध्यान दो प्रकारके कहे गए हैं, आर्त और रौद्र, इनमें रौद्रध्यान बहुत मलिन परिणाम वाला है और इसी कारण रौद्रध्यान मुनियोंके नहीं होता। कदाचित आर्तध्यान हो सकता है। आर्तध्यान मुनिके होकर भी मुनिपद घात नहीं कर पाता–और कदाचित् रौद्रध्यान हो जाये तो मुनिपदका भंग हो जाता है। वह छठे गुणस्थानमें नहीं ठहर सकता है। उसका भाव गिर जायेगा। आर्तध्यानमें तो क्लेश होता है और रौद्रध्यानमें मौज माना जाता है, हिंसा करके झूठ बोलकर निन्दा करके, आनन्द मानना--ये सब रौद्रध्यान हैं। हे साधु जनो! व्यर्थ की इन किल्लतोंका परित्याग कर और अपने उद्देश्यको सफल बनाने की धुनमें लगो।

दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात् क्वचि-
द्यातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं दृष्टुमन्धोप्यलम।
दृष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं-जग-
द्विश्वं पश्यति त्तप्रभाप्रकटितं किं कोप्यगातत्पदम्।।२५०।।

गुणीमें दोषकी अगुप्ता–देखो जैसे चन्द्रमा उज्जवल है, कान्तिमान है, शीतल है, आताप बुझाने वाला है, सर्वगुणसम्पन्न है, पर एक बात और बड़े गजबकी यह है कि चन्द्रमामें जितना लाञ्छन लगा है, काला दाग रहता है, उससे बड़े काले-काले और भी पदार्थ हैं पर उतनी दूर रहने वाला चन्द्रमा अपनी उज्ज्वलताके कारण मंददृष्टि वालोंको अंधोंकी भी जिनको कि बहुत कम दिखता है उनको भी यह चन्द्रमा अपनी उज्ज्वलताके कारण दोष प्रकट कर देता है कि मुझमें यह कालिमा है।

दोषकी व्यक्तिमें दोषधामके गुणोंकी साधकता–जहां अनेक गुण होते हैं वे गुण ही वहां यदि कोई दोष हो तो दोषको प्रकट कर देते हैं। जिसका जितना विस्तृत यश फैला हो उससे अपयशका कार्य बने तो इतने विस्तार से दोषके फैल जानेका कारण वह यश ही है। बहुतसे जीव हैं, मोही, अवगुणी, पापी, कषायी हैं। किस किसको जानते हो? बहुतसी काली चीजें हैं और यह चन्द्र तो यहां से लाखों मील दूर है। दस मील दूरकी भी काली चीज हमें नहीं दिखती। पर लाखों मील दूर चन्द्रमा है, इस चन्द्रमाकी कालिमा अंधों तकको अर्थात् कम दृष्टि वालों तकको दिख जाती है। तो इस चन्द्रने स्वयं अपनी स्वच्छताके कारण अपनी मलिनता प्रकट कर दी, ऐसे ही हे साधु! तुम सर्वगुणोंकी खान हो, शान्ति भी रखते हो, विषयकषायों पर विजय भी किया है, कर रहे हो, बड़ी दुर्धर तपस्या भी करते हो, ज्ञानकी भी लौ तुम्हारे लगी है फिर भी कभी कर्मोंके तीव्र उदयवश

पापोदयसे कदाचित् कोई लाञ्छन लग जाये, ब्रतभंगदोष, ऐब, असदाचार बन जाये तो उसको देखनेके लिए अंधेजन भी समर्थ हैं।

लेशदोषकी भी बाधकता—भला कोई चन्द्रमाके पास जाकर उसके कालेपनको देखकर आया है क्या? तो वह यहांसे बहुत दूर है फिर भी वह सब लाञ्छन फैल गया है। ऐसे ही हे साधु! तेरे पास दोष जाननेके लिये जनता तो रखी जाती नहीं है पर तेरेमें दोष हुआ तो वह सब प्रकट हो जायेगा। दूसरे ये तेरे गुण ही रंचमात्र दोषको भी प्रकट कर देनेके कारण बन जाते हैं। किसी महान् पुरुषमें कोई दोष हो तो उसको देखनेके लिए अविवेकी पुरुष भी समर्थ हो जाते हैं। जगतकी दृष्टिमें वे सब दोष आ जाते हैं। वस्तुतः जहां गुण होते हैं वहां दोष टिक नहीं सकता है। तो गुणपूरित मुनिपदमें अवगुण टिक न सकेगा, प्रकट होगा। कोई ऐसी तर्कणा करे कि साधुजन अपनेसे तो बहुत अच्छे हैं, उनके तो गुण ही ग्रहण करें, इस सम्बन्धमें क्या उपयोग देना कि भाई उच्चपद प्राप्त करके अवगुण एक भी न टिकना चाहिए इसका समाधान सुनिये, जैसे कोई अब्रती दसों बार भोजन करे तो उसकी कोई निन्दा करता है क्या? और ब्रती, साधुजन उपवास ग्रहण करके कोई रंच भी वस्तु खावे तो उसकी निन्दा होने लगती है। अल्प दोषको भी अपनेमें न आने देना, यही शुद्ध मार्ग है।

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम।
उत्तरोत्तर विज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते।।२५१।।

उत्तरोत्तरविज्ञानसे योगियोंके पूर्व अज्ञानचेष्टावोंकी भासना—योगी पुरुषोंका ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर विज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ऐसा प्रतिभासित होता है कि मैंने पहिले जो जो कुछ आचरण किया वे वे सब अज्ञानमयी चेष्टायें हुई। ज्ञानमय चेष्टा क्या है? राग विरोध, मात्सर्य कषायोंकी मलिनता न हो और मात्र पदार्थका ज्ञाता द्रष्टा रहना यह तो है ज्ञानमय चेष्टा, अब इस ज्ञानमय चेष्टाको लक्ष्यमें लेकर पहिलेके आचरणोंको परख डालिये। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके पाप तो साधारणजनोंको भी थोड़ा विवेक आनेपर अज्ञान भरी चेष्टा हुई ऐसा विदित हो जाता है। किन्तु देखो जिसको साधारणतया लोग ज्ञानमयी चेष्टा कहा करते हें वे सब अज्ञानमयी चेष्टाएँ हैं। वे चेष्टायें अज्ञानमयी हैं ऐसा योगीको उत्तरोत्तर विज्ञान होनेसे प्रतिभासित होता है।

रागसम्बन्धित चेष्टाओंसे अज्ञानमयताकी भासना—जैसे ब्रत, तप, संयम, नियम, सदाचार, इन सब कामोंमें लगा है वह योगी और उन कामोंको बड़े योग और विकल्पपूर्वक निभा रहा है, फिर भी जब स्वरूपकी सुध होती है और ज्ञानचेष्टाका स्मरण होता है तब उनके ये सब अज्ञानामयी चेष्टायें झगती हैं। अज्ञान चेष्टा विदित करते भी जायें, ऐसा भी कदाचित तत्वज्ञानी पुरुषके सम्भव होता है। अब सामायिकमें पूरब दिशा को मुँह करके खड़े होकर नमस्कार कर रहे हैं, अब दक्षिण दिशाकी ओर मुंह करके नमस्कार कर रहे हैं, अरे ये काम इस आत्माके हैं क्या? उस स्थितिमें किये बिना गुजारा भी नहीं, करते भी जा रहे हैं और क्या मेरा यह काम है, यह तो मेरा कार्य नहीं है,

हो रहा है, लो यों यह तो झट ही विदित हो जाता है। जैसे किसी दूसरे की आलोचना करना, दूसरेके अवगुण और अपनी कुछ महिमा बता देना, ये अज्ञान चेष्टायें हैं। अज्ञानी जनोंको बहुत जल्दी नहीं भासती हैं कि ये अज्ञानचेष्टायें हैं, लेकिन फिर भी कुछ विवेक होने पर उन्हें भी ये सब बुरी भासने लगती हैं कि ये अज्ञान चेष्टायें।

ज्ञातृत्वके अतिरिक्त अन्य चेष्टाओंकी अज्ञानरूपता–यहां कुछ और अन्तःमर्मकी बात समझो। यावन्मात्र मनकी, वचनकी, कायकी चेष्टायें हैं वे सब भी जिस योगीको अज्ञान चेष्टायें भासने लगीं। उस योगीका विज्ञान उत्कृष्ट है। किसी क्षण वैराग्य जगे तो पूर्ण तो जग जाये। चाहे दो मिनटको भी मनमें आये कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न हैं, मेरे लिए अहित रूप हैं, मेरा किसीसे कुछ वास्ता नहीं है। इनका सम्बन्ध बनाकर मेरी बरबादी ही है, ऐसा समझकर किसी भी क्षण सर्वपरसे उपेक्षाभाव हो जाये तो समझो कि अपना जीवन सफल है। अन्यथा जीवनमें और किया क्या जा रहा है? परके सम्बन्धमें संकल्प विकल्प करना और उसमें ही अपनी चतुराई समझना, यही तो किया जा रहा है। हालांकि यह बात इस पदवीमें इस स्थितिमें पूर्णरूपसे हट नहीं सकती, पर जहाँ नाना बातों में भावुकता जग जाती है और आग्रह बन जाता है तो दो मिनट तो कभी अपने आपको विविक्त लखने के लिए आग्रह तो हो जाना चाहिए, परन्तु मोहका ऐसा संस्कार इस जीव पर छाया है कि धर्मकी बात आये, धर्म भी करें, परन्तु परका सम्बन्ध एक सेकेण्ड को भी अपने चित्तसे हटाना नहीं चाहते।

रागसे चित्तकी अस्थिरता–लोग कहते हैं कि जहाँ जाप देने लगे, हाथमें माला उठायी, बस पचासों जगह मन भ्रमण करने लगता है और वैसे जापमें न बैठें तो पचासों जगह मन नहीं घूमता। अरे मन पचासों जगह जाये न तो और हो क्या? चित्तमें तो परपदार्थोंकी प्रीति बसी है, उसको तो अपने हृदयसे एक क्षण भी निकालना नहीं चाहते तो पचासों जगह तो मन जायेगा ही। आप सोचते होंगे कि उससे तो अच्छी दूकान है, वहां उपयोग एक दूकानमें ही जम रहा है, अन्यत्र कहीं मन नहीं जाता। अरे उस दूकानमें दूकानके कार्योंकी वजहसे तो बंध हो ही रहा है, साथ ही जितनी वासना बसी है वह भीतरमें अन्तः व्यक्त होकर काम करती है। उससे भी बन्ध चल रहा है। जब सो जाते हैं नींद आ जाती है तो मन क्या काम करता है? उस समय सोने वाले को भी विदित नहीं है और दूसरोंको भी कोई अंदाज नहीं, लेकिन मन क्या भीतर कुछ कर नहीं रहा है? अन्तः व्यक्त उसका कार्य हो रहा है और कभी-कभी तो इस नींद लेने वालेको विदित हो जाता है स्वप्नके रूपमें।

निंद्राके विकल्प–कोई कहे कि भाई धर्म तो शयन करता है, नींद लेना है क्योंकि नींदमें यहां वहांकी बातें तो नहीं आतीं। इससे अच्छा धर्म और क्या होगा? अरे भाई नींद लेनेमें बड़े-बड़े विकल्प हैं। निंद्रा को तो कर्मबन्धका विशेष कारण बताया है। दिनमें कोई-कोई सोये तो उसके तीव्र कर्मबंध बताया है रातको सोने की अपेक्षा। रातका सोना तो ईमानदारीका है, क्योंकि दिन भर खूब काम किया, थक गए, अब रातको नींद ले रहे हैं, यह तो ठीक है किन्तु दिनका सोना महा उजड़पनेका काम है। दिनको तो वही सोते हैं जो प्रायः बेकार हों, फाल्तू हों, तो यह नींद लेना,

सोना कोई निर्विकल्प दशा नहीं है। वहां अव्यक्त किन्तु अन्तःव्यक्त विकल्प चलते रहते हैं। एक तत्वज्ञान ही धर्ममार्गका साधक है, अन्य स्थितियां धर्मपालनमें साधक नहीं हैं।

विचेष्टाओंकी अज्ञानमयिता—जैसे-जैसे उत्तरोतर योगीके विज्ञान बढ़ता जाता है वैसे-ही-वैसे पूर्वके आचरण सब अज्ञान चेष्टायें मालूम होती हैं। खुद पर बात घटा लो, ज्यों-ज्यों तत्वका मर्म विदित होता जाता है त्यों-त्यों अद्भुत आनन्द होता है और जिस प्रवृत्तिमें, जिस चेष्टामें हम धर्म मानते थे, संतुष्ट होते थे उससे उपेक्षा हो जाती है तो जिस योगीको अपनी ये भली क्रियाऐं भी अज्ञान चेष्टाएँ विदित होती हैं, उसके निर्णयमें परके अवगुण कहना। अपने कुछ गुण बखानना ऐसे मोटे दोष तो अज्ञान भरी चेष्टायें हैं ही।

योग्य व्यवहार्यता—भैया! इस जीवनमें कुछ इन शिक्षावोंपर चलो तो उसका आनन्द मिले। पहिली बात तो यह है कि परके अवगुण न बखानना, आलोचना न पड़ना। दूसरी बात तो यह है कि अपना महत्व अपने गुण अपने आप न प्रकट करना चाहिए। यह कल्याणर्थीजनोंकी बात कही जा रही है। बड़ी सूक्ष्मतासे देखो तो कैसे-कैसे बचन और लटका हैं कि जिनमें अपने गुण प्रकट करनेकी बात बसी रहती है। जैसे कोई-कोई कहने लगते कि भाई हममें बहुत बड़ा ऐब यह है कि हम जैसीकी तैसी बात कह डालते हैं, चूकते नहीं हैं। इसमें देखो—सूक्ष्मता से विचारो—अपना गुण अपने आप प्रकट करनेकी बात बसी है। या यों समझो कि सरकार दूकानदारोंको परेशान करनेके लिए अनेक कानून बनाती है, पर दुकानदार अपनी कानून पहिलेसे तैयार रखते हैं, तुम कितने ही कानून बनावो, हम यों बनायेंगे। तो ऐसी ही कितनी ही ऐसी शैलियां होती हैं जिनमें अपने गुण अपने आप प्रकट करनेकी बात बसी होती है।

विचेष्टाओंसे विरत होनेकी आवश्यकता—भैया! अपने चित्तमें ऐसा आशय बनाना चाहिए कि इस मायामयी असार विनश्वर दुनियामें अपना काल्पनिक महत्व स्थापित करके हम कौनसा हित पा लेंगे? ऐसा भीतरमें भाव भर गया हो तो उसकी चेष्टासे कुछ भी प्रकट हो तो भी दोष नहीं, और जिसके भवोंमें विरक्ति नहीं है, जगतकी मायारूपताका निर्णय नहीं है वह कैसा ही बोले, उसमें भरा रहेगा अपना गर्व। जो कुछ ये चेष्टाएँ होती हैं सब अज्ञानमयी हैं ऐसा जानने वाले योगी पुरुषको उत्तरोतर विज्ञान बढ़ना भी निश्चित रहता है।

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखां तरुणायते,
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता।
इति कृतधियः कृच्छारम्भैश्चरन्ति निरन्तरम्,
चितपरिचिते देहेप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः।।२५२।।

ज्ञानी संतोंकी गतस्पृहता—बड़े-बड़े तपस्वियोंके भी आशारूपी बेल की शिखा तरुणकी तरह आचरण करती है। जब तक मनरूपी जलमें ममताकी आर्द्रता बसी हुई है तब तक यह आशारूप

बेल कैसे सूख सकेगी, ऐसा जानकर विवेकी पुरुष अपने इस देहमें भी अत्यन्त उदास रहते हैं। अर्थात् वे देहके संयोगकी वियोगकी कोई वाञ्छा व भीति नहीं करते हैं। जिसने जहाँ अपना दिल लगाया, धुन लगायी, रुचि बनायी वह किसी भी प्रकार अपनी रुचिकी पूर्तिका यत्न करेगा, बाहरी लोगोंका ख्याल, एषणा लगाव ये सब गौण हो जायेंगे। यद्यपि इस शरीरका चिरकालसे परिचय है तो भी मुनिको शरीरसे ममता नहीं है। वह देहसे निष्प्रह है। कैसा विवेक है? जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला एक्सरायंत्र कपड़ा, चमड़ा, रोम, खून, मांस, मज्जा इन सबको छोड़कर भीतरकी हड्डीका फोटो ले लेता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने आपमें आवरण करने वाले अन्य समस्त पदार्थों में न अटक कर अत्यन्त अन्तः पहुंचकर एक उस चैतन्वस्वभावको अपने उपयोगमें ले लेता है। रागद्वेषकर्म इन सबको भी पार करके एक चित्प्रकाश का उपयोग करता है।

अज्ञानीके मरणभीतिका सद्भाव—भैया! अन्तस्तत्वकी धुन जिसकी बन जाती है, ठीक यथार्थ बात ज्ञात हो जाती है उसे मरणका भय नहीं होता। मरणका भय मोही जीवोंको हुआ करता है। इस शरीरसे निकल कर जा रहे इसका डर यहाँ कोई नहीं कर रहा, किन्तु बड़ी मुश्किलसे यह वैभव, कमाया, दूकान बनाया, लड़कोंको पढ़ा लिखाकर अच्छे ओहदों पर लगाया, अब तो जिन्दा रहकर भोग लूटनेका समय था परयह सब कुछ छूट रहा है, इसका क्लेश होता है। जिस ज्ञानी योगीको यथार्थ निर्णय हो जाये, उपेक्षा जगे, पक्की बात समा जाये कि मेरा मेरे सिवाय अन्य तत्व में कुछ नहीं रक्खा है, ऐसा पुरुष मरण समयमें भीति नहीं करता।

ज्ञानीके मरणभीतिका अभाव—भैया! मरणमें क्या है परेशानी? जैसे कोई टूटा फूटा मकान छोड़कर नये महलमें जाये तो वह तो बड़ी उत्सुकतासे जाता है, ऐसे ही वह ज्ञानी इस भवको छोड़कर दूसरे भवमें जाता है तो उसे रंच भी खेद नहीं होता। उसके चित्तमें यह बसा है कि मेरा तो मेरेमें विकास है न कि विनाश। जैसे यहां के सारे आध्यात्मिक ठाठबाट हैं ऐसे ही जहां इस शरीरको छोड़कर जायेंगे वहां भी ऐसे ही आध्यात्मिक समागम मिलेंगे। इस भवको छोड़कर अन्य भवमें जाना मेरे लिए कुछ भी अहितकारक नहीं है ऐसा ज्ञानीपुरुष जानता है। ज्ञानी पुरुष इस शरीरकी भी स्पृहासे रहित हो जाया करते और इसी कारण तो उनकी प्रवृत्ति देखकर मोहीजन अचरज करते हैं। आह! कैसा शरीरको सुखा रहे हैं, कैसे-कैसे उपवास, कैसा मक्खी मच्छरयुक्त जंगलका निवास न जाने क्या धुन समांयी हुई है, इनको बड़ा कष्ट है। यों मोहियोंको आश्चर्य होता है और वे योगीजन खुश होकर इस तपस्यामें लगते हैं। उनको तो निर्मलतामें लाभ दिखता है और मलिनतामें हानि दिखती है। कैसे भी कष्ट आयें, कैसी भी स्थिति गुजरे, पर ज्ञानीपुरुष तो सदा प्रसन्नचित्त रहा करते हैं। उन्हें तो कष्ट सहना मंजूर है पर अपनी निर्मलता जगनेके उपायोंका त्यागना मंजूर नहीं है। यह सब वृत्ति योगी पुरुषमें कैसे जगी है? तत्वज्ञानसे और तत्वज्ञानके कारण उत्पन्न हुए वैराग्यसे।

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेद एक यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा।।२५३।।

विविक्त अन्तस्तत्वका दर्शन–जब क्षीर नीरकी तरह एक रूपसे रहने वाले इस जीव और इस शरीरमें ही भेद पड़ा हुआ है तो प्रकट भेद वाले बाह्य पदार्थोंकी क्या कथा कही जाये? वे तो प्रकट भिन्न ही। स्थूल शरीरसे भी जीवका वियोग हो जाना सो तो सभी लोग जानते हैं, पर तैजस कार्माणरूप सूक्ष्मशरीर का भी इस जीवसे वियोग हो जाता है। मोटे रूपसे इस शरीरको दृष्टिमें निषेध करे। जब यह शरीर भी मेरा नहीं रह पाता तो अन्य भिन्न पदार्थ तो मेरे होंगे ही क्या?

भेदभावना–देखिये अपने आनन्द व संतोषको उत्पन्न करने वाले आप स्वयं हैं। कोई दूसरा आपको शान्ति आनन्द देने न आयेगा। शान्ति आपके ही अनुकूल विशुद्ध परिणमनसे उत्पन्न होगी। उसके लिए चाहिए तत्वज्ञान। देखो जब शरीर ही जीवसे जुदा है तो गृहस्थीके लिए समझ लो कि पुत्र स्त्री इत्यादि तो सभी प्रकट जुदे हैं। साधुजनोंके लिए समझ लो कि संगमें जो शिष्यजन हैं वे सब प्रकट जुदे हैं। शिष्यजनोंमें भी यदि साधुको मोह हो जाये तो वहाँ विशुद्धि नहीं रहती। सो यह मोह तो छोड़ने ही योग्य है। जिस मिनट भी मोह छोड़ो एकदम छोड़ो। श्रद्धा तो समर्थ ही है और जरा उपयोगको उसमें स्थिर कर लो, फिर अपने अन्तरङ्गमें प्रकट होने वाले इस निराकुल विशुद्ध आनन्दका स्वाद लो।

तप्तोऽहं देहसंयोगज्जलं राऽनलसंगभात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः।।२५४।।

कल्याणार्थीका चिन्तन–ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि मैं अब तक देहके संयोगसे ऐसा संतप्त हुआ जैसे अग्निके सन्बंधसे जल संतप्त हो जाता है। जो पुरुष यहाँ देहका परित्याग करके सन्तुष्ट हुए हैं ऐसे ही जिस ढंगसे ममताका त्याग करनेके उपायसे देहको त्यागकर कल्याणार्थी पुरुष शान्त हुए। तुम भी इसी मार्गपर चलकर शान्त होवो।

देहके संयोगसे संतप्ता–जितने भी इस लोकमें क्लेश हैं वे सब इस देहके सम्बंधसे हैं। अपमानका दुःख, अपयसका दुःख, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख, रोग इत्यादिके दुःख ये सब इस शरीरके सम्बंधके कारण हैं। सो यह निर्णय रक्खें कि जब तक देहसे छुटकारा न मिलेगा तब तक अविश्वसनीय हालत रहेगी। किसी भवमें पुण्योदयसे कुछ अच्छा समागम मिल गया तो उससे क्या आत्माका हित हो गया? ये सांसारिक सुख भोगनेके योग्य नहीं हैं। इनका कोई विश्वास भी क्या?

ज्ञानीकी समागमके प्रति दृष्टि–जैसे पहिले लोग बारातोंमें जाते थे तो पुरुष खूब गहने पहिन कर जाते थे। गलेमें गुञ्ज गोप, कमरमें करधनी, हाथमें चूड़ा आदि इनको पहिनते थे। खूब सज धजकर जाते थे। चाहे बूढ़े हों, चाहे जवान। जिनके पास नहीं होते थे वे दूसरोंसे मांगकर पहिन

फिर कोई दुबारा खा लेता है क्या? वह खानेके योग्य नहीं रहती। ऐसे ही यह मोह यदि वमन कर दिया जाये तो फिर यह ग्रहण करनेके योग्य नहीं है। कोई वमन किए हुए मोहको ग्रहण करे तो उस अविवेकी मूढ़ पुरुषकी तरह है जो वमन किये हुए अन्नको पुनः खाये।

महामोहके वमनमें ही श्रेयःसिद्धि–यह महामोह जो हृदयमें स्थित है, भले उपायसे सम्यक्ज्ञानके योगसे इसका वमन किया है जिन्होंने, उनका परलोक विशुद्ध होता है। जैसे औषधिके सम्बंधसे पेटमें ठहरा हुआ अजीर्ण जिसने कैः कर दिया है, वमन कर दिया है उनके रोगकी निवृत्ति हुई है। ऐसा अजीर्ण जो कई दिनोंसे चल रहा है वह विशेष पीड़ा देता है और जो किसी कारणसे आज ही तुरन्त अजीर्ण हुआ है या कोई ऐसी चीज गड़बड़ खानेमें आई है इतनी पीड़ा नहीं देती। कुछ जी मिचलाया, कैः हो गया। जो १०-२० दिनसे अजीर्ण चला आया है, धीरे-धीरे आसक्तिसे पकवान खाये जा रहे हैं, खूब घी की बनी चीजें खा रहे हैं, थोड़ा पेट खराब हो गया फिर भी परवाह नहीं। आसक्तिसे खाते चले जा रहे हैं। तो वह अजीर्ण कई दिनोंका जुड़ जाता है, तो जैसे ऐसे अजीर्ण का वमन करना ही श्रेयस्कर है और वह औषधिके योगसे दूर होता है। ऐसे ही इन विभावोंसे जो अनादिकालकी परम्परासे चले आ रहे हैं, इन विभावोंसे व्याप्त हुए जो कर्मविकार हैं अथवा महामोह हैं, इनको सम्यग्ज्ञानके योगसे, सम्यक उपायसे, भेदविज्ञानसे वमन कर देना चाहिए।

एकैश्वर्यमिहैकताममिमतावप्ति शरीरच्युति,
दुःखं दुष्कृतिनिष्कृति सुखमलं संसारसौख्योज्झनम्।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राण व्ययं पश्यतां,
किं तद्यवन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः।।२५६।।

एकाकित्वमें चक्रवर्तित्वसे भी अधिक ऐश्वर्यका अनुभव–वे योगी संत क्यों दुःखी होंगे जिन्होंने अकेलेपनको ही चक्रवर्तीपना मान लिया है। जैसे कोई मनुष्य बहुत बड़ा राज्य चाहते हैं ना। सोचते हैं कि मैं चक्रवर्ती हो जाऊँ तो फिर क्या है? सबसे उत्कृष्ट हो जाऊँगा, और फिर हमारे आगे कुछ विपत्ति, कुछ हीनता न रहेगी। तो चक्रवर्ती होनेको लोग बड़ा मानते हैं, पर उन योगी संतोकी बुद्धि तो देखो कि वे अकेले रहनेमें ही चक्रवर्ती जैसा आनन्द समझते हैं। इन योगीजनोंको वनमें भी अकेले रहनेमें आनन्द है।

साधु संतोंको प्रभुमिलनका अपूर्व अवसर–देहसे अकेला रहते हुए भी साधुसंतोंकी निगाहमें दो ऐसे परमशरण बने रहते हैं कि जिनसे बातचीतमें ऐसा समय निकल जाता है कि कुछ पता ही नहीं रहता। वे दो इनके साथ हैं, इन पर छाया किये हुए हैं। ये अकेले नहीं रहते, लेकिन लोगोंको लग रहा है कि ये अकेले रह रहे हैं। वे दो कौन हैं जिनकी छाया बनी रहती है इन एकाकी रहने वाले योगी पुरुषों पर? वे दो हैं बाहरका प्रभु और अन्तरका प्रभु। इन दो के साथ वे रह रहे हैं इसलिए निराकुल रहते हैं। बाह्य प्रभु अरहंत परमात्मा निकल परमात्मा शुद्ध केवलज्ञानी, रागद्वेष

रहित निर्दोष चित्प्रकाशघन प्रभु उनकी दृष्टिमें हैं। उस एकाकी निवासके भीतर समय-समय पर गदगद होकर प्रभुसे उनका मिलाप होता रहता है। तब जो आनन्द उन योगिराजोंको मिलता है उसकी मिशाल चक्रवर्तीसे भी क्या दी जा सकती है? ६ खण्डके जड़ पुद्गल सामने आ गये तो उससे इस आत्मामें कौनसा अन्तर आ जायेगा, कौनसी सुख शान्ति मिल जायेगी? और जब इस ही सम्यक् योगसे अपने अन्दरके प्रभुकी सुध होती है और वह सुध होती है ज्ञानानुभवरूपमें, और तरह की सुधका नाम सुध नहीं है। ज्ञानानुभूति के उपायसे जब निज प्रभुकी सुध होती है उस समय तो उसकी दृष्टिमें अन्य कुछ बात ही नहीं है। केवल एक विशुद्ध आनन्दस्वरूप अनुभवन बना रहता है। ऐसा जिन्होंने अकेला बना रहनेको चक्रवर्तीपना मान लिया है अब उनको दुःख काहेका? वे तो सुखी ही हैं। लोकमें लोग इसको दुःख मानते हैं कि अभी हम माता-पिता वाले हैं, स्त्री-पुत्रवाले हैं, सब ठाठ है और रह जायें कभी अकेला या सर्वका वियोग हो जाये और वियोग होना तो अवश्यंभावी है, कभी हो, तो इस कल्पनामें लोग बड़ा दुःख अनुभव करते हैं। अकेले रह गए और जो बड़े-बड़े संत हैं, योगी हैं, पुण्य आत्मा हैं, धर्मात्मा हैं, वे तो अकेले रहनेको चक्रवर्तीकी तरह मानते हैं।

शरीरविनाशमें और दुःखमें अभिमतसिद्धि मानने वाले संत—जो पुरुष इस एकाकी रहने रूप ऐश्वर्यको एक बहुत बड़ी चर्कवर्ती जैसी सिद्धि समझते हैं और शरीरके विनाशको मनोवाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति मानते हैं लो, कोई अब इनका क्या कर लेगा? कहते हैं ना कि जब किसी सुदृढ़ स्थितिमें हो जाये तो क्या उसको कोई पटा लेगा? उसके कोई रोम भी तो नहीं उखाड़ सकता। हम तो इतनी दृढ़ स्थितिमें हैं। जिन्होंने ज्ञानबलसे अपने आपमें ऐसी साधना की है कि अकेले रहनेमें उन्हें आनन्द आता है और शरीरका विनाश होता हो तो उसमें किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो रही है, ऐसा समझते हैं। तो वे सुखी क्यों न होंगे? तो वे साधु सत्य ही सुखी हैं और सुन लीजिए। दुःख आये तो उसे मानते हैं कि हमारे दुष्कर्मकी निर्जरा हुई है, हम भाररहित हो रहे हैं, कर्जा चुका रहे हैं, इस प्रकार जो अपनेको निर्भार समझते हैं दुःख आने पर वे क्यों न सुखी होंगे?

सांसारिक सुख त्यागमें सुख मानने वालोंके सुखकी निःसन्देहता—जो संसारके सुखोंका त्याग कर देनेमें सुख समझते हैं वे विवेकीजन हैं। जिनके कल्पनावोंका आश्रय दूर हो गया उन्हें विकल्पोंसे रहित होनेका मौका मिल गया। यों सुनकर तो कहो कोई-कोई गाली दे दे कि यह तो तुम असगुनकी बात करते हो। अरे असगुन क्या है? और सगुन क्या है? जिसमें अपने आत्माकी सुध हो वह तो सगुन है और जिसमें आत्माकी सुध न हो वह असगुन है। तभी तो रास्तेमें कोई मुर्दा दिख जाये तो उसे सगुन माना है, क्योंकि उसको देखकर अपने आत्माको कुछ सुध तो होती ही है। कोई जलसे भरा हुआ घड़ा लिए जा रहा हो तो लोग उसे सगुन मानते हैं। वह सगुन किस बातका है? वह जलयुक्त घड़ा इस बात को सूचित करता है कि जैसे इसके भीतर जल ठसाठस

भरा है, धन है, ऐसे ही यह आत्मा ज्ञान और आनन्दसे ठसाठस भरा हुआ है,सधन है। इस बातको सूचित करता है वह जलयुक्त घड़ा तब उसे सगुन माना गया है। सांसारिक सुख त्याग तो सगुन है। सांसारिक सुखके त्यागमें सुख मानने वालोंको कहां दुःख है?

परसंयचको प्राणत्याग मानने वालोंके आनन्दकी निःसन्देहता–जिन्होंने सांसारिक सुखोंके त्यागमें सुख माना है और सर्वत्याग हो जाये तो उसका समारोह मनाते हैं और परवस्तुवोंके संग्रहको प्राणत्याग समझते हैं ऐसी दृष्टि जिनकी है उनको ऐसा कौनसा पदार्थ है जो सुखमें निमित्त न होगा? वही चीज दृष्टिके बदलनेपर सुखका कारण हो जाती। इस कारण साधुमहाराज सदा सुखी ही रहते हैं यह बात पूर्ण सत्य है।

आकृष्योग्रतपोवलैरुदयगोपुच्छं यदा नीयते,
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोरिः त्वयं,
वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः।।२५७।।

क्लेशमें भी आनन्दधामकी दृष्टि–साधुजन अन्तरङ्ग ज्ञानरूप तपश्चरणके द्वारा आगेकी स्थितिमें पड़े हुए कर्मोंको खींचकर बहुत उदयमें लाकर खिराया करते हैं, तब हे साधु! यदि कोई कर्म स्वयं ही उदयमें आये हो तो उसमें खेद काहेका? कर्म उदयमें आते हैं खिरनेके लिए। कोई पूर्वभवका पाप कर्म उदयमें आया है जिससे कोई उपसर्ग व्याधि उपद्रव हो रहे हो ऐसी स्थितिके लिये आचार्यदेव समझा रहे हैं कि देखो ये कर्म जो तपश्चरण करके पाप उदयमें लाकर खिरानेको थे अथवा संतजन खिराया करते हैं वे कर्म यदि स्वयं ही उदयमें आ गये तो इसमें खेद की क्या बात है? जैसे किसी शत्रुको जीतनेकी इच्छा हो तो चाहता तो यह नहीं कि यह राजा स्वयं उस शत्रु राजा पर आक्रमण करे और उसे जीते। यदि कदाचित् वही शत्रु दुर्वृत्तिसे स्वयं ही इससे लड़नेको आया है तो वह राजा सोचता है कि जिसको जीतनेके लिए हमें जाना था वह स्वयं ही आ गया है तो यह तो सुगमताकी ही बात हुई। ऐसे ही जो कर्म तपश्चरणसे पहिले उदयमें लाकर पूर्व स्थितिमें लाकर खिरने चाहिए थे वे कर्म यदि स्वयं खिरनेके लिये आये हैं तो हे साधु! तू इसमें खेद नेमत कर, प्रसन्नताका अनुभव कर।

प्रकृतिस्थितिक्षरण–कर्मोंके खिरनेकी पद्धति ऐसी होती है कि जैसे आगामी कालकी स्थिति जिनके पड़ी है वे कर्म सारे नहीं किन्तु उनमेंसे कुछ निषेकवर्गणायें निकलकर छोटी स्थिति वाले निषेकोंमें मिल जाया करते हैं। कुछ निकलना नहीं है। आत्मामें जहाँ कर्म पड़े हैं, केवल एक उन कर्मोंमें स्थिति घात हो जाता है। जीव तो अपने निर्मल परिणाम करता है। अनेको जीवोंको तो खबर भी नहीं रहती कि मैं क्या कर रहा हूं और कर्म कैसे खिर रहे हैं। ये साधुजन तो अपने निर्मल परिणामके अनुभवमें रहते हैं। कर्म स्वयं अपने आप उथल-पुथल मचाकर अपनी स्थितिसे निषेकोंमें

मिलकर खिर जाया करते हैं। किसी विपदामें उपसर्गमें आये हुए मुनिका कर्तव्य है कि वह ऐसा जानकर संतोष करे कि जो काम मुझे तपस्यासे करना था वह स्वयमेव ही हो रहा है।

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वं सहत्वात्,
भ्रान्त्याऽचिन्त्याः सहाय तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जा।
सज्जीभूताःस्यकायें तदपगमविधि बद्धपल्यङ्कबन्धाः,
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः।।२५८।।

नृसिंहोंका एकान्तनिवास—नरसिंह पुरुष अर्थात् मनुष्योंमें श्रेष्ठ साधुजन कैसे एकान्तमें रत रहकर प्रसन्न रहा करते हैं, उन साधुजनोंका नाम है। नरसिंह अथवा नृसिंह। सिंहका अर्थ सिंह पशु नहीं है। सिंहका अर्थ है श्रेष्ठ। जैसे कुछ लोग सिंहासनका अर्थ समझते हैं सिंहका आसन। सो जब वे सिंहासन बनाते हैं तो उसमें सिंहका चित्र बनाते हैं। किन्तु सिंहका अर्थ है श्रेष्ठ। वे नरश्रेष्ठ पुरुष गहन वनमें एकान्तस्थानमें ठहरकर आत्मस्वरूपका ध्यान करते हैं। जितना अधिक एकाकित्व मिले और अकेले रहनेमें मन लग जाये, प्रसन्नता रहे, ऐसी स्थिति बन जायें तो यह उसके बहुत अच्छे भवितव्यकी बात है।

एकाकित्वके उत्साहहीनोंकी उन्नतिका अनवसर—जो लोग इतने कातर हैं कि अकेले मन नहीं लगता, दूसरा तीसरा बात करनेको हो, न हो कोई घरमें तो एक कुत्ता ही पाल लेते हैं, वह बैठा रहे, मन तो लगेगा। कितने ही लोग इसीलिए कुत्ता पालते हैं कि मन लगा रहेगा। और उसे अपने पलंगरपर बैठाते, अपने शिरपर चढ़ा लेते, ऐसा प्रेम दिखाते जैसे कोई बन्धुवोंसे प्रेम दिखाते हैं। अकेले रहनेमें जिसका मन नहीं लग सकता वह मोक्षमार्गमें क्या चलेगा? वह मोक्षमार्गमें अनुत्साही जीव है, प्रेमत्त जीव है। अपनेको ऐसा ज्ञानमें डालना चाहिए कि अकेले रहनेमें मन लग जाये। जीवनमें अनेक विचित्र परिस्थितयाँ आती हैं। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है। जिसका भी संयोग हुआ है पूर्ण निश्चित है कि उनका वियोग नियमसे होगा, कभी हो, किसी प्रकार हो। तो वियोगके कालमें संतोष और समता वही धारण कर सकता है जिसने अकेले रहनेमें संतोष और शान्ति पानेका अभ्यास किया है, यह खास बात है।

एकाकित्वके अभ्यासकी आवश्कता—अपने जीवनमें शान्ति और धर्मविकास उत्पन्न करनेके लिए यह आवश्यक है कि एकाकी रहनेमें चित्त लग जाये और अकेले रहनेमें चित्त लगे, इसका उपाय यही है कि पहिले तो दूसरेके बिना मन न लगता हो तो इस ही निजमें एक दूसरा बना लेवे। कहने वाला एक वही और इसीको कहने लगे। जैसे कोई अपने आपको ही शिक्षा दिया करता है—अब तुम क्या करोगे, तुम्हें क्या करना है? तो यही मैं और तुम दोनों बन जायें। इन दोनोंमें कहने वाला उपयोग और जिसकी कहा जाये वह है चैतन्यस्वभाव। बस दो बन गए। अब मन क्यों न लगे? कहने वाला है उपयोग और कहा जा रहा है चिद्ब्रह्मसे। और जब कुछ अकेले

रहनेका अभ्यास बन जाये तो यह मैं तू भी खत्म कर दे। इस अखण्ड आत्मामें रत होकर इस द्विविधाको मिटा दे और खुदमें समाता हुआ। आनन्दका अनुभव किया करे। वे मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञानी संतजन एकान्तस्थानमें ठहर करके आत्मस्वरूपका ध्यान करते हैं। जिन्होंने मोहका नाश किया है, अकेले रहने की जिनकी प्रतिज्ञा है, सर्व कुछ साधन छोड़कर जो समस्त परिषहोंको सहन करते हैं, ऐसे नृसिंह पुरुष आत्मस्वरूपके ध्यानमें सफल हुआ करते हैं।

एकाकित्वके अभावमें क्षोभ—भैया! जितना अकेलेकी ओर झुका जाय उतना सन्तोष और आनन्द है और जितना किसी दूसरेकी ओर झुका जाये, चाहे वे आपके घरके बंधे हुए ही लोग हों, स्त्री हो या पुत्र हो, पर जैसी पद्धति है, जो स्वभाव है वह जायेगा कहाँ? यह उपयोग किसी दूसरे जीवकी ओर झुकता है तो झुकते हुए क्षोभ उत्पन्न होता है, और फिर वे दूसरे जीव आपकी इच्छाके अनुकूल न परिणमें तो फिर उससे आपको और भी अधिक क्लेश पहुंचता है। प्रथम तो किसकी ओर यह चित्त झुके वह आपके सर्वप्रकारसे निमित्त हो तो भी चूँकि उपयोग अपने अभिन्न आधार निजस्थानको छोड़कर किसी परकी ओर गया तो इस पद्धतिमें ही क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानी संतपुरुष एकाकी रहकर आत्मध्यान किया करते हैं।

नृसिंहोकी निःस्पृहता—ये नृसिंह जिनकी महिमा अचिन्त्य है, कभी थोड़ा ऐसा भी निरख लेते हैं कि यह शरीर हमारे संयमका साधक बन रहा है। बल है, स्वच्छ मन है, आत्माकी ओर चित्त एकाग्र हो जाता है, तपश्चरण भी कर रहे हैं, यह शरीर हमारे संयममें साधक हो रहा है ऐसा जाने और थोड़ी ही देर बाद और आगे इस देहमें उपयोग गया, यह जड़ शरीर कैसे मेरे हितका साधक है, ऐसा जानकर तुरन्त सलज्ज हो जाते हैं, कितनी स्वच्छ स्थिति है इन साधु संतोंकी? ये सब काम अपने आपमें अकेलेमें कर रहे हैं। कैसी चित्तवृति बनी है, कैसा शरीर से भी निष्पृह है और शरीरसे कितना वे काम लिया करते हैं, इन दोनों बातोंका इस योगमें मिश्रण हो गया है। इस शरीरसे तपस्याका बहुत काम लेते हैं और काम लेते हुए थोड़ा चित्त इस ओर गया कि इस शरीर का सदुपयोग कर रहे हैं, यह हमारे संयम का साधक हो रहा है, विचार पूरी तरहसे कर भी न पाया कि तुरन्त अरे यह जड़ शरीर, इसके प्रति मेरा ऐसा विचारहो रहा है, यह मेरा क्या सहाई है, यों विचार कर कुछ लज्जित होकर फिर शरीरसे स्पृहा त्यागकर अपने कार्यमें उद्यमी होते हैं।

छेदो स्थापनाके स्वरूपविषयक एक जिज्ञासा—यही काम करने को तो पड़ा है साधुवोंको आत्मचिन्तन करना, योग्य विचार बनाना और थोड़ा सा चिगे फिर अपने आपकी ओर लग जाते हैं। संयममार्गणमें दो संयम है—सामायिक और छेदोपस्थापना। सामायिकका अर्थ लोग लगाते हैं अपने संयममें संतुष्ट रहना, समताभाव धारण करना और छेदापस्थापना का यह अर्थ है कि किसी ब्रतमें कोई दोष लग जाये तो प्रायश्चित लेकिन फिर पहिलेकी तरह इस निर्दोष संयममें लग जाना, ऐसा अर्थ लोग प्रसिद्ध करते हैं, यह भी मोटे रूपसे है एक सीधे अर्थसे सम्बन्ध रखनेके कारण,

पर इन दोनोंका सही मर्म क्या है? क्या ७वें, ८वें, ९वें गुणस्थानमें व्रत भंग हुआ करता है? क्या वहाँ फिर प्रायश्चित लेकर उसमें लगा करते हैं? यदि श्रेणियोंमें ऐसा न करें तो छेदोपस्थापना फिर श्रेणीमें न कहना चाहिए। ९वें गुणस्थान तक छेदोपस्थापना कहने का मर्म क्या है? उसका जो एक स्थूल अर्थ किया है उसका काम तो छठे गुणस्थानमें है। व्रत भंग हुआ, प्रायश्चित लिया, फिर उसमें लग गये।

सामायिक व छेदोपस्थापनाका अन्तर्योग—ये सामायिक और छेदोस्थापना ऐसे सहयोगी हैं इनकी वृति जल्दी-जल्दी अदल-बदल होती रहती है ये सामायिक छेदोपस्थापना ९वें गुणस्थान तक चलते हैं। किस तरह? एक निर्विकल्प भावमें थोड़ी देरको रहे कि कोई विकल्प उत्पन्न हो गया, फिर निर्विकल्पमें आये तो कई प्रकारका भेद विकल्प उत्पन्न होनेके बाद फिर उस निर्विकल्प स्थितिमें पहुंचना—इसका नाम छेदोपस्थापना है, और यह बात ९वें गुणस्थान तक होती रहती है। यद्यपि मोटे रूपसे विकल्प ८वें गुणस्थानमें भी नहीं है जिन्हें विकल्प लगा, समझ लो कि वे समता से चिग गए हैं, फिर समतामें लगें इतना भी विकल्पोंका अवकाश नहीं है, किन्तु वहाँ स्वयमेव ही ऐसा हो रहा है कि अभी निर्विकल्पताकी स्थिति है और किसी प्रकारका अव्यक्त विकल्प होने पर फिर निर्विकल्पमें आ गये। भेदविकल्प उत्पन्न होने पर फिर निर्विकल्पमें लगनेका नाम छेदोपस्थापना है।

साधुजनोंकी अर्न्तदृष्टि—जहाँ आत्मरतिके लिये आत्मवृत्ति जग रही हो ऐसे साधु संतोंको शरीरमें दृष्टि लगे, यह तो उनके लिए लज्जाकी बात है, और कदाचित् ऐसा विकल्प बने तो इस बात पर वे खेदखिन्न हो जाते हैं, मैं क्या सोच रहा हूं, यह शरीर कहाँ मेरे संयमका साधक है, यह जड़ क्या साधक है? मेरा भाव ही संयमका साधक है, ऐसा जानकर फिर वे अपने कार्यमें लग जाते हैं? काम सब लिया जा रहा है शरीरसे, पर झुकाव, प्रोग्राम चर्या ये सब अपने आपके आत्मामें हो रहे हैं। जैसे कोई पुरुष किसी विरोधीके द्वारा कोई अपवाद उठाया जाने पर उसकी भी उपेक्षा करता है, मानो इसको पढ़ा ही नहीं, सुना ही नहीं। यदि वे किसीके आक्षेपका उत्तर देने लगें तो इससे यह साबित हो जाता है कि दूसरेका आक्षेप कुछ बलशाली है। ऐसे ही ये साधु संतजन शरीर साधक हैं, सहाई हैं। धर्मका साधक है इन बातोंमें नहीं पड़ते। इन बातोंमें पड़ने का अर्थ यह हो जायेगा कि सचमुच इस शरीरका बड़ा मूल्य है। काम हो रहा है, वही पर एक अन्तर्दृष्टिकी बात है।

साधुओंकी विविक्तत्वमति—ये साधु पद्मासनसे निश्चल बैठकर निजस्वरूप ध्यान कर रहे हैं। शरीरसे यह मैं आत्मा कैसे रहित हो जाऊँ इस विधिका उनके विचार चला करता है। मुझे शरीर न चाहिए, शरीर मेरे उदयमें न आये। मैं तो अपने स्वरूपमें स्वयं जैसा हूं उस रूपमें रहना चाहता हूं। मैं मुझे किसी अन्य परतत्वोंसे प्रयोजन नहीं है, ऐसा जिनका चिन्तन है और इस शरीरमें अनास्था करके शरीरके छोड़नेके उद्यमी हैं ऐसे साधु संत पुरुष एकाकी निर्जन बनमें रहकर आत्माका ध्यान किया करते हैं।

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजाः स्थानं शिलायास्तलं,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनम्।
आत्मात्मीय विकल्पवोतमतयस्त्र्युट्टतमोग्रन्थ्य–
स्ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निःस्पृहाः।।२५९।।

साधुवोंका श्रृङ्गार व स्थान–ऐसे साधुजन जिनकी मुक्तिकी वाञ्छा लगी है वे अन्य समस्त परभावोंकी स्पृहासे रहित हैं। ज्ञान ही जिनका धन है अथवा जो ज्ञानधनसे परिपूर्ण हैं ऐसे साधुजन मेरे मनको पवित्र करें। ये साधु पुरुष कैसे हैं? इनका भूषण इनका गहना इनका श्रृङ्गार शरीरमें लगी हुई धूल है। साधुवोंको स्नान वर्जित है और उनके शरीरपर बहुत मल चढ़ जाता है। धूलसे लिपट गये, पर ऐसा धूल भरा शरीर साधुवोंका श्रृङ्गार है। लोगोंकी दृष्टिमें इस भूषणसे उनका बड़ा महत्व जंचता है। इन साधु पुरुषोंका स्थान है शिलाके नीचेका भाग, वे साधुजन उन झुकावों में विराजते हैं, वही उनकी बैठक है, जैसे कि गृहस्थ लोग अपनी बैठक बनवाकर रहा करते हैं साधु पुरुषोंका शय्यास्थान है कंकरीली पथरीली जमीन। जैसे गृहस्थ लोगोंका शय्यास्थान पलंग है ऐसे ही साधुजनोंका शय्यास्थान कंकरीली भूमि है।

साधुवोंका गृह–साधु संतोंका घर हैं वे गुफायें जिनके निकट क्रूर हिंसक जानवर भी विचरा करते हैं। देखिये वे साधुजन निर्भय हैं। शायद ही सैकड़ों मुनियोंमें एक मुनि कभी किसी सिंह द्वारा खा लिया जाता हो, पर प्रायः ९९ प्रतिशत मुनि सुरक्षित रहते हैं। उन साधुजनोंकी शान्ति और उनके रहनसहनको निरखकर वे सिंहादिक क्रूर जानवर भी उनके भक्त बन जाते हैं, अथवा उनके परिजन जैसे बन जाते हैं। मन तो उन जानवरोंके भी हैं। तो जिन साधु संतोंका घर क्रूर पशुवोंसे घिरी हुई गुफा आदिक हैं ऐसे संत पुरुष परके प्रति ममता बुद्धिसे रहित हैं। ये शरीरादिक मेरे हैं और मैं इनका हूं, ऐसे विकल्पोंका जहां अवकाश ही नहीं है। जिनकी अज्ञानरूपी गांठ टूट गयी है, जो ज्ञानप्रकाशसे सदा प्रभुदित रहा करते हैं ऐसे साधुजन मेरे मनको पवित्र करो। अर्थात् उन साधुवोंके गुणोंका मेरे उपयोगमें निवास रहे, जिनके स्मरणसे, जिनके चिन्तनसे हम अपने मनको पवित्र बनाये रहें।

निर्मलसंगतिसे निर्मलताका अभ्युदय–भैया! मनमें मोही जीव बसेंगे तो मन मलिन होता है और मनमें निर्मल निर्मोह साधुसंतोंके गुणोंका स्वरूप बसा रहेगा तो यह मन उज्जवल रहेगा। मनकी मलिनतासे इस जीवको कोई लाभ नहीं होता और मनकी स्वच्छतासे जो वृत्ति बनती है उसका नाम स्वस्थ है। और उस स्वस्थतामें प्रसन्नता है। ही प्रसन्नताका भी अर्थ निराकुलता है। लोग पूछते हैं कि कहो भाई आपका स्वास्थ्य कैसा है? तो वह उत्तर उल्टा देता है कि हमारी तबियत ठीक है। वे पूछ रहे है तुम आत्मामें ठहरते हो कि नहीं? तो यह उत्तर देता है कि इस जड़ शरीरमें लगे रहते हैं। कोई पूछता है कि कहो भाई आप प्रसन्न तो हैं? तो वह उत्तर देता है, हां खूब

प्रसन्नता है, लड़के बच्चे सब अच्छे हैं। लो उसने तो पूछा कि तुम्हारेमें निर्मलता है? वह उत्तर देता है उल्टा—मैं खूब मोहमें लिपटा रहता हूं। अरे मनमें निर्मोह साधुसंतोंके गुण बसें तो मन पवित्र होगा। ऐसी भावना करें—गुणीजनोंको देखकर मेरे चित्तमें अनुराग उमड़ आये। जो साधु संतजन निर्मोह बनकर गुफाओं कंदरावोंमें निवास करते हैं उनके स्मरणमें मन उज्ज्वल तथा मनमें ही वास्तविक आनन्द प्रकट होता है।

दूरारूढतपोऽनुभावजनिज्योतिःसमुत्सर्पणै:—
रन्तस्तत्वमदःकथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गतः।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनरापीयमाना वने,
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैधीराश्चिरं वासरान्।।२६०।।

साधुवोंकी दृढ़ता—जिनके सातिशय तपश्चरणके प्रभावसे ज्ञानज्योति विकसित हुई है इस विकसित ज्ञानज्योतिसे ये साधुजन अपने आत्मतत्व को कैसे न प्राप्त होंगे? इस आत्मतत्वको पाकर वे योगी आनन्दमग्न रहा करते हैं, शुद्ध सहजविश्रामको प्राप्त करते हैं। कैसी परमविश्रांति है उनके कि यह अन्तरङ्ग शान्त परिणाम बाहर भी विकसित हो गया है। जिसको निरखकर जंगलके हिरण पशु बड़ा विश्वास पाकर उनके निकट निर्भय बैठे रहा करते हैं। और कभी-कभी तो उन साधुवोंको एक ठूठ अथवा पत्थर जैसा मानकर हिरण अपनी खाज भी खुजाने लगते हैं। ऐसे साधु पुरुषोंको एकाकी निवाससे प्रेम है।

साधुवोंकी उपेक्षावृत्ति—जो आत्मकल्याणार्थी पुरुष हैं वे नियमसे एक अपने अकेलेपनकी रुचि रखा करते हैं। कभी-कभी परिस्थितिवश किसी अन्यसे बोलना पड़ता है, पर बोलते हुए भी वे वहां बोलते नहीं हैं। परिस्थितियोंमें यत्र-तत्र जाना पड़ता है पर जाते हुए भी ये अध्यात्म योगी संत कहीं नहीं जा रहे हैं। वे अन्य पदार्थोंको देखते भी हैं पर देखने पर भी किन्हीं वस्तुवोंको नहीं देखते हैं, ऐसे एकाकित्वकी रुचि जग जाती है कल्याणार्थी पुरुषोंमें। धन्य हैं वे, जो अपने स्वरूपमें मग्न होकर परमशान्त दशाको प्राप्त हुए हैं। वनके जीव भी ऐसे संतोंसे भय नहीं करते हैं।

महापुरुषोंका अन्तिम कार्य—देखो भैया! बड़े-बड़े महापुरुषोंने बड़ी-बड़ी संपदावोंको त्यागकर अन्तमें अपने आपके स्वरूपका शरण ग्रहण किया है। जो बुद्धि अन्तमें होती है वह बुद्धि परिष्कृत होती है। जैसे व्यापारके सम्बन्धमें या किसी भी व्यवस्थाके सम्बन्धमें जब बहुत दिन गुजर जाते हैं और अनेक उपाय, अनके कार्य, यह इतना कमजोर है, यह ठीक है इन सब घटनावोंके गुजरनेके बाद जो अन्तिम अनुभव होता है वह उस सम्बन्धमें परिष्कृत अनुभव है, ऐसे ही एक महापुरुषके जीवनमें बचपनमें क्या घटना हुई? युवावस्थामें क्या घटना हुई और अन्तमें सब में लग-लगकर भी सबको अलग करना पड़ा। जो अन्तिम बुद्धि होती है वह सारभूत बुद्धि मानी जाती है। महापुरुष खेले कूदे भी होंगे अपने बचपनमें और उन्होंने अपने बलके समयमें बड़े-बड़े पराक्रम भी किये हैं,

साम्राज्य भोगे हैं, देशपर हुकूमत भी जमायी है, बड़े-बड़े वैभवोंके सुख भी भोगे हैं पर आखिर समग्र समागम पर हैं, अतः उनसे शान्ति उन्हें कहां मिल सकी थी और अन्तमें वे सम्यग्ज्ञानके प्रकाशमें यही निर्णय कर गये और ऐसा ही प्रयत्न किया। उन्होंने सर्वका परिहार करके एक अपनी आत्मसाधनामें धुन लगायी।

हितकर्तव्यकी भावना–जो कृत्य मुनि करते हैं उस कार्यसे प्रेम हो तो उस श्रावकका नाम श्रावक है। कर नहीं सकते, परिस्थिति अन्य है यह बात तो दूसरी है, पर मुनिके करने योग्य कामकी रुचि न हो गृहस्थावस्था में तो उसको उपासक नहीं कहा गया है। वास्तविक मायनेमें उसे श्रावक नहीं कहा गया है अथवा किसी ने भी किया यह तो एक कल्याणकी बात है।

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं,
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शप्तधनैर्वाढं बहिर्व्याप्तय–
स्तेषां नोत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोज्झिताः पांशवः।।२६१।।

साधुजनोंका अभिनन्द–जिनकी बुद्धि आशा और अन्तस्तत्व, इनके अन्तरमें बहुत गम्भीरतासे प्रवेश कर चुकी है अर्थात् विभाव और स्वभावका अन्तर जिनकी बुद्धिमें अति स्पष्ट हो गया है वे सत्पुरुष अथवा उनके चरणकमल हम लोगोंको पवित्र करें। यह बात गुणभद्रस्वामी आचार्यदेव कह रहे हैं। और इस ग्रन्थमें इससे पहिले बहुत-बहुत वर्णन सुना होगा, जिसमें ऐसा लगता है कि उनके सम्बोधनके रूपसे साधुवोंको उनकी हीन क्रियावों पर जगह-जगह लथेड़ा है। उन्हें जैसा चाहे कहा है। अब जैसे ग्रन्थकी आदिमें साधुजनोंको अभिनन्द किया था, ऐसे ही अब ग्रन्थ समाप्तिके समयमें साधुपुरुषोंका बड़ा गुणानुराग अभिनन्दन और अपना भाव प्रदर्शन कर रहे हैं। बीचका वह सारा कथन भी बड़ी हित भरी दृष्टिसे था, तभी तो सर्वप्रकार सत्संग सेवा करके अन्तमें साधुजनों से इतना विनम्र विनय कर रहे हैं। ये आचार्यदेव कि उनका धन्यवाद उनके चरणकमलकी धूलसे अपने आपको पवित्र मानें, ये सब बातें अब कही जा रही हैं।

भेदविज्ञानी संतोंकी शान्तिवृति–विभाव और आत्मतत्वका भेद अलख है अथवा साधारण जीव इस विभाव और स्वभावका भेद नहीं कर सकता है। उनका भेद इन संतोंके नितान्त स्पष्ट हो गया है। इन संत पुरुषोंका शान्त परिणाम ही धन है। बाह्य पदार्थोंमें जिनकी चित्तवृत्ति पहिले दौड़ा करती थी, अब अपने अंतरङ्गमें ही जिनकी चित्तवृत्ति जगी है ऐसे साधुसंतोंके चरण कमलकी परमरज इस लोकमें किस को पवित्र नहीं करती? सब ही को पवित्र करती है। हम तुम सबको भी पवित्र करे। जहाँ परिणामोंमें प्रसन्नता है, चित्तमें प्रासाद है, कितने भाव शान्त हो रहे हैं, निर्विकार निज ज्ञायक स्वरूपके अनुभवके लिए उमंग जग रही है ऐसी स्थिति जिनके सत्संगसे जिनके चरणों का सेवासे प्राप्त होती है उन पुरुषोंका कितना आभार मुमुक्षु मानते हैं उसकी कोई मिसाल लोकमें

हो नहीं सकती। इस जगतमें जो जिसका जो कुछ उपयोग करता है वह सब एक मायापूर्ण है, किन्तु संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटा देनेका उपाय जिन संतोंके उपदेशसे प्राप्त होता है उनके प्रति एक-एक सत्य पुरुष कितना बहुविनयसे झुक जाता है। ऐसा सद्विनय अन्यत्र कहाँ हो सकता है?

संतोंकी निर्मल चर्या–जड़ और चेतनका अनादिकालसे परम्परा सम्बन्ध है। यह देह और जीव, कर्म और जीव एकसे होकर मिल रहे हैं। जो इन दोनोंमें भेदविज्ञान करते हैं वे महापुरुष हैं और वे जड़ पदार्थोंसे निर्ममत्व होकर जगतकी आशाका परित्याग करके एक अपने आपमें सहज विश्राम लेते हैं, जो ऐसे हुए हैं उनके चरणकमलकी रज जीवको पवित्र करती है। अब इसी पंचमकालमें जो आचार्य महोदय हुए हैं, जिनमें कुछ प्रधान ऋषिराज, समंतभद्र, अकलंक, विद्यानन्दी, जिनसेन इन सबके कुछ चरित्रकोसुनो तो यह उपयोग गृह मायाजालमें जो आसक्त होकर फँस रहा है उस उपयोगमें प्रकाश आ जायेगा और मालूम होगा कि हमें अपना नेह किस ओर लगाना चाहिए।

संमतभद्राचार्यका आन्तरिक वैशद्य–समंतभद्रस्वामीका ज्ञान कितना निर्मल है कि इसे बतानेको कोई शब्द नहीं हैं। उनकी कृतियोंको पढ़ने वाले उनकी कृतियोंके जानकार ज्यों-ज्यों अधिक होते जाते हैं त्यों-त्यों उनकी गहराई उन्हें विदित होती है। जिनके आप्तमीमांसा जैसी बड़ी दार्शनिक कृतियां उनके ज्ञानका अंदाज कराती हैं और वे चारित्रके ऐसे निर्मल कि जिस समय उनके भस्मव्याधि होने लगी, बहुत खायें और घंटेभरमें पच जाये, बहुत व्याधि हुई उस समय उन्होंने समाधि ग्रहण करनेकी प्रार्थना अपने गुरूसे की। उस समय सब ऋषि संतोंकी निगाह एक समंतभद्रको आज्ञा दी कि तुम जिस किसी भी प्रकार बनकर भस्मव्याधि मेटो। तुम्हें समाधि न दी जायेगी। तुमसा ज्ञानी तुमसा समर्थ यहाँ और कौन है। इस आज्ञाको सुनकर समंतभद्रपर क्या बीती, सो उन्हें अभीष्ट न था उसे भी उन्हें करना पड़ा। भस्मव्याधि किसी प्रकार मिटे। बड़े पुरुष किसी भी स्थितिमें जायें वहाँ भी चमत्कार दिखा देते हैं। मुनिपद छोड़कर खूब खाया पिया तब उनकी व्याधि मिटी। अन्तमें जब उन्हें दोष लगाया राजाने तो यह हुकुम दिया कि तुम्हें हमारे देवको नमस्कार करना होगा। पर समंदभद्र बोले–महाराज यह मत करो, आपका देव हमारा नमस्कार झेल नहीं सकेगा। हुआ ऐसा ही, उस पाषाणसे जिनेन्द्र प्रतिमा प्रकट हुई जब उन्होंने नमस्कार किया।

अकलङ्क व विद्यानन्दी स्वामीका हार्द–अकलंकस्वामीका सब चरित्र जानते हैं। जिन्होंने अपनी आंखों देखते प्रिय भाई निकलंकदेवको बलि होनेके लिए स्वीकार पड़ा, और जिस किसी भी प्रकार रहकर धर्म उद्धारके लिए प्राण बचाया। उनके ग्रन्थोंका जो अध्ययन करते हैं भक्ति उनके प्रकट होगी। विद्यानन्दस्वामी जैनधर्मके अत्यन्तद्वेषी, ५०० शिष्योंके गुरु सर्वदर्शनोंके ज्ञाता थे। रास्ते में जो जिन मन्दिर मिले तो मुख मोड़कर नाक सिकोड़कर चला जाये। आखिर एक दिन मनमें आया कि जिस मन्दिरसे हम द्वेष करते हैं आखिर देखें तो उसके भीतर है क्या? यों ही लोकरुढ़ि से और अपने पुरुखोंके कहनेसे ऐसा क्यों करते जा रहे हैं? मंदिरके भीतर गये तो देखा कि एक

मुनि बैठे हैं और वह पढ़ रहें हैं आप्तमीमांसा जो समंतभद्रकी कृति है। विद्वान तो थे ही। अर्थ समझमें आ गया। वह दार्शनिक तत्वोंसे भरा हुआ स्तोत्र था। विद्यानन्दीने मुनिसे कहा—महाराज इसका कुछ अर्थ तो बतावो। वे मुनि अधिक विद्वान न थे। सो सीधे सरलतासे कह दिया कि भाई हम अधिक जानते नहीं हैं, हम अर्थ नहीं समझा सकते। लो इसका भी प्रभाव पड़ा, इतनी सरलता। कहा महाराज फिरसे सुना दीजिए। सुनाया तो श्रद्धा एकदम बढ़ गई। ओह! तत्व तो यह है। उसकी सिद्धि स्याद्वादसे ही है। बस उनके जीवनका पन्ना पलट गया। दूसरे दिन राजसभामें जहां व्याख्यान होता था, व्याख्यान करने खड़े हुए तो उसकी शैली ही बदली हुई थी। सभी विद्वान अचरज करने लगे कि क्या हो गया इनको। बादमें विद्यानन्दजीने कहा—तत्व यही है और इसकी सिद्धिका उपाय स्याद्वाद है। जिन्हें कोई शंका हो तो वे हमसे बात करें, हम उन्हें समाधान देंगे। आखिर अन्तमें उनका मन ऐसा हो गया कि सब कुछ छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा धारण की। उनकी बनायी हुई यह अष्टसहस्री है। जिसे कहते हैं कि जिन्होंने अष्ट सहस्री सुन लिया उनकी अन्य कुछ सुननेसे क्या प्रयोजन। कुछ विद्वान लोग भक्तिमें इसे कष्ट सहस्री बोलते हैं। कितनी क्लिष्ट हैं उसकी रचनाएँ और दार्शनिकतासे भरी। अब सोच लीजिए स्त्री, बच्चे और घरके लोग, कुटुम्बी जन, नाते रिश्तेदार वगैरहकी रुचिमें मिलेगा क्या? साधु संतोंकी चरणरज हम सबको पवित्र करे।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभम्,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्याद्यः शुभमेव साप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये।।
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम्।।२६२।।

आत्मपोरुषीकी बन्द्यता—इस जीवने पूर्व जन्ममें शुभ अथवा अशुभ कर्म उपाजित किये हैं। उन्हीं कर्मोंका नाम दैव भी है। इस दैवकी प्रेरणा से यह जीव सुख अथवा दु :ख भोगता है, सो सुख तो मिला शुभ भावसे बँधे हुए पुण्यके उदयमें और दुःख मिला अशुभ भावसे बँधे हुए पापके उदयमें। सो साधारणतया यह बात योग्य है कि अशुभपरिणामोंको छोड़कर शुभ परिणामोंका आदर करना चाहिए। लेकिन जिन योगोश्वरोंने शुभ और अशुभ दोनों ही उपयोगोंका विनाश करनेके लिए समस्त आरम्भ और परिग्रह पिशाचका परित्याग किया है ऐसे सत्पुरुष सत्पुरुषोंके द्वारा वंदनीय हैं। लोकके जीव पापमें बड़े प्रवीण हैं। पाप करने की बड़ी-बड़ी कलायें उन्हें याद हैं। झूठ बोलनेकी कला, चोरी करनेकी कला, अनेक पाप करनेकी कला। उनमें इसे बड़ी प्रवीणता मिली है। इसी कारण इन जीवोंमें से कोई पुरुष यदि शुभकार्य कर रहा हो, भक्ति, दया, दान, परोपकार आदिक तो उसे लोग भला कहते हैं। पर सर्वथा भले कल्याणकी मूर्ति तो वे पुरुष हैं जो शुभ-अशुभ दोनोंको त्यागकर एक शुद्धोपयोगरूप अंतस्तत्वमें लीन रहा करते हैं। उनकी महिमाका कोई दूसरा क्या वर्णन कर सकेगा? वे तो सत्पुरुषोंके द्वारा वंदनीय हैं।

ज्ञानका प्रताप–भैया! सब कुछ ज्ञानका प्रताप है। जिन्हें वस्तु स्वरूपका बोध नहीं हुआ और पदार्थोंमें भेदविज्ञान प्रकट नहीं हुआ उनको कल्याणकी बात भली कैसे लग सकती है? उन्हें तो बाहरी प्रसंग धन वैभव ही प्रिय लगेंगे और जो कल्याणके प्रेमी हैं उनको यह आत्मतत्व ही प्रिय लगेगा। ऐसे योगीश्वरोंको ये आचार्यदेव बहुत-बहुत कहते आये हैं सम्बोधते आये हैं। अब साधुताके प्रसंगमें उनके गुणोंका स्तवन कर रहे हैं। ऐसे साधुजन जो निरारम्भ और निष्परिग्रह हैं वे सत्पुरुषोंके द्वारा वंदनीय हैं।

सुखं दुःखं या स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्,
कुतः प्रीतिस्तपः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य पुगलति पुराणं न हि नवं,
समास्कन्दत्येषः स्फुरति सुविदाधोमविरिव।।२६३।।

उत्कृष्ट आसीनता–संसारमें सुख या दुःख जो कुछ भी होता है वह जीवके पूर्व उपाजित कर्मोंके उदयानुकूल होता है। सो कभी सुखमें प्रीति होती है तो कभी दुःखमें संताप माना जाता है और उन्हीं बातोंसे याने सुखमें प्रीति होने से, दुःखमें विषाद करने से नवीन कर्म बंधते हैं, पर जो महापुरुष सुखमें हर्ष नहीं मानते और दुःखमें विशाद नहीं मानते वे अब किससे प्रीति करेंगे और किसको आतापकारी मानेंगे। जिसे फांसीका हुक्म होता है उस मनुष्यके सामने बड़ी-बड़ी मिठाइयोंका थाल सामने रख दिया जाये और कहा जाये कि ले तू आनन्दसे खूब छककर भोजन करले तो क्या वह खायेगा? नहीं खायेगा। ऐसे ही जिन्हें कर्मोंका बन्धन विभावोंका बंधन फांसी जैसा लग रहा हो, क्या ऐसे जीवोंको ये इन्द्रियके सुख सुहावने लगेंगे? अरे वे तो विषाद मानेंगे। उन्हें जगत्में कुछ भी इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं रहा।

ज्ञान और वैराग्यका बल–भेद विज्ञानके विचारके कारण ज्ञानियोंके चित्तमें उदासीनता प्रकट होती है। जिसके पुराने कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं, नीवनकर्मोंका बंध सकता है वे पुरुष महामुनिकी तरह सदा प्रकाशमान होते रहते हैं, इस कारण कैसा ही कष्ट आये ज्ञान और वैराग्यके बलसे वहाँ भी साधुजन कर्म निर्जरा का काम करा लेते हैं, दुःख नहीं मानते। आया है उदय उसके ज्ञाताद्रष्टा हो रहे हैं। अपने स्वरूपकी उनके सुध बनी रहती है। इसी कारण उनका सारा जीवन, सारी चर्या कल्याणविकासके लिए और कर्मोंके क्षयके लिए बनी हुई है, ऐसे सत् पुरुष हृदयमें विराजें और मेरे मनको पवित्र करें जिससे मेरे भी शिवपंथ सुगम हों व विघ्नकारी विषयोंके परिणामोंसे बचकर हम अपनी स्वरक्षा कर सकें।

सकलविमलबोधो देहगेहेविनिर्यन,
ज्वलन इब स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा।
पुनरपि तदभावेप्रज्ज्वलत्युज्ज्वलः सन,
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः।।२६४।।

विमल सकलज्ञान–इस देहरूपी गेहमें निकला हुआ यह समस्त केवलज्ञान इस ही देहको भस्म करके और फिर उस देहके अभावमें भी यह उज्जवल होता हुआ खूब प्रज्वलित होता है, आश्चर्यका बड़ा समाचार है। काष्ठसे उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठको जला देगी ऐसा तो माना जा सकता है पर काष्ठको जलानेके बाद राख हो जानेके पश्चात् उस काष्ठके अभावमें भी अग्नि जलती रहे, यह क्या आप मान सकते हैं? लेकिन यह केवलज्ञानरूपी अग्नि ऐसी विलक्षण अग्नि है जो इस देह गेहमें रहते हुए प्रकट हुई, लेकिन इस देहधरको ही भस्म कर देगी और देहके न रहनेके बाद भी यह केवलज्ञान खूब प्रज्वलित रहता है, अर्थात १३ वें गुणस्थानमें केवलज्ञान हुआ, वहाँ तो देह है ही, सकलपरमात्मा शरीर सहित है और पश्चात् चारघातियाकर्म नियमसे दूर होंगे, तब देहका अभाव भी हो जायेगा तो देहका अभाव होने पर भी यह केवलज्ञान प्रज्वलित रहेगा याने सिद्ध भगवंतोंका सदैव केवलज्ञान प्रज्ज्वलित रहेगा।

सम्यक्त्वके पूर्व का ज्ञान–प्रथम तो इस जीवको ज्ञान प्रकट हुआ। जो ज्ञान है तो सच्चा, पर सम्यक्त्व न होने से उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है और है ज्योंका त्यों। सात तत्वोंके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान हो उससे ही तत्वका मनन करने पर सम्यग्ज्ञान होगा, तो सम्यग्दर्शन होनेसे पहिले जो ज्ञान है उसे न तो सम्यक कह सकते, न मिथ्या कह सकते। यद्यपि सम्यक्त्वके अभावमें जितना ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है, जो भी वह जानता है, किन्तु क्या सम्यक्त्वाभिमुख जीव वस्तुस्वरूपके विपरीत जानता है? विपरीत तो नहीं जानता। सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहिले सम्यक्त्वके ही लिए जो ज्ञान बना है वह ज्ञान यथार्थ है, जैसा वस्तु है पैसा ही जानता है, पर सम्यकत्वके पहिले उस ज्ञानमें सम्यकपना नहीं आता।

दृष्टान्तपूर्वक सम्यक्त्वपूर्वभावी बोधकी विशेषताका वर्णन–जैसे अपने किसी विशिष्ट मूर्तिका वर्णन सुना है। जैसे केसरियाजीमें एक मूर्ति है सातिशय, हमने भी उसे नहीं देखा और कितने ही लोगों ने न देखा होगा, पर जो किताबोंमें उसके सम्बन्धमें लिखा गया है वह जो लोग देख आये हैं वे वर्णन करते हैं तो उनके वर्णनको सुनकर जो पुस्तकोंमें मूर्तिके सम्बंध में लिखा है, इतनी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई है, ऐसा अतिशय है, सब कुछ जान लिया किन्तु यह ज्ञान उस ज्ञानके समान दृढ़ और स्पष्ट नहीं है जो कि उस मूर्तिको निरखनेके बाद होता है। इन दो तरहोंसे देखनेमें अन्तर है। यही अन्तर सम्यक्त्व होने पर ७ तत्वोंके ज्ञानमें और सम्यक्त्व से पहिले ७ तत्त्वोंके ज्ञानमें अन्तर है। पहिले ज्ञान प्रकट हुआ और उस ज्ञानके ही प्रतापसे सम्यक्त्व प्रकट हुआ।

केवलज्ञानकी शाश्वत धर्तना–अब सम्यक्त्वकी रुचि और सम्यक्त्वमें समझे गए निज आत्मतत्वके अनुभवकी उत्सुकतासे जो स्थिरता बनती है उस स्थिरतामें कुछ वैराग्य जगा, घर छोड़ा देहसे भी नेह छोड़ा,? समस्त परिग्रहोंका त्याग किया, वीतराग मुद्रा धारण की, अब ऐसी स्थितिमें यही उन योगिराजका कार्यक्रम है कि यह ज्ञान ही ज्ञान निर्मलप्रकाशमें बना रहा करे और इस

ज्ञानप्रकाशकी संतत्वृतिसे यह ज्ञान केवलज्ञानरूप परिणम जाता है। केवलज्ञान हो गया। अब यह देहगेहमें विराजमान आत्मा केवलज्ञानी हुआ। वह केवलज्ञान इस देहगेहको भस्म करनेके बाद भी उस देहके अभावमें सदा प्रज्ज्वलित रहेगा।

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते।
अतएव हि निर्वाणं शून्यमन्यर्विकल्पितम्।।२६५।।

गुणकी अविनाशता—यह आत्मा गुणी है और यह ज्ञानादिक अनन्त गुणोंमें तन्मय है। ज्ञानादिक गुणोंके नाश होने का अर्थ यह होगा कि इस गुणी आत्माका भी नाश हो गया, किन्तु जो सिद्ध है उसका सर्वापहार लोप कभी नहीं होता। कुछ लोगोंकी ऐसी मान्यता बन गई है कि ज्ञानके सम्बंध में कि अपनी योग्यतानुसार ज्ञानका स्वरूप समझकर और फिर सिद्धमें इस प्रकारका ज्ञान होता नहीं देखकर जीवोंमें निर्वाणदशामें ज्ञानका अभाव हो जाता है। ऐसी ज्ञानशून्यनिर्वाणकी मान्यता बन गयी है, पर जिसे हम आप ज्ञान कह रहे हैं, जिस विकल्प रूपजाननको ज्ञान बताते हैं वह विकल्परूपजानन ज्ञानकी शुद्धवृत्ति नहीं है। वह रागद्वेषके सम्पर्क के कारण हुई वृत्ति है। उसका नाश होनेसे न ज्ञानका नाश होता है, न आत्माका नाश होता है।

निर्वाणमें परिपूर्णता—अन्य जनोंने इस ज्ञानसे रहित स्थितिका नाम निर्वाण मान लिया है। किन्तु यह ज्ञान तो आत्माका सहजस्वभाव है। यह आत्माका ज्ञानमय है, ज्ञानको छोड़कर आत्मा अन्य कुछ नहीं है। जैसे गर्मीके अभावमें गर्मी किसका नाम है? अरे गर्मीको छोड़कर अग्नि कुछ नहीं है। ऐसे ही आत्मा सत ज्ञानमय ही रहा करता है। उस ज्ञानकी पूर्णताका नाम मुक्ति है। कहीं ज्ञानके अभावका नाम मुक्ति नहीं है। जो मेरा स्वभाव है, मेरी चीज है वही एक निर्दोषरूपमें प्रकट हो जाती है इसीका नाम निर्वाण है।

प्रभुस्वरूपकी स्वभावसिद्धता—जैसे कोई कारीगर पत्थर में से मूर्ति नहीं बनाता किन्तु कुछ तोड़-फोड़ करता है। मूर्ति तो उसके अन्दर है, वह कारीगर तो मूर्तिके ढकने वाले आवरणोंको छेनी हथौड़ा आदिसे हटाता है। मूर्ति तो स्वयं उसमें बनी बनाई है। वही तो वहाँ प्रकट होती है। बनानेका काम नहीं है किन्तु हटानेका काम पड़ा है। रागद्वेष शोक हास्य प्रीति मोह-ये सारे ऐबके पत्थर मेरे अगल-बगल लगे हैं, मेरे आत्म प्रदेशोंमें मिल रहे हैं, जिस किसी भी प्रकारसे इन आवरणोंको हटाया जा सके हटानेका प्रयत्न करना चाहिए। वह यत्न है निजसहजस्वभावका आलम्बन। केवल चितसामायस्वभावको निरखें, जो है उसे यथार्थ जानें। बस अलाबला दूर हो जायेगी। जब सभी विभाव दूर हो जायेंगे तब सिद्धको स्थिति हो जायेगी, निर्मल केवलज्ञान परिपूर्ण प्रकट हो गया तो यह स्थिति बन जाती है। तो सिद्धपदमें नाशकी बात नहीं है किन्तु परिपूर्णताकी बात है। यह आत्मा ज्ञानादिकगुणोंसे तन्मय है। ज्ञानादिक गुणोंके विकास का काम परमात्मअवस्था है और ज्ञानादिक गुणोंके आवरणका नाम यह छद्मस्थ अवस्था है।

परमात्मा शब्दमें संख्याका संकेत–परमात्माके सम्बंधमें सभी लोग २४ संख्याको बहुत पंसद करते हैं। जो अवतार मानते हैं वे ईश्वरके २४ अवतार मानते हैं, और-और भी लोग किसी न किसी रूपमें २४ संख्या मानते हैं। कोई २४ अवताररूपमें, कोई पैगम्बररूपमें। जैनशासन भी २४ तीर्थकर मानता है। प्रत्येक चतुर्थकालमें २४ तीर्थकर होते हैं। न कम न अधिक होते हैं। खैर, इस सम्बंधमें एक अक्षरोंपर हिसाब लगावो। बिना लकीर खींचे परमात्मा लिखो। 'परमात्मा' इसमें ५ जैसा बन गया, २ दो जैसा बन गया, मा साढ़े चार जैसा बन गया, आधा त (त्) ८ जैसा बन गया और मा साढ़े चार जैसा बन गया। इन सबको जोड़कर देख लो ५ जमा २ जमा ४।। जमा ८ जमा ४।। बराबर २४ हो गए। इस परमात्मा शब्दमें २४ की संख्या बसी है। यद्यपि परमात्मा अनन्त है, फिर भी ये जो २४ तीर्थकर हैं ये विशेषरूपसे धर्मकी प्रवृत्ति करने वाले हैं, अतः तीर्थकर २४ हैं।

परमात्माका अर्थ–परमात्माका अर्थ है–जो आत्मा परम अर्थात् उत्कृष्ट हो गया, सो परमात्मा। और जो मूढ़ आत्मा हो उसे कहते हैं मूढ़ात्मा। परा मा लक्ष्मीः विद्यते यत्र स परमः। जहाँ उत्कृष्ट लक्ष्मी हो उसे परमा कहते हैं। लक्ष्म, लक्ष्मी, लक्षण ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। आत्मा का लक्ष्म, लक्ष्मी, लक्षण है ज्ञान। तो उत्कृष्ट ज्ञान जहाँ प्रकट हो गया हो उसे कहते हैं परम। और परम आत्माका नाम है परमात्मा। जो भी आत्मा इन ज्ञानादिक गुणस्वरूप निजअन्तस्तत्वका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करता है वह इस शुद्ध ज्ञायककी अनुभूतिके प्रसादसे सर्वविभावों से दूर होकर उत्कृष्ट ज्ञानमय हो जाता है ऐसी स्थिति जिनकी हुई है उन्हें परमात्मा कहते हैं। परम आत्मपनेकी ऐसी किसीको परमिट नहीं मिली है कि यह ही परमात्मा कहलायेगा दूसरा नहीं। जो भी आत्माविभाव को हटा ले, परम हो जाये वही परमात्मा कहलाता है।

गुणार्चन और नामर्चन–जैनदर्शनमें किसी नामकी पूजा नहीं है, गुणोंकी पूजा है। भगवानका भी नाम नहीं है–पर जिस नाम द्वारा व्यवहत देहमें विराजमान आत्मा ज्ञानमय होकर केवली हो गया, व्यवहारमें वहाँ भगवानका नाम लेते हैं अथवा जैसे एक ही किसी चीजका खेल, चाहे ताशका ही खेल समझ लो तो उसमें कठिन भी खेल होते हैं और सरल भी खेल होते हैं, कठिन पद्धतिके खेल जिनसे नहीं बनते वे सरल पद्धतिके खेल खेलते हैं, उल्टा डाल दिया, उलट दिया खोल दिया, रंग मिल गया लो जीत गए, न मिला, लो हार गये। बतावो ऐसे खेलमें कुछ विशेष बुद्धि भी लगती है क्या? जो कठिन खेल जानते हैं वे उस पद्धतिका खेल खेलते हैं। ऐसे ही ज्ञानकी उपासनामें जो एक अपने आत्मामें आत्मज्ञानविहारका कौतूहल है उस ज्ञानविहारके कार्यक्रममें जो तत्वज्ञानी मर्मज्ञ पुरुष हैं वे स्वभावदृष्टि करके, निश्चयदृष्टि करके, ज्ञानके शुद्ध स्वरूपको निहार कर उस ज्ञानमें रमा करते हैं। पर यही ज्ञानी पुरुष इतना अधिक काम करके थक जायें तो भगवानका नाम लेकर चारित्रके गुणोंका ज्ञान करके अपने ज्ञानविहारको करते हैं। अथवा जो अपनी अद्भूत महिमामें प्रवेश नहीं कर पाये हैं वे पुरुष प्रभुका नाम लेकर, चारित्र गाकर, गुणानुवाद करके इस ज्ञानमें विहार करते हैं।

गुणमय गुणीकी उपासना–वस्तुतः परमात्माका काम नहीं होता। परमात्माका तो स्वरूप होता है जो शुद्ध निर्दोष चैतन्य प्रकाश है उसे परमात्मा कहते हैं। इस परमात्मामें, जो ज्ञानादिक गुण हैं वे उत्कृष्ट विकास को प्राप्त हो जाते हैं। कहीं ज्ञानादिक गुणोंका विनाश नहीं हो जाता। हे साधुजनों! गुणमय गुणी ब्रह्मकी उपासना करके शान्ति प्राप्त करो, इस ग्रन्थमें साधुवोंको संयममें स्थिर करनेके लिए बहुत-बहुत प्रकारसे सम्बोधा गया है। अब इस अन्तिम प्रकरणमें उनका गुणानुवाद करते हुए तपस्याके फलमें आखिर मिलता क्या है, उस सिद्धपदकी कुछ चर्चा कररहे हैं।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तः गत्वोर्ध्वमचलः स्थितः।।२६६।।

पर्यायोंका अय विलय–यह आत्मा अजात है। यह कभी उत्पन्न नहीं होता,यह स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप है, सनातन है। इसके किसी भी विस्तार को कोई प्रकट नहीं कर पाता। प्रत्येक पदार्थ अनादि सिद्ध है। यह आत्मा भी अजात है। आत्मामें जो परिणतियाँ होती हैं उन्हें जात कह सकते हैं। वे उत्पन्न होती हैं और अगले क्षणमें विलीन हो जाती हैं। कैसे विलीन हो जाती हैं? वे परिणतियां द्रव्यसे बाहर भी नहीं गयीं और वे परिणतियां द्रव्यमें भी अब नहीं रहीं। भला ऐसा कभी देखा कि वस्तु बाहर भी न जाये, वहां भी न रहे और वस्तुका अभाव कहलाये? कमरे में घड़ा रक्खा है, वह घड़ा कमरेसे बाहर भी न जाये और कमरेमें भी न रहे और घड़ेका अभाव कहलाये ऐसी कोई स्थिति है क्या? आप कहेंगे फोड़ दिया तो उस कमरेमें भी नहीं रहा और बाहर भी नहीं गया। अरे तो जो रहा उसको चर्चा कर लो। खपरियां बन गयीं। ये खपरियां भी न रहें इस प्रकारका अभाव देखा है क्या? खपरियोंका प्रत्येक पदार्थ का जो भी परिणमन होता है वह अगले क्षणमें विलीन हो जाता है। द्रव्य में देखो तो न मिलेगा और द्रव्य के प्रदेशोंको छोड़कर बाहर भी कहीं नहीं गया।

आत्मतत्वकी अजातता व अविनश्वरता–पर्यायोंको तो जात कह सकते हैं, किन्तु उन पर्यायोंका आधारभूत, उपादेयरूप, जो शाश्वत पदार्थ है वह अजात है। यह आत्मा अविनाशी है, न मिटने वाला, अपने आपमें सदैव रहने वाला है। किसी भी क्षण इसका वियोग संभव नहीं है ऐसी यह ज्ञानपुञ्जपदार्थ मुझमें हैं। मुझमें क्या मैं ही हूं। ये ज्ञानी पुरुष इसही पुरुषार्थके प्रतापसे सदैवके लिए आनन्दसम्पन्न हो जाते हैं। यह मैं आत्मा अविनाशी हूं। कुछ ध्यान तो लावो। इस अविनाशीपनेका फिर इस सांसारिक परिस्थितिके कारण जो वेदना हुआ करती थी अब वेदना उत्पन्न न होगी।

आत्माका अमूर्तत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व–यह आत्मा अमूर्त है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि होनेका नाम मूर्तपना है जितने भी बाह्यपदार्थ दिखते हैं वे सब मूर्त हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्शमुक्त हैं। यह आत्मा सर्वसे जुदा है, अविनाशी है, अमूर्त है। यह आत्मा कर्ता है। किसका कर्ता है? अपने आपके भावोंका कर्ता है। यह कर्तृत्व निरन्तर सतत चलता रहता है। एक क्षण भी एक आधसेकेण्ड

भी यह कर्तृत्व दूर नहीं होता। जो परिणमें उसका नाम कर्ता है। परिणममान पदार्थको कर्ता कहते हैं और जो परिणमन उस परिणमनका जो अनुभव करता है उसे भोक्ता कहते हैं। देखो—यह जीव निरन्तर कर्ता व भोक्ता बन रहा है या नहीं? जो भी परिणमन होगा उस परिणमनका अविनाभावी जो भी आनन्द शक्तिका परिणमन होगा, सुख-दुःख अथवा आवन्द होगा उसको यह जीव निरन्तर भोगता है, अनुभव करता है।

आत्माकी शुद्धता—यह आत्मा बुध है, ज्ञानी है। ज्ञानही इसका शरीर है,यह ज्ञानपुञ्ज ही एक आत्मा है। ज्ञानसे किसी भी दृष्टिमें यह रहित नहीं है। जो ज्ञान है सो आत्मा है। यह आत्मा देहमात्र है, जितना जिसे शरीर मिला है वह अपने इस शरीरके परिणाममें विस्तार वाला है। यह जीव अनादिकालसे इस देहमें रहता आया है। जब ये देह मिलना छूट जायेगा तो आत्मा मुक्त हो जायेगा। यह आत्मा सर्व मलोंसे मुक्त है, रागादिक भावोंसे रहित है और यह अचलस्वरूपसे अचलायमान होकर ऊपर जाकर स्थित हो जाता है। सिद्ध लोकमें ये सिद्ध भगवंत विराजमान है। ये प्रभु सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र की एकता प्राप्त करके मुक्त होकर लोकके ऊपर विराजमान होते हैं।

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम्।।२६७।।

सिद्धसुखका अनुमान—जब कि स्वाधीनतासे दुःख भी सुखरूप हो जाता है तब जिसको अनन्त सुख मिला है ऐसे सिद्ध प्रभु क्यों न सुखी कहलायेंगे? परकी आशा, परकी प्रतीक्षा, परवस्तुपर निर्भरताकी स्थितिमें इस जीवको सुख भी मिले तो भी दुःख है और स्वाधीनतासे रहते हुए दुःख भी आ पड़े तो वह दुःख भी उस मनस्वीको सुख रूप मालूम होता है। इस बातको तो आप अपने जीवनमें भी घटित कर सकते हैं। अपने आप अपने ही कारण कुछ दुःख हो जाये तो उसे महसूस नहीं करते। जैसे साइकिल चलाने वाला अपनी गलतीसे गिर जाये तो चाहे कितनी ही चोट आ गयी हो पर वह दुःख नहीं महसूस करता है। जल्दी ही उठ कर हँसता हुआ भाग जाता है और यदि किसीसे टक्कर खाकर गिर गया तो वह उस पर झुंझलाता है, विवाद करता है। अपने-अपने घरोंमें भी देखे लो—किसी दूसरेके आधीन रहकर थोड़ा सुख भी मिले तो वह उस सुखमें सन्तुष्ट नहीं है और यों अपने आप कितना ही दुःख आ पड़े तो उस दुःखको सहन करने की शक्ति बनाये रहते हैं, उसमें ज्यादा दुःखी नहीं होते।

साधुवोंकी स्वाधीनता—साधु संत पुरुष सदैव स्वाधीन हैं, वे वनमें रहते हैं, स्वाधीन विचरते हैं, स्वाधीन निवास करते हैं, अपने पदके अनुकूल चर्या करते हैं, उस स्थितिमें भूख प्यास इत्यादिका कतई भी दुःख आ जाये, अथवा किसी दुष्ट मनुष्य द्वारा सताये जायें तो वे सर्वस्थितियों में साहस करके सहन करते हैं।

गृहस्थोंके भी स्वाधीन दुःखकी सुखरूपता–घरमें रसोई बनाने वाला नहीं है, आप अकेले हैं तो जब चाहे जैसे चाहे बना खा लेते हैं, क्योंकि आप स्वाधीन हैं। उसमें कितने भी दुःख आयें, उन दुःखोंको आप महसूस नहीं करते और कोई निमंत्रण कर जाये १० बजेका और ११ बज जायें तो आप बड़ा दुःख महसूस करते हैं। स्वाधीनतामें जो दुःख आया वह भी सुखरूप लगता है। पराधीनतामें थोड़ा विलम्ब हो या अल्प सुख मिले तो वह सब दुःखरूप है।

साधुवोंकी तृप्ति व स्वाधीनता–साधुजन आत्मदर्शनसे ऐसे तृप्त रहा करते हैं कि उनको स्वाधीनता ही प्रिय है और उस स्वाधीनतामें उन्हें सब कष्ट मंजूर हैं। आत्मानुभवमें विघ्न आये अथवा विषय कषायोंमें उपयोग लगने लगे तो वह असह्य होता है। साधुजन आत्मानुभवमें बीच-बीच जो कष्ट अभी आते हैं उन्हें भी सुखरूप मानते हैं। तो भला जिसको स्वाधीन अनन्त सुख मिला हुआ है ऐसे सिद्ध भगवंत क्या सुखी नहीं हैं? अरे वे तो परम सुखिया हैं। परमार्थसे निरखो जो अज्ञानी जीव हैं वे तो दुःखी हैं और जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे सुखी हैं और उनमें भी जो संयमी पुरुष हैं वे विशेष सुखी हैं। तब जो सिद्ध हुए हैं, स्वाधीन हुए हैं उनको तो सर्वाधिक अनन्त सुख है।

ज्ञानकलापर सुख दुःखकी निर्भरता–जिस चाहे स्थितिमें अपनेको चाहे दुःखरूप अनुभव कर डालो और चाहे सुखरूप। न कुछ सुख है, न कुछ दुःख है। आप दुःखकी जितनी स्थितियां सोच सकते हैं सोच लीजिए, उन स्थितियोंमें भी आप आत्मतत्वकी दृष्टिसे वैराग्य बनायें तो वहाँ आप सुख पायेंगे। आप मनकी स्वच्छन्दता करके कितनी ही कल्पनाएँ करके दुःख बना डालें, लाभ उससे कुछ नहीं है बल्कि आप नुकसान ही अपना करते चले आ रहे हैं। आपके यहां चोरी हो जाये, अथवा व्यापार में टोटा पड़ जाये तो आप चाहे ऐसी दृष्टि बना लें कि दुःखी हो जायें और चाहे ऐसी स्थिति बना लें कि सुख अनुभव करें। और आय भी खूब हो रही है, काम भी ठीक चल रहा है, पर आप चाहे अपने को कल्पनाएँ करके दुःखी बना डालें चाहे उदारबुद्धि करके अपने को सुखी अनुभव कर लें।

संसारमें सुख दुःखकी अनिर्णीतता–किसका नाम सुख है और किसका नाम दुःख है? किसीके पास लाखों का धन है, सब प्रकारके अच्छे साधन हैं पर ख्याल बना बनाकर तकिये गद्दों पर पड़ा हुआ भी अपने को दुःखी अनुभव कर सकता है। आपका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है पर अपने देह को निरखकर कल्पनाएँ बनाकर कहो आप अपने को दुःखी अनुभव कर डालें। अरे अमुक पहलवान ऐसा है हम न ऐसे हुए। अमुक तो इतना हृष्ट-पुष्ट है, हम उतने हृष्ट-पुष्ट नहीं हैं–यों ख्याल बनाकर कहो आप अभी दुःखी होलें। ज्ञानकी बात ले लो, थोड़ा ज्ञान है, पर कामचलाऊ अच्छा है, धर्मध्यान भी हो रहा है। कुछ चर्चा वार्ता भी करते हैं जितनी योग्यता है, पर मान प्रतिष्ठा नहीं हो रही है, लो अपने से अधिक ज्ञानवानोंको निरखकर ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते हैं। मुझे

अमुक जैसा ज्ञान न मिला, अमुकके तो बड़ा ज्ञान है, बड़ी इज्जत है, हमारी कोई पूछ नहीं करता है, लो इस प्रकारका ख्याल बनाकर दुःखी हो रहे हैं। अथवा कोई विशेष पूछ नहीं करता तो यह ख्याल बनाकर दुःखी होते है कि हमने तो अमुक डिग्री पास की, इतने विद्वान हैं, सब कुछ हैं पर लोग हमारी पूछ नहीं करते हैं, हमारी बातें भी नहीं सुन रहे हैं, लोग यही सोचते होंगे कि इनकी बातों में दम नहीं है। यों दसों विकल्प बनाकर बहुत ज्ञान पानेके बावजूद भी कहो अपने को दुःखी अनुभव कर डालें।

धनित्वके दृष्टान्तपूर्वक सुख-दुःखकी अनिर्णीतताका वर्णन–भैया! यहाँ ऐसी कोई स्थिति नहीं है जहाँ सुख अथवा दुःखका टिकाव हो। आप कितने धनसे अपने को सुखी मानेंगे? क्या तीन लाख हो जायें तो उससे आप सुखी हो जायेंगे? अरे उससे अधिक धन वालों पर दृष्टि डालकर आप अपनेको दुःखी अनुभव करेंगे। क्या है, मेरे पास कुछ नहीं है। अमुक तो इतना धनी है, यहाँ आप किसे धनी कहेंगे? ऐसे ही सुख-दुःख होनेका इस जगतमें कोई निर्णय नहीं है। कोई ऐसा निर्णय नहीं दे सकता कि इस प्रकारकी यहाँ स्थिति हो जाये तो सुख है। और ऐसी परिस्थिति हो जाये तो वह दुःखी है। कितना वैभव हो जाये तो आप सुखी करार कर सकते हैं? सुखी-दुःखी होना तो खुदके परिणामोंकी बात है। कितने ही जगह देखनेको मिलता तो है कि किसीके पास धन बहुत है पर उसके दिल की बीमारी है, खाट पर पड़ा रहता है, डाक्टर लगे रहते हैं। वह काहेकी बीमारी है? वह है गमकी बीमारी। इसमें अधिक मुनाफा नहीं हो सका, इसमें ५ लाखका टोटा हो गया, इसमें ७ लाखका टोटा हो गया। सारा जीवन दुःखमय व्यतीत होता है। तो कितना धन वैभव हो जाने पर आप अपने को सुखी करार कर सकते हैं। सुख-दुःख तो अपने ज्ञान-अज्ञान पर निर्भर है।

स्वाधीन दुःखमें भी सुख रूपताकी अनुभूति–मुनिजन स्वाधीनतासे दुःख भी भोगते। किन्तु उनके दुःख सुखरूप हो जाते हैं। वे अपनेको दुःख आनेपर भी सुखी अनुभव करते हैं। कभी टिकटघरमें टिकट खरीदने के लिए आप लाइनमें खड़े होते हैं तो जब टिकट पानेका नम्बर आये तब आये पर आप स्वाधीन होनके कारण संतुष्ट हैं, किन्तु यदि आपके आगे कोई आकर खड़ा हो गया तो आप उसमें दुःख महसूस करेंगे। क्योंकि आपने वहां पराधीनता अनुभव कर ली। तो शान्ति अपनी स्वाधीनतासे मिलती है। जब स्वाधीनताका भाव बनता है तब सारे दुःख सुखरूपमें मालूम होने लगते हैं। जब आप खुद रसोई बनायें, दालमें नमक अधिक गिर जाये तो भी आप दुःख नहीं मानते, और अगर किसी दूसरेके हाथसे दालमें नमक ज्यादा पड़ गया तो आप दुःखी हो जाते हैं।

स्वाधीनता व पराधीनता अन्तर–जब स्वाधीनतामें कुछ दुःख भी आयें तो वह सुखरूप मालूम होता है और पराधीनतामें कुछ सुख भी मिले तो भी आप उसे दुःखरूप अनुभव करेंगे, तब कर्तव्य क्या है कि आप सुखी हो जायें। कितना धन कमा लिया जाये, कितनी पोजीशन बना ली

जाये तो उससे आप अपनेको सुखी मानेंगे? अपने आपमें स्वाधीनताका अनुभव करोंगे तब सुखी होंगे। बाहरी स्थितियोंसे सुखका अनुभव नहीं हो सकता।

इति कतिपय वाचां गोचरीकृत्य कृत्यं,
चरितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम्।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयतः,
सपदि विपदपेतामाश्रयन्तु श्रियं ते।।२६८।।

रम्य कृति–कितने ही वचन रचनावोंसे उदार हैं चित्त जिनका ऐसे महामुनियोंको उनके चित्तको जो रमा लें, निर्दोष हो ऐसी यह कृति आत्मानुशासन नामकी रची है सो ठीक ही है। महापुरुषोंके गुण भानेसे, निरन्तर चिन्तवन करनेसे शीघ्र ही आपत्ति रहित होकर अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। जैसा ध्यान बनायें तैसा ही अपने आपपर प्रभाव होता है। प्रभाव दूसरेका नहीं होता। खुदका जैसा ध्यान बना जैसा उपयोग बना उसका प्रभाव है। हर स्थितिमें देख लो।

स्वयंका स्वयंपर प्रभावका एक दृष्टान्त–कोई अनपढ़ देहाती मनुष्य शहरमें या किसी सरकारी दफ्तरमें जाकर भयशील रहता है तो क्या भीतोंने उसे भयशील बना दिया? अरे उसमें जैसी योग्यता है, जैसा उसका उपादान है उसके अनुकूल अपने आपमें अपने विचार बनाकर वह भयशील बन रहा है। और जो समझदार लोग हैं, चतुर हैं वे कहीं भी जाकर कोई काम करते हों तो निर्भय होकर करते हैं। वे तो जानते हैं कि सब अपना ही काम है, इसमें डरकी क्या बात? सो वे समझदार पुरुष रंच भी भय नहीं करते। यह भयशील होनेका प्रभाव किसी अन्य पदार्थसे उस देहातीपर नहीं पड़ा, उसने स्वयं अपनेमें उस अनुकूलका ध्यान बनाया उसका यह प्रभाव हुआ। तो गुणी पुरुषोंके गुण अथवा आत्मतत्वका स्वरूप जो कि निराकुल है, सहज प्रकाशमय है वह दृष्टिमें होनेसे यह जीव आनन्दित होता है और दुष्ट, अवगुणी, पापकारी और नानारूप संग अथवा अनुभव होनेसे यह स्वयं मलिनता हो जाती है और उसमें कष्ट होता है।

गुणप्रियता–गुणी जनोंके गुण ही हृदयमें रहा करें तो उसमें भला है। किसीके दोष कहनेमें या दोषियोंके दोषपर दृष्टि बनाते रहनेमें खुदका तो भला न होगा। खुदकी प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि गुणियोंको देखकर अथवा कोई चिन्तन करके अपनेमें हर्ष भावना जगे। दोष देखने की दृष्टिमें तो जीव स्वयं खेदखिन्न हो जाता है, मिलता कुछ नहीं है। महापुरुषोंका ध्यान अपने आपमें एक अद्भुत प्रभाव लाता है और जिस प्रकारका जो ध्यान करता है वह उस प्रकारका फल प्राप्त करता है। महापुरुषोंके गुण विचारें तो हम आप भी शुद्ध हो जायें। जैसे सुगंधित पुष्पके सम्बंधसे तेल भी सुगंधित हो जाता है ऐसे ही गुणी पुरुषोंके गुणोंका चिन्तवन करनेसे यह विकारी भी स्वच्छ और उन्नत हो जाता है।

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्।।२६९।।

रचयिताकी हार्दता व कृति–यह आत्मानुशासनकी कृति गुणभद्राचार्य द्वारा रचित है। कैसे थे वे गुणभद्राचार्य? जो सम्यग्दृष्टि पुरुषोंकी सेनाके समूह आचार्य याने जयसेनाचार्य गणवरादिक हैं जिनके शासन में गुणभद्राचार्य भदन्त हुए हैं, जिनका चित्त उन्हींकी ओर बना हुआ है अपना जयसेनाचार्य उनके गुरु होंगे, उनके पादस्मरणमें जिनका चित्त बना रहता था, जो आचार्यके गुणोंको निरखकर प्रसन्न रहा करते थे ऐसे गुणभद्रस्वामीकी यह आत्मानुशासन ग्रन्थकी कृति है। उपदेशी ग्रन्थोंमें इस आत्मानुशासन ग्रन्थकी प्रधानता है। इसमें विशेष स्थलोंपर पढ़ते हैं तो चित्तमें एक ऐसी उत्सुकता जगती है कि समस्त रागद्वेषमोहादिकको छोड़कर एक इस अपने आत्मस्वरूपमें लगें। ऐसा यह पवित्रग्रन्थ गुणभद्राचार्य स्वामीका रचा हुआ है जिनका हृदय आचार्यो और गणधरदेवोंके गुणोंके सदा आधीन रहा। अब इस ग्रन्थमें एक अन्तिम कल्याणवाचनाके रूपमेंएक श्लोक कह रहे हैं।

ऋषभो नाभिसूनुर्यो भूयात् स भविकाय वः।
यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते।।२७०।।

इस युगके धर्मके मूलप्रणेताका अभिवादन–नाभि राजाके पुत्र ऋषभदेव सबके कल्याणके निमित्त होवो, जिनके ज्ञानरूपी जलमें समस्त जगत कमलकी तरह भासामन होता है। जैसे जल तो विशाल है, और कमल कितनीसी जगहमें ठहरा है, ऐसेही जिनका ज्ञान तो विशाल है और यह लोक कितनी जगहमें ठहरा हुआ है–ऐसे नाभिराजाके पुत्र भगवान ऋषभदेव हम आप सबके कल्याणकारक होवो। ऋषभदेवका कितना महान् उपकार था जिसकी ही वजहसे ब्रह्मके रूपमें शंकरके रूपमें उन ऋषभदेव को ही माना जाने लगा। इस युगके आदि धर्मतीर्थ प्रवर्तक ऋषभदेव हैं। उनके गुणोंका निरन्तर स्मरण रहे, जिससे हम आप सब कल्याणके पात्र हो सकें।

॥ आत्मानुशासन प्रवचन षष्ठम् भाग सम्पूर्ण ॥